वेदार्थ-विज्ञानम्

महर्षि यास्क
विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या

आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

भाग—२

व्याख्याकार

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(संचालक वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान)

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

प्रथम संस्करण
वर्ष 2024

महर्षि दयानन्द २००वाँ जन्मदिवस, फाल्गुन कृष्ण १०/२०८०
05 मार्च 2024

मूल्य : ₹6,000/- (सभी चार भागों का)

प्रकाशक : **द वेद साइंस पब्लिकेशन**
वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल
जिला - जालोर (राजस्थान) - 343029
वेबसाइट : www.thevedscience.com, www.vaidicphysics.org
ईमेल : thevedscience@gmail.com
सम्पर्क सूत्र : 9530363300

अनुक्रमणिका

भाग—१

यास्कीय भूमिका

नैघण्टुक-काण्डम्

भाग—२

नैगम-काण्डम्

भाग—३

दैवत-काण्डम्

भाग—४

परिशिष्टम्

* * * * *

अथ तृतीयोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। कर्म कस्मात्। क्रियत इति सतः।

अगले २६ नाम निघण्टु में कर्मवाची पढ़े गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

अपः। अप्नः। दंसः। वेषः। वेपः। विष्ट्वी। व्रतम्। कर्वरम्। शक्म। क्रतुः। करुणम्। करणानि। करांसि। करन्ती। करिक्रत्। चक्रत्। कर्त्त्वम्। कर्त्तोः। कर्त्तवै। कृत्वी। धीः। शची। शमी। शिमी। शक्तिः। शिल्पम्।

जो किसी कर्त्ता के द्वारा किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।

अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। अपत्यं कस्मात्?
अपततं भवति। नानेन पततीति वा। तद्यथा जनयितुः प्रजा।
एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः॥ १॥

निघण्टु में अगले पन्द्रह नाम अपत्य नामवाची हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

तुक्। तोकम्। तनयः। तोक्म। तक्म। शेषः। अप्नः। गयः। जाः। अपत्यम्। यहुः। सूनुः। नपात्। प्रजा। बीजम्।

'अपत्यम्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'अपत्यं कस्मात् अपततं भवति नानेन पततीति वा'। इस 'अपततम्' पद के दो अर्थ हैं। प्रथम के अनुसार यहाँ 'अपततम्' में 'अप' उपसर्ग पूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु का प्रयोग है। इसका अर्थ है— पिता से दूर अर्थात् पृथक् होकर विस्तार को प्राप्त करता है, वह अपतत अर्थात् अपत्य कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ है— इसके द्वारा पितर (माता-पिता) का पतन नहीं होता है अर्थात् अपत्य-पुत्र उन्हें नरक अर्थात् दुःख से बचाता है अर्थात् उन्हें दुःख में नहीं गिरने देता। इस कारण सन्तान को अपत्य कहते हैं।

यदि जड़ जगत् पर विचार करें, तो वहाँ अपत्य का अर्थ है— कार्य पदार्थ, जो कारण रूप पदार्थ का अपत्य है। आइये, इस पर विचार करते हैं।

प्रकृतिरूप सूक्ष्मतम व मूल पदार्थ से अनेक चरणों के पश्चात् कणों व तरंगों का निर्माण होता है, इस कारण सभी विकिरण वा कण प्रकृति वा मनस्तत्त्वादि वा छन्दादि

रश्मियों के अपत्य हैं। इससे दो अभिप्राय सिद्ध होते हैं—

१. ये प्रकृति आदि कारण पदार्थ से दूर जाकर अर्थात् अनेक विकारों को प्राप्त करके कण वा विकिरण रूप में विस्तार पाते हैं अर्थात् एकरस पदार्थ से विविध रूपों वाले अनेक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसे पुत्र वा पुत्री में अपने माता-पिता का अंश डी.एन.ए. होता है, वैसे ही कणों वा विकिरणों में प्रकृति मूल रूप में भी सदैव विद्यमान रहती है।

२. कणों वा विकिरणों रूपी अपत्य प्रकृतिरूप सूक्ष्म पदार्थ को कभी नष्ट नहीं होने देते अर्थात् उसे अपने अन्दर सदैव समाविष्ट रखते हैं। उनमें विद्यमान वह मूल पदार्थ वा मनस्तत्त्व आदि कभी रिस नहीं पाता, इस कारण भी वे कण वा विकिरण उस अपने कारण रूप पदार्थ का अपत्य माने जा सकते हैं।

अब कहते हैं कि यह सब ऐसे ही माना जाता है, जैसे जनक रूप पिता की सन्तान ही अपत्य कहलाती है। इसी अर्थ में दो ऋचाएँ अग्रिम खण्डों में उद्धृत करेंगे।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥ [ऋ.७.४.७]
परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम्। अरणस्य रेक्णः। अरणोऽपार्णो भवति।
रेक्ण इति धननाम। रिच्यते प्रयतः। नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
पित्र्यस्येव धनस्य। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति। शेष इत्यपत्यनाम।
शिष्यते प्रयतः। अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति।
मा नः पथो विदूदुष इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ २॥

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥ (ऋ.७.४.७)

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है। इसका अर्थ है [वसिष्ठः = प्राणो वै वसिष्ठ ऽऋषिः (श.ब्रा.८.१.१.६)] कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व का विस्तार होता है और आकर्षणानाकर्षण बलों में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (परिषद्यम्, हि) 'परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम्' अर्थात् त्यागने योग्य वा दूर रखने योग्य होता है। (अरणस्य, रेक्णः) [रणः = संग्रामनाम (निघं.२.१७), रणाय रमणीयाय (निरु.९.२७)। रेक्णः = रिणक्ति व्ययं करोति यत् तत् रेक्णः (उ.को.४.२००)] कौन-सा पदार्थ त्यागने व दूर रखने योग्य होता है, इसका उत्तर देते हुए कहा है— 'अरणस्य रेक्णः अरणोऽपार्णो भवति रेक्ण इति धननाम रिच्यते प्रयतः' अर्थात् जिन पदार्थों में संघात व संयोजन की प्रक्रिया नहीं हो रही होती अर्थात् जिनकी ऊर्जा क्षीण हो चुकी है, ऐसे समीपस्थ व दूरस्थ पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया में त्याज्य होते हैं। ऐसे पदार्थ किन्हीं संयोजन आदि क्रियाओं में भाग लेते हुए क्षीणबल हो जाते हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा कुछ रिस जाती है और वे सूक्ष्म कणादि पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में अलग-अलग पड़े रहते हैं।

अब कौनसे पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया में काम आते हैं, यह बताते हुए कहा है—

(नित्यस्य, रायः, पतयः, स्याम) 'नित्यस्य रायः पतयः स्याम पित्र्यस्येव धनस्य' [रायः = पशवो वै रायः (काठ.सं.२६.६, श.ब्रा.३.३.१.८), नित्यः = नियमेन नियतं वा भवं- नि+त्यप् (आ.को.)] सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेने में वे ही कण आदि पदार्थ समर्थ होते हैं, जो नियमित और नियन्त्रित मरुद् वा छन्द रश्मियों के पालक अर्थात् उनसे युक्त वा संरक्षित होते हैं। जब वे रश्मियाँ अनियन्त्रित एवं क्षणिक होती हैं, तब वे संगमन योग्य नहीं होती। [पितरः = ऊष्मभागा ही पितरः (तै.ब्रा.१.३.१०.६)] यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि जो पदार्थ ऊष्मायुक्त होते हैं, वे ही संगमनीय होते हैं, ऊष्माविहीन कण कभी भी सृष्टि प्रक्रिया का भाग नहीं बन सकते।

(न, शेषः, अग्ने, अन्यजातम्, अस्ति) 'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः' [अन्यः = अन्यो नानेयः (निरु.१.६), अन्ये सपत्नाः (निरु.१०.२७), सपत्नः = पाप्मा वै सपत्नः (श.ब्रा.८.५.१.६)] अर्थात् दूरस्थ वा अनियन्त्रित अथवा असुर पदार्थ से आक्रान्त अग्नि तत्त्व शेष अर्थात् अपने कार्यरूप अणुओं का निर्माण करने में सक्षम नहीं हो सकता है। इसका आशय यह है कि जब कहीं अत्यन्त ऊष्मायुक्त पदार्थ

पूर्णतः विक्षुब्ध वा अनियन्त्रित हो जाए अथवा वह बहुत दूरस्थ हो अथवा वह असुर पदार्थ से घिरा हुआ उत्पन्न हुआ हो, तब वह अग्रिम चरण के पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकता। यहाँ कार्य रूप पदार्थ को अपत्य के साथ-२ शेष भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि जब वह अग्नि प्रकृष्ट रूप में नियन्त्रित हो गया हो, तभी अपने कार्य रूप पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होता है अर्थात् वह अग्नि कार्य रूप पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है अथवा उस पदार्थ के रूप में शेष रहता है। उदाहरण के लिए सृष्टि प्रक्रिया में वायु अथवा अग्नि तत्त्व अपने अग्रिम चरण की प्रक्रियाओं को पूर्ण करके क्रमशः अग्नि और जल तत्त्व के रूप में शेष रह जाते हैं। इस कारण ये पदार्थ क्रमशः वायु और अग्नि के शेष हैं।

(अचेतानस्य, मा, पथः, विदुक्षः) 'अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति मा नः पथो विदूदुष इति' अर्थात् दीप्तिविहीन आदि पदार्थ विभिन्न क्रियाओं के दौरान भटक जाते हैं अर्थात् वे सृष्टि प्रक्रिया का भाग नहीं बनते। अग्नितत्त्व इन सभी प्रक्रियाओं में विभिन्न पदार्थों के मार्गों को विकृत नहीं करता अथवा उनके मार्गों को विकृत नहीं होने देता अर्थात् अग्नि तत्त्व के द्वारा ही अर्थात् समुचित ऊष्मा आदि ऊर्जा के द्वारा ही सभी सूक्ष्म कण आदि पदार्थ विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए अपने-२ मार्गों पर समुचित रूप से गमन करने में सक्षम हो पाते हैं।

भावार्थ— क्षीण ऊर्जा वाले कण सृष्टि में यजन प्रक्रिया से दूर हो जाते हैं और वे ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र विचरते रहते हैं। जो कण नियन्त्रित मरुद् वा छन्दादि रश्मियों से युक्त होते हैं, वे यजन प्रक्रिया में सक्रिय होते हैं। जब मरुदादि रश्मियाँ अनियन्त्रित होती हैं, उस समय वे संगमन योग्य नहीं होतीं। ऊष्मायुक्त कण संगमनीय होते हैं, ऊष्माविहीन कण नहीं। दूरस्थ अनियन्त्रित वा असुर पदार्थ से आक्रान्त कण भी किसी पदार्थ का निर्माण नहीं कर सकते। दीप्तियुक्त पदार्थ ही अग्रिम चरण के पदार्थों का निर्माण कर पाते हैं, दीप्तिविहीन नहीं।

और अधिक स्पष्टता के लिए अगली ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत करेंगे।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥ [ऋ.७.४.८]
न हि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽपि। अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यः।
ममायं पुत्र इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवति।
ओक इति निवासनामोच्यते। एतु नो वाजी वेजनवान्।
अभिषहमाणः सपत्नान्। नवजातः स एव पुत्र इति।

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥ (ऋ.७.४.८)

इस मन्त्र का ऋषि और देवता पूर्वोक्तवत् है तथा छन्द पंक्ति है, इस कारण इसका दैवत एवं छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् समझें। भेद इतना अवश्य है कि इसके प्रभाव से पूर्वोक्तवत् आकर्षण व प्रतिकर्षण बलों की समृद्धि नहीं होती, परन्तु अग्नि तत्त्व का विस्तार यथावत् अवश्य होता है।

आधिदैविक भाष्य— (नहि, ग्रभाय, अरणः) 'न हि ग्रहीतव्योऽरणः' अर्थात् क्षीण बल युक्त कण पारस्परिक संयोग-वियोग प्रक्रियाओं के लिए ग्राह्य नहीं होते, क्योंकि यदि उनका संयोग हो भी जाए, तो वह अस्थिर होता है, जिसके कारण अग्रिम उत्पादों का निर्माण सम्भव नहीं होता। (सुशेवः, अन्यः, उदर्यः) 'सुसुखतमोऽपि अन्योदर्यो' [उदरम् = उदरं उखा (श.ब्रा.७.५.१.३८), उदरमेवास्य (यज्ञस्य) सदः (श.ब्रा.३.५.३.५), उद्दृणाति येनान्नमिति उदरम् (उ.को.५.१९), उदरं वै सप्तदश स्तोमानाम् (जै.ब्रा.२.१३५)] दूरस्थ उखा अर्थात् सुदूर अन्तरिक्ष में स्थित सप्तदश स्तोम संज्ञक सत्रह गायत्री रश्मियों, जिनके बारे में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ३.४२.२ पठनीय है, में विद्यमान कोई भी सूक्ष्म पदार्थ यद्यपि अपने स्थान पर सृजन प्रक्रियाओं के लिए सुखकर अर्थात् अनुकूल होता है, (मनसा, मन्तवा, उ) 'मनसापि न मन्तव्यः ममायं पुत्रः इति' तथापि मनस्तत्त्व के द्वारा अप्रकाशित ही रहता है अर्थात् सृजन प्रक्रियाओं से युक्त होने वाला नहीं होता। इसका कारण यह है कि सुदूर स्थित अथवा असुर पदार्थ से आच्छादित वह संयोजनीय पदार्थ अपने स्थान पर

तो सृजन प्रक्रियाओं को सम्पन्न कर सकता है, परन्तु दूर स्थित किसी पदार्थ से संयुक्त नहीं हो सकता।

[पुत्रः = तस्मादाहुः कर्तुरेव पुत्र इति (काठ.सं.१३.३), वरो हि पुत्रः (काठ.सं.९.१४)]

इस कारण उस दूरस्थ पदार्थ को यहाँ स्थित पदार्थ अपना उत्पाद अथवा उत्पादक नहीं मान सकता। यहाँ पुत्र का अर्थ श्रेष्ठ निर्माता और अपना कार्यरूप पदार्थ (उत्पाद) दोनों ही मानने चाहिए। (अध, चित्, ओकः, पुनः, इत्, सः, एति) 'अथ स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवति ओक इति निवासनामोच्यते' अर्थात् फिर भी इसके अनन्तर वह चला जाता है, उस स्थान पर, जहाँ से वह आया है। इसका आशय यह है कि दूरस्थ पदार्थ यदि किसी आकर्षण बल के द्वारा आकर्षित किया भी जाता है, तो वह कुछ दूर चलकर वापिस अपने पूर्व स्थान पर लौट जाता है। इसी प्रकार कोई अणु यदि सुदृढ़ बलों से युक्त हो और किसी प्रकार विखण्डित हो जाए और उसके कुछ आयन अन्य किसी आयन से संयुक्त हो जायें, परन्तु उनके मध्य बन्धन बल दुर्बल हो, तो वह आयन उस अणु से टूटकर पुनः पूर्व अणु का रूप धारण कर लेता है। यहाँ तात्पर्य यही है कि आयनों से मिलकर अणु के निर्माण की एक व्यवस्थित प्रक्रिया है।

(आ, नः, वाजी, अभीषाड्, एतु, नव्यः) 'एतु नो वाजी वेजनवान् अभिषहमाणः सपत्नान् नवजातः स एव पुत्र इति' यहाँ 'नः' सर्वनाम का प्रयोग उन कणों के लिए है, जो संयोग की इच्छा करने वाले होते हैं। इस कारण इस पाद का आशय यह है कि ये कण ऐसे नवीन उत्पन्न कणों की कामना करते हैं, जो उचित वेग व ऊर्जा से युक्त होकर बाधक असुरादि पदार्थों को कम्पित करने और दबाने में सक्षम होते हैं। यहाँ यह संकेत मिलता है कि जब किसी क्षेत्र में किन्हीं कणों के साथ संयुक्त होने योग्य जिस प्रकार के कणों की आवश्यकता होती है, वे कण उसी क्षेत्र में उत्पन्न होने लगते हैं। वे कण पूर्व उत्पन्न कणों के अपत्य अर्थात् कार्य रूप होते हैं। इसके साथ ही वे कण संयोग आदि क्रियाओं को करने में भी श्रेष्ठ होते हैं, इसलिए भी उन्हें पुत्र कहा है।

अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्येके॥ ३॥

अब यहाँ कुछ विद्वान् निम्नलिखित मन्त्र को दुहिता के दाय भाग, तो अन्य विद्वान् इसे पुत्र के दाय भाग के रूप में उद्धृत करते हैं। यहाँ आधिदैविक पक्ष में दुहिता तथा पुत्र

दोनों ही पदार्थ विशेष के नाम हैं, जिनकी चर्चा हम अग्रिम मन्त्र के आधिदैविक भाष्य में करेंगे।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ [ऋ.३.३१.१] प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता। दूरे हिता। दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमत्। दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान्प्रजननयज्ञस्य। रेतसो वा। अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य। विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति।

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (ऋ.३.३१.१)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र वा कुशिक् है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण-अपान अथवा विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसके विषय में पूर्व के २.२४-२६ खण्ड द्रष्टव्य हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द विराट् पंक्ति है, इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व विविध प्रकार से प्रकाशित और विस्तृत होता है।

आधिदैविक भाष्य— (शासत्, वह्निः, दुहितुः) 'प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम् दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा' यहाँ दुहिता उन छन्द रश्मियों एवं उनसे युक्त पदार्थ को कहा गया है, जो अपने उत्पादक पदार्थ से दूर चली जाती हैं वा चला जाता है। इसके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ३.३३ एवं ४.७ द्रष्टव्य है, जहाँ पिता के रूप में सोम रश्मियों एवं मनस्तत्त्व को ग्रहण किया है और ये तत्त्व भी उन रश्मियों वा पदार्थों को धारण करते हैं, परन्तु यह धारण कर्म इस कारण कठिन होता है, क्योंकि उनके मध्य दूरी

होने के कारण आकर्षण बल दुर्बल हो जाता है, फिर भी ये दुहिता संज्ञक पदार्थ अपने उत्पादक तत्त्व से निरन्तर कुछ सूक्ष्म रश्मियों को ग्रहण करते हैं, इसी कारण इन्हें दुहिता कहा जाता है। इनके उत्पादक सोम अथवा मनस्तत्त्व को वोढा कहा गया है। इसका आशय यह है कि यह पदार्थ दूरस्थ रहते हुए भी दुहिता संज्ञक पदार्थों को वहन करता है और अपने विस्तार अथवा विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं के विस्तार के लिए उस दुहिता संज्ञक पदार्थ को पुत्रभाव से ग्रहण करता है। यहाँ पुत्र ऐसे पदार्थ का नाम है, जो श्रेष्ठ रूप से क्रियाशील होता है। इसके लिए इसी अध्याय के प्रथम व द्वितीय खण्ड द्रष्टव्य हैं।

(नप्त्यम्, गात्) 'नप्तारमुपागमत् दौहित्रं पौत्रमिति' [नप्त्यम् = पातेन नाशेन रहितम् (म.द.ऋ.भा.१.५०.९), न पततीति नप्ता पौत्रो दौहित्रो वा (उ.को.२.९७)] वह वोढा रूप सोम तत्त्व दुहिता रूप पदार्थ से ऐसा पदार्थ उत्पन्न कर देता है, जो असुरादि पदार्थ के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह सृजन क्रियाओं में सक्रिय रहता है। यह पदार्थ पूर्वोक्त पुत्र रूप पदार्थ से उत्पन्न पदार्थ के समान ही सक्रिय होता है, इस कारण ही इस पदार्थ को दौहित्र एवं पौत्र दोनों ही रूपों में माना है।

(विद्वान्, ऋतस्य, दीधितिम्, सपर्यन्) 'विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्' [विद्वान् = ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षास्त्रिवृत् पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति (तां.ब्रा. १४.१.१३), विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा.३.७.३.१०), पक्षः = पणायति स्तौति व्यवहरति वा येन यत्र वा स पक्षः (उ.को.३.६९)। अङ्गम् = अङ्गानि वै विश्वानि धामानि (श.ब्रा. ३.३.४.१४), क्षिप्रनाम (निरु.५.१७)। हृदयम् = हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.६.२.१५), असौ वाऽआदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०)। दीधिति = रश्मिनाम (निघं.१.५), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)। माता = माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरु.२.८)] विभिन्न देव = प्रकाशित कण त्रिवृत् एवं पञ्चदश स्तोम अर्थात् गायत्री छन्द समूह की सहायता से नाना प्रकार के सामर्थ्य को प्राप्त करके आदित्य लोक के अथवा विभिन्न विकिरणों के अंग-२ में उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की संयोजनीय उदक रश्मियों को विशेष रूप से धारण करते हुए एवं उन आकर्षण एवं प्रतिकर्षण करने वाली रश्मियों की ओर गमन करते हुए (पिता, यत्र, दुहितुः, सेकम्, ऋञ्जन्) वह पिता संज्ञक सोम पदार्थ जहाँ दुहिता संज्ञक विभिन्न पूर्वोक्त पदार्थों को सूक्ष्म उत्पादक रश्मियों से सिञ्चित करता

है। (सम्, शग्म्येन, मनसा, दधन्वे) [शग्म्यम् = सुखनाम (निघं.३.६)। दधन्वे = प्रीणाति (म.द.ऋ.भा.३.३१.१), धरति (म.द.ऋ.भा.२.५.३)] वह पितृ संज्ञक सोम पदार्थ मनस्तत्त्व के द्वारा सहजतापूर्वक दुहिता संज्ञक पदार्थ को धारण और तृप्त करता है।

भावार्थ— कॉस्मिक मेघों में कभी ऐसी भी घटनाएँ घटती हैं, जब उसके एक क्षेत्र में सोम तत्त्व अर्थात् मरुद् रश्मियों की प्रधानता होती है और उससे उत्पन्न कुछ पदार्थ उससे दूर चला जाता है और कुछ पदार्थ वहीं रहता तथा उससे अन्य पदार्थ उत्पन्न होता है। मरुद् रश्मियाँ अपने से उत्पन्न तेजस्वी पदार्थ को धारण तो करती हैं, परन्तु ऐसा करना कठिन होता है और इस धारण कर्म का माध्यम कुछ सूक्ष्म रश्मियाँ होती हैं। वह तेजस्वी पदार्थ बहुत क्रियाशील होता है। इस पदार्थ को असुरादि बाधक पदार्थ बाधित नहीं कर पाता। उस समय सोम पदार्थ के अन्दर तीन व पन्द्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूह उत्पन्न होने लगते हैं। इसके साथ अन्य अनेक प्रकार की आकर्षण व प्रतिकर्षण युक्त रश्मियाँ भी वहाँ विद्यमान होती हैं। वह सोम पदार्थ वा मरुद् रश्मियाँ उन रश्मियों के साथ मिलकर दूरस्थ तेजस्वी पदार्थ पर उनका प्रहार करती हैं। इससे उस तेजस्वी पदार्थ में नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। यहाँ सोम पदार्थ एवं दूरस्थ पदार्थ दोनों क्रमशः ऋणात्मक एवं धनात्मक मेघ का रूप हो सकते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति' अर्थात् पुत्र और दुहिता रूप दोनों ही प्रकार के पदार्थ पुत्र रूप ही होते हैं और उनसे समान प्रकार की ही उत्पादन प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों ही पदार्थों में विशेष भेद नहीं होता।

तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्।
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ इति। [जै.गृ.१.८]
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥
न दुहितर इत्येके।
तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्री। [मै.सं.४.६.४] इति विज्ञायते।

तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्। [काठ.सं.२७.९] इति च।
स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके।
शौनःशेपे दर्शनात्।

उपर्युक्त प्रकरण में एक ऋचा और एक श्लोक को उद्धृत करते हैं। वह ऋचा इस प्रकार उद्धृत की गयी है—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ (जै.गृ.१.८)

इसे विभिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-२ ग्रन्थों से उद्धृत माना है। किसी ने इसे शतपथ ब्राह्मण, किसी ने गोभिल गृह्यसूत्र, तो किसी ने जैमिनीय गृह्यसूत्र का माना है। हमें यह मन्त्र दो भागों में शतपथ १४.९.४.२६ एवं १४.९.४.८ में उपलब्ध हुआ है। इसको ग्रन्थकार ने ऋचा नाम दिया है। इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"इनमें से किसी का भी ऋग्वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यहाँ 'ऋक्' शब्द से ऋग्वेद के मन्त्र का ग्रहण न करके 'अर्च्यते स्तूयते अनया इति ऋक्' इस व्युत्पत्ति द्वारा पुत्र के 'स्तुति-परक श्लोकों द्वारा' यह अर्थ करना चाहिये।"

हमारे मत में यह ऋचा ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा की हो सकती है, यही मत पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भी है। आचार्य विश्वेश्वर का इसे अन्यथा ग्रहण करना उचित नहीं है। पाठक इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पढ़ें, जहाँ उन ऋचाओं, जो किसी वेद संहिता वा शाखा में विद्यमान नहीं हैं, परन्तु ब्राह्मणादि ग्रन्थों वा आश्वलायन श्रौत सूत्रादि में विद्यमान हैं, को ब्रह्माण्ड में विद्यमान माना है।

आधिदैविक भाष्य— जो पदार्थ (अङ्गात्, अङ्गात्, सम्भवसि) कॉस्मिक मेघ के विभिन्न भागों में विद्यमान (हृदयात्, अधि, जायसे) हृदय रूप विकिरणों अथवा निर्माणाधीन आदित्य लोकों से/में उत्पन्न होता है। इसका आशय है कि विशाल कॉस्मिक मेघों में अनेक तारों का गर्भ पल रहा होता है और वह गर्भ उस मेघ के भिन्न-२ भागों में स्थित होता है।

(आत्मा, वै, पुत्रनाम, असि) [आत्मा = आत्मा वै ब्राह्मणाच्छंसी (कौ.ब्रा.२८.९), आत्मा त्रिष्टुप् (श.ब्रा.६.२.१.२४; ६.६.२.७), आत्मा होतृचमसः (ऐ.ब्रा.२.३०)] वह पदार्थ क्या

होता है, इसका संकेत यहाँ किया गया है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ६.४ में तीन गायत्री छन्द रश्मियों को ब्राह्मणाच्छंसी कहा गया है। इन तीनों छन्द रश्मियों के समूह को अनेकत्र ब्राह्मणाच्छंसी कहा गया है। उधर अन्य ऋषियों ने इस विषय में कहा है—

ब्राह्मणाच्छंसिनं वृणीते त्रिष्टुभं तच्छन्दसां वृणीते (काठ.सं.२६.९; क.सं.४१.७)

इन सभी वचनों से सिद्ध होता है कि गायत्री तृच, जो ब्राह्मणाच्छंसी कहा जाता है, वह इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करने वाली त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से सम्पन्न होतृचमस अर्थात् मेघ रूपी कणों का भाग होता अथवा उनमें विद्यमान रहता है। वही पदार्थ पुत्र अर्थात् विशेष सक्रिय कणों का रूप होता है। (सः, जीव, शरदः, शतम्) [शरत् = यद् विद्योतते तच्छरदः (रूपम्) (श.ब्रा.२.२.३.८), शरद्धविः (तै.आ.३.१२.३)। शतम् = बहुनाम (निघं.३.१), एषा वाव यज्ञस्य मात्रा यच्छतम् (तां.ब्रा.२०.१५.१२)] ऐसा पदार्थ विद्युत् से समृद्ध होकर हवि बनकर आदित्यादि लोकों के सृजन की प्रक्रियापर्यन्त जीवित रहता है अर्थात् सृजन कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ— विशाल कॉस्मिक मेघों से केवल एक सौरमण्डल का ही निर्माण नहीं होता, अपितु उस मेघ में अनेक तारों का गर्भ भी पल रहा होता है। तीन गायत्री छन्द रश्मियों का समूह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से सम्पन्न कणों के अन्दर विद्यमान होता है। ऐसा पदार्थ तारों के जीवनकाल तक उनमें विद्यमान रहता है।

यहाँ सूक्ष्म पदार्थ को पुत्र कहा गया है, वह पदार्थ पूर्वोक्त दुहिता रूप पदार्थ के समान ही होता है, इस कारण उन दोनों से ही समान प्रकार के लोकों का निर्माण होता है। ब्रह्माण्ड की इसी घटना को देखकर मानव जाति में पुत्र और पुत्री दोनों की समानता और दोनों के समान दायभाग की व्यवस्था प्रारम्भ हुई थी, जिस व्यवस्था को भगवान् मनु ने वर्णित किया है। इसी कारण ग्रन्थकार ने किसी प्राचीन अज्ञात लेखक के ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखा है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

अर्थात् पुत्र और पुत्रियों का बिना भेदभाव के धर्मानुसार पिता की सम्पत्ति में समान भाग होता है, ऐसी व्यवस्था सृष्टि के आदि में भगवान् स्वायम्भुव मनु ने अपनी मनुस्मृति में दी

है। इस विषय में हम यहाँ मनुस्मृति के तीन श्लोकों को उद्धृत करते हैं—

''अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ (मनु.९.१२७)

(अपुत्रः) पुत्रहीन पिता (अस्यां यत्+अपत्यं भवेत् तत् मम स्वाधाकरं स्यात्) इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मुझे वृद्धावस्था में अन्न-भोजन आदि से पालन-पोषण करने वाला होगा और इस प्रकार सुख देने वाला होगा (अनेन विधिना सुतां पुत्रिकां कुर्वीत) ऐसा दामाद से कहकर कन्या को 'पुत्रिका' करे॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ (मनु.९.१३०)

(यथा+एव आत्मा तथा पुत्रः) जैसी अपनी आत्मा है, वैसा ही पुत्र होता है और (पुत्रेण दुहिता समा) पुत्र जैसी ही पुत्री होती है। (तस्याम्+आत्मनि तिष्ठन्त्याम्) उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुए (अन्यः धनं कथं हरेत्) कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है? अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है।

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥ (मनु.९.१३४)

(पुत्रिकायां कृतायां तु) पुत्रिका कर लेने के बाद (यदि पुत्रः+अनुजायते) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये, तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में उन दोनों को (धेवता और निजपुत्र को) धन का समान भाग मिलेगा (हि) क्योंकि (स्त्रियः ज्येष्ठता न+अस्ति) स्त्री को ज्येष्ठत्व = बड़े पुत्र की भाँति 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होता। अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा।''

ज्ञातव्य — उपर्युक्त तीनों श्लोकों का अर्थ डॉ. सुरेन्द्र कुमार के भाष्य से लिया गया है।

ध्यातव्य है कि मनुष्य ने सम्पूर्ण व्यवहार सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद से सीखा। इस विषय में स्वयं भगवान् मनु का कथन है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनु.१.२१)

डॉ. सुरेन्द्र कुमार कृत अर्थ— (सः) उस परमात्मा ने (सर्वेषां तु नामानि) सब पदार्थों के नाम (यथा-गो जाति का 'गौ', अश्व जाति का 'अश्व' आदि] (च) और (पृथक्-पृथक् कर्माणि) भिन्न-२ कर्म [यथा-ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि (१.२६-३०)] (च) तथा (पृथक् संस्थाः) पृथक्-पृथक् विभाग [जैसे— प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि (१.४२-४९)] या व्यवस्थाएँ [यथा-चार वर्णों की व्यवस्था (१.३१, १.८७-९१)] (आदौ) सृष्टि के प्रारम्भ में (वेदशब्देभ्यः एव) वेदों के शब्द से ही (निर्ममे) बनायीं अर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया।

इस प्रकार मनुष्य ने लोकव्यवहार जहाँ वेद से सीखा, वहीं उसने लोकव्यवहार सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं वा घटनाओं से भी सीखा। इसी का संकेत स्वयं ऋग्वेद में किया गया है—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।

अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा के द्वारा सृष्टि में किए जा रहे विभिन्न कर्मों को देखकर मनुष्य लोकव्यवहार की शिक्षा प्राप्त करता है।

इस प्रकार कॉस्मिक मेघों में घट रही पूर्वोक्त सृष्टि प्रक्रिया को देखकर ही भगवान् मनु ने पुत्र-पुत्री की समानता मनुस्मृति में दी, जिसे ग्रन्थकार ने सृष्टि विज्ञान के प्रकरण में ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

पुत्र-पुत्री की समानता को उद्धृत करने के पश्चात् ग्रन्थकार किन्हीं अन्य विद्वानों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'न दुहितर इत्येके। तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्री। इति विज्ञायते। (मै.सं.४.६.४), तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्। (काठ.सं.२७.९) इति च' अर्थात् ये विद्वान् कहते हैं कि दुहिता अपने पिता के दायभाग की अधिकारिणी नहीं होती। इसके लिए मैत्रायणी संहिता का उपर्युक्त वचन उद्धृत करते हैं— 'तस्मात्पुमान् दायादोऽदायादा स्त्री'। पुनः काठक संहिता को उद्धृत किया है— 'तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुंसाम्'।

वस्तुतः काठक संहिता का यही पाठ मैत्रायणी संहिता के उपर्युक्त वचन के साथ ही इसी संहिता में उद्धृत है। यहाँ सभी भाष्यकार उस सामाजिक व पारिवारिक परम्परा

का ग्रहण कर रहे हैं, जिसमें पुत्र को पिता का उत्तराधिकारी माना है और पुत्री को अनधिकारिणी माना गया है। यहाँ मैत्रायणी संहिता में दोनों पाठ विद्यमान हैं, जबकि काठक संहिता में द्वितीय पाठ यथावत् विद्यमान होने के साथ प्रथम पाठ के स्थान पर 'तस्मात् स्त्री निवीर्या अनिवीर्यः पुमान्' पाठ है। दोनों ही ग्रन्थों में सृष्टि का ही प्रकरण चल रहा है, जहाँ मै.सं.४.६.५ का प्रारम्भ 'इन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' से होता है और इसी से काठक संहिता २७.१० का प्रारम्भ होता है। इतने पर भी स्कन्दस्वामी से लेकर अद्यपर्य्यन्त भाष्यकारों ने अपनी मत्यानुसार रूढ़ अर्थ किया है और इसे मात्र पारिवारिक व्यवहार तक सीमित करके वेद के वेदत्व को महती क्षति पहुँचाने का कार्य किया है।

अब हम मैत्रायणी संहिता का अपेक्षाकृत बृहत्पाठ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

'तस्मादविज्ञातेन गर्भेण भ्रूणहाऽथ यत् स्थालीꣳ रिञ्चन्ति न दारुमयं तस्मात् पुमान्दायादः स्त्र्यदायादथ यत् स्थालीं परास्यन्ति न दारुमयं तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमाꣳसम्।'

उधर काठक संहिता में पाठ है—

'तस्माद् गर्भेणाविज्ञातेन भ्रूणहा स्थाल्या गृह्णाति वायव्येन जुहोति तस्मात् स्त्री निवीर्यानिवीर्यः पुमान् परा स्थालीमस्यन्ति न वायव्यं तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्।'

मैत्रायणी संहिता में उपर्युक्त उद्धरण से पूर्व लिखा है—

'गायत्र्या वा एते लोके सर्वे सोमा गृह्यन्ते।'

इन सबसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सृष्टि विज्ञान का ही प्रकरण है। [स्थाली = यासु पदार्थान् स्थापयन्ति पाचयन्ति वा सा (तु.म.द.य.भा.१९.२७), पुमान् = स्त्री वै वेदिः। पुमान् वेदो यद्वेदेन वेदिँ संमार्ष्टि (काठ.सं.३१.१२), पुमान्पुरुमना भवति पुंसतेर्वा (निरु.९.१५) (पुंस अभिवर्धने)। दारु = दारु दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा (निरु.४.१५), गर्भः = वायव्या गर्भाः (तै.ब्रा.३.९.१७.५), एष वै गर्भो देवानां यऽएष (सूर्यः) तपत्येष हीदꣳ सर्वं गृभ्णात्येतेनेदꣳ सर्वं गृभीतम्। (श.ब्रा.१४.१.४.२)] यहाँ स्थाली का अर्थ अन्तरिक्ष ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसी में सब पदार्थ स्थित होते हैं और परिपक्व होते हैं।

इन सब प्रमाणों से यह विदित होता है कि यहाँ 'गर्भ' शब्द का अर्थ निर्माणाधीन

तारों के वे केन्द्र होते हैं, जिनमें वायु तत्त्व के साथ-२ सूक्ष्म कणों का संघनन हो रहा होता है और उस संघनन को सम्पादित करने में विशेष भूमिका निभाने वाली रश्मि वा तरंगें भ्रूणहा कहलाती हैं। यहाँ हन् धातु का अर्थ हिंसा नहीं, बल्कि प्राप्ति और गति ग्रहण करना चाहिए। इन लोकों के गर्भ रूपी केन्द्र जब स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, उस समय वे स्थाली रूपी आकाश के द्वारा संघनन क्रिया को सम्पन्न करते हैं अर्थात् आकाश तत्त्व वायु को सम्पीडित करता है। यहाँ वायु तत्त्व का अर्थ वर्तमान भौतिक विज्ञान की भाषा में वैक्यूम एनर्जी ग्रहण कर सकते हैं। काठक संहिता के पाठ में 'गृह्णाति' क्रियापद का प्रयोग है, जबकि मैत्रायणी संहिता में 'रिञ्चन्ति' का प्रयोग है। यहाँ 'रिञ्चन्ति' को 'रिच वियोजनसंपर्चनयो:' धातु का छान्दस प्रयोग मानना चाहिए, जिसका अर्थ बाँधना, फैलाना, एकत्र करना एवं अलग-२ करना आदि है। इस प्रकार दोनों ही संहिताओं में एक ही बात कही गई है। आकाश तत्त्व इन सभी क्रियाओं को सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियों के सहयोग से सम्पन्न करता है। जब तारों के केन्द्र बन रहे होते हैं, तब पदार्थ के संयोजन और वियोजन दोनों ही प्रकार की क्रियाओं की अनिवार्यता होती है।

मैत्रायणी संहिता में जो 'दारुमय' पद है, उसके स्थान पर काठक संहिता में 'वायव्य' पद है। इस कारण इन दोनों ही पदों को समानार्थक मानना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश तत्त्व उस वायु तत्त्व को संघनित करता है, जो उस क्षेत्र में विद्यमान होता है, परन्तु वह वायु तत्त्व, जो उस क्षेत्र के बाहर विद्यमान होता है, केन्द्रीय वायु तत्त्व को संघनित नहीं कर सकता। इसी आधार पर संहिताकारों का मत यह है कि पुमान् अर्थात् वेदरूपी विभिन्न छन्द रश्मियाँ ही उन केन्द्रों का वास्तविक भाग बनती हैं, न कि आकाश तत्त्व। यहाँ आकाश तत्त्व वेदि, स्थाली और स्त्री रूप है और वायु तत्त्व, उसकी अवयवभूत छन्द रश्मियाँ, वेद एवं पुरुष रूप है।

तदनन्तर दोनों संहिताओं का अर्थ यह भी मानते हैं कि स्थाली रूप आकाश को त्याग या दूर कर देते हैं, जबकि वायव्य गर्भ अर्थात् दारुमय नामक पदार्थ को दूर नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि तारे के निर्माण के पश्चात् उस क्षेत्र के आकाश तत्त्व का बहुत बड़ा भाग तारे से बाहर हो जाता है, क्योंकि उस क्षेत्र का अधिकांश वायु तत्त्व संघनित होकर तारे में बदल जाता है। इसलिए स्त्री रूप वेदि, जिसमें नाना प्रकार का संयोग-वियोग का व्यापार चल रहा था, वह पृथक् हो जाता है। उसका कुछ भाग तारे का

भाग बन जाता है और कुछ भाग बाहर निकल जाता है, परन्तु पुरुष रूप वेद अर्थात् छन्द रश्मियाँ बाहर नहीं जाती हैं, बल्कि तारे का भाग बनी रहती हैं। यही इन संहिताकारों के कथन का वैज्ञानिक प्रयोजन है।

इसी के अनुसार ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः' अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही स्त्री रूप पदार्थों का दान, उनका विक्रय और उनका त्याग देखा जाता है, पुरुष रूप पदार्थों का नहीं। यहाँ स्त्री और पुरुष का अर्थ उपर्युक्तानुसार ग्रहण करने पर इसका स्पष्टीकरण भी वहीं हो जाता है, इस कारण हम स्त्री और पुरुष के अन्य अर्थों पर भी विचार करते हैं।

[स्त्री = अवीर्या वै स्त्री (श.ब्रा.२.५.२.३६), वागिति स्त्री (जै.उ.४.२२.११)। योषा = योषा हि वाक् (श.ब्रा.१.४.४.४)। पुमान् = वीर्यम् पुमान् (श.ब्रा.२.५.२.३६)। वृषा = वृषा हि मनः (श.ब्रा.१.४.४.३)]

इन आर्ष वचनों पर विचार करें, तो निस्तेज अर्थात् अल्प ऊर्जा वाले कण विभिन्न क्रियाओं से बाहर होकर खो जाते हैं अर्थात् वे उनमें भाग नहीं ले पाते, जबकि अपेक्षित तेजस्वी एवं ऊर्जावान् कण भाग लेते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म स्तर पर मनस्तत्त्व की अपेक्षा वाक् रश्मियों का ही आवागमन देखा जाता है। यह आवागमन त्याग, किसी दूसरे पदार्थ के बदले में ग्रहण वा दान के रूप में होता है। इसी कारण कहा है कि स्त्री संज्ञक पदार्थों का ही दान, विक्रय और त्याग होता है, पुरुष संज्ञक पदार्थों का नहीं। ऐसा विधान एक-दूसरे के सापेक्ष ही जानना चाहिए, सर्वथा निरपेक्ष नहीं।

यहाँ ग्रन्थकार कुछ अन्य आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्' पुमान् संज्ञक पदार्थों का भी दान, विक्रय और त्याग देखा जाता है और इसके उदाहरण के लिए वे शौनःशेप आख्यान में वर्णित शुनःशेप के विक्रय की चर्चा करते हैं। शौनःशेप उपाख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के ३३वें अध्याय में विस्तार से वर्णित है। इसके साथ ही यह उपाख्यान वाल्मीकि रामायण एवं कुछ कथित पुराणों में भी वर्णित है। उन सभी ग्रन्थों और निरुक्त के सभी भाष्यकारों ने शुनःशेप को एक व्यक्ति मानकर उसके विक्रय की बात स्वीकार की है। ऐतरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में महाराजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के द्वारा महर्षि अजीगर्त से उसके मध्यम पुत्र शुनःशेप को वरुण देवता के यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए १०० गौ देकर खरीदने की चर्चा सभी भाष्यकारों ने

की है। इसी प्रकार निरुक्त के सभी भाष्यकारों ने पुरुष के विक्रय के उदाहरण के रूप में उस उपाख्यान को यहाँ उद्धृत माना है। क्या आर्यसमाजी और क्या पौराणिक (कथित सनातनी) सभी ने एक स्वर से इस प्रकरण को पुरुष विक्रय के रूप में स्वीकार किया है।

पौराणिक अथवा किन्हीं विदेशियों की कथा क्या कहें, स्वयं को ऋषि दयानन्द का अनुयायी मानने वाले, वेद के अर्थों की यौगिकता का डंका पीटने वाले आर्य विद्वान् भी वेद की यौगिकता एवं वैज्ञानिकता को छोड़कर ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त शास्त्र की महती वैज्ञानिक परम्परा को न पहचानकर इस प्रकरण को दायभाग का प्रकरण मानकर शुनःशेप के विक्रय की बात कह बैठे। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इनमें से किसी ने भी यह नहीं सोचा कि शुनःशेप के उपाख्यान में शुनःशेप किसलिए खरीदा था? क्या उसे बलि चढ़ाने के लिए नहीं खरीदा था? क्या इन विद्वानों को नरबलि की वैदिकता स्वीकार्य है? यदि हाँ, तो उन्हें स्वयं को वेद का विद्वान् और भगवान् महर्षि ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त ऋषियों की परम्परा का अनुयायी कहने का प्रलाप बन्द कर देना चाहिए और यदि वे नरबलि को घोर पाप एवं वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध मानते हैं, तो उन्हें इस सम्पूर्ण प्रकरण को दायभाग के उदाहरण के रूप में मानने की अज्ञानता नहीं करनी चाहिए। उन्हें सोचना चाहिए कि वेदादि शास्त्रों के रूढ़ अर्थ करने से वेद का कैसे-२ सर्वनाश हुआ है। ऋषि दयानन्द के आने के पश्चात् तो हमें अपनी बुद्धि के नेत्रों को खोलने का कुछ प्रयास करना चाहिए। जो पाठक शुनःशेप उपाख्यान की अँधेरी भुल-भुलैयों में अब तक भटक रहे हैं और वैदिक विज्ञान का कुछ प्रकाश पाने की इच्छा रखते हैं, तो उन्हें हमारे ग्रन्थ 'वेदविज्ञान-आलोकः' के ३३वें अध्याय को धैर्य व गम्भीरता से पढ़ना चाहिए।

जिसको सभी भाष्यकार शुनःशेप नामक व्यक्ति मानते रहे हैं, वस्तुतः उस नाम की इस ब्रह्माण्ड में कुछ रश्मियाँ होती हैं। वेदविज्ञान-आलोकः ७.१५.३ के अनुसार—

"शुनःशेप नामक रश्मियाँ मध्यम बल व विस्तार से युक्त होती हैं। ये रश्मियाँ प्रजनन-उत्पादन क्षमता से विशेष सम्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ जब किसी अन्य रश्मि आदि पदार्थ से संयुक्त होती हैं, उस समय अपना तेज-बल उस रश्मि को प्रदान करके स्वयं शान्त जैसी हो जाती हैं। ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों से संयुक्त होते समय उन्हें स्पर्श मात्र करके उनमें अपना बल संचरित कर देती हैं।"

इन रश्मियों के विक्रय अर्थात् १०० प्रकार की अन्य रश्मियों के बदले में इनके देने

की चर्चा ही ऐतरेय ब्राह्मण में की गई है और ये रश्मियाँ पुरुष रूप भी हैं। उन्हीं रश्मियों को यहाँ ग्रन्थकार ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह दु:खद है कि शुन:शेप के अर्थ से बिल्कुल अनजान रहकर प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से जाने अथवा अनजाने में वेद के बड़े-२ पण्डित नरबलि का ही समर्थन करते रहे। हमने उसी पाप को धोने का प्रयास किया है।

तदनन्तर अथर्ववेद का मन्त्र उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्।

अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।

अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥ [अथर्व.१.१७.१]

अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मनः।

इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ४॥

अथर्ववेद १.१७.१ में इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥

हम यहाँ मन्त्र के ऋषि, देवता आदि का ग्रहण अथर्ववेद के अनुसार ही कर रहे हैं। वस्तुत: 'जामि' एवं 'योषा' दोनों समानार्थक पद ही हैं।

[भ्राता = भ्राता मध्यमोऽस्त्यशन: भ्राता भरतेर्हरतिकर्मण: हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्नि: (निरु.४.२६)। जामि: = जामिरन्योऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति (निरु.३.६), जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वाऽसमानजातीयस्य वोपजन: (निरु.४.२०), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), उदकनाम (निघं.१.१२)]

यहाँ भ्रातृविहीन स्त्री संज्ञक पदार्थों के बारे में कई आचार्य अपने मत के विषय में इस मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं—

अमूर्या यन्ति जामय: सर्वा लोहितवासस:।

अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥

इस मन्त्र का ऋषि ब्रह्मा है। [ब्रह्मा = वसिष्ठो ब्रह्मा (ऐ.ब्रा.७.१६)] इस प्रकरण में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.१ में रोहित छन्द रश्मियों के अन्दर विद्यमान गायत्री छन्द रश्मियों को ब्रह्मा कहा गया है, जो तारे के अन्दर होने वाले राजसूय यज्ञ अर्थात् नाभिकीय संलयन को सबल, समृद्ध और व्यापक बनाती हैं। इन्हीं गायत्री छन्द रश्मियों से इस ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसका देवता 'हिरा' तथा छन्द अनुष्टुप् होने से [हिरा = हिराभिः स्रवन्तीर्गिरीन् (मै.सं.३.१५.७), वृद्धिः (तु.म.द.य.भा.२५.८), नाड़ी (क्षेमकरणदास त्रिवेदी भाष्य)] इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में पदार्थ की बहने वाली धाराएँ मेघ रूप पिण्डों को आकार और गति प्रदान करती हैं और ये धाराएँ तथा मेघ रूप पदार्थ तेज और बल से युक्त होने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अमूः, याः) वे जो सुदूर स्थित होती हैं, (जामयः) उदक नामवाची सूक्ष्म पदार्थों की वे धाराएँ, जो विशेष ऊर्जा युक्त होती हैं तथा जिनमें कुछ बाहरी विकिरणों वा तरंगों का प्रवेश होकर नवीन पदार्थों का निर्माण होता है तथा जो प्रायः अपने कारण रूप पदार्थ से दूर जाकर अतिशय वा अमर्यादित रूप से सक्रिय होती हैं। (सर्वाः, यन्ति) यहाँ हमें अथर्ववेद के पाठ के अनुसार 'हिरा' पद का अध्याहार करना उचित प्रतीत होता है। उस जामि संज्ञक पदार्थ के अन्दर बहने वाली सूक्ष्म धाराएँ लघु मेघों का निर्माण करती हैं। (लोहितवाससः) वे सूक्ष्म धाराएँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से आच्छादित होकर लाल रंग की होती हैं। इस प्रकार उस स्थान पर रक्त वर्ण के लघु मेघों का निर्माण होने लगता है। (अभ्रातरः, इव, योषाः) इस ग्रन्थ के ४.२६ खण्ड में तीन प्रकार के 'भ्राता' नामक पदार्थों की चर्चा की गई है—

१. अन्तरिक्ष में व्याप्त विद्युत् युक्त वायु।

२. वह पदार्थ, जो जामि संज्ञक उन धाराओं, जो लघु मेघों का निर्माण करती हैं, के साथ मिलकर उन मेघ रूप पदार्थों को पुष्ट करने में सहायक होता है। हमारी दृष्टि में वह पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों एवं उनके साथ आने वाले सूक्ष्म कणों के रूप में होता है।

३. घृतपृष्ठ अग्नि अर्थात् विभिन्न प्रकार के आयन्स।

जब ये तीनों प्रकार के पदार्थ उन लघु मेघों का निर्माण करने वाली उन धाराओं में विद्यमान न हों अथवा उनकी मात्रा कम हो, तब (तिष्ठन्ति, हतवर्त्मन:) 'अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मन:' वे धाराएँ योषा वा स्त्री संज्ञक विभिन्न पदार्थों, जो इन भ्रातृसंज्ञक पदार्थों से विहीन होकर अपनी क्रियाओं के विस्तार एवं परस्पर सहयोग प्रक्रिया में नष्टमार्ग अर्थात् दिग्भ्रमित हो जाती हैं, की भाँति तेजहीन और निष्क्रिय जैसी हो जाती हैं अर्थात् उन लघु मेघों के अन्दर लोकों के निर्माण जैसी कोई प्रक्रिया नहीं हो पाती। ध्यातव्य है कि अथर्ववेद संहिता में 'हतवर्त्मन:' के स्थान पर 'हतवर्चस:' शब्द का प्रयोग है। इस कारण हमने तेजहीन अर्थ को भी ग्रहण किया है। वैसे भी सृष्टि में दिग्भ्रान्त वा नष्टमार्ग पदार्थ तेजहीन भी हो जाते हैं और तेजहीन पदार्थ ही दिग्भ्रान्त वा नष्टमार्ग हो जाते हैं।

भावार्थ— विशेष ऊर्जायुक्त पदार्थ की वे धाराएँ, जिनमें कुछ बाहरी विकिरणों का भी प्रवेश हो जाता है, अपने कारणरूप पदार्थ से दूर जाकर तीव्र रूप से सक्रिय होती हैं। वे धाराएँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ मिलकर लाल रंग के मेघों का निर्माण करती हैं। जब इन धाराओं में तीव्र विद्युत् एवं विभिन्न प्रकार के वैद्युत कण (आयन्स) उपयुक्त मात्रा में विद्यमान न हों, तब वे धाराएँ तेजहीन होकर दिग्भ्रमित हो जाती हैं तथा वे मेघों के निर्माण में भी सक्षम नहीं होतीं।

इस प्रकार यहाँ भ्रातृ संज्ञक पदार्थों से विहीन योषा संज्ञक पदार्थों के 'अनिर्वाह' से उन लघु मेघों की तुलना की गई है। यहाँ 'अनिर्वाह' का तात्पर्य अवलम्ब रहित इधर-उधर भटकना है, उसी की यहाँ उपमा दी गई है। इसके अनन्तर और अधिक स्पष्टता के लिए एक ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

नोट— हमने यहाँ उपर्युक्त मन्त्र का आधिदैविक भाष्य ही किया है। जो पाठक इसका आध्यात्मिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी भाष्य देखना चाहते हों, वे प्रो. विद्यालंकार एवं पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी द्वारा किए गए भाष्य को पढ़ सकते हैं।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥

[ऋ.१.१२४.७]

अभ्रातृकेव। पुसः पितॄन्। एत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्। गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणुः। गृणातेः। सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका सा रोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति। सा रिक्थं लभते। श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते। गुरतेः। अपगूर्णो भवति। श्मशानं श्मशयनम्। श्म शरीरम्। शरीरं शृणातेः। शम्नातेर्वा। श्मश्रु लोम। श्मनि श्रितं भवति। लोम लुनातेर्वा। लीयतेर्वा।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ (ऋ.१.१२४.७)

इस मन्त्र का ऋषि दैर्घतमसः कक्षीवान् है। इसका आशय है कि इसकी उत्पत्ति सुदीर्घ विस्तार वाली रश्मि विशेष से उत्पन्न एक विशेष बलसम्पन्न रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता उषा एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से लालिमायुक्त प्रकाश तीक्ष्णता को प्राप्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (अभ्रातेव, पुंसः, एति, प्रतीची) 'अभ्रातृकेव पुसः पितॄन् एत्यभि-मुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्' जिस प्रकार इस सृष्टि में कोई पूर्वोक्त योषा संज्ञक पदार्थ भ्रातृ संज्ञक पदार्थ की अविद्यमानता वा अभाव में अपने उत्पादक कारण रूप पदार्थ की ओर अभिमुख होकर गमन करने लगता है और वहाँ पहुँचकर अपना विस्तार करते हुए पदार्थ को संघनित करने लगता है। वह पदार्थ अपने साथ संयुक्त हो सकने वाले पति रूप पदार्थों के साथ संयुक्त नहीं हो पाता है। इससे संकेत मिलता है कि पूर्वोक्त प्रकरण में लघु मेघरूप पदार्थ जब अपने स्थान पर नाना प्रकार की सृजन क्रियाओं को करने में सक्षम नहीं हो पाते हैं, तब वे दिग्भ्रान्त होकर उसी स्थान की ओर गमन करने लगते हैं, जिस स्थान पर विद्यमान पदार्थ से वे उत्पन्न होते हैं।

(गर्तारुक्, इव) 'गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी' यहाँ 'दक्षिणाजी' का अर्थ करते हुए स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य में लिखा है— 'दाक्षिणाजी दक्षिणां दिशं देशं वा अजिता गता जाता वा तत्र दाक्षिणाजी तस्या अपत्यं स्त्री दाक्षिणाजी'। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघ के दक्षिण भाग की ओर जाते हुए वे पदार्थ, जो वहाँ जाकर विद्युत् व तेज आदि से विशेष सम्पन्न होते हैं, वे दाक्षिणाजी कहलाते हैं। ये पदार्थ दक्षिण भाग में जाकर गर्त पर आरोहण करते हैं। गर्त पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है— 'गर्तः सभास्थाणुः गृणातेः सत्यसङ्गरो भवति तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका सा रोहति तां तत्राक्षैराघ्नन्ति सा रिक्थं लभते'। [गर्तः = गृहनाम (निघं.३.४)। स्थाणुः = यूपः स्थाणुः (श.ब्रा.३.६.२.५)। सत्यम् = सत्यं यजमानः (ऐ.ब्रा.७.१०), असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), तद्यत्तत्सत्यम् असौ सऽआदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२)। अक्षः = अक्षाः परिधयः (मै.सं.४.५.९)]

आदित्य लोकों का केन्द्रीय भाग, जिसमें विभिन्न प्रकार के कण समान रूप से प्रकाशित होते हैं, उन केन्द्रों के अन्दर विद्यमान विभिन्न यूपरूप तरंगें गम्भीर घोष उत्पन्न करती रहती हैं, उस स्थान को ही सभास्थाणु कहते हैं। उस क्षेत्र में अर्थात् आदित्य के उस भाग में, जो आदित्य का भी आदित्य कहा जा सकता है, बाहर से आने वाले विभिन्न पदार्थों को भली प्रकार निगला जाता रहता है, जिस प्रकार दाक्षिणाजी नामक उपर्युक्त पदार्थ प्रवाहित होते रहते हैं। उस स्थान में जो पदार्थ किसी नवीन पदार्थ का निर्माण करने में असमर्थ होते हैं एवं किसी अन्य पदार्थ से संयुक्त होने में भी असमर्थ होते हैं अर्थात् जो आयन्स परस्पर मिलकर किन्हीं मोलिक्यूल्स का निर्माण करने में असमर्थ होते हैं, वे आदित्य के उस केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगते हैं। वहाँ पहुँचने पर उस आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग की परिधि, जो सम्पूर्ण आदित्य लोक को प्रकाशित करने वाली और उसको थामे रखने में समर्थ होती है, वह परिधि अर्थात् उसमें विद्यमान विभिन्न रश्मि आदि पदार्थ उस क्षेत्र में आए पदार्थ को सम्पीडित करने लगते हैं और उस सम्पीडन से अग्नि के परमाणु उत्पन्न वा स्रवित होने लगते हैं। ये अग्नि के परमाणु ही रिक्थ अर्थात् धन हैं, जो आदित्य लोकों के अन्दर निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

अब ग्रन्थकार 'गर्तः' पद का निर्वचन करते हुए फिर लिखते हैं—

'श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते गुरतेः अपगूर्णो भवति श्मशानं श्मशयनम् श्म शरीरम् शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा श्मश्रु लोम श्मनि श्रितं भवति लोम लुनातेर्वा लीयतेर्वा।'

[लोम = छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.६.४.१.६), पशवो वै लोम (तां.ब्रा.१३.११.११)]

यहाँ श्मशान को भी गर्त कहा गया है, क्योंकि इसमें मृत शरीर सोये रहते हैं। इस प्रकरण में हमें शरीर का अन्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए। आदित्य के केन्द्रीय भाग को ही यहाँ श्मशान कहा गया है, क्योंकि इस क्षेत्र में अनेक प्रकार के विभाज्य कण आदि पदार्थ एवं ऐसे पदार्थ, जो निष्क्रिय हो चुके होते हैं, विद्यमान एवं अपेक्षाकृत शान्त रहते हैं। इन पदार्थों को नाना प्रकार की छन्द और मरुत् रश्मियाँ आच्छादित किए रहती हैं, ये रश्मियाँ विभाजित होकर अन्य रश्मियों में परिवर्तित होती रहती हैं और उन पदार्थों के साथ संश्लिष्ट भी रहती हैं। इन सूक्ष्म पदार्थों की भाँति ही विशाल कॉस्मिक मेघों के अन्दर दुहिता रूप लघु मेघ अपने उत्पत्ति स्थान की ओर उस समय प्रवाहित होने लगते हैं, जब वे भ्रातृ संज्ञक पदार्थों से विहीन होते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

(सनये, धनानाम्) [सनयः = सनये सनयाय (निरु.६.२२)] इस प्रकार की प्रक्रिया विभिन्न प्रकार के कणों को उत्पन्न करने वा उन्हें विभाजित करने आदि के लिए होती है। इस प्रक्रिया से आदित्य लोकों के गर्भ रूप केन्द्रों का धारण भी होता है। (जायेव, पत्ये, उशती, सुवासाः) उन केन्द्रों में सुन्दर आच्छादिका रश्मियों से युक्त स्त्री संज्ञक कण वा रश्मियाँ पुमान् संज्ञक कण वा रश्मियों को जिस प्रकार से और जिस स्तर से आकर्षित करती हैं, (उषा, हस्रेव, नि, रिणीते, अप्सः) [अप्सः = रूपनाम (निघं.३.७), अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवत्यादर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः 'यदप्सः' इत्यभक्षस्य 'अप्सो नाम' इति व्यापिनः (निरु.५.१३)] उसी प्रकार एवं उसी स्तर से उस क्षेत्र में उषा जैसे लालिमायुक्त पीत वर्ण के रूपों की उत्पत्ति होने लगती है अर्थात् उस क्षेत्र के पदार्थ का इस प्रकार का रूप और रंग होने लगता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में विभिन्न कण आदि पदार्थ जब संयोज्य कणों के सम्पर्क में नहीं आ पाते, तब वे अपने कारणरूप पदार्थ की ओर गमन करने लगते हैं और पदार्थ को संघनित करने लगते हैं। यही स्थिति खगोलीय मेघों की होती है। वे मेघ जब सृजन क्रियाएँ करने में सक्षम नहीं होते हैं, तब वे दिग्भ्रान्त होकर अपने उत्पत्ति स्थान की ओर गमन कर जाते हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में सम्पूर्ण पदार्थ में गम्भीर घोष उत्पन्न होने लगते हैं। केन्द्रीय भाग की परिधि ही सम्पूर्ण तारे को थामे रखती है तथा यहीं पदार्थ का संलयन

होता रहता है और यहीं से विकिरण उत्सर्जित होकर बाहर की ओर गमन करते रहते हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में संलयन से उत्पन्न कण अपेक्षाकृत शान्त रहते हैं। इन पदार्थों को नाना छन्दादि रश्मियाँ आच्छादित किये रहती हैं। यहाँ इन रश्मियों का विभाजन भी होता रहता है। विशाल कॉस्मिक मेघों के अन्दर विद्यमान लघु मेघ जब सृजन कर्म नहीं कर पाते हैं, तब वे भी अपने उत्पत्ति स्थान की ओर गमन करने लगते हैं। वे लघु मेघ तारों के केन्द्र का रूप लेने लगते हैं।

इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (अभ्रातेव) यथाऽबन्धुस्तथा (पुंसः) पुरुषस्य (एति) प्राप्नोति (प्रतीची) प्रत्यञ्चतीति (गर्त्तारुगिव) गर्त्ते आरुगारोहणं गर्त्तारुक् तद्वत् (सनये) विभागाय (धनानाम्) द्रव्याणाम् (जायेव) स्त्रीव (पत्ये) स्वस्वामिने (उशती) कामयमाना (सुवासाः) शोभनानि वासांसि यस्याः सा (उषाः) (हस्रेव) हसन्तीव (नि) (रिणीते) प्राप्नोति (अप्सः) रूपम्। अप्स इति रूपनाम। निघं.३.७ ।

भावार्थः — अत्र चत्वार उपमालङ्काराः। यथा भ्रातृरहिता कन्या स्वप्रीतं पतिं स्वयं प्राप्नोति, यथा न्यायाधीशो राजा राजपत्नीधनानां विभागाय न्यायाऽऽसनमाप्नोति, यथा प्रसन्नवदना स्त्री आनन्दितं पतिं प्राप्नोति सुरूपेण हावभावं च प्रकाशयति तथैवेयमुषा अस्तीति वेद्यम्।

पदार्थ— यह (उषाः) प्रातःसमय की वेला (प्रतीची) प्रत्येक स्थान को पहुँचती हुई (अभ्रातेव) बिना भाई की कन्या जैसे (पुंसः) पुरुष को प्राप्त हो उसके समान वा जैसे (गर्त्तारुगिव) दुःखरूपी गढ़े में पड़ा हुआ जन (धनानाम्) धन आदि पदार्थों के (सनये) विभाग करने के लिये राजगृह को प्राप्त हो वैसे सब ऊँचे-नीचे पदार्थों को (एति) पहुँचती तथा (पत्ये) अपने पति के लिये (उशती) कामना करती हुई (सुवासाः) और सुन्दर वस्त्रों वाली (जायेव) विवाहिता स्त्री के समान पदार्थों का सेवन करती और (हस्रेव) हँसती हुई स्त्री के तुल्य (अप्सः) रूप को (नि, रिणीते) निरन्तर प्राप्त होती है।

भावार्थ— इस मन्त्र में चार उपमालङ्कार हैं। जैसे बिना भाई की कन्या अपनी प्रीति से चाहे हुए पति को आप प्राप्त होती वा जैसे न्यायाधीश राजा और राजपत्नी धन आदि पदार्थों के विभाग करने के लिये न्यायासन अर्थात् राजगद्दी [को], जैसे हँसमुखी स्त्री आनन्दयुक्त पति को प्राप्त होती और अच्छे रूप से अपने हावभाव को प्रकाशित करती

वैसे ही यह प्रात:समय की वेला है, यह समझना चाहिये।''

नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्त्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः। इत्यपि निगमो भवति।
रथोऽपि गर्त उच्यते। गृणातेः स्तुतिकर्मणः। स्तुततमं यानम्।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्। [ऋ.५.६२.८]
इत्यपि निगमो भवति। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु।
उषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि। इति चतस्त्र उपमाः।
नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति।
इत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः। पितुश्च पुत्रभावः।
पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतः सेकं प्रार्जयति।
सन्दधात्यात्मानं सङ्गमेन मनसेति।

गर्त पद का अर्थ श्मशान दर्शाने के लिए ग्रन्थकार ने निम्न वचन को उद्धृत किया है—

'नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्त्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः।'

इस वचन को ग्रन्थकार ने निगम कहा है। इसका अर्थ यह है कि यह मन्त्र वेद की किसी शाखा का है अथवा ग्रन्थकार के समय में उपलब्ध किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का ऐसा वचन है, जिसे उस ब्राह्मण ग्रन्थकार ने भी मन्त्र संज्ञा प्रदान की थी, अन्यथा महर्षि यास्क जैसा वेदवेत्ता इस वचन को निगम कभी नहीं कहता। हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' में इस प्रकार के अनेक मन्त्रों की चर्चा कर चुके हैं।

मैत्रायणी संहिता ३.९.४ में एक प्रकरण इस प्रकार विद्यमान है—

'वज्रो वै यूपो...नोपरस्याविः कर्तवै यदुपरस्याविः कुर्याद्रथेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः।'

इस प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकरण समान हैं। अन्तर केवल यह है कि मैत्रायणी संहिता में 'गर्तेष्ठाः' के स्थान पर 'रथेष्ठाः' पद का प्रयोग है। आगे ग्रन्थकार ने गर्त का अर्थ रथ भी किया है। इस कारण ये दोनों प्रकरण समान ही सिद्ध होते

हैं और इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि यह प्रकरण यूपरूप विशेष प्रकार की तरंगों वा रश्मियों से सम्बन्धित है। अब हम उपर्युक्त मन्त्र पर विचार करते हैं। 'वेदविज्ञान-आलोक:' के अध्याय २.१ में अनेक प्रकार की यूप तरंगों की चर्चा की गई है, जिनके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' २.३.१ में कहा गया है—

"विभिन्न पदार्थों को आकर्षित करके संघनित करना एवं उन्हें बल और तेज आदि से युक्त करना, अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु से उत्पन्न बाधाओं का निराकरण करना, विभिन्न प्रकार के कणों और तरंगों का संयोग करना आदि कर्म उन यूप रूप तरंगों के ही हैं।"

इन तरंगों व रश्मियों की तारों के गर्भ निर्माण से लेकर उनके बनने की प्रक्रिया पूर्ण होने तक विशेष भूमिका रहती है। ये तरंगें तारों के केन्द्रीय भाग की बाहरी सीमा के निकट रहकर बाहरी पदार्थ को आकर्षित करने में भी विशेष भूमिका निभाती हैं। यहाँ दर्शाये हुए मन्त्र में यह कहा गया है कि इन तरंगों का प्रकटीकरण ऊपरी क्षेत्र अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग में नहीं होता, बल्कि इनका प्रकटीकरण केन्द्र की बाहरी सीमा पर ही होता है। यदि ये किरणें केन्द्रीय भाग में प्रकट हो जायें, तो वहाँ विद्यमान कण रूप पदार्थ गर्त अर्थात् श्मशान में स्थित होने वाले हो जायें और उस भाग में संयोजनीय कण 'प्रमायुक' रूप हो जायें। [प्रमायुक: = एष ह वै प्रमायुको योऽन्धो वा बधिरो वा (गो.पू.४.२०; श.ब्रा. १२.२.२.४)। बधिर: = बन्ध बन्धने+किरच् प्रत्यय: (उ.को.१.५१)] इसका तात्पर्य यह है कि संयोजनीय कण परस्पर संयुक्त न होकर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं, जिससे तारों के निर्माण वा स्थायित्व की प्रक्रिया छिन्न-भिन्न हो जाती है। ध्यातव्य है कि यूप रूप तरंगें केन्द्रीय भाग में प्रकट तो नहीं होती, परन्तु तारों के बाहरी विशाल भाग से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित अवश्य होती हैं। इसके विषय में विशेष जानकारी के लिए 'वेदविज्ञान-आलोक:' का छठा अध्याय पठनीय है।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'रथोऽपि गर्त उच्यते गृणाते: स्तुतिकर्मण:। स्तुततमं यानम्। आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्॥ (ऋ.५.६२.८) इत्यपि निगमो भवति' अर्थात् रथ को भी गर्त कहते हैं।

[रथ: = वज्रो वै रथ: (तै.सं.५.४.११.२), रथ: रंहतेर्गतिकर्मण: स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा।]

वे रमणीय वज्ररूप विकिरण, जो अपने तीव्र प्रकाशयुक्त स्वरूप के साथ अन्य कणों वा विकिरणों को वहन करने में समर्थ होते हैं, उन्हें रथ कहते हैं और इन्हें ही गर्त कहते हैं। इसके लिए ग्रन्थकार एक मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के तृतीय पाद को ही उद्धृत किया है, परन्तु हम यहाँ सम्पूर्ण मन्त्र को प्रस्तुत कर रहे हैं। वह मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च। (ऋ.५.६२.८)

इस मन्त्र का ऋषि श्रुतिविदात्रेय है। [अत्रि = सततं गामी (म.द.ऋ.भा.१.१८३.५), वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति (श.ब्रा.१४.५.२.६)] अर्थात् सभी प्रकार की छन्द रश्मियों की सत्ता जिसमें रहती है, उस सतत सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा वायु से यह छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका देवता मित्रावरुणौ एवं छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से [मित्रावरुणौ = प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२), यज्ञो वै मित्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२), द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम (तां.ब्रा.१४.२.४)] इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्राणोदान और प्राणापान सक्रिय होकर प्रकाशित और अप्रकाशित कणों अर्थात् विभिन्न कणों वा विकिरणों के पारस्परिक संयोग की प्रक्रिया विभिन्न वर्णयुक्त होकर तीव्र तेज से युक्त होती है।

आधिदैविक भाष्य— (हिरण्यरूपम्, उषसः) तेजस्वी अथवा सुवर्ण रूप वाली लालिमा-युक्त प्रकाश की तरंगें (व्युष्टौ, अयः, स्थूणम्) स्वर्णिम यूप रूप तरंगों की व्याप्ति से (उदिता, सूर्यस्य) सूर्यादि लोकों के गर्भरूप केन्द्रों के उदित होने पर अर्थात् उनके निर्मित होने पर (आ, रोहथः, वरुणः, मित्रः) प्राणापान एवं प्राणोदान रूपी रश्मियों के द्वारा विभिन्न कण वहन किये जाते हैं। (गर्तम्, अतः, चक्षाथे, अदितिम्, दितिम्, च) इस कारण से गर्त अर्थात् वे रमणीय विकिरण वा कण अविनाशी और विनाशी कणों का दर्शन कराते अर्थात् उनको जन्म देते हैं।

भावार्थ— कॉस्मिक मेघों में तारों के केन्द्र बनने के पश्चात् विभिन्न रक्तवर्णीय तथा सुवर्ण रंग वाली रश्मियाँ नाना कणों का निर्माण करने लगती हैं। लघु मेघ जब यजन हेतु उपयुक्त पदार्थों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, तब वे अपने मूल उत्पत्ति स्थान पर आकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने लगते हैं।

इसके पश्चात् चार लौकिक उपमाओं की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु उषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि इति चतस्र उपमाः'। ये चार प्रकार की उपमाएँ पूर्व वर्णित मन्त्र 'अभ्रातेव पुंस एति...' के ऋषि दयानन्द कृत आधिभौतिक भाष्य में देख सकते हैं।

तदनन्तर लिखते हैं— 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति इत्यभ्रातृकाया उपय-मनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः'। इसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त प्रकरण में अर्थात् 'अभ्रातेव पुंस एति...' मन्त्र में वर्णित भ्रातृसंज्ञक पदार्थ विहीन दूरस्थ लघु मेघों का अन्य पदार्थों से संगमन नहीं होता और वे मेघ रूप पदार्थ अपने उत्पत्ति स्थान की ओर प्रवाहित होने लगते हैं, यह बात पूर्व में भी कही जा चुकी है। ऐसा होने की स्थिति में उन लघु मेघों से उत्पन्न विभिन्न पदार्थ भी उसी स्थान पर निवास करते हैं एवं उन लघु मेघों के उत्पादक पदार्थों से ही उत्पन्न होने जैसा व्यवहार करते हैं। यह उद्धरण ग्रन्थकार ने किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया हुआ है। यहाँ दुहिता वा योषा रूप लघु मेघों के साथ किन्हीं नवीन वृषा संज्ञक पदार्थों के संगमन का स्पष्ट निषेध है। इस कारण उन दुहिता रूप मेघों का उनके उत्पादक पदार्थों के साथ पुत्रभाव रहता है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतः सेकं प्रार्जयति सन्दधात्यात्मानं सङ्गमेन मनसेति' अर्थात् वे लघु मेघरूप पदार्थ अपने उत्पत्ति स्थल पर जब लौटकर आते हैं अर्थात् वे दूर जाकर भी किसी पुरुष रूप पदार्थ को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उस समय उनका उत्पादक पितृ रूप पदार्थ उसी क्षेत्र में कुछ ऐसे पदार्थों को उत्पन्न करता है, जो दुहिता रूप पदार्थों के साथ संयोग करके सृजन प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं, उस समय मनस्तत्त्व से विशेष सम्पन्न होकर आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु सृजन कार्य में रत दुहिता रूप पदार्थों को अच्छी प्रकार धारण करता है।

यहाँ भाष्यकारों ने अपने भाष्य में दायभाग अधिकार प्रकरण को ही आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि भ्रातृविहीन कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र उसके पिता का उत्तराधिकारी हो जाता है और उसके आगे ही वे लिखते हैं कि भ्रातृविहीन कन्या से सन्तान उत्पन्न करने वाले किसी पुरुष को उसका पिता प्राप्त कर ही लेता है। यहाँ परस्पर विरोध है। जब भ्रातृविहीन कन्या से कोई विवाह करेगा ही नहीं, तब उसका पति होगा ही कौन? और फिर कौन उसके पिता का दौहित्र बनकर उसकी सम्पत्ति का

उत्तराधिकारी हो सकेगा? वस्तुतः आधिदैविक घटनाओं का सर्वत्र व्यावहारिक अर्थ सिद्ध करने की सनक इसी प्रकार के अन्तर्विरोधों को जन्म देती है और वेद के गौरव को नष्ट करती है।

अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति। ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके॥ ५॥

अगली ऋचा को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि कुछ विद्वान् पूर्वोक्त जामि अर्थात् पूर्वोक्त दुहिता संज्ञक पदार्थों में पूर्वोक्त रिक्थ संज्ञक अग्नि के परमाणु उत्पन्न होने की बात करते हैं, तो कुछ अन्य विद्वान् दुहिता रूप पदार्थ से उत्पन्न पदार्थों के अन्दर अग्नि के परमाणुओं की उत्पत्ति का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। वह ऋचा अगले खण्ड में दी जायेगी।

* * * * *

षष्ठः खण्डः

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥

[ऋ.३.३१.२]

न जामये भगिन्यै। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्।
जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। निर्गमनप्राया भवति। तान्व आत्मजः पुत्रः।
रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्। चकारैनां गर्भनिधानीम्। सनितुर्हस्तग्राहस्य।
यदिह मातरोऽजनयन्त। वह्निं पुत्रम्। अवह्निं च स्त्रियम्।
अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादः।
अन्यतरोऽर्द्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै॥ ६॥

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ (ऋ.३.३१.२)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र कुशिक है। इसके विषय में खण्ड ३.४ द्रष्टव्य है। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेज और बल की वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (जामये) 'जामये भगिन्यै जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मण: निर्गमनप्राया भवति' 'जामि:' पद के इस निर्वचन की व्याख्या हम खण्ड ३.४ में कर चुके हैं। उस पदार्थ के लिए (न, तान्व:, रिक्थम्, आरैक्) 'न तान्व आत्मज: पुत्र: रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्' उस स्थान पर अन्य उत्पन्न पदार्थ अर्थात् जामि संज्ञक पदार्थ के उत्पादक पदार्थ से उत्पन्न अन्य पुत्र रूप पदार्थ रिक्थ संज्ञक अग्नि के परमाणुओं को नहीं प्रदान करता है। इसका अर्थ यह है कि दुहिता वा जामि संज्ञक पदार्थ जब सुदूर से लौटकर वापिस अपने उत्पत्ति स्थल की ओर आता है, तब वहाँ दूसरे उत्पन्न पदार्थ से जामि संज्ञक सूक्ष्म मेघों की ओर अग्नि तत्त्व का संचरण नहीं होता है। (चकार, गर्भम्, सनितु:, निधानम्) 'चकारैनां गर्भनिधानीम् सनितुर्हस्तग्राहस्य' किन्तु इसके साथ ही वह पुत्र रूप पदार्थ दुहिता संज्ञक उन लघु मेघों के अन्दर हरणशील और विभाजक रश्मियों के द्वारा गर्भ धारण कराता है अर्थात् लोकों के निर्माण के लिए केन्द्रों का निर्माण प्रारम्भ कराने में सहायक होता है।

(यदी, मातर:, जनयन्त, वह्निम्) 'यदिह मातरोऽजनयन्त वह्निं पुत्रम् अवह्निं च स्त्रियम्' विशाल कॉस्मिक मेघ के उस क्षेत्र से पूर्वोक्त दुहिता एवं पुत्र संज्ञक दोनों ही प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। [वह्नि: = अश्वनाम (निघं.१.१४), वोढार: (निरु.८.३), वह्निर्होता (तै.सं.२.२.१०.५), वह्निरसि हव्यवाहन: (मै.सं.१.२.१२)] इनमें पुत्र संज्ञक पदार्थ अति शीघ्रगामी ऐसी तरंगों वा रश्मियों के रूप में होता है, जो संलयनीय वा संयोजनीय कणों को ढोने में समर्थ होती हैं और दूसरे स्त्री संज्ञक पदार्थ अपेक्षाकृत न्यून गति वाले तथा वहन करने के सामर्थ्य से युक्त नहीं होते हैं। इस प्रकार (अन्य:, कर्ता, सुकृतो:, अन्य:, ऋन्धन्) 'अन्यतर: सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायाद: अन्यतरोऽर्द्धयित्वा जामि: प्रदीयते परस्मै' वे पुमान् अर्थात् पुत्र संज्ञक पदार्थ विस्तार को प्राप्त होकर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अन्यतर स्त्रीवाची पदार्थ [अर्धम् = अर्धं हरतेर्विपरीतात् धारयतेर्वा स्यात् उद्धृतं भवति ऋध्नोतेर्वा स्यात् ऋद्धतमो विभाग: (निरु.३.२०)] को आकर्षित, धारण और संवर्धन करते हुए किसी अन्य पदार्थ में प्रवाहित किया जाता है

अथवा वह दुहिता रूप पदार्थ समृद्ध होता हुआ किसी तीसरे पदार्थ से संगत होने लगता है।

भावार्थ— जब विशेष ऊर्जायुक्त पदार्थ की धाराएँ मेघों का निर्माण कर लेती हैं, तब भी कभी-२ उन मेघों में पर्याप्त अग्नि तत्त्व का संचरण नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में कुछ अन्य पदार्थ उन मेघों में तारों के केन्द्रों का निर्माण करने लगते हैं। इन केन्द्रों में दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं, जिनमें एक प्रकार के पदार्थ तीव्र ऊर्जायुक्त तथा दूसरे प्रकार के पदार्थ अपेक्षाकृत न्यून ऊर्जायुक्त होते हैं।

इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (न) (जामये) जामात्रे (तान्वः) तन्वः अत्रान्येषामपीत्याद्यचो दीर्घः (रिक्थम्) धनम् रिक्थमिति धननाम॥ निघं.२.१०॥ (आरैक्) ऋणक्ति (चकार) (गर्भम्) (सनितुः) विभाजकस्य (निधानम्) नितरां दधाति यस्मिँस्तम् (यदि) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (मातरः) मान्यस्य कर्त्र्यः (जनयन्त) जनयन्ति (वह्निम्) प्रापकम् (अन्यः) (कर्त्ता) (सुकृतोः) यौ शोभनं कुरुतस्तयोः (अन्यः) (ऋन्धन्) साध्नुवन्।

भावार्थः — यथा माताऽपत्यानि जनयित्वा वर्धयति तथैव वह्निं जनयित्वा वर्धयेत् तथैव जायापत्यानि वर्धयेत्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (जामये) जामाता के लिये (तान्वः) सूक्ष्म (रिक्थम्) धन को (न, आरैक्) नहीं देता, जिस ने (सनितुः) विभागकर्त्ता के (निधानम्) निरन्तर धारण करता है, उस (गर्भम्) गर्भ को (चकार) किया (अन्यः) अन्य जन (वह्निम्) पहुँचाने वाले को जैसे वैसे (यदि) जो (अन्यः) अन्य (ऋन्धन्) सिद्ध करता हुआ (सुकृतोः) उत्तम कर्मकारियों का (कर्त्ता) कर्त्ता पुरुष है, उस को (मातरः) आदर की करने वाली (जनयन्त) उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ— जैसे माता सन्तानों को उत्पन्न कर उनकी वृद्धि करती है, वैसे ही अग्नि को उत्पन्न करके उसकी वृद्धि करै और वैसे ही प्रत्येक स्त्री सन्तानों की वृद्धि करै।''

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। मनुष्याः कस्मात्। मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यति पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्। मनुषो वा। तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥ ७॥

निघण्टु में पढ़े गये अगले २५ नाम मनुष्य वाचक हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

मनुष्याः। नरः। धवाः। जन्तवः। विशः। क्षितयः। कृष्टयः। चर्षणयः। नहुषः। हरयः। मर्याः। मर्त्याः। मर्त्ताः। व्राताः। तुर्वशाः। द्रुह्यवः। आयवः। यदवः। अनवः। पूरवः। जगतः। तस्थुषः। पञ्चजनाः। विवस्वन्तः। पृतनाः।

यहाँ मनुष्य शब्द से प्रायः सभी भाष्यकारों ने मनुष्य नामक प्राणी का ही ग्रहण किया है। केवल पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस पद से मनुष्य नामक प्राणी के अतिरिक्त अन्तरिक्ष में विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ विशेष को भी मनुष्य माना है। इस विषय में उनका कथन है—

''मनुष्य मनु का अपत्य है। यह मनु एक देव है। निरु.१.५ में इसका वर्णन वायु और २७ गन्धर्वों के साथ अश्व विनियोजन में मन्त्र द्वारा प्रदर्शित है। शतपथ ब्राह्मण ६.६.१.१९ के अनुसार प्रजापति भी मनु है। पर इस मनु देव का पूरा ज्ञान अभी हमें नहीं है। उसी मनु के अनुकरण पर भूमिस्थ विवस्वान् के एक पुत्र का नाम भी मनु हुआ और मनु के सन्तान ही मनुष्य हुए। मनुष्यनामों में नहुषः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः और पूरवः नाम भी पढ़े गए हैं। इतिहास में नहुष, तुर्वसु, द्रुह्यु, आयु, यदु, अनु और पुरु नाम पुरुष-विशेषों के हैं। वेद में इनका अर्थ सामान्य मनुष्य और अन्तरिक्षस्थ नर आदि है।''

हम पण्डित भगवद्दत्त की बात से पूर्णतः सहमत हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.३.४ में मनुष्य नामक कणों की चर्चा करते हुए कहा गया है—

''मनुष्य उन कणों का नाम है, जो सूर्यादि तारों से उत्पन्न होते हैं तथा इन तारों के अन्दर भी प्राणापानादि उपर्युक्त देव पदार्थों से उत्पन्न हुआ करते हैं। इन कणों का व्यवहार कुछ अनिश्चित जैसा होता है। ये प्रकाशशील भी होते हैं। इनकी गति भी अनियमित होती

है। इन कणों के चारों ओर विद्यमान प्राणों की गति अधिकतर बाहर की ओर होती है अर्थात् बाहर से आने वाले प्राणों का प्रवेश इन कणों में अत्यल्प होता है। बाहर से आने वाले प्राण इन कणों को स्पर्श करके बाहर की ओर ही वापिस लौट जाते हैं। इस कारण मनुष्य नामक कण दूसरे कणों के साथ अन्योन्य क्रिया बहुत कम करते हैं।''

अनेक आर्ष ग्रन्थों में मनुष्य नामक सूक्ष्म पदार्थ की चर्चा की गई है। जो पाठक हमारे इस मत से सहमत नहीं हों, उन्हें 'वेदविज्ञान-आलोक:' के उपर्युक्त सन्दर्भ को देखना चाहिए। पुनरपि हम महर्षि तित्तिर का एक वचन उद्धृत करते हैं— 'व्यानेन मनुष्यान् (इडा) दाधार' (तै.सं.१.७.२.१)। इस कथन से कोई भी विद्वान् मनुष्य शब्द का अर्थ मनुष्य नामक प्राणी नहीं ग्रहण कर सकता।

अब हम ग्रन्थकार द्वारा किये मनुष्य पद के निर्वचन पर विचार करते हुए मनुष्यवाची सभी पदों पर क्रमश: विचार करते हैं—

१. मनुष्या: — यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति'। मनुष्य नामक प्राणी अर्थ ग्रहण करने पर इसका तात्पर्य होगा कि जो सत्यासत्य का विचार करके अपने कर्मों को सम्पन्न करता है, वह मनुष्य कहलाता है। जैसा कि ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के सातवें नियम में लिखा है— 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए'।

अब हम मनुष्य नामक कणों के विषय में इस निर्वचन पर विचार करते हैं—

यह पद तथा 'मत्वा' पद 'मन्यते कान्तिकर्मा' (निघं.२.६) एवं 'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) धातुओं से निष्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि ये कण विभिन्न छन्द और प्राण रश्मियों से संदीप्त होकर ही अपने विभिन्न कर्मों को सम्पन्न करते हैं, क्योंकि इनमें अन्योन्य क्रिया न्यूनतर होती है। इस कारण जब इन पर विभिन्न छन्द और प्राण रश्मियों का प्रहार किया जाता है, तब ये संदीप्त और क्रियाशील हो उठते हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है— सुरभि घृतं मनुष्याणाम् (ऐ.ब्रा.१.३) [सुरभि: = प्राणा वै सुरभय: (तै.ब्रा.३.९.७.५)। घृतम् = संदीप्तं तेज: (म.द.ऋ.भा.२.३.११), घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३)] इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य नामक कण प्राण रश्मियों के द्वारा संदीप्त आकाश तत्त्व के प्रभाव से क्रियाशील होते हैं, जबकि सामान्य परिस्थिति में वे कम

सक्रिय होते हैं।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'मनस्यमानेन सृष्टाः मनस्यति पुनर्मनस्वीभावे'। इसका अर्थ यह है कि जब इन कणों का कारण रूप पदार्थ स्वयं संदीप्त हो जाता है और उसमें कमनीय अर्थात् आकर्षण आदि बल उत्पन्न हो जाते हैं, तब इन कणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए हमने ऊपर सूर्यादि लोकों में इनकी उत्पत्ति की बात कही है। उधर मनुष्य नामक प्राणी अर्थ ग्रहण करने पर इस निर्वचन का आशय यह है कि परमात्मा ने अति विचार करके प्रसन्नतापूर्वक मनुष्य नामक प्राणियों को जन्म दिया अर्थात् यह प्राणी सृष्टि का सबसे अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ प्राणी है।

इसके आगे ग्रन्थकार मनुष्य नामक कणों के कारणरूप पदार्थ की चर्चा करते हैं— 'मनोरपत्यम् मनुषो वा'। [मनुः = मननात् (निरु.१२.३३), प्रजापतिर्वै मनुः स हीदꣳ सर्वममनुत (श.ब्रा.६.६.१.१९), मनुर्यज्ञनीः (तै.सं.३.३.२.१)]

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने भाष्य में हिरण्यगर्भ को प्रजापति अर्थात् मनु कहा है। हम इससे सहमत हैं। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य के कथन हैं— प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः (श.ब्रा.६.२.२.५), सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः (श.ब्रा.६.२.१.३०), प्राणो हि प्रजापतिः (श.ब्रा.४.५.५.१३)। इन वचनों से स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों से निर्मित व संवर्धित महत् अण्ड अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ ही मनु कहलाता है और इसी के अन्दर मनुष्य नामक कणों की उत्पत्ति होती है। इससे सम्बन्धित एक ऋचा है— स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि (ऋ.२.२३.९)। उधर मनुष्य नामक प्राणी भगवान् मनु की सन्तान होने से 'मनुष्य' कहलाता है।

२. नरः — [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२), नयन-कर्त्तारो मनुष्या वायवो वा (म.द.ऋ.भा.१.६४.१०)] ये कण विभिन्न देव अर्थात् प्राण एवं छन्द रश्मियों के संघनन से उत्पन्न होते हैं तथा विकिरण की भाँति गमन करते हैं। ये कण विभिन्न क्रियाओं को करते समय नृत्य करते हुए से गमन करते हैं, जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है— 'नरा मनुष्याः नृत्यन्ति कर्मसु' (निरु.५.१)। इसके उदाहरण में एक मन्त्र प्रस्तुत है— 'तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तः' (ऋ.६.१.२)। उधर मनुष्य नामक प्राणी निरन्तर शुभाशुभ कर्म करने वाला होने से 'नर' कहलाता है।

३. धवाः — यह शब्द 'धूञ् कम्पने' धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् ये कण कम्पन करते हुए ही सदैव गमन करते हैं। इसे मनुष्य नामक प्राणी अर्थ में ग्रहण करने से यह तात्पर्य विदित होता है कि मनुष्य नामक प्राणी जरा, मृत्यु आदि से भयभीत होता हुआ नाना योनियों में भटकता रहता है। इसके लिए निगम है— 'को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्' (ऋ.१०.४०.२)।

४. जन्तवः — यह पद 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् जो विभिन्न सूक्ष्म छन्दादि रश्मियों के सम्पीडन से उत्पन्न होते हैं, वे जन्तु नामक पदार्थ कहलाते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'मनुष्या वै जन्तवः' अर्थात् मनुष्य नामक कण और प्राणी दोनों ही जन्तु कहलाते हैं। इसके लिए निगम है— इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः (ऋ.१०.१४०.४)।

५. विशः — [विशः = यज्ञो वै विशः (श.ब्रा.८.७.३.२१), आद्या हीमाः प्रजा विशः (श.ब्रा.४.२.१.१७), अन्नं वै क्षत्रियस्य विट् (श.ब्रा.३.३.२.८)] अर्थात् जो कण सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में उत्पन्न हुए थे तथा उनके पश्चात् ऐसे कण, जो तीक्ष्ण भेदक शक्ति सम्पन्न होते हैं, जिन्हें क्षत्रिय संज्ञक कण अपने अन्दर अवशोषित वा संयुक्त कर लेते हैं, विट् कहलाते हैं। उधर नाना प्रकार के कर्म करता हुआ नाना योनियों में प्रविष्ट होता हुआ प्राणी 'विट्' कहलाता है। इसका निगम है— 'विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्' (ऋ.६.८.४)।

६. क्षितयः — यह पद 'क्षि निवासगत्योः' धातु से निष्पन्न होता है। इसे पृथिवीवाची नामों में भी पढ़ा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये कण पार्थिव लोकों में विद्यमान रहते हैं और उन्हीं में गमनागमन करते रहते हैं। पूर्व में हमने मनुष्य नामक कणों को सूर्य में उत्पन्न बताया था। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सूर्यलोक में उत्पन्न मनुष्य नामक कण एवं पार्थिव नामक लोकों में उत्पन्न क्षिति नामक कण एक ही श्रेणी के कण हैं। इसके लिए एक निगम प्रस्तुत करते हैं—

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्। (ऋ.६.१.५)।

उधर पृथिवी आदि लोकों में निवास करने के कारण मनुष्य नामक प्राणी भी 'क्षिति' कहलाता है।

७. कृष्टयः — [कृष्टयः = कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा (निरु.१०.२२), मनुष्यानाकर्षणादिव्यवहारान् वा (म.द.ऋ.भा.१.७.८), कृषन्ति विलिखन्ति स्वानि कर्माणि ये ते मनुष्याः (म.द.ऋ.भा.१.५२.११)] ये कण अधिक ऊर्जायुक्त, छेदक शक्तिसम्पन्न और अपेक्षाकृत महदाकार युक्त होते हैं। उधर निरन्तर कर्मों में आकृष्ट होने के कारण मनुष्य नामक प्राणी को भी 'कृष्टी' कहते हैं। इसका एक निगम इस प्रकार है—

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥ (ऋ.३.५९.१)

८. चर्षणयः — [चर्षणयः = चायिता आदित्यः चायता द्रष्टा इति स्कन्दस्वामी (निरु. ५.२४), प्राणाः मनुष्या वा (तु.म.द.ऋ.भा.५.८६.२), प्रकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.४.७.४)] ये कण मनुष्य वर्ग में होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित एवं आकर्षण युक्त होते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी इस सृष्टि को अपने ज्ञान से देखता हुआ योगमार्ग पर चलकर आत्मदर्शन तथा परमात्मदर्शन करने में समर्थ होता है, इसलिए उसे भी 'चर्षणिः' कहते हैं। इसमें एक निगम है—

या पृतनासु दुष्टरा या वाजेषु श्रवाय्या।
या पञ्च चर्षणीरभीन्द्राग्नी ता हवामहे। (ऋ.५.८६.२)

९. नहुषः — [नहुषः = नह्यति बध्नातीति नहुषः (उ.को.४.७६)] ये कण विभिन्न कणों को परस्पर बाँधने में अपनी भूमिका निभाते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी अपने कर्म बन्धनों में बँधा हुआ नाना प्रकार की योनियों के बन्धन में आता है, इस कारण 'नहुष' कहलाता है। इसका निगम है—

यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः।
तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः॥ (ऋ.५.१२.६)

१०. हरयः — ये कण अन्य विभिन्न कणों को आकर्षित करके अपने साथ ले जाते हैं, इस कारण हरयः कहलाते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी विभिन्न पदार्थों को कर्मानुसार प्राप्त करते रहते हैं। इस कारण वे भी 'हरयः' कहलाते हैं। इसके उदाहरण में एक निगम इस प्रकार है—

शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः। (ऋ.४.३५.५)

११. मर्याः — [मर्यः = मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा (निरु.३.१५)] इस प्रकार के कण अल्पायु वाले और निश्चित मर्यादित क्षेत्र में रमण करने वाले होते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी मरणधर्मा और धर्म की मर्यादा में बँधा हुआ रहने से 'मर्यः' कहलाता है। इसके लिए निगम है—

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः। (ऋ.१.६४.२)

१२. मर्त्याः — ये कण भी अल्पायु वाले होते हैं, परन्तु इनमें 'त्' वर्ण अतिरिक्त होने से ये कण उपर्युक्त पदार्थों के आधार व सिरों वाले भाग में विशेषरूपेण विद्यमान रहते हैं। उधर मरणधर्मा होने से मनुष्य नामक प्राणी भी 'मर्त्यः' कहलाता है। इसके लिए यह निगम है—

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत्कृणोति देवान्। (ऋ.१.७७.१)

१३. मर्त्ताः — ये कण भी अल्पायु वाले होते हैं। साथ ही इनके गुण उपर्युक्त दोनों प्रकार के कणों से मिलते हुए, परन्तु कुछ भिन्न होते हैं। भेद यह है कि ये कण न तो एक मर्यादा में बँधे रहते हैं और न बहुत स्वच्छन्द रहते हैं, बल्कि ये उन दोनों की मध्य श्रेणी के होते हैं। उधर मरणधर्मा होने से मनुष्य नामक प्राणी को भी 'मर्त्तः' कहते हैं। इसका यह निगम है—

तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहनः। (ऋ.३.९.६)

१४. व्राताः — [व्राताः = विषम इव वै व्रातः (तां.ब्रा.१७.१.५, ११)] ये कण नाना प्रकार की रश्मियों का वरण करते हुए नाना कर्मों को सम्पन्न करते हैं। इसके साथ ही अनियमित गति व मार्गों पर गमन करते हैं। उधर भाँति-२ के सुख व दुःखों के विषम मार्गों पर अपने कर्मों को करने के कारण मनुष्य नामक प्राणी भी 'व्रात' कहलाता है।[1] इसके लिए निगम है—

अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते। (यजु.२९.१९)

१५. तुर्वशाः — ये कण त्वरया अर्थात् शीघ्रतापूर्वक बाधक पदार्थों अथवा अन्य संयोज्य कणों को आकर्षित व प्रकाशित करते हैं, इसलिए तुर्वशा कहलाते हैं। डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने

[1] मनुष्य नामक प्राणी विपरीत लिंग वाले प्राणी का वरण करके सांसारिक कर्मों को करता है।

'निघण्टु-निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में इसे 'तुर्वी हिंसायाम्' धातु से 'अशच्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न माना है। इससे इन कणों की भेदन क्षमता भी सिद्ध होती है। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी पारस्परिक स्नेह वा हिंसा-द्वेष का व्यवहार करने वाला होने से 'तुर्वशः' कहलाता है। इसका निगम है—

प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति। (ऋ.१.१७४.९)

१६. द्रुह्यवः — इसकी व्युत्पत्ति में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'ये दुष्टानधार्मिकान् द्रुह्यन्ति जिघांसन्ति' (म.द.ऋ.भा.७.१८.१४)। ये कण भी भेदन क्षमता सम्पन्न होते हैं, जो बाधक पदार्थों को नष्ट करते हैं। उधर वीर मनुष्य नामक प्राणी भी दुष्टों का दमन करने से 'द्रुह्यु' कहलाता है। इसका निगम है—

नि गव्यवोऽनवो द्रुह्यवश्च षष्टिः शता सुषुपुः षट् सहस्रा। (ऋ.७.१८.१४)

१७. आयवः — यह पद 'आङ् + या प्रापणे' धातु से निष्पन्न होता है। [आयुः = यज्ञो वा आयुः (जै.ब्रा.१.७०, तां.ब्रा.६.४.४)] ये कण भी संगमनीय होते हैं। ये कण अपेक्षाकृत तेजस्वी भी होते हैं, परन्तु बहुत अधिक नहीं, अन्यथा इन्हें मनुष्य के स्थान पर देव वर्ग में मानना होगा, ऐसा हमारा मत है। उधर मनुष्य नामक प्राणी कर्मानुसार बार-२ जीवन प्राप्त करने तथा एक सामाजिक प्राणी होने से याज्ञिक रूप होता है, इस कारण इसे भी 'आयुः' कहते हैं। इसका निगम यह है—

त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। (ऋ.१.५३.११)

१८. यदवः — यह पद 'यती प्रयत्ने (भ्वा.) धातोरौणा. उः तस्य दकारादेशः' (वै.को.) से सिद्ध होता है। इसका आशय है कि ये कण निरन्तर प्रयत्नशील वा क्रियाशील रहते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी सदैव उचित वा अनुचित कर्म करता ही रहता है, इस कारण इसे भी 'यदुः' कहते हैं। इसका भी निगम है—

त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः। (ऋ.५.३१.८)

१९. अनवः — यह पद 'अन प्राणने' धातु से 'अणश्च' (उ.को.१.८) से 'उ' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस प्रकार के कण हिलते-डुलते हुए मन्द गति से गमन करते हैं। इस कारण इन्हें 'अनुः' कहते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी प्राणधारण के कारण ही 'अनु'

कहलाता है। इसका निगम है—

अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्। (ऋ.५.३१.४)

२०. पूरवः — [पूरवः = पूरयितव्या मनुष्याः (निरु.७.२३), पालकाः धारकाः वा (तु.म.द.ऋ.भा.७.१९.३)] ये कण विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं के रक्षण व धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा इन प्रक्रियाओं में ये पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी नाना प्रकार के जीवधारियों का पालक और रक्षक होने के कारण 'पूरुः' कहलाता है। इसका यह निगम है—

प्र पौरुकुत्सिं त्रयदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्। (ऋ.७.१९.३)

२१. जगतः — [जगतः = इयं (पृथिवी) वै जगत्यस्यां हीदꣳ सर्वं जगत् (श.ब्रा. ६.२.१.२९)] इस प्रकार के कण पृथिवी आदि अप्रकाशित लोकों में पूर्ण रूप से भरे रहते और निरन्तर गतिशील रहते हैं। इस कारण इन्हें 'जगतः' कहते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थिव परमाणुओं अर्थात् मोलिक्यूल्स को जगत् कहा जाता है। उधर मनुष्य नामक प्राणी अपने कर्मानुसार नाना प्रकार की योनियों में आवागमन करता रहता है। इस कारण उसे भी 'जगत्' कहा जाता है। इसके लिए निगम है—

जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमः। (यजु.१६.१८)

२२. तस्थुषः — ये कण अत्यन्त न्यून गति वाले होकर अपने कार्य में डटे रहते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी अपने मानव धर्म में स्थित रहने के कारण 'तस्थुष्' कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार है—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि। (ऋ.१.६.१)

२३. पञ्चजनाः — [पञ्चजनः = छन्दाꣳसि वै पञ्च पञ्चजनाः (मै.सं.१.४.९; काठ.सं. ३२.६)] पाँच प्रकार के पदार्थ, जिनकी व्याख्या आगे की जायेगी, भी मूलतः मनुष्यवाची ही हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी पाँच श्रेणियों में विभाजित होने से 'पञ्चजन' कहलाता है। इसका निगम आगे व्याख्यात किया जायेगा।

२४. विवस्वन्तः — [विवस्वान् = विवासनवान् (निरु.७.२६), मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते (श.ब्रा.१०.५.२.४), असौ वाऽआदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो

ह्नेनेन परिवृतः (श.ब्रा.१०.५.२.४)]

ये कण अहोरात्र अर्थात् प्राणापान अथवा प्राणोदान से आच्छादित रहते हैं। ये मृत्यु अर्थात् असुर कणों को आच्छादित करते हैं। ये कण सूर्यादि लोकों में रहकर उसके विकिरणों को अन्तरिक्ष में उत्सर्जित करने में सहयोग करते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया में असुर पदार्थ की भी कुछ भूमिका अवश्य होती है और प्राणापान एवं प्राणोदान रश्मियाँ सूक्ष्म विद्युत् का रूप होने से अपनी भूमिका अवश्य ही निभाती हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी नाना प्रकार के कर्मों को करता हुआ दिन और रात के चक्र द्वारा मृत्यु को प्राप्त करता रहता है। इसका निगम इस प्रकार है—

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व। (यजु.८.५)

२५. पृतनाः — [पृतनाः = संग्रामनाम (निघं.२.१७), युधो वै पृतनाः (श.ब्रा.५.२.४.१६)] ये कण पारस्परिक संयोग व संघर्षण में विशेष सक्रिय होते हैं तथा ये विशाल समूह में सेना के समान गमन करते हुए घात-संघात करने वाले होते हैं। उधर मनुष्य नामक प्राणी भी समूह वा समाज में रहकर नाना प्रकार से संघटन वा विघटन के कार्य को करते रहते हैं। इसका निगम इस प्रकार है—

व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान। (ऋ.७.२०.३)

ये सभी नाम बहुवचन में ही पढ़े गये हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि ये सभी कण एकाकी गमन नहीं करते हैं, बल्कि समूहों में गमन करते हैं। इन पच्चीस नामों में से 'पञ्चजना' पद के अनेक मन्त्र वेद में हैं, जिनमें से अगले खण्ड में दो मन्त्र प्रस्तुत किये गये हैं।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ [ऋ.१०.५३.४]

तदद्य वाचः परमं मंसीय येनासुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति। तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्। इति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियासः। अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्। निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ.१०.५३.४)

इसका ऋषि सौचीक अग्निः है। इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि सूत्रात्मा वायु अथवा सबको बाँधने वाले किसी सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न होती है। इसका देवता 'देवाः' तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्रकाशित पदार्थ तीव्र तेज व बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (तत्, अद्य, वाचः, प्रथमम्, मंसीय) 'तदद्य वाचः परमं मंसीय' देवाः अर्थात् प्रकाशित कणों (कण वा तरंगाणु) की उत्पत्ति वा उनकी विशेष सक्रियता वा बलसम्पन्नता के काल में विभिन्न वाक् रश्मियाँ अत्यन्त प्रकाशित वा संदीप्त होती हैं। यहाँ 'मन्' धातु को 'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) समझना चाहिए। इसका यह भी तात्पर्य है कि इस समय वे रश्मियाँ ही विशेष रूप से उत्पन्न वा सक्रिय होती हैं, जो दीप्ति का संवर्धन करने वाली होती हैं।

(येन, असुरान्, अभि, देवाः, असाम) 'येनासुरानभिभवेम देवाः असुरा असुरताः स्थानेषु अस्ताः स्थानेभ्य इति वा अपि वासुरिति प्राणनाम अस्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः सोर्देवान-सृजत तत्सुराणां सुरत्वम् असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम् इति विज्ञायते' अर्थात् उन वाक् रश्मियों के द्वारा देव पदार्थ अर्थात् प्रकाशित कण असुर पदार्थों को पराभूत करते हैं।

यहाँ असुर पद का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि जो पदार्थ अपने स्थानों में अच्छी प्रकार नहीं ठहर पाते, वे असुर कहलाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन पदार्थों में पारस्परिक संयोजन और संगमन का गुण अत्यल्प होता है। ये पदार्थ सदैव देव पदार्थों से संघर्ष करते रहते हैं। देव पदार्थ वज्र रश्मियों के द्वारा असुर पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके उन्हें नष्ट वा नियन्त्रित करते हुए दूर फेंकते रहते हैं। तदनन्तर लिखा कि असु प्राणों का नाम है, क्योंकि प्राण सभी प्रकार के आकृतिवान् पदार्थों में अस्त अर्थात् क्षिप्त रहता है। यहाँ इसका तात्पर्य यही है कि यह शरीर के अन्दर विद्यमान रहता है और जो इन प्राणों से युक्त होते हैं, वे असुर कहलाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्राण रश्मियों से तो देवादि पदार्थ भी निर्मित होते हैं, फिर असुर पदार्थ को ही प्राणवान् क्यों कहा है?

इसके उत्तर में हमारा मत 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' में इस प्रकार दर्शाया गया है—

"ऐसी प्राणापान किंवा प्राणोदान रश्मियाँ, जो मनस्तत्त्व के साथ सम्यक् संगत नहीं हुए व्यान प्राण के साथ संगत होती हैं, तब वे प्राणापान अथवा प्राणोदान रश्मियाँ सूक्ष्म असुर रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। ऐसी प्राण रश्मियाँ, जो छन्द अथवा मरुत् रश्मियों के साथ संगत नहीं हो पाती हैं, वे भी सूक्ष्म असुर रश्मियों को जन्म देती हैं।"

तदनन्तर ग्रन्थकार ने किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए कहा है कि सु अर्थात् श्रेष्ठ स्थान से देवों तथा अश्रेष्ठ स्थानों से असुरों की उत्पत्ति हुई। इस कारण देवों को सुर तथा अश्रेष्ठ स्थानों से उत्पन्न पदार्थ असुर कहे जाते हैं। इस विषय में कुछ तत्त्ववेत्ताओं का कथन है—

स (प्रजापतिः) ऽआस्येनैव देवानसृजत...यदस्मै ससृजानाय दिवेवास...अथ योऽ-यमवाङ् प्राणः तेनासुरानसृजत...तस्मै ससृजानाय तमऽइवास (श.ब्रा.११.१.६.७-८), सो...ऽकामयत प्रजापतिः प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वानभवत् स जघनादसुरानसृजत...स मुखाद्देवानसृजत। (तै.ब्रा.२.२.९.५; ८)

इन दोनों ही वचनों से यह स्पष्ट होता है कि देव पदार्थ का निर्माण श्रेष्ठ एवं दीप्तिमती रश्मियों तथा असुर पदार्थ का निर्माण अपेक्षाकृत तमस् प्रधान रश्मियों से होता है। (ऊर्जाद, उत, यज्ञियासः) 'ऊर्जाद उत यज्ञियासः अन्नादाश्च यज्ञियाश्च ऊर्गित्यन्ननाम ऊर्जयतीति सतः पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा' यहाँ 'ऊर्क्' अन्नवाची पद है और 'यज्ञियास' का

अर्थ है— यजन की इच्छा करने वाला। अन्न को भी ऊर्क् इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह बल प्रदान करने वाला होता है। यह अन्न नामक पदार्थ पक्व होता है अर्थात् सरलता से काटने योग्य होता है। इसका आशय यह है कि ऐसे कण जो सहजता से खण्डित हो सकते हैं, उन्हें अवशोषित करने वाले पदार्थ ही सृजन प्रक्रिया को सम्पन्न कर पाते हैं और जो कण अन्य कणों के रूप में विभाजित नहीं हो सकते, वे सृष्टि प्रक्रिया को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं।

(पञ्चजना, मम, होत्रम्, जुषध्वम्) 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः निषादः कस्मात् निषदनो भवति निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः' अर्थात् 'पञ्चजन' नामक पदार्थ इस मन्त्र की ऋषि रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न इस छन्द रश्मि के द्वारा हो रहे यजन कर्मों में भाग लेता है। ग्रन्थकार ने पूर्व में पञ्चजन पद को मनुष्यवाची नामों में पढ़ा है, किन्तु यहाँ पञ्चजन पद से गन्धर्व, पितर, देव, असुर एवं राक्षस इन पाँच प्रकार के पदार्थों को ग्रहण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यहाँ भी पञ्चजन पद मनुष्यवाची कणों के लिए ही प्रयुक्त है, जिसके कुल २५ नाम हैं, जिनमें 'मनुष्य' स्वयं एक नाम है। पञ्चजन नामक कण अपेक्षाकृत स्थूल होते हैं, जिनमें पाँच प्रकार के पदार्थ विद्यमान रहते हैं। वे पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. गन्धर्व — [गन्धर्वः = स्त्रीकामाः वै गन्धर्वाः (ऐ.ब्रा.१.२७), योषित्कामा वै गन्धर्वः (श.ब्रा.३.२.४.३), रूपमिति गन्धर्वाः (उपास्ते) (श.ब्रा.१०.५.२.२०), गानविद्याकुशलाः (म.द.य.भा.१२.९८)]

गौ अर्थात् परिक्रमणशील तरंगों वा कणों को धारण करने वाले ये गन्धर्व नामक कण सदैव स्त्री रूप कणों को आकर्षित करने वाले होते हैं। वर्तमान भौतिकी की दृष्टि से किसी परमाणु (एटम) के नाभिक को 'गन्धर्व' कहा जा सकता है। उधर गन्धर्व पद से मनुष्य नामक प्राणी का ग्रहण करने पर रूपवान् और गानविद्याओं में कुशल मनुष्य गन्धर्व कहलाते हैं।

२. देव — [देवः = देवा यज्ञियाः (श.ब्रा.१.५.२.३), देवा वै सर्पाः (तै.ब्रा.२.२.६.२), विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा.३.७.३.१०)]

ये कण यजन प्रक्रिया में विशेष सक्रिय होने और सर्पिलाकार गमन करने के कारण देव कहलाते हैं। ये अपेक्षाकृत अधिक दीप्तियुक्त होते हैं और निरन्तर गमन करने वाले होते हैं। ये गन्धर्वों के सापेक्ष स्त्रीरूप व्यवहार करते हैं। किसी परमाणु (एटम) में विद्यमान सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) को इस श्रेणी में रखा जा सकता है, क्योंकि किसी भी रासायनिक क्रिया में इन्हीं की विशेष भूमिका होती है। उधर इस पद से मनुष्य नामक प्राणी का ग्रहण करने पर वेदज्ञ विद्वानों को 'देव' कहा जाता है।

३. पितर — [पितरः = मर्त्याः पितरः (श.ब्रा.२.१.३.४), अन्तर्हिता वा अमुष्मादादित्यात् पितरोऽथो अन्तर्हिता हि देवेभ्यश्च मनुष्येभ्यश्च पितरः (मै.सं.१.१०.१७; काठ.संक.५८.६), उशन्तो हि पितरः (मै.सं.१.१०.१८; काठ.सं.३६.१२)]

पितर वे सूक्ष्म कण हैं, जो इन देव व गन्धर्व आदि कणों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। ये कण उनके प्रति विशेष आकर्षणशील होते हैं तथा इनकी आयु अत्यल्प होती है। आधुनिक भौतिकी की दृष्टि से विभिन्न मध्यस्थ कणों (मीडियेटर पार्टिकल्स) को पितर कह सकते हैं, क्योंकि ये कण विभिन्न कणों को परस्पर बाँधे रखने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। इनकी आयु भी अत्यल्प होती है। उधर जो मनुष्य नामक प्राणी पालन और रक्षण करने वाले होते हैं, वे पितर कहलाते हैं। माता-पिता एवं समस्त सम्बन्धीजन, गुरु, कृषक, श्रमिक, वणिक्, सैनिक, चिकित्सक, शिल्पी, राजा आदि सभी पितर की श्रेणी में आते हैं।

४. असुर — [असुरः = नानारूपा असुराः (जै.ब्रा.१.२७८)] इसी मन्त्र के भाष्य में हम असुर पद की व्याख्या कर चुके हैं। ये सूक्ष्म कण वा तरंग अनेक रूपों में विद्यमान रहकर उन कणों के मध्य एक प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करके उनका ऐसा पूर्ण संघात नहीं होने देते कि उन कणों का अस्तित्व ही नष्ट हो जाए। ये अति चञ्चल होते हैं तथा बार-बार अणुओं (मोलिक्यूल्स) व बड़े परमाणुओं (एटम्स) के भीतर प्रविष्ट होते रहते हैं और कभी-२ उनको कुछ खण्डित भी करते रहते हैं। सम्भव है कि रेडियोधर्मी पदार्थों के क्षय, विशेषकर अल्फा और गामा तरंगों के उत्सर्जन में इन्हीं की भूमिका हो और ये ही नाभिक का क्षय करते हों। इसके अतिरिक्त बड़े-२ अणुओं (मोलिक्यूल्स), जिनमें बड़ी संख्या में आयन्स विद्यमान होते हैं, उनके अन्दर भी यह पदार्थ अवकाश बनाए रखने में सहायक होता है। उधर हिंसक और छली-कपटी तथा अपने ही पोषण में रत रहने वाले मनुष्यों को

भी असुर कहते हैं।

५. राक्षस — [रक्षः = रक्षाꣳसि योषितमनुसचन्ते तदुत रक्षाꣳस्येव रेत आदधाति (श.ब्रा. ३.२.१.४०), रक्षो रक्षितव्यमस्मात् रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वा (निरु.४.१८), असृग् भाजनानि ह वै रक्षांसि (कौ.ब्रा.१०.४)]

'वेदविज्ञान-आलोकः' के खण्ड २.७ में इन्द्र के वज्र द्वारा छिन्न-भिन्न किये हुए असुर पदार्थ की चर्चा है, जो देव पदार्थ के निकटस्थ आकाश तत्त्व में छुप जाता है, उसे ही वहाँ राक्षस कहा है। यह पदार्थ देव पदार्थ को दुर्बल पाकर कभी-भी उस पर आक्रमण कर देता है। यह पदार्थ अपान की प्रधानता रूपी रात्रि में गमन करता है। महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा है— 'रात्रिरपानः' (ऐ.आ.२.१.५)। देव पदार्थ सदैव इससे सुरक्षित रहने हेतु प्रयत्नशील रहता है। यह राक्षस रूप पदार्थ विभिन्न बड़े अणुओं (मोलिक्यूल्स) अथवा परमाणुओं (एटम्स) में विद्यमान स्त्री रूपी सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) आदि का अनुगमन करने का प्रयास उस समय करता है, जब वे दृढ़ बन्धन से युक्त न हों। ऐसी स्थिति में वह उन पर आक्रमण करके उन्हें ऊर्जा प्रदान करता हुआ बाहर फेंक देता है। रेडियोधर्मी तत्त्वों में से अल्फा कणों को बाहर फेंकने में इसकी भूमिका हो सकती है। रेडियोधर्मी तत्त्वों के अतिरिक्त दूसरे परमाणुओं से सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) के निष्कासन में भी इसकी भूमिका हो सकती है। उधर इसका मनुष्य नामक प्राणी अर्थ ग्रहण करने पर कामी, मांसाहारी एवं क्रूर मनुष्य राक्षस सिद्ध होता है।

भावार्थ— जब कोई कण वा प्रकाशाणु तीव्र ऊर्जायुक्त होता है, तब उसमें विद्यमान विभिन्न रश्मियाँ भी अत्यन्त दीप्तिमती होती हैं। इन्हीं रश्मियों के द्वारा वे कणादि पदार्थ असुर पदार्थ को पराभूत कर देते हैं। असुर पदार्थ एक स्थान पर न ठहरकर देव पदार्थ के साथ संघर्ष करते ही रहते हैं। जो प्राण रश्मियाँ छन्दादि रश्मियों के साथ संयुक्त नहीं हो पातीं, वे सूक्ष्म असुर रश्मियों का रूप ले लेती हैं। देव पदार्थों में सत्त्व गुण तथा असुर पदार्थ में तमोगुण की प्रधानता होती है। विभिन्न पदार्थों को सहजता से अवशोषित करने वाले पदार्थ ही सृजन प्रक्रिया को सम्पन्न कर पाते हैं, इसके विपरीत नहीं। इस सृष्टि में मुख्यतः पाँच प्रकार के पदार्थ सृजन कर्म करते हैं—

१. एटम्स के नाभिक

२. इलेक्ट्रॉन्स
३. मीडियेटर पार्टिकल्स
४. असुर पदार्थ (डार्क मैटर)
५. बिखरा हुआ असुर पदार्थ

इस प्रकार पञ्चजन पद से एक ही प्रकार के बड़े कण का ग्रहण होता है। पञ्चजन की यह व्याख्या ग्रन्थकार ने स्वयं की है। ऐतिहासिक ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण और महाभारत ग्रन्थ में देव, असुर आदि विभिन्न योनियों का वर्णन है, जिनमें से मनुष्य स्वयं एक योनि है। इन सब पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि ये सभी योनियाँ मनन सामर्थ्य वाली होने से मनुष्य भी कहलाती हैं। कदाचित् मुखाकृति के स्वल्प भेद तथा व्यवहारों की किञ्चित् भिन्नता के कारण ये पृथक्-२ नाम प्रसिद्ध हुए हों। पूर्व में हम द्युलोक में रहने वाली देव योनि का वर्णन भी कर चुके हैं। इसी प्रकार अन्य योनियाँ भी इस पृथिवीलोक के अतिरिक्त पूर्व में कभी अन्य लोकों में भी रहती हों, यह भी सम्भव है। वस्तुतः यह विषय इतिहास का है, जो हमारा विषय नहीं है। इस कारण हम इस पर अधिक चर्चा नहीं करते।

ग्रन्थकार पञ्चजन शब्द की अपनी व्याख्या करने के पश्चात् महर्षि औपमन्यव का मत प्रस्तुत करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त निषाद का भी ग्रहण पञ्चजन में करते हैं। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के विषय में प्रक्षेपरहित मनुस्मृति (जैसे मनुस्मृति पर डॉ. सुरेन्द्र कुमार का भाष्य) और सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ पठनीय हैं। इस विषय में हमारी पुस्तक 'बोलो! किधर जाओगे?' भी पढ़ सकते हैं। इन सभी ग्रन्थों में जन्म से नहीं, बल्कि कर्म से वर्णों की बुद्धिगम्य एवं वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। यहाँ ग्रन्थकार ने इस विषय को छोड़ दिया है, परन्तु निषाद पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो मनुष्य दूसरों पर घात करता, प्राणियों की हिंसा करता और निरन्तर पापों में रत रहता है, वह मनुष्य निषाद कहलाता है। ऐसा कई नैरुक्त मानते हैं, यह ग्रन्थकार का कथन है।

यत्पाञ्चजन्यया विशा॥ [ऋ.८.६३.७]

पञ्चजनीनया विशा। पञ्चपृक्ता संख्या स्त्री पुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा।

यहाँ मन्त्र का प्रथम पाद ही उद्धृत किया गया है। इस मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार है—

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत। (ऋ.८.६३.७)

अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चजनवाची प्रजा अर्थात् कण इन्द्र अर्थात् तीव्र वैद्युद्वायु के क्षेत्र में तीव्र घोष करने लगते हैं। उधर मनुष्यवाची प्राणी अर्थ ग्रहण करने पर इस अर्धर्च का भाव है कि पूर्वोक्त पञ्चजन नामक देवादि वा ब्राह्मणादि जन अपने राजा वा परमात्मा के निकट प्रार्थना करते हैं।

यहाँ संख्यावाची 'पञ्च' पद स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों में समान रूप से प्रयुक्त होता है।

बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बाहू कस्मात्। प्रबाधत आभ्यां कर्माणि।

मनुष्यवाची पदों के पश्चात् निघण्टु में अगले बारह नाम बाहुवाची पढ़े गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

आयती। च्यवाना। अभीशू। अप्नवाना। विनङ्गृसौ। गभस्ती। करस्नौ। बाहू। भुरिजौ। क्षिपस्ती। शक्वरी। भरित्रे।

अब 'बाहु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि' अर्थात् इनके द्वारा ही मनुष्य विभिन्न प्रकार के कर्मों को पार लगाने अर्थात् सम्पन्न करने में समर्थ होता है। उधर विभिन्न प्रकार के कण भी बाहुरूप बलों के द्वारा अपने आकर्षण-प्रतिकर्षण आदि कर्मों को करने में समर्थ होते हैं। इस कारण मनुष्य की भुजाओं और प्राणादि बल रश्मियों, इन दोनों को ही 'बाहू' कहा जाता है। बाहू पद 'बाधृ विलोडने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे यह संकेत मिलता है कि हमारी भुजाओं के द्वारा कार्य करते समय हमारे शरीर की मांसपेशियों, स्नायुओं, फेफड़ों, हृदय व मस्तिष्क आदि अंगों के साथ हम जिस पदार्थ पर बल लगाते हैं, उस पदार्थ के भी अंग-२ में सूक्ष्म स्तर पर भारी उथल-पुथल की क्रियाएँ होती हैं, जिन सभी को हम अनुभव भी नहीं कर सकते। उधर सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोकों तक में जो बलों की क्रियाएँ होती हैं, उनमें भी दोनों ही ओर के पदार्थों में बाहरी और आन्तरिक रूप से बहुत हलचल भरी

क्रियाएँ होती हैं, इसी कारण इन्हें 'बाहू' कहते हैं। इस प्रकार बाहू इस एक पद की व्याख्या हुई। अब अन्य नामों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—

१. आयती — यह पद आङ्पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे यह प्रकट होता है कि बल की प्रक्रिया केवल वहाँ नहीं होती, जहाँ वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है, बल्कि वह उस बिन्दु के सब ओर व्यापक रूप से होती है। इस कारण बाहु को 'आयती' भी कहते हैं।

२. च्यवाना — यह पद 'च्युङ् गतौ' धातु से निष्पन्न होता है। [च्यवनः = च्यावयिता स्तोमानाम् (निरु.४.१९)] इसका तात्पर्य यह है कि बलों के कार्य करते समय पदार्थों के अन्दर से नाना प्रकार की बल रश्मियाँ रिसने लगती हैं और वे रश्मियाँ ही उन बलों का कारण होती हैं।

३. अभीशू — इनके विषय में रश्मिनामों की व्याख्या में पढ़ें, क्योंकि बल विभिन्न प्रकार की रश्मियों का ही परिणाम होता है और बल रश्मियों का नाम बाहू भी है, इस कारण अभीशू को बाहुनामों में भी पढ़ा गया है।

४. अप्नवाना — [अप्नः = कर्मनाम (निघं.२.१)] जो बाहूरूप बल नाना प्रकार की क्रियाओं से युक्त होते हैं, वे 'अप्नवाना' कहलाते हैं। इसमें 'औ' को आकारादेश छान्दस प्रयोग है। ध्यातव्य है कि किसी भी पदार्थ की अनेक प्रकार की क्रियाओं के द्वारा बल गुण उत्पन्न होता है, इसलिए इसे यहाँ कर्मों से युक्त अप्नवान कहा है।

५. विनङ्गृसौ — इसके विषय में डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' ग्रन्थ में लिखा है— विनम्य ग्रसतोऽन्नादिकमिति माधवः। पृषोदरादित्वात् (अष्टा.६.३.१०९) पूर्वपदे म्यलोपो नुक्, 'ग्रस अदने' (भ्वा.आ.४२०) इत्यस्मात् पचाद्यच् (अष्टा.३.१.१३४), सम्प्रसारणञ्च।

इससे संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ अपने गन्तव्य की ओर झुकती हुई उससे आने वाली रश्मियों को अवशोषित करके आकर्षण बलों को उत्पन्न करती हैं।

६. गभस्ती — इसकी व्याख्या हम रश्मिनाम में कर चुके हैं।

७. करस्नौ — इस विषय में ग्रन्थकार ने कहा है— 'करस्नौ बाहू कर्मणां प्रस्नातारौ'

(निरु.६.१७) अर्थात् विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सज्जित व सम्पादित करने के कारण बाहू को 'करस्नौ' कहते हैं।

८. बाहू — इसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

९. भुरिजौ — इस विषय में ऋषियों ने कहा है— 'भरणाद् भुरिगुच्यते' (दै.ब्रा.३.२१) इसका आशय यह है कि भुरिग् रूप बाहू रश्मियों के कारण ही ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों का धारण और पोषण होता है, इसी कारण इन्हें 'भुरिक्' कहते हैं।

१०. क्षिपस्ती — ये बल रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को इधर से उधर प्रक्षिप्त करती रहती हैं, इसी कारण इन्हें 'क्षिपस्ती' कहते हैं।

११. शक्वरी — [शक्वरी = वज्रः शक्वर्यः (तां.ब्रा.१२.१३.१४), आपो वै शक्वर्यः (जै.ब्रा.३.९२), शक्वर्यः (ऋचः) यदिमाँल्लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद् यदिदं किं च तच्छक्वर्योऽभवंस्तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम् (ऐ.ब्रा.५.७)]

ये रश्मियाँ अति शक्तिशाली होती हैं, जो नाना प्रकार के बाधक पदार्थों को नष्ट करने में सक्षम होती हैं, इस कारण इन्हें 'शक्वरी' कहते हैं।

१२. भरित्रे — ये रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों का धारण और पोषण करने में समर्थ होती हैं।

अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्मात्।
अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा। अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा।
अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा। अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा।
अङ्कना भवन्तीति वा। अञ्चना भवन्तीति वा।
अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः। तासामेषा भवति॥ ८॥

इसके अनन्तर निघण्टु में अगले २२ नाम अङ्गुलिवाची पढ़े गये हैं। ये २२ नाम इस प्रकार हैं—

अग्रुवः। अण्व्यः। व्रिशः। क्षिपः। शर्याः। रशनाः। धीतयः। अथर्यः। विपः। कक्ष्याः। अवनयः। हरितः। स्वसारः। जामयः। सनाभयः। योक्त्राणि। योजनानि। धुरः। शाखाः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः।

इस विषय में ऋषियों का कथन है— 'नानावीर्या अङ्गुलयः' (तै.सं.६.१.९.५) अर्थात् विभिन्न पदार्थों से बल रश्मियाँ स्रवित होती हैं और उन बलों का मुख्य और अग्रणी कारण होती हैं, वे उन पदार्थों की अङ्गुलि कहलाती हैं। यही स्थिति हमारे शरीर की अङ्गुलियों की भी होती है। यहाँ अङ्गुलि पद का निर्वचन करते हुए अनेक तथ्यों का संकेत करते हैं—

शरीर में अङ्गुलियाँ प्रत्येक कार्य में सबसे आगे चलती हैं। किसी भी कार्य को करते समय हमारी भुजाओं की अङ्गुलियाँ अग्रणी भूमिका निभाती हैं। उधर गमन करते समय पैरों की अङ्गुलियों की भूमिका भी सबसे अग्रणी होती है। तदुपरान्त कहा है कि ये अङ्गुलियाँ ही सबसे पहले अवशोषित होने वाली होती हैं। जब दो पदार्थों के बीच आपसी आकर्षण होता है, तो ये अग्रगामिनी रश्मियाँ ही एक-दूसरे को अपने अन्दर समाने के लिए अर्थात् एक-दूसरे से मिश्रित होने के लिए आगे बढ़ती हैं। वस्तुतः किसी भी अन्योन्य क्रिया में प्रत्यक्ष और अग्रणी सहयोग इन्हीं का होता है।

उधर हमारे शरीर में भी जब हम किसी अन्य व्यक्ति को पकड़ें, तब भी हमारी अङ्गुलियों की ही सर्वाधिक प्रत्यक्ष और अग्रणी भूमिका होती है। तदनन्तर लिखते हैं कि ये अङ्गुलि संज्ञक रश्मियाँ ही अग्रकारिणी होती हैं अर्थात् किसी भी कार्य में इन्हीं का क्रियाशील रहना सबसे अधिक प्राथमिक और अनिवार्य है। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी कार्य करते समय अङ्गुलियाँ ही सबसे अधिक सक्रिय और अग्रिम भूमिका निभाती हैं। इसके पश्चात् कहा कि अङ्गुलिरूपी रश्मियाँ ही आगे-२ सरकने वाली होती हैं अर्थात् इनकी गति सर्पिलाकार होती है। इनमें से कुछ रश्मियाँ मन्द गति से चलती हैं। उधर हमारे हाथों की अङ्गुलियाँ किसी कार्य को करते समय धीमे या मन्द गति से आगे सरकती हुई कार्यों को सम्पादित करती हैं। ध्यातव्य है कि इन चार प्रकार के कार्यों में अङ्गुलिविहीन हमारे हाथ अथवा पैर दोनों ही कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते। इस कारण इनके सभी कार्यों में अङ्गुलियों की भूमिका प्रधान मानी गयी है।

तदनन्तर अङ्गुलि पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'अङ्कना भवन्तीति वा' [अङ्कः = अङ्कांसि कुटिलानि अङ्कोऽञ्चतेः (निरु.२.२८), अञ्चति गच्छति येन तत् अङ्कः (उ.को.४.२१७)] अर्थात् ये अङ्गुलिरूपी रश्मियाँ ही कुटिल मार्गों पर गमन करने वाली तथा अन्य संयोज्य पदार्थों पर अपना प्रभाव छोड़ने वाली होती हैं, क्योंकि उन पदार्थों से

प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन्हीं का होता है। उधर हमारे शरीर की अङ्गुलियों की भी किसी के साथ सम्पर्क करते समय निकटतम भूमिका होती है। इसके पश्चात् कहा— 'अञ्चना भवन्तीति वा अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः'। यह पद 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ गमन करते समय शुद्ध अर्थात् मार्ग को बाधारहित करती हुई और सूक्ष्म दीप्ति को उत्पन्न करती हुई आगे बढ़ती हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो बाहूरूप तरंगें वा रश्मियाँ भी अपना काम नहीं कर पायेंगी। उसी प्रकार हमारे शरीर की अङ्गुलियाँ भी प्रत्येक कार्य की बाधा को दूर करती हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने कहा है कि अङ्गुलि पद 'अभि' उपसर्गपूर्वक इसी 'अञ्जू' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है— 'मर्दन करना'। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ जब किन्हीं अन्य रश्मियों से सम्पर्क करती हैं, तब ये उन रश्मियों का मर्दन वा सम्पीडन करते हुए अपने कार्यों को सम्पन्न करती हैं। इसी प्रकार की प्रक्रिया हम अपने शरीर में भी देख सकते हैं। जब हम किसी वस्तु को हाथ से पकड़ते हैं, तब स्वाभाविक रूप से हम अपनी अङ्गुलियों से एक दबाव डालते हैं। दबाव डाले बिना हम किसी वस्तु को पकड़ ही नहीं सकते। इसी प्रकार चलते समय हम पैरों की अङ्गुलियों से फर्श पर दबाव डालते हैं, अन्यथा हम चल ही नहीं सकते। फर्श पर कोई चिकना पदार्थ डालने पर हमारी अङ्गुलियाँ फर्श पर दबाव नहीं डाल सकती, इसलिए हम चिकने फर्श पर चल ही नहीं सकते।

अब हम अङ्गुलिवाची अन्य नामों से उन गुणों की भी संक्षिप्त चर्चा करते हैं, जिनकी चर्चा 'अङ्गुलि' पद के निर्वचन में नहीं है।

१. अग्रुवः — इस पद से अग्रगन्ता होने का जो गुण प्रकट होता है, वह अङ्गुलिवाची पद में स्वतः विद्यमान है।

२. अण्व्यः — 'अण्वी' पद के अर्थ ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद-भाष्य १.३.४ में किरण और कारण दोनों ही किये हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से कारण होती हैं। उधर शरीर की अङ्गुलियाँ हाथों द्वारा किये जा सकने वाले सभी कार्यों की मुख्य कारण होती हैं।

३. व्रिशः — ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १.१४४.५ के भाष्य में वकार को व्र आदेश माना है।

अतः ये रश्मियाँ संयुक्त होने वाले पदार्थ की रश्मियों से मिश्रित होते समय उस पदार्थ में भीतर तक प्रविष्ट हो जाती हैं।

४. क्षिपः — यह पद यह संकेत करता है कि किसी पदार्थ को फेंकने, प्रेरित करने अथवा नष्ट करने में इन्हीं रश्मियों की भूमिका होती है। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी अङ्गुलियों की इन कार्यों में भूमिका होती है।

५. शर्याः — यह पद 'शॄ हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जब दो पदार्थों में हिंसक संघर्ष होता है, उस समय उस संघर्ष में सर्वाधिक अग्रणी भूमिका इन्हीं रश्मियों की होती है। इसी प्रकार शरीर में भी अङ्गुलियों की भूमिका होती है।

६. रशनाः — इसके विषय में ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष २.७६ में लिखा है— 'अश्नुते व्याप्नोतीति रशना'। इसका तात्पर्य है कि ये रश्मियाँ फैली हुई सी गमन करती हैं, न कि एक साथ बँधी हुई। इसी प्रकार शरीर के अन्दर भी हमारी अङ्गुलियाँ कभी भी बँधकर कार्य नहीं कर सकती, बल्कि वे एक-दूसरे से पृथक्-२ रहते हुए ही कार्य कर पाती हैं और कार्य करते हुए ही परस्पर मिलती भी हैं।

७. धीतयः — किसी पदार्थ के द्वारा अन्य पदार्थ को धारण करने में अर्थात् सभी प्रकार के धारक बलों में इन्हीं रश्मियों की भूमिका होती है। इसी प्रकार हमारे शरीर में अङ्गुलियों की भूमिका होती है।

८. अथर्यः — [थर्वतिश्चरतिकर्मा (निरु.११.१८)] ये रश्मियाँ किसी भी क्रिया में सबसे अधिक सक्रिय होती हैं। इसी प्रकार शरीर के अन्दर भी अङ्गुलियों की यही स्थिति होती है।

९. विपः — विभिन्न पदार्थों के पारस्परिक संघर्षों में पदार्थ की रक्षा करने में इन्हीं की विशेष भूमिका होती है। इसी प्रकार शरीर में अङ्गुलियों की भूमिका है।

१०. कक्ष्याः — इसकी व्याख्या के लिए इस ग्रन्थ का खण्ड २.२ पठनीय है। इसके अतिरिक्त हम आगामी मन्त्र की व्याख्या में भी इसकी चर्चा करेंगे।

११. अवनयः — इसकी व्याख्या भी हम अग्रिम मन्त्र की व्याख्या में करेंगे।

१२. हरितः — इन्हीं के द्वारा कोई भी पदार्थ अन्य पदार्थों का हरण कर पाता है। उधर

शरीर में भी अङ्गुलियों की यही भूमिका होती है।

१३. स्वसारः — [स्वसा = सुष्ठ्वस्यतीति स्वसा (उ.को.२.९८), स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा (निरु.११.३२)]

ये रश्मियाँ किसी पदार्थ को दूर फेंकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसके साथ ही ये अपने आधाररूप पदार्थ की बाहूरूप रश्मियों के अन्दर अच्छी प्रकार अवस्थित होती हैं। यही स्थिति हमारे शरीर में अङ्गुलियों की होती है।

१४. जामयः — इसके विषय में खण्ड ३.६ पठनीय है।

१५. सनाभयः — ये रश्मियाँ परस्पर एक ही आधार से बँधी हुई होती हैं और परस्पर सामूहिक बन्धन बल के द्वारा ही नाना प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करती हैं। यही स्थिति शरीर में अङ्गुलियों की भी होती है।

१६-१८. योक्त्राणि, योजनानि, धुरः — इनकी व्याख्या हम आगामी मन्त्र के भाष्य में करेंगे।

१९. शाखाः — इसकी व्याख्या के लिए ग्रन्थ के खण्ड १.४ की व्याख्या देखें।

२०. अभीशवः — इसकी व्याख्या हम अगले मन्त्र के भाष्य में करेंगे।

२१. दीधितयः — इसके लिए ग्रन्थकार ने लिखा है— दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति धीयन्ते कर्मसु (निरु.५.१०)। सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं में इन रश्मियों का सुदृढ़ रूप से धारण और पोषण अनिवार्य होता है। यदि ये दुर्बल हो जायें, तो कोई भी क्रिया सम्भव न हो सके। इसी प्रकार शरीर के अन्दर भी अङ्गुलियों के विषय में समझें।

२२. गभस्तयः — इसकी व्याख्या पूर्व में बाहूवाची पदों में पढ़ें।

इसके लिए ग्रन्थकार एक ऋचा प्रस्तुत करते हैं, जो अग्रिम खण्ड में दी गई है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥

[ऋ.१०.९४.७]

अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति। अवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः। धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूरेतस्मादेव। विहन्ति वहम्। धारयतेर्वा।

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥ (ऋ.१०.९४.७)

इस मन्त्र का ऋषि काद्रवेयोऽर्बुदः सर्पः है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी वाक् रश्मियों से होती है, जो वर्षणशील एवं रंगीन मेघों में व्याप्त होती हैं और उन मेघरूप पदार्थों में देवरूप पदार्थों को प्रेरित करती हैं। इनके विषय में विस्तृत जानकारी के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ६.१.१ पठनीय है। इसका देवता ग्रावाण और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। ग्रावा के विषय में ऋषियों का कथन है— प्राणा वै ग्रावाणः (श.ब्रा.१४.२.२.३३), पशवो वै ग्रावाणः (तां.ब्रा.९.९.१४), यज्ञमुखं वै ग्रावाणः (मै.सं.४.५.२)। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से वे मेघ रक्तवर्णीय तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— वे संयोज्य प्राणादि रश्मियाँ (दश, अवनिभ्यः) 'अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति अवन्ति कर्माणि' अर्थात् पूर्वोक्त अङ्गुलिरूप दश रश्मियाँ विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की रक्षा करती हैं। यहाँ 'अव' धातु का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ केवल रक्षा करना ही नहीं होता, अपितु अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें से कुछ अर्थों की यहाँ भी पूर्ण प्रासङ्गिकता है। इस आधार पर अङ्गुलिवाची 'अवनि' पद से रक्षा के अतिरिक्त अन्य भी कई गुणों का ग्रहण होता है। जैसे गति करना, आकर्षित व प्रकाशित करना, प्रवेश करना, नियन्त्रण में रखना, व्याप्त होना, आलिङ्गन करना, हिंसा करना,

शक्तिशाली होना और ग्रहण करना आदि। इस कारण ये रश्मियाँ इन सब विशेषताओं से भी युक्त होती हैं। उधर हमारे शरीर की अङ्गुलियाँ भी इनमें से अधिकांश कार्य करने में समर्थ होती हैं। ऐसी अवनिसंज्ञक रश्मियों को प्रकाशित करती हैं।

(दशकक्ष्येभ्य:) 'कक्ष्या: प्रकाशयन्ति कर्माणि' अर्थात् कक्ष्या संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न कर्मों को प्रकाशित अर्थात् सम्पादित करती हैं, को भी प्रकाशित करती हैं। कक्ष्या के विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं।

(दशयोक्त्रेभ्य:, दशयोजनेभ्य:) 'योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्' [योक्त्राणि = योक्त्राणि योजनानि (निरु.३.९)] यहाँ स्पष्ट है कि इन दोनों का स्थूल रूप से एक ही प्रभाव और अर्थ होता है। तब यह प्रश्न उठता है कि मन्त्र में इन दोनों पदों का पृथक्-२ प्रयोग क्यों किया गया है? हमारे मत में ये दोनों पद एक ही धातु 'युजिर् योगे' से व्युत्पन्न होते हुए भी इनमें प्रत्यय का भेद है। 'योक्त्रम्' में 'ष्ट्रन्' तथा 'योजनम्' में 'ल्युट्' प्रत्यय का प्रयोग है। इस कारण से सृष्टि प्रक्रिया पर दोनों पदों का लगभग समान प्रभाव होने पर भी किंचित् भेद यह रहता है कि 'योक्त्रम्' नामवाची रश्मियाँ 'योजनम्' नामवाची रश्मियों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रकाशशील और किंचित् प्रक्षेपक गुणयुक्त होती हैं, जबकि 'योजनम्' नामवाची रश्मियाँ इनकी अपेक्षा कुछ न्यून प्रकाशयुक्त एवं ग्राहक गुणयुक्त होती हैं। इन ऐसी रश्मियों को भी प्रकाशित करती हैं। वर्णों के वैज्ञानिक प्रभाव के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ अथवा पण्डित रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' पठनीय है।

(दशाभीशुभ्य:) 'अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि' अपने लक्ष्य के सम्मुख की दिशा में व्याप्त होती हुई गमन करते हुए नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती हैं, को प्रकाशित करती हैं।

(अजरेभ्य:, दश, धुर:, दश, युक्ता:, वहद्भ्य:) 'दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्य: धूर्धूर्वते-र्वधकर्मण: इयमपीतरा धूरेतस्मादेव विहन्ति वहम् धारयतेर्वा' अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय इन दश धुरों अर्थात् ऐसी रश्मियों, जो मार्ग में आने वाली विभिन्न रश्मियों को विशेष रूप से नष्ट करने में समर्थ होती हैं तथा धारण करने योग्य पदार्थों को धारण करती हैं। लोक में प्रचलित गाड़ी का धुरा भी 'धू:' इस कारण कहलाता है, क्योंकि यह बैल अथवा अश्वों को कष्ट देता है और सम्पूर्ण गाड़ी के भार को धारण करता है। उन ऐसी दशों प्राण रश्मियों के द्वारा कभी जीर्ण न होने वाली

और सम्पूर्ण सृष्टि की नाना क्रियाओं को वहन करने वाली दशों रश्मियों को (अर्चत) प्रकाशित करती हैं।

जब विभिन्न पदार्थों के मध्य विभिन्न प्रकार की अन्योन्य क्रियाएँ होती हैं, तब उन दोनों के मध्य अनेक प्रकार की छन्द व मरुद् रश्मियाँ कार्य करती हैं, जिन्हें हम अङ्गुलिवाची नामों में व्याख्यात कर चुके हैं। उन सबको प्राणापान आदि दश रश्मियाँ विशेष प्रकाशित और प्रेरित करती हैं। यहाँ यह अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि दश धुर से दश प्राण रश्मियों का ग्रहण किया गया, तब अन्य प्रकार की रश्मियों की जो दश संख्या बताई है, वे रश्मियाँ कौन-सी हैं? इसके उत्तर में हम यह कहना चाहेंगे कि सम्पूर्ण सृष्टि में संयोग-वियोग की अनेक क्रियाएँ होती हैं और उन क्रियाओं में भिन्न-२ प्रकार की अनेक रश्मियाँ भाग लेती हैं। उन सबको दश भागों में वर्गीकृत करना अति दुष्कर कार्य है। पुनरपि हम स्थूल रूप से यह वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

१. 'ओम्' रश्मि
२. भूः
३. भुवः
४. स्वः
५. महः
६. हिम्
७. सूत्रात्मा वायु
८. मास रश्मियाँ
९. मरुत् रश्मियाँ
१०. छन्द रश्मियाँ

कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश।

अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। अन्नं कस्मात्। आनतं भूतेभ्यः। अत्तेर्वा।

अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश।

बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। बलं कस्मात्। बलं भरं भवति। बिभर्तेः।

धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव। धनं कस्मात्। धिनोतीति सतः।

गोनामान्युत्तराणि नव।

क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश।

क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश।

गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्।
क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। क्षिप्रं कस्मात्। संक्षिप्तो विकर्षः।
अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश। अन्तिकं कस्मात्। आनीतं भवति।

अङ्गुलिवाची पदों के पश्चात् अगले १८ नाम निघण्टु में कान्ति अर्थ में पढ़े गये हैं। ध्यातव्य है कि कान्ति का अर्थ इच्छा करना, आकर्षित करना और दीप्तिमान् होना आदि है। ये १८ नाम इस प्रकार हैं—

वश्मि। उश्मसि। वेति। वेनति। वेसति। वाञ्छति। वष्टि। वनोति। जुषते। हर्यति। आचके। उशिक्। मन्यते। छन्त्सत्। चाकनत्। चकमानः। कनति। कानिषत्।

जैसा कि हम पूर्व में लिखते आये हैं कि जिस किसी पदार्थ के अनेक वाचक पद निघण्टु में वर्णित हैं, वे सभी उस पदार्थ के भिन्न-२ गुणों को दर्शाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो ऋषि एक ही पदार्थ के अनेक नाम नहीं रखते। पदार्थ के विभिन्न नाम उसके सर्वांगीण विज्ञान का परिचायक होते हैं। हमने पूर्व में अनेक पदार्थों के सभी नामों की व्याख्या की है, परन्तु सर्वत्र ऐसा करना कलेवर वृद्धि के कारण न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। दीप्ति और आकर्षण बलों के १८ सूक्ष्म भेदों को शब्दों में अभिव्यक्त करना अति दुष्कर वा असम्भव-सा कार्य है। इस कारण हम इन नामों की व्याख्या न करके आगे बढ़ते हैं।

इसके उपरान्त निघण्टु में अगले २८ नाम अन्नवाची हैं। ये २८ नाम इस प्रकार हैं—

अन्धः। वाजः। पयः। श्रवः। पृक्षः। पितुः। सुतः। सिनम्। अवः। क्षु। धासिः। इरा। इळा। इषम्। ऊर्क्। रसः। स्वधा। अर्कः। क्षद्म। नेमः। ससम्। नमः। आयुः। सूनृता। ब्रह्म। वर्चः। कीलालम्। यशः।

ग्रन्थकार ने 'अन्नम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'अन्नं कस्मात् आनतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा'। इसका अर्थ यह है कि यह सभी प्राणियों के लिए सब ओर प्राप्त होता है अथवा सभी प्राणी इसका भक्षण करते हैं। उधर सृष्टि में जो पदार्थ विभिन्न उत्पन्न पदार्थों के द्वारा आकर्षित होते हुए उनकी ओर झुके हुए गमन करते हैं और इसी प्रकार गमन करते हुए उन अन्न संज्ञक पदार्थों को अन्य पदार्थ, जिन्हें प्रायः प्राण संज्ञक कहा जाता है,

अवशोषित कर लेते हैं अर्थात् उनका भक्षण कर लिया जाता है। इस कारण अवशोष्य पदार्थ ही अन्न कहलाते हैं। इनके वाचक २८ पद इन अन्न संज्ञक पदार्थों के २८ भिन्न-२ रूपों एवं गुणों का ही वर्णन करते हैं।

वैदिक वाङ्मय में यह पद अनेकत्र आया है, इस कारण इसके सभी वाचकों पर क्रमशः संक्षिप्त विचार करते हैं—

१. अन्धः — [अन्धः = अनेन प्राप्तव्यो रसो गृह्यते (म.द.य.भा.३.२०), अहर्व्वा अन्धः (तां.ब्रा.१२.३.३), अन्धो रात्रिः (तां.ब्रा.९.१.७)] यह उस संयोजी पदार्थ का नाम है, जो संयुक्त होते समय किसी पदार्थ द्वारा अपने अन्दर पूर्णतः अवशोषित किया जाता है। यहाँ अहन् और रात्रि क्रमशः प्राण एवं अपान के नाम हैं, जो किसी संयोग प्रक्रिया में किसी पदार्थ के अन्दर पूर्णतः प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार वे कण अथवा तरंगाणु (क्वाण्टा), जो किसी संयोग प्रक्रिया के समय संयोजक पदार्थ के अन्दर पूर्णतः प्रविष्ट हो जाते हैं, वे 'अन्धस्' कहलाते हैं। विभिन्न प्रकार की इसी गुण वाली रश्मियाँ भी अन्धस् कहलायेंगी।

२. वाजः — [वाजः = वाजयति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), वज मार्गसंस्कारगत्योः (क्षीरतरङ्गिणी १०.६९), वीर्यं वै वाजाः (श.ब्रा.३.३.४.७)] वे पदार्थ जो अतिवेगवान् और प्रकाशयुक्त होते हैं तथा किसी संयोजक पदार्थ के द्वारा आकर्षित होते ही तीव्र वेग से गमन करते हुए अपने मार्ग से सभी बाधक पदार्थों को दूर हटाते जाते हैं, उन्हें 'वाजः' कहते हैं।

३. पयः — [पयः = पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (निरु.२.५), ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), वायुर्वै पयसः प्रदाता (काठ.सं.३५.१७)] वे पदार्थ जो संयोजक पदार्थ की ओर गमन करते हुए फैलते हुए जाते हैं तथा विद्युत् बलों से युक्त होते हैं। ये पदार्थ संयोजक पदार्थों से संयुक्त होकर उनकी दीप्ति में वृद्धि करते हैं तथा वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी) से उत्पन्न होते हैं।

४. श्रवः ('प्रयः' इति क्वचित्) — [श्रवः = श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः (निरु. १०.३)] ये पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त होने के लिए सदैव गमनशील रहते हैं और संयोजक पदार्थ भी सदैव उनको गमन कराते ही रहते हैं।

५. पृक्षः — [पृक्षः = पृची सम्पर्के (रुधा.) धातोर्बाहु. औणा. क्सः प्रत्ययः। पृषु सेचने

(भ्वा.) धातोर्वा क्सः (वै.को.)] ये पदार्थ संयोजक पदार्थों से सम्पर्क के लिए निरन्तर यत्नशील रहते हैं और जब इनका उनके साथ सम्पर्क होने वाला होता है, तब ये उनके ऊपर सूक्ष्म रश्मियों का सिंचन करने लगते हैं और सम्पर्क वा संयोग प्रक्रिया पूर्ण होने तक यह सिंचन प्रक्रिया चलती रहती है।

६. पितुः — [पितुः = पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (निरु.९.२४)] ये पदार्थ सृष्टि की सभी क्रियाओं और सभी पदार्थों के रक्षक होते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि संयोग और वियोग आदि क्रियाओं पर ही टिकी हुई है। केवल इसी क्रिया के अभाव में न तो सृष्टि रचना सम्भव है और न रची हुई सृष्टि की रक्षा ही सम्भव है। ये पदार्थ संयोजक पदार्थों से उत्सर्जित होने वाली विभिन्न रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं। ये पदार्थ ही सृजन प्रक्रियाओं का विस्तार करते हुए सृष्टि का विस्तार कराने वाले होते हैं।

७. सुतः — ये पदार्थ इनके उत्पादक पदार्थों के सम्पीडन के द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा विभिन्न पदार्थों के द्वारा प्रेरित होकर इनकी संयोज्यता में परिवर्तन होता रहता है।

८. सिनम् — [सिनम् = सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि (निरु.५.५)] ये पदार्थ ही सभी उत्पन्न पदार्थों को परस्पर बाँधे रखते हैं। इस सृष्टि में जो भी और जहाँ भी बन्धन बल विद्यमान है, वह सब इन्हीं संयोज्य पदार्थों के द्वारा ही उत्पन्न होता है।

९. अवः — इन पदार्थों के कारण ही इस सृष्टि में रक्षण, गति, आकर्षण, नियन्त्रण, दीप्ति, संयोजन, भेदन-छेदन आदि क्रियाओं का होना सम्भव है, क्योंकि संयोज्य पदार्थों और संयोजक बलों के अभाव में इनमें से कोई भी क्रिया सम्भव नहीं हो सकती।

१०. क्षु — यह पद 'क्षु शब्दे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि ये पदार्थ निरन्तर सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न करते हुए गमन करते हैं। आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोष में इस धातु के अर्थ उछलना-कूदना आदि भी दिये हैं। इसका आशय यह है कि ये पदार्थ उछलते-कूदते और ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करते हुए गमन करते हैं।

११. धासिः — ये पदार्थ संयोजक पदार्थों का धारण और पोषण करने वाले होते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे कोई धनायन अपने अन्न रूप, जिसे यहाँ धासि कहा गया है, सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) से संयुक्त होकर स्थायित्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र समझें।

१२. इरा — [एति गच्छति यया सा इरा (उ.को.२.२९)] जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर उसकी गति में वृद्धि कर देते हैं, वे इरा कहलाते हैं।

१३. इळा — यह पद 'इल प्रेरणे' धातु से निष्पन्न होता है। इस कारण ये पदार्थ अन्य पदार्थों से प्रेरण बल प्राप्त करते हैं, जिसके कारण उन पदार्थों का इनके साथ संयोग होता है। इरा एवं इला इन दोनों पदार्थों में वर्णभेद के कारण स्वल्प भेद है। जहाँ इरा संज्ञक पदार्थ अन्य पदार्थों को गति प्रदान करते हैं, वहीं ये पदार्थ अन्य पदार्थों से गति प्राप्त करते हैं।

१४. इषम् — यह पद 'इष गतौ' व 'इष आभीक्ष्ण्ये' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इस कारण ये पदार्थ अन्य पदार्थों की ओर बार-२ गति करते हुए गमन करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये पदार्थ किसी संयोजक पदार्थ के साथ सहसा और सीधा संयोग नहीं करते, बल्कि ये उस पदार्थ की ओर दोलन करते हुए गमन करते हैं।

१५. ऊर्क् — यह पद 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि ये पदार्थ विभिन्न पदार्थों को रोकते एवं बल प्रदान करते हुए उनके साथ संयुक्त होते हैं। ये पदार्थ अन्न संज्ञक अन्य पदार्थों की अपेक्षा कुछ अधिक ऊर्जावान् होते हैं।

१६. रसः — ये पदार्थ वाक् रश्मियों के रूप में होते हैं, जो विभिन्न पदार्थों के ऊपर सिञ्चित होते हुए उनके द्वारा अवशोषित होते रहते हैं।

१७. स्वधा — ये पदार्थ अपने अन्दर स्व अर्थात् विद्युत् और प्रकाश को विशेष रूप से धारण करने वाले होते हैं। इनमें धारक बल विशेष होता है, जिससे ये विभिन्न कणों के समूह बनाने में विशेष भूमिका निभाते हैं।

१८. अर्कः — [अर्कः = वज्रनाम (निघं.२.२०), अर्कैरर्चनीयैः स्तोमैः (निरु.६.२३)] यह पद 'अर्क स्तवने तपन इत्येके' एवं 'अर्च पूजायाम्' धातुओं से निष्पन्न होता है। ये संयोज्य पदार्थ अति तीक्ष्ण शक्तिसम्पन्न होते हैं। इनका ताप और दीप्ति भी अधिक होती है। ये दूसरे पदार्थों का भेदन करके उनके साथ संयुक्त हो जाते हैं।

१९. क्षद्म — यह पद 'क्षद भक्षणहिंसनयोः' धातु से निष्पन्न होता है। यह पदार्थ संयोजक पदार्थों द्वारा छिन्न-भिन्न होकर अवशोषित वा संयुक्त कर लिया जाता है अथवा यह पदार्थ अन्य पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें छिन्न-भिन्न कर देता है और फिर उन्हीं में मिश्रित हो

जाता है।

२०. नेमः — यह पद 'णीञ् प्रापणे' धातु से निष्पन्न होता है। यह पदार्थ अपने संयोजक पदार्थों के द्वारा आकर्षित होकर उनमें व्याप्त हो जाता है।

२१. ससम् — [ससम् = स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिः (निरु.५.३)] आकाश में विद्यमान ऐसी विद्युत्, जो विभिन्न कणों का विखण्डन करने में समर्थ होती है, 'ससम्' कहलाती है। इसके कारण आकाश में नाना प्रकार के कणों का संयोजन और विभाजन और नवीन कणों का निर्माण चलता रहता है।

२२. नमः — [नमः = यज्ञो वै नमः (श.ब्रा.२.४.२.२४), वज्रनाम (निघं.२.२०)] यह पद 'नम प्रह्वत्वे शब्दे च' धातु से निष्पन्न होता है। इसका आशय है कि यह पदार्थ वज्ररूप तीक्ष्ण भेदक शक्तिसम्पन्न होते हुए भी संयोजन स्वभाव वाला होता है। यह संयोजक पदार्थों की ओर झुकता, ध्वनि उत्पन्न करता व तीव्रतापूर्वक गमन करते हुए संयुक्त हो जाता है। इसके साथ ही इसके कारण संयोजन प्रक्रिया समृद्ध होती है।

२३. आयुः — इसकी व्याख्या मनुष्यवाची नामों में की गयी है।

२४. सूनृता — इसकी व्याख्या वाङ्नामवाची पदों में की गयी है।

२५. ब्रह्म — ये पदार्थ निरन्तर अपनी संख्या व ऊर्जा में वृद्धि करते हुए अन्य संयोजक पदार्थों में प्रविष्ट होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी एक शृंखला बनकर सृजन प्रक्रिया में उत्तरोत्तर वृद्धि करती रहती है।

२६. वर्चः — [वर्चः = वर्चो वै हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.८.९.१)] ये पदार्थ चमकते हुए होते हैं अथवा ये संयोजक पदार्थों से मिलकर उनकी दीप्ति को बढ़ा देते हैं। इनकी संयोज्य क्षमता भी अधिक होती है।

२७. कीलालम् — यह पद 'कल गतौ', 'कील बन्धने' आदि धातुओं से निष्पन्न होता है। डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' ग्रन्थ में इसे 'कील खण्डने' धातु से भी निष्पन्न माना है। यह धातु पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है। इसका आशय है कि यह पदार्थ बन्धन व विखण्डन दोनों बलों से युक्त होकर गमन करता है।

२८. यशः — [यशः = अश्यते दीव्यते क्रीडादि क्रियते येन तत् यशः (उ.को.४.१९१)]

ये पदार्थ इस सृष्टि में व्याप्त होते हुए नाना प्रकार की दीप्तियों और नियन्त्रक बलों को उत्पन्न करते हुए नाना क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। विभिन्न प्रकार की प्राण एवं मरुत् रश्मियाँ और विभिन्न प्रकाशाणु भी इनकी श्रेणी में आते हैं। इसी कारण कहा है—

आदित्यो यशः (श.ब्रा.१२.३.४.८), प्राणा वै यशः (श.ब्रा.१४.५.२.५), पशवो यशः (श.ब्रा.१२.८.३.१), सोमो वै यशः (तै.ब्रा.२.२.८.८)।

तदनन्तर अगले दश नाम खाने के अर्थ में पढ़े गये हैं। ये दश नाम इस प्रकार हैं—

आवयति। भर्वति। बभस्ति। वेति। वेवेष्टि। अविष्यन्। बप्सति। भसथः। बब्धाम्। ह्वरति।

ये सभी पद खाने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं अर्थात् इस सृष्टि में विभिन्न कणों वा रश्मियों के संयोग की प्रक्रिया दश भिन्न-२ प्रकार से सम्पादित होती है। इन सभी प्रक्रियाओं को समझने के लिए हम इन सभी पदों पर संक्षेप में विचार करते हैं।

१. आवयति — यह पद आङ्पूर्वक 'वेञ् तन्तुसन्ताने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार की संयोग प्रक्रिया में सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियों की सूक्ष्म शाखाएँ और प्रशाखाएँ संयुक्त होने वाले पदार्थों को एक जाल के समान बाँध लेती हैं।

२. भर्वति — यह पद 'भर्व हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रकार की संयोग प्रक्रिया हिंसक होती है, जिसमें दोनों ओर की रश्मियों में हिंसक संघर्ष होता है। तदुपरान्त ही वे पदार्थ परस्पर संयुक्त होते हैं।

३. बभस्ति — यह पद 'भस भक्षणदीप्त्योः' धातु से निष्पन्न होता है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा रचित 'संस्कृत-धातु-कोष' के अनुसार इस धातु का यह प्राचीन प्रयोग है। पाणिनीय व्याकरण में यह धातु 'भर्त्सनदीप्त्योः' अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार की संयोग प्रक्रिया में संयोजक पदार्थ संयोज्य पदार्थ को खाकर अर्थात् अवशोषित करके दीप्तियुक्त करता है।

४. वेति — यह पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में संयोज्य पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के द्वारा प्रक्षिप्त किये जाते हैं और वे प्रक्षिप्त पदार्थ संयोजक पदार्थ की ओर आक्रामक गति से बढ़ते हुए उसे सब ओर से व्याप्त कर

लेते हैं।

५. वेवेष्टि — यह पद 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रक्रिया में संयोज्य पदार्थ संयोजक पदार्थों के साथ व्याप्त हो जाते हैं।

६. अविष्यन् — यह पद 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचन-क्रियेच्छादीप्त्यावाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार की संयुक्त प्रक्रिया हिंसक नहीं होती, बल्कि इसमें सूक्ष्म रश्मियाँ एक-दूसरे की रक्षा करती हुई, एक-दूसरे को नियन्त्रित करती हुई तथा एक-दूसरे का आलिङ्गन करती हुई परस्पर व्याप्त और तृप्त हो जाती हैं एवं बाधक रश्मियाँ नष्ट हो जाती हैं। यहाँ धातु के लृट् लकार का प्रयोग है, जो वर्तमान काल के व्यत्यय से माना जा सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि जिस मन्त्र में इस पद की विद्यमानता होती है, उसके गुण और कर्म किसी भी क्रिया के होते समय एवं उसके कुछ काल पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं।

७. बप्सति — यह पद भी 'भस भक्षणदीप्त्योः' धातु से निष्पन्न होता है। इसलिए इसका स्वरूप 'बभस्ति' के समान समझें।

८. भसथः — यह पद भी 'भस भक्षणदीप्त्योः' धातु से लट् लकार में थस् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। यह द्विवचनान्त मध्यम पुरुष का प्रयोग है। इस प्रक्रिया में दो पदार्थ सामूहिक रूप से 'बभस्ति' क्रिया के समान क्रियाशील होते हैं और इसके लिए वे अपने कारणरूप ऋषि प्राण से किञ्चित् रूप से प्रेरित रहते हैं।

९. बब्धाम् — यह पद भी पूर्वोक्त 'भस' धातु से लोट् लकार में तस् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। यह प्रक्रिया भी 'भसथः' के समान किसी युग्म में सम्पन्न होती है। भेद यह अवश्य है कि इस प्रक्रिया में इसके ऋषि प्राण की अनिवार्य रूप से प्रेरणा होती है।

१०. ह्वरति — यह पद 'ह्वृ कौटिल्ये' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार की संयोग प्रक्रिया में संयोजनीय कण अनेक प्रकार की वक्रीय गतियाँ करते हुए संयुक्त होते हैं।

इसके पश्चात् निघण्टु में बल के २८ नाम पढ़े गये हैं। 'बलम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'बलं कस्मात् बलं भरं भवति बिभर्तेः'। इसका अर्थ यह है कि बल किसी पदार्थ का वह गुण है, जिससे उस पदार्थ का धारण और पोषण होता है।

यह बात सुनने में बड़ी विचित्र लगती है कि बल नामक गुण कैसे किसी पदार्थ का धारण और पोषण कर सकता है। यहाँ कुछ दार्शनिक लोग ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि गुण सदैव द्रव्य पर आश्रित रहता है, तब गुण किसी द्रव्य का धारक और पोषक कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में हमारा कहना है कि शास्त्रों को समझने के लिए मनुष्य का प्रज्ञा एवं ऊहा से सम्पन्न होना अनिवार्य है, अन्यथा बड़े से बड़े विद्वान् भी शास्त्रों के मर्म को न समझकर केवल शब्दजाल में ही फँसे रहते हैं, उनको शास्त्रों का कलेवर तो दिखता है, परन्तु आत्मा नहीं। वस्तुत: बल किसी द्रव्य का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारक और पोषक है। यदि बल गुण इस सृष्टि से क्षण भर के लिए भी समाप्त हो जाये, तो सृष्टि तुरन्त विनष्ट हो जायेगी, क्योंकि यही वह गुण है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बाँधे हुए है। बल के विषय में अन्यत्र भी कहा है—

१. बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु.८.१)
२. आत्मा वै बलम् (काठ.संक.७२.५)
३. बलꣳ विश्वे देवा: (मै.सं.४.७.८)

इन वचनों का आशय है—

१. बल के कारण पदार्थ उसकी ओर गतिशील होते हैं, विशेषकर आकर्षण बल के कारण।
२. बल किसी पदार्थ के अन्दर आत्मारूप होकर विचरता है।
३. सभी देव अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ बलरूप होती हैं। इनके भी मूल में चेतन परमात्मा व आत्मा ही बलरूप होते हैं।

'बलम्' पद पर चर्चा करने के पश्चात् निघण्टु में वर्णित इसके वाचक २८ नामों को दर्शाते हैं—

ओज:। पाज:। शव:। तव:। तर:। त्वक्ष:। शर्द्ध:। बाध:। नृम्णम्। तविषी। शुष्मम्। शुष्णम्। शूषम्। दक्ष:। वीळु। च्यौत्नम्। सह:। यह:। वध:। वर्ग:। वृजनम्। वृक्। मज्मना। पौंस्यानि। धर्णसि:। द्रविणम्। स्यन्द्रास:। शम्बरम्।

अब हम इन पदों पर क्रमश: संक्षिप्त विचार करते हैं—

१. ओज: — [ओज: = ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (निरु.६.८)] यह एक ऐसा बल है, जो

किसी पदार्थ पर दबाव उत्पन्न करता हुआ और बाधक पदार्थ का दमन करता हुआ वर्धमान शक्ति से सम्पन्न होता है अथवा सरल भाषा में इसका आशय यह है कि बढ़ता हुआ दबाव ही 'ओज' कहलाता है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'वज्रो वाऽओजः' (श.ब्रा. ८.४.१.२०)। इससे यह संकेत मिलता है कि यह इतना तीक्ष्ण हो सकता है कि यह अपने तीव्र दबाव से असुर पदार्थों को छिन्न-भिन्न भी कर सकता है।

२. पाजः — यह पद 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्बले जुट् च' (उ.को.४.२०४) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। उधर ग्रन्थकार ने इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'पाजः पालनात्' (निरु.६.१२) अर्थात् यह बल किसी पदार्थ के पालन और रक्षण में अपनी भूमिका निभाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बल ओज नामक बल से कुछ निर्बल होता है, परन्तु पदार्थ की रक्षा करने की प्रवृत्ति इसमें अधिक होती है।

३. शवः — यह पद 'शव गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। निघण्टु २.१४ में इस धातु को 'गतिकर्मा' एवं निघण्टु ३.५ में 'परिचरणकर्मा' कहा है। उधर ग्रन्थकार ने निरुक्त १२.२१ में कहा है— 'शवसो महतो बलस्य'। इससे प्रतीत होता है कि इस बल की रश्मियाँ पदार्थ के सब ओर गति करती रहती हैं, जिससे इस बल का प्रभाव क्षेत्र अपेक्षाकृत बृहत् होता है।

४. तवः — [तवः = तवस इति महतो नामधेयम् उदितो भवति (निरु.५.९), तविषीति बलनाम तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः (निरु.९.२५)] यह बल भी व्यापक प्रभाव क्षेत्र वाला होता है, परन्तु इसकी व्यापकता में क्रमशः वृद्धि होती है, जैसे उगते हुए क्रम में सूर्य के तेज में वृद्धि होती है।

५. तरः — [तरः = तरो वै यज्ञः (जै.ब्रा.१.१५३), स्तोमो वै तरः (तां.ब्रा.११.४.५; १५.१०.४)। स्तोमः = गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१९.८)] ये बल संतारक रूप होते हैं, जो संयोज्य पदार्थों से उत्सर्जित होने वाली रश्मियों को संयोगार्थ तरने में सफल बनाते हैं। ये बल विभिन्न गायत्री रश्मि-समूह के द्वारा उत्पन्न होते हैं। इनके द्वारा सृजन प्रक्रिया तीव्र होती है।

६. त्वक्षः — यह पद 'त्वक्षू तनूकरणे' धातु से निष्पन्न होता है। यह बल विशेष छेदक-भेदक गुण वाला होता है, जो पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके तीक्ष्ण अर्थात् नुकीला बनाने में

समर्थ होता है।

७. शर्द्धः — इस पद की व्युत्पत्ति 'शृधु प्रसहने' धातु से होती है। यह बल किसी अन्य बल का प्रतिरोध करने वा सहने में समर्थ होता है। इसके साथ ही यह बल अपने प्रतिरोधी बल को पराभूत करने में भी सक्षम होता है।

८. बाधः — इस बल की रश्मियाँ जब क्रियान्वित होती हैं, उस समय उस क्षेत्र में विलोडन क्रिया अर्थात् उथल-पुथल अपेक्षाकृत अधिक होती है। यद्यपि सभी बलों में कुछ न कुछ मात्रा में यह प्रक्रिया होती ही है, परन्तु इस प्रकार के बलों में यह प्रक्रिया अधिक मात्रा में होती है।

९. नृम्णम् — [नृम्णम् = 'नृ' इत्युपपदे म्ना अभ्यासे (भ्वा.) धातोर्घञर्थे कः प्रत्ययः (वै.को.), अन्नं वै नृम्णम् (कौ.ब्रा.२७.४), नृम्णं च बलम् नॄन् नतम् (निरु.११.९)] ये बल रश्मियाँ बार-२ आवृत्त होती हुई नर संज्ञक कणों की ओर आकृष्ट होती रहती हैं। 'नर' संज्ञक कणों के विषय में खण्ड ३.७ पठनीय है। इसका तात्पर्य यह है कि यह बल इन नर संज्ञक कणों के मध्य ही कार्यशील होता है।

१०. तविषी — इसके विषय में ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.४८ की व्याख्या में लिखा है— 'तव इति सौत्रो धातुस्तस्माट्टिषच् णिद्विकल्पेन भवति। तवतीति [ताविषः, तविषः बलं सूर्यो वा। षित्त्वात् स्त्रियां ङीषि] ताविषी, तविषी नदी बलं सेना भूमिर्वा'। इससे प्रतीत होता है कि यह बल पूर्वोक्त तवस् के समान ही है, परन्तु यह सामूहिक एवं व्यापक रूप से प्रभावी होता है, यही भेद है। दूसरा भेद यह प्रतीत होता है कि इस बल से युक्त पदार्थ स्त्रीरूप व्यवहार करते हैं।

११. शुष्मम् — इसके विषय में खण्ड २.२४ पठनीय है।

१२. शुष्णम् — [शुष्णम् = शुष्णस्य आदित्यस्य (निरु.५.१६), शोषणकर्तारम् मेघम् (म.द.ऋ.भा.१.३३.१२)] यह बल भी 'शुष्मम्' की भाँति अन्य पदार्थों के बलों का शोषण करने वाला होता है। विशेष रूप से कॉस्मिक मेघों अथवा बादलों में विद्यमान यह पद अपने आसपास विद्यमान पदार्थों का शोषण करने में अपनी भूमिका निभाता है।

१३. शूषम् — यह बल मन्द एवं सहज क्रियाओं के द्वारा किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में काम आता है।

१४. दक्षः — यह पद 'दक्ष गतिहिंसनयोः' एवं 'दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च' धातुओं से निष्पन्न होता है। ग्रन्थकार ने इस धातु के विषय में लिखा है— 'दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः'। यह बल भेदनकारी तथा क्रमशः समृद्ध होने वाला होता है, परन्तु इसकी वृद्धि तीव्र होती है।

१५. वीळु — डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में लिखा है— 'विळयति संस्तम्भकर्मा। 'भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' (उ.१.७) इति उप्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि भवति'। इसका अर्थ यह है कि यह बल अत्यन्त दृढ़ होकर बाधक तत्त्वों को प्रतिबन्धित करता है। इसके साथ ही यह बल किसी विशाल द्रव्यमान को थामे रखने में भी अपनी विशेष भूमिका निभाता है।

१६. च्यौत्नम् — इसके विषय में उणादि-कोष ४.१०५ की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'च्यवते गच्छतीति च्यौत्नम्'। ये बल अपेक्षाकृत दुर्बल होते हैं। इन बलों के कारण सूक्ष्म कण आदि पदार्थ अपने अवयवी किसी पदार्थ से चूकर अर्थात् रिसकर भटक जाते हैं।

१७. सहः — यह पद 'षह मर्षणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह बल किसी अन्य बल का प्रतिरोधी बनकर कार्य करता है।

१८. यहः — डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इसे 'या प्रापणे' एवं 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इन दो धातुओं से व्युत्पन्न माना है। इससे संकेत मिलता है कि इस बल से युक्त पदार्थ आकर्षणयुक्त पदार्थों के द्वारा आकृष्ट होने पर उनकी ओर गमन करते हुए उनमें व्याप्त हो जाते हैं।

१९. वधः — यह पद 'हन हिंसागत्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह बल बाधक पदार्थों को नष्ट करने और अभीष्ट वा संयोज्य पदार्थों को प्राप्त करने, इन दोनों ही कार्यों को सम्पन्न करता है।

२०. वर्गः — यह पद 'वृजी वर्जने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह बल किसी पदार्थ के किसी अवयव विशेष को पृथक् करने में उपयोगी होता है।

२१. वृजनम् — यह पद भी उपर्युक्त धातु से व्युत्पन्न होता है। यह बल विभिन्न अनिष्ट रश्मि वा विकिरण आदि पदार्थों को रोकने में सहायक होता है।

२२. वृक् — यह पद भी पूर्वोक्त 'वृजी वर्जने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह बल उपयोगी रश्मि, कण वा विकिरण आदि पदार्थों को रोकने अर्थात् चुन-चुन कर पृथक् करने और उनको उपयोग में लेने में अपनी भूमिका निभाता है।

२३. मज्मना — यह पद 'मस्जो शुद्धौ' इस धातु से निष्पन्न होता है। इस बल के कारण विभिन्न पदार्थों के शोधन में सहयोग मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस बल के द्वारा पदार्थ अनिष्ट वा हानिकारक पदार्थों से इष्ट वा संयोजी पदार्थों को पृथक् करने में सफल होते हैं, जिससे सृजन प्रक्रिया सुगमता से सम्पन्न होती है। यहाँ तृतीया विभक्ति एकवचन का प्रयोग है, जबकि अन्यत्र प्रथमा विभक्ति का प्रयोग है। इस विषय में हमारा मत केवल यही है कि वेद मन्त्रों में जैसा प्रयोग है, ग्रन्थकार ने उसे ही यथावत् ग्रहण किया है।

२४. पौंस्यानि — इसके विषय में आचार्य राजवीर शास्त्री ने वैदिक कोष में लिखा है— 'पुंस्प्राति. भावे कर्मणि वा ष्यञ् प्रत्ययः। अथवा हितार्थे साध्वर्थे भवार्थे वा यञ् छान्दसः'। उधर डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने अपने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इसे 'पुंस अभिवर्धने' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका आशय यह है कि यह बल पुरुषरूप व्यवहार करने वाले पदार्थों में सक्रिय रहता और निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता रहता है। इसका बहुवचनान्त प्रयोग यह संकेत करता है कि इस बल से युक्त पदार्थ समूहरूप में ही सक्रिय रहते हैं।

२५. धर्णसिः — यह बल किसी पदार्थ को धारण करने की क्षमता प्रदान करता है। ध्यान रहे कि आकर्षण और धारण इन दोनों गुणों में बहुत सूक्ष्म भेद है।

२६. द्रविणम् — [द्रविणम् = बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु.८.१), द्रवति गच्छति द्रुयते प्राप्यते वा तद् द्रविणम् (उ.को.२.५१)] जिन बलों के प्रभाव से दूरस्थ पदार्थ भी वेगपूर्वक आकर्षक पदार्थों की ओर गमन करते हैं, उन बलों को 'द्रविणम्' कहा जाता है। यहाँ स्पष्टतः संयोज्य पदार्थ मन्द गति से गमन नहीं करते, यह ध्यातव्य है।

२७. स्यन्द्रासः — यह पद 'स्यन्दू प्रस्रवणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने इसे पाणिनीय धातुपाठ में अनुपलब्ध 'स्यदि किञ्चिच्चलने' धातु से व्युत्पन्न माना है। इस बल के कारण सूक्ष्म कण आदि पदार्थ अपने अवयवी पदार्थों से मन्द गति से रिसते रहते हैं।

२८. शम्बरम् — इस विषय में आचार्य राजवीर शास्त्री ने अपने वैदिक कोष में लिखा

है— 'शम्-वरपदयोः समासः। वरः = वृञ् वरणे (स्वा.) धातोः 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' अष्टा. ३.३.५८ सूत्रेणाप्। वकारस्य बकारो वर्णव्यत्ययेन। शम्ब संबन्धने (चुरा.) धातोर्वा बाहु. औणा. रन्।' [शम्बरं मेघम् (निरु.७.२३)] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऐसा बल है, जो सूक्ष्म पदार्थ को सब ओर से बाँधता हुआ कॉस्मिक मेघों अथवा बादलों का निर्माण करने में सहायक होता है।

बल की चर्चा के पश्चात् ग्रन्थकार ने अगले २८ नाम धनवाची पढ़े हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

मघम्। रेक्णः। रिक्थम्। वेदः। वरिवः। श्वात्रम्। रत्नम्। रयिः। क्षत्रम्। भगः। मीढुम्। गयः। नृम्णम्। द्युम्नम्। तना। बन्धुः। इन्द्रियम्। वसु। रायः। राधः। भोजनम्। मेधा। यशः। ब्रह्म। द्रविणम्। श्रवः। वृत्रम्। वृतम्।

'धनम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'धनं कस्मात् धिनोतीति सतः' अर्थात् जो किसी मनुष्य को तृप्त वा प्रसन्न रखता है, उसे धन कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो सम्पत्ति मनुष्य को तृप्त नहीं रख सकती, वह चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उसे धन नहीं कह सकते। अपार सम्पत्ति के लोभी और परिग्रही मनुष्य को यह बात सदैव याद रखनी चाहिए।

आधिदैविक संसार में प्रत्येक कण आदि पदार्थ धन ही कहलाता है, क्योंकि वह अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त होकर उन्हें तृप्त अर्थात् अपेक्षाकृत स्थायित्व प्रदान करता है। इसलिए ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद ४०.१ के भाष्य में 'धनम्' का अर्थ 'वस्तुमात्रम्' किया है।

इसके आगे निघण्टु में अगले नौ नाम गौ के दिये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

अघ्न्या। उस्रा। उस्रिया। अही। मही। अदितिः। इळा। जगती। शक्वरी।

यद्यपि ये नाम रश्मि, मेघ, पृथिवी आदि नामों में पृथक्-२ रूप से पढ़े गये हैं, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने ये नाम गौ नामक पशु को लक्ष्य करके ही पढ़े हैं। इस कारण हम इन नामों की आधिदैविक व्याख्या करना आवश्यक एवं प्रसङ्गानुकूल नहीं समझते।

तदनन्तर निघण्टु में अगले दस नाम क्रोध करने के अर्थ में पढ़े हैं। ये नाम इस

प्रकार हैं—

रेळते। हेळते। भामते। भृणीयते। भ्रीणाति। भ्रेषति। दोधति। वनुष्यति। कम्पते। भोजते।

इसके पश्चात् अगले ग्यारह नाम क्रोध अर्थ में पढ़े गये हैं। ध्यान रहे पूर्वोक्त नाम क्रियावाची (धातु) हैं। ये क्रोध संज्ञक ग्यारह नाम इस प्रकार हैं—

हेळः। हरः। हृणिः। त्यजः। भामः। एहः। ह्वरः। तपुषी। जूर्णिः। मन्युः। व्यथिः।

इसके उपरान्त अगले १२२ नाम गत्यर्थक धातुओं के पढ़े गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

वर्त्तते। अयते। लोटते। लोठते। स्यन्दते। कसति। सर्पति। स्यमति। स्रवति। स्रंसति। अवति। श्चौतति। ध्वंसति। वेनति। मार्ष्टि। भुरण्यति। शवति। कालयति। पेलयति। कण्टति। पिस्यति। विस्यति। मिस्यति। प्रवते। प्लवते। च्यवते। कवते। गवते। नवते। क्षोदति। नक्षति। सक्षति। म्यक्षति। सचति। ऋच्छति। तुरीयति। चतति। अतति। गाति। इयक्षति। सश्चति। त्सरति। रंहति। यतते। भ्रमति। ध्रजति। रजति। लजति। क्षियति। धमति। मिनाति। ऋण्वति। ऋणोति। स्वरति। सिसर्त्ति। विषिष्टि। योषिष्टि। रिणाति। रीयते। रेजति। दध्यति। दभ्नोति। युध्यति। धन्वति। अरुषति। आर्याति। सीयते। तकति। दीयति। ईषति। फणति। हनति। अर्दति। मर्दति। सर्सृते। नसते। हर्यति। इयर्त्ति। ईर्त्ते। ईङ्खति। ज्रयति। श्वात्रति। गन्ति। आगनीगन्ति। जगन्ति। जिन्वति। जसति। गमति। ध्रति। ध्राति। ध्रयति। वहते। रथर्यति। जेहते। ष्वःकति। क्षुम्पति। प्साति। वाति। याति। इषति। द्राति। द्रूळति। एजति। जमति। जवति। वञ्चति। अनिति। पवते। हन्ति। सेधति। अगन्। अजगन्। जिगाति। पतति। इन्वति। द्रमति। द्रवति। वेति। हयन्तात्। एति। जगायात्। अयथुः।

गति किसी भी पदार्थ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्म है। इसके अभाव में सृष्टि उत्पत्ति, संचालन और प्रलय कुछ भी सम्भव नहीं है। हम अपने दैनिक जीवन में जड़ एवं चेतन पदार्थों की नाना प्रकार की गतियाँ देखते हैं। हम यह भी अनुभव करते हैं कि सभी प्रकार के पदार्थों की गतियाँ समान प्रकार की नहीं होती। वेद में सृष्टि के विभिन्न पदार्थों और उनकी गतियों का वर्णन है और वे गतियाँ भिन्न-२ प्रकार की होती हैं। इस कारण वेद में गति अर्थ वाली अनेक धातुओं का वर्णन है। उन्हीं धातुओं का ग्रन्थकार ने निघण्टु में

संग्रह किया है, जिनकी संख्या १२२ है। अगर ये गतियाँ समान प्रकार की होतीं, तो सर्वत्र एक ही धातु का प्रयोग मिलता, परन्तु ऐसा नहीं है। इन सभी धातुओं के अर्थों में अर्थात् १२२ प्रकार की गतियों के स्वरूप में परस्पर भेद दर्शाना अति दुष्कर कार्य है। गति के भिन्न-२ स्वरूपों को आँखों से देखकर अनुभव करना तो सहज है, परन्तु उनको वाणी अथवा लेखनी के द्वारा व्यक्त करना उसी प्रकार कठिन है, जैसे मधु एवं शक्कर की मिठास के भेद को लेखनी अथवा वाणी से व्यक्त करना दुष्कर वा असम्भव है, परन्तु चखकर उनके भेद को बता देना अन्धे व्यक्ति के लिए भी सर्वथा सहज है। इन गतियों के स्वरूप को स्पष्ट जानना तभी सम्भव है, जब हम इन गतियों के कर्त्ता को जानते हों। इसके लिए हमें वेदों में इस बात का अन्वेषण करना होगा कि गत्यर्थक किसी धातु का प्रयोग किस कर्त्ता के साथ हुआ है और उस कर्त्ता के स्वरूप को जानकर ही हम उस गति के स्वरूप को जान सकते हैं। इसके साथ यह भी विचारणीय विषय है कि वेद में वर्णित सभी पदार्थों और उनकी गतियों को हम इस ब्रह्माण्ड में कैसे देख वा अनुभव कर सकते हैं?

हम लोक में अनेक प्रकार की गतियों जैसे— कदम बढ़ाकर मनुष्य की भाँति चलना, पक्षियों की भाँति उड़ना, साँप की भाँति सरकना, रेंगने वाले जन्तुओं की भाँति रेंगना, किसी पात्र से पानी का रिसना, नदियों के जल या हवा की भाँति बहना, आकाश में लोकों की भाँति चक्रण एवं परिक्रमण करना, विद्युत् तरंगों की भाँति संचरित होना, हिंसक रश्मियों की भाँति विध्वंसकारी गमन करना, मधुमक्खियों की भाँति भिनभिनाना, लेट कर चलना, फिसलना, किसी बल की ओर आकृष्ट होकर गमन करना, बाधक पदार्थों को नष्ट करते हुए आगे बढ़ना, एक ही स्थान पर घूर्णन करना, पानी में तैरना, मेंढक की भाँति कूद-कूद कर चलना, वानर की भाँति उछलना, धीरे-धीरे हिलना, एक-दूसरे से संसर्ग करना, किसी पदार्थ के अन्दर व्याप्त हो जाना, इधर-उधर भटकना, कम्पन करते हुए चलना, अकस्मात् विस्फोटक गति से चलना, सब ओर फैलना, टेढ़ी-मेढ़ी गति से चलना, तेजी से अकस्मात् भाग जाना। इसी प्रकार अनेक प्रकार की गतियाँ इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। यहाँ उन सबकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं है और ऐसा करने से ग्रन्थ का कलेवर भी बढ़ जाएगा।

इसके उपरान्त अगले २६ नाम क्षिप्र अर्थात् शीघ्रतावाची पढ़े गए हैं—

नु। मक्षु। द्रवत्। ओषम्। जीराः। जूर्णिः। शूर्त्ताः। शूघनासः। शीभम्। तृषु। तूयम्।

तूर्णिः। अजिरम्। भुरण्युः। शु। आशु। प्राशुः। तूतुजिः। तूतुजानः। तुज्यमानासः। अज्राः। साचिवित्। द्युगत्। ताजत्। तरणिः। वातरंहाः।

अब 'क्षिप्रम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्षिप्रं कस्मात् संक्षिप्तो विकर्षः' अर्थात् जिससे समय की अवधि खिंचकर लघु हो जाती है अर्थात् किसी कार्य को सम्पन्न करने में समय कम लगता है, उसे क्षिप्र अर्थात् शीघ्रता कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष २.१३ के भाष्य में इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'क्षिप्यते प्रेर्यते तत् क्षिप्रम्' अर्थात् जिसमें कोई पदार्थ किसी बल विशेष के द्वारा प्रक्षिप्त वा प्रेरित होकर अपना कार्य अपेक्षाकृत अल्प समय में सम्पन्न करता है, उसे 'क्षिप्रम्' कहते हैं।

इसके आगे निघण्टु में वर्णित अगले ग्यारह नाम अन्तिक अर्थात् समीपवाची बताए गए हैं। वे ग्यारह नाम इस प्रकार हैं—

तळित्। आसात्। अम्बरम्। तुर्वशे। अस्तमीके। आके। उपाके। अर्वाके। अन्तमानाम्। अवमे। उपमे।

यहाँ 'अन्तिकम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अन्तिकं कस्मात् आनीतं भवति' अर्थात् समीप को अन्तिक इसलिए कहते हैं, क्योंकि समीपवाची पदार्थ निकट लाया हुआ होता है।

संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत्। संग्रामः कस्मात्। सङ्गमनाद्वा। सङ्गरणाद्वा। सङ्गतौ ग्रामाविति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥ ९॥

तदनन्तर अगले ४६ नाम निघण्टु २.१७ में संग्रामवाची पढ़े गये हैं। ये नाम निम्नानुसार हैं—

रणः। विवाक्। विखादः। नदनुः। भरे। आक्रन्दे। आहवे। आजौ। पृतनाज्यम्। अभीके। समीके। ममसत्यम्। नेमधिता। सङ्काः। समितिः। समनम्। मीळ्हे। पृतनाः। स्पृधः। मृधः। पृत्सु। समत्सु। समर्ये। समरणे। समोहे। समीथे। सङ्ख्ये। सङ्गे। संयुगे। सङ्गथे। सङ्गमे। वृत्रतूर्ये। पृक्षे। आणौ। शूरसातौ। वाजसातौ। समनीके। खले। खजे। पौंस्ये। महाधने। वाजे। अज्म। सद्म। संयत्। संवतः।

यहाँ 'संग्रामः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'संग्रामः कस्मात् सङ्गमनाद्वा

सङ्गरणाद्वा सङ्गतौ ग्रामाविति वा तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति'। इसका अर्थ यह है कि जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों में संग्राम अर्थात् युद्ध होता है, तो वे युद्ध करने के लिए एकत्र होते हैं, इस कारण युद्ध को संग्राम कहा जाता है। यदि 'गम्' धातु का प्रयोग ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति ग्रहण करें, तब इसका अर्थ यह है कि युद्धरत योद्धा पहले अपने शत्रु को पहचानते हैं, उसके बलाबल की जानकारी प्राप्त करते हैं, तदुपरान्त युद्ध के लिए एक-दूसरे की ओर गमन करते हैं और अन्त में एक-दूसरे को प्राप्त करते हैं अर्थात् हाथों अथवा अस्त्र की मारक सीमा तक एक-दूसरे के निकट आते हैं।

इसके आधिदैविक अर्थ पर विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि परस्पर मिलने अथवा टकराने वाले पदार्थ एक-दूसरे को उनसे उत्सर्जित होने वाली रश्मियों के द्वारा पहचानते हैं। यहाँ पहचान का अर्थ चेतन प्राणियों के पहचानने की क्रिया जैसा नहीं मानना चाहिए, बल्कि यहाँ यह समझना चाहिये कि उन दोनों ही पदार्थों से निकलने वाली रश्मियाँ परस्पर एक-दूसरे के प्रति संयोज्यता अथवा असंयोज्यता अथवा प्रतिकर्षता आदि गुणों का अनुभव करती हैं। इसके बिना उन पदार्थों का संग्राम होगा ही नहीं। इसके पश्चात् ही वे पदार्थ एक-दूसरे के साथ संगमन के लिए गति करते हैं और एक-दूसरे को छिन्न-भिन्न करने अथवा परस्पर मिलने के लिए आवश्यक बल को प्राप्त करने के लिए आवश्यक न्यूनतम दूरी को प्राप्त करते हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार का कथन है कि दोनों पक्षों के योद्धा परस्पर एक-दूसरे को ललकारते हुए कोलाहल करते हैं। उधर आधिदैविक क्षेत्र में जब भी दो पदार्थों का संयोग वा संघर्षण होता है, तब उनमें से अनेक प्रकार की सूक्ष्म ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होती हैं। इसके साथ अनेक प्रकार की छन्द रश्मियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि दो ग्राम अर्थात् समूह जब परस्पर पूर्वोक्तानुसार संगत होते हैं अथवा संग्रहण करते हैं, उसे संग्राम कहते हैं। हमने ऊपर दो योद्धाओं वा कण आदि पदार्थों के संग्राम की जो व्याख्या की है, उसी प्रकार यहाँ दो सेनाओं अथवा पदार्थ समूह के संग्राम की व्याख्या समझनी चाहिए।

संग्राम के उपर्युक्त नामों में कुछ नाम प्रथमा विभक्ति एकवचन में हैं, कुछ सप्तमी विभक्ति एकवचन में, तो कुछ सप्तमी विभक्ति बहुवचन में हैं। हमारी दृष्टि में इसका कारण केवल यही है कि वेद में ये पद जिस रूप में विद्यमान हैं, उसी रूप में उनका

संकलन ग्रन्थकार ने निघण्टु में किया है। इन नामों में से 'खले' भी एक नाम है। इसका अर्थ खलियान एवं संग्राम दोनों ही होता है। उसका निगम अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥

[ऋ.१०.४८.७]

अभिभवामीदमेकमेकः। अस्मि निष्षहमाणः सपत्नान्। अभिभवाभि द्वौ। किं मा त्रयः कुर्वन्ति। एक इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयस्तीर्णतमा संख्या। चत्वारश्चलिततमा संख्या। अष्टावश्नोतेः। नव न वननीया। नावाप्ता वा। दश दस्ता। दृष्टार्था वा। विंशतिर्द्विर्दशतः। शतं दशदशतः। सहस्त्रं सहस्वत्। अयुतं नियुतं प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम्। अर्बुदो मेघो भवति। अरणमम्बु। तद्दः। अम्बुदः अम्बुमद्भातीति वा। अम्बुमद्भवतीति वा। स यथा महान्बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्। खले न पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि। खल इव पर्षान्प्रति हन्मि भूरि। खल इति संग्रामनाम। खलतेर्वा स्खलतेर्वा। अयमपीतरः खल एतस्मादेव। समास्कन्नो भवति। किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः। य इन्द्रं न विविदुः। इन्द्रो ह्यहमस्मि। अनिन्द्रा इतर इति वा।

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः। (ऋ.१०.४८.७)

इसका ऋषि वैकुण्ठ इन्द्र है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— वायाविन्द्रो वैकुण्ठः (शां.आ.६.२; कौ.उ.४.२)। इसका आशय यह है कि जो इन्द्र तत्त्व विशेष रूप से

शिथिल वा दुर्बल होता है, उसे वैकुण्ठ इन्द्र कहते हैं। वायु तत्त्व में वैकुण्ठ इन्द्र के होने की चर्चा हमारे कथन की पुष्टि ही करती है, क्योंकि वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी) में विद्युत् तीव्र बलयुक्त नहीं होती। ऐसी दुर्बल विद्युत् से ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता ही वैकुण्ठ इन्द्र है और छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से यह विद्युत् तीव्र तेज और बल से युक्त होती है।

आधिदैविक भाष्य— (अभि, इदम्, एकम्, एकः, अस्मि, निष्षाट्) 'अभिभवामीदमेक-मेकः अस्मि निष्षहमाणः सपत्नान्' यहाँ अस्मि क्रिया के कर्त्ता 'अहम्' पद का अध्याहार करना चाहिए। यह 'अहम्' पद यहाँ इस छन्द रश्मि के कारणभूत वैकुण्ठ इन्द्र, जिसकी चर्चा हम अभी-२ कर चुके हैं, के लिए प्रयुक्त है। यह वैकुण्ठ इन्द्र अर्थात् विशेष प्रकार की विद्युत् एक ही होते हुए अन्य एक को पराभूत करती है। 'एकः' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'एक इता संख्या'। इसका आशय यह है कि वैकुण्ठ इन्द्ररूपी विद्युत् सम्पूर्ण वायु तत्त्व में पहुँची हुई अर्थात् व्याप्त होती है। यह वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी) में सर्वत्र व्याप्त रहती है। यह विद्युत् सपत्न अर्थात् विभिन्न बाधक रश्मियों को प्रकृष्टता से नियन्त्रित करने में सक्षम होती है अर्थात् इस पर बाधक असुर तत्त्व (वैदिक डार्क मैटर और डार्क एनर्जी) का कोई प्रभाव नहीं होता। इस असुर तत्त्व का सूक्ष्म रूप भी एक ही प्रकार का होता है और वह भी सम्पूर्ण वायु तत्त्व में सर्वत्र व्याप्त होता है। इस असुर तत्त्व के चरणबद्ध रूप से अनेक रूप होते हैं वा निर्मित होते रहते हैं।

(अभि, द्वा) 'अभिभवामि द्वौ। द्वौ द्रुततरा संख्या' अर्थात् दूसरे चरण की असुर रश्मियाँ युग्म के रूप में प्रथम चरण की असुर रश्मि की अपेक्षा अधिक तीव्र गति वाली होती हैं, परन्तु वे भी उस वैकुण्ठ इन्द्र रूपी विद्युत् को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचा पाती अर्थात् उन्हें भी वह विद्युत् नियन्त्रित करने में समर्थ होती है। (किम्, उ, त्रयः, करन्ति) 'किं मा त्रयः कुर्वन्ति त्रयस्तीर्णतमा संख्या' सूक्ष्म असुर रश्मियों के त्रिक से निर्मित असुर रश्मियाँ, जो अतितीव्र गति से तैरती हुई-सी गति करती हैं, वैकुण्ठ इन्द्र रूपी विद्युत् को क्षति नहीं पहुँचा सकती अर्थात् यह विद्युत् उन रश्मियों को भी अभिभूत वा नियन्त्रित करने में समर्थ होती है। [कः = प्राणो वाव कः (जै.उ.४.२३.४)] यहाँ हमें एक अन्य रहस्य यह प्रकट होता प्रतीत होता है कि यहाँ 'कः' के स्थान पर 'किम्' का प्रयोग छान्दस है तथा 'उ' का प्रयोग निश्चय अर्थ में है। इस कारण यहाँ कहा गया है कि वैकुण्ठ इन्द्र रूपी विद्युत् निश्चित

ही तीन सूक्ष्म प्राणों 'प्राणापानव्यान' के त्रिक के द्वारा ही सभी असुर रश्मियों को पराभूत वा नियन्त्रित करती है। यह त्रिक इन बाधक रश्मियों का महान् विजेता है, यही तीर्णतम है।

यहाँ ग्रन्थकार ने इस ऋचा में वर्णित तीन संख्याओं के अतिरिक्त अन्य कई उन संख्याओं के भी निर्वचन दर्शाये हैं, जिनकी चर्चा इस ऋचा में संकेतमात्र भी नहीं है। अतः हम इस ऋचा के अर्धभाग के भाष्य के उपरान्त इन संख्याओं के निर्वचनों पर विचार करते हैं—

'चत्वारः' संख्या का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चत्वारश्चलिततमा संख्या'। यहाँ इस निर्वचन का प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि सूक्ष्म असुर रश्मियों के योग से निर्मित रश्मियाँ सर्वाधिक गतियुक्त एवं कम्पन वा क्रीड़ा करती हुई होती हैं।

तदनन्तर 'अष्टौ' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'अष्टावश्नोतेः'। इसका आशय यह है कि जब सूक्ष्म असुर रश्मियाँ आठ-२ रश्मियों के समूह में होती हैं, तब वे ब्रह्माण्ड में व्यापक क्षेत्र में प्रभाव दर्शाती हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ संघात की क्रिया प्रारम्भ करके असुर तत्त्व को उत्पन्न करने लगती हैं अर्थात् इनसे असुर तत्त्व के कण, जिन्हें वर्तमान भाषा में डार्क मैटर के समकक्ष माना जा सकता है, उत्पन्न होने लगते हैं।

उधर 'नव' संख्या का निर्वचन करते हैं— 'नव न वननीया नावाप्ता वा' अर्थात् असुर रश्मियों के नौ-२ के समूह प्रायः निर्मित नहीं होते और यदि कोई होते भी हैं, तो वे व्यापक प्रभाव तथा व्यापक क्षेत्र वाले नहीं होते। तदुपरान्त 'दश' संख्या का निर्वचन करते हैं— 'दश दस्ता दृष्टार्था वा' अर्थात् दस रश्मियों के समूह उपक्षीण अवस्था वा संख्या वाले होते हैं। इसका आशय यह है कि ऐसे समूह बहुत कम होते हैं और जो कोई होते भी हैं, वे दृष्टार्थ अर्थात् वे समूह अन्य पदार्थों के साथ परस्पर क्रिया करने वाले होते हैं। इनमें द्रव्यमान का गुण प्रकट हो चुका होता है।

अब 'विंशति' व 'शतम्' पदों का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'विंशतिर्द्विर्दशतः शतं दशदशतः'। इसका अर्थ स्पष्ट ही है। अब 'सहस्रम्' पद का निर्वचन करते हैं— 'सहस्रं सहस्वत्' अर्थात् यह संख्या बलवती होती है। इसका तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म असुर रश्मियों के सहस्र रश्मियों के समूह विशेष बलवान् होकर बृहत् स्तर पर सृजन-

प्रक्रियाओं में बाधा उत्पन्न करने लगते हैं। वे देव कण आदि पदार्थों के प्रति प्रक्षेपक वा प्रतिकर्षक व्यवहार भी दर्शाते हैं। ये स्थूल कणों के प्रति भी ऐसा व्यवहार दर्शा सकते हैं। इसके आगे कहा कि अयुत, नियुत व प्रयुत अर्थात् दस हजार, एक लाख व दस लाख की संख्याएँ हजार के क्रमशः बढ़ने से बनती हैं।

यहाँ अन्त में अर्बुद अर्थात् अरब संख्या का निर्वचन करते हुए कहा— 'अर्बुदो मेघो भवति अरणमम्बु तद्दः अम्बुदः अम्बुमद्भातीति वा अम्बुमद्भवतीति वा स यथा महान्बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्' अर्थात् अर्बुद संख्या में जब असुर रश्मियाँ समूह बनाने लगती हैं, उस समय ब्रह्माण्ड में आसुर मेघ उत्पन्न होने लगते हैं, जिन्हें वैदिक वाङ्मय में प्रायः 'वृत्र' शब्द से सम्बोधित किया गया है। ऐसे ही मेघों को इन्द्र तत्त्व नष्ट करता है। इन मेघों में अरण अर्थात् असंयोज्य कणों का भण्डार होता है किंवा ये मेघ ऐसे ही कणों से मिलकर बने होते हैं। वे ऐसे ही प्रतीत होते हैं अर्थात् इन मेघों का प्रभाव भी असंयोज्य ही होता है। ये आसुर मेघ बहुत विशाल होते हैं। इस विषय में भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।' (श.ब्रा.१.१.३.४)

ग्रन्थकार ने निघण्टु १.१० में वृत्र को मेघनाम में पढ़ा है। इसका अर्थ यह है कि ये मेघ द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य सर्वत्र सबको आच्छादित करने वाले होते हैं। जब इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् का इस पर प्रहार होता है, तब असुर तत्त्व के सूक्ष्म कण वर्षा की भाँति इस मेघ से इधर-उधर गिरने लगते हैं अर्थात् वह मेघ बिखर जाता है।

संख्यावाची पदों की व्याख्या के पश्चात् हम मन्त्र के द्वितीयार्ध पर विचार करते हैं—

(खले, न, पर्षान्, प्रति, हन्मि, भूरि) 'खले न पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि खल इव पर्षान्प्रति हन्मि भूरि खल इति संग्रामनाम खलतेर्वा स्खलतेर्वा अयमपीतरः खल एतस्मादेव समास्कन्नो भवति' [पर्षत् = पर्षानिति पर्षच्छब्दस्य संघातवाचिनो विकृतनिर्देशश्छान्दसत्वात्— स्कन्दस्वामी भाष्य] वह वैकुण्ठ इन्द्र रूपी विद्युत् असुर रश्मियों वा आसुर मेघ रूप पदार्थों के साथ संग्राम अर्थात् संघर्ष में उन आसुर पदार्थों को नष्ट कर देता है, यहाँ उपमा दी गयी

है कि जैसे खलियान में पुआलों का मन्थन किया जाता है। खलियान एवं संग्राम में क्रमशः फसल व शत्रुओं का मन्थन किया जाता है और वे शत्रु व फसल के पुआल लड़खड़ाते हुए इधर-उधर गिरते वा छिन्न-भिन्न होते हैं, इस कारण संग्राम व खलियान दोनों को 'खल' कहते हैं।

हमारे मत में आधिदैविक भाष्य में लौकिक उपमा का प्रयोग प्रशस्त प्रतीत नहीं होता, ऐसी स्थिति में यहाँ अर्थ होगा—

उस खल अर्थात् संग्राम में 'पर्ष' अर्थात् विभिन्न पदार्थों के संघात जैसे ही टूटते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण मेघ छिन्न-भिन्न हो जाता है। यहाँ 'खल' शब्द के निर्वचन से स्पष्ट है कि इन्द्र तत्त्व के प्रहार से असुर पदार्थ के कण वा रश्मियाँ लड़खड़ाने लगते हैं, सम्पूर्ण आसुर मेघ में भारी विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है और अन्त में वह पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट वा नियन्त्रित हो जाता है। (किम्, मा, निन्दन्ति, शत्रवः, अनिन्द्राः) 'किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः य इन्द्रं न विविदुः इन्द्रो ह्यहमस्मि अनिन्द्रा इतर इति वा' यहाँ 'निन्दन्ति' पद 'निदि कुत्सायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। उधर ग्रन्थकार ने 'कुत्सः' पद को निरुक्त ३.११ में 'वधकर्मा' लिखा है। वे असुरादि रश्मियाँ, जो इन्द्र तत्त्व से विहीन होती हैं, वे देव पदार्थ का विनाश कैसे कर सकती हैं? अर्थात् नहीं कर सकतीं, क्योंकि उनमें देव पदार्थ को नष्ट करने योग्य सामर्थ्य नहीं होता। वे इन्द्र तत्त्व के समान तीव्र सामर्थ्य एवं नियन्त्रण शक्तिसम्पन्न नहीं होती। इस सृष्टि में इन्द्र तत्त्व ही विशेष प्रभुतासम्पन्न अर्थात् नियन्त्रणकर्त्ता होता है और उससे इतर वे पदार्थ, जो बाधक होते वा हो सकते हैं, इस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त नहीं होते।

भावार्थ— सूक्ष्म विद्युत्, जिसका एक रूप गुरुत्वाकर्षण बल भी है, इस ब्रह्माण्ड में अनेक रूपों में विद्यमान असुर पदार्थ में से कई रूपों को नष्ट करने में सक्षम होता है। इसका एक प्रकार का सूक्ष्मरूप, जो सम्पूर्ण वायु में व्याप्त होता है, गुरुत्व बल को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। दो चरणों वा रूपों में विद्यमान असुर पदार्थ भी इस विद्युत् के द्वारा नियन्त्रित कर लिया जाता है। असुर रश्मियों के जितने चरण एक समूह में होते हैं, वे उतने ही अधिक शक्तिशाली होते हैं। तीन रश्मि समूहों से निर्मित असुर रश्मियाँ अधिक व्यापक होती हैं, परन्तु उन्हें भी गुरुत्व बल नियन्त्रित कर लेता है। चार के समूह वाली असुर रश्मियों की गति अपेक्षाकृत अधिक तीव्र होती है। आठ सूक्ष्म असुर रश्मियों के समूह से

निर्मित असुर रश्मियाँ कण बनाने में समर्थ होकर असुर पदार्थ को उत्पन्न करने में सक्षम होती हैं। इससे बड़ी असुर रश्मियाँ विभिन्न सृजन कर्मों में बाधक बनने लगती हैं। जब अरबों की संख्या में असुर रश्मियों के रूप उत्पन्न होने लगते हैं, तब वे आसुर मेघों को जन्म देने लगते हैं। इन्हें तीव्र विद्युत् अथवा तीव्र गुरुत्वाकर्षण बल छिन्न-भिन्न कर देता है।

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नामनी। आक्षाण आश्नुवानः।
आपान आप्नुवानः। वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्।
तत्र वियात इत्येतद् वियातयत इति वा। वियातयेति वा।
आखण्डल प्र हूयसे॥ [ऋ.८.१७.१२]
आखण्डयितः खण्डं खण्डयतेः। तळिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म।
ताडयतीति सतः॥ १०॥

संग्रामनाम के पश्चात् ग्रन्थकार ने निघण्टु २.१८ में आगामी दश धातुओं का संग्रह व्याप्ति अर्थ में किया है। वे दश धातुएँ इस प्रकार हैं—

इन्वति। नक्षति। आक्षाणः। आनट्। आष्ट। आपानः। अशत्। नशत्। आनशे। अश्नुते।

यहाँ दश धातुओं में दो नामपदों को भी सम्मिलित किया गया है। इस कारण इन दोनों अर्थात् 'आक्षाणः' एवं 'आपानः' का निर्वचन करते हुए लिखा है—

'आक्षाणः आश्नुवानः' = आ+अश्नुवानः अर्थात् सब जगह फैला हुआ। यह पद आङ्पूर्वक 'अशूङ् व्याप्तौ संघाते च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि इस प्रकार की व्याप्ति में पदार्थ के अन्दर संघात की क्रियाएँ भी होने लगती हैं अथवा हो रही होती हैं।

अब 'आपानः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'आपान आप्नुवानः'। यहाँ 'आप्नुवानः' पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार की व्याप्ति में कोई सूक्ष्म पदार्थ स्थूल पदार्थों में व्याप्त हो जाता है अर्थात् समा जाता है।

तदुपरान्त ग्रन्थकार ने निघण्टु २.१९ में वध करने के अर्थ में अगली तैंतीस धातुएँ पढ़ी हैं। ये धातुएँ इस प्रकार हैं—

दभ्नोति। श्नथति। ध्वरति। धूर्वति। वृणक्ति। वृश्चति। कृण्वति। कृन्तति। श्वसिति। नभते। अर्दयति। स्तृणाति। स्नेहयति। यातयति। स्फुरति। स्फुलति। निवपन्तु। अवतिरति। वियातः। आतिरत्। तळित्। आखण्डल। द्रूणाति। रम्णाति। शृणाति। शम्नाति। तृणेळिह। ताळिह। नितोशते। निबर्हयति। मिनाति। मिनोति। धमति।

इन धातुओं में तीन नाम भी हैं। वे इस प्रकार हैं— वियातः, तळित् एवं आखण्डल। इस कारण ग्रन्थकार इन तीनों का निर्वचन करते हैं— 'तत्र वियात इत्येतद् वियातयत इति वा वियातयेति वा'। यहाँ 'वियातः' नामपद है, जो 'वियातयते' अर्थात् शत्रुओं का वध करता है अथवा 'वियातय' अर्थात् 'शत्रुओं का नाश कर', इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अब 'आखण्डल' इस नामपद का निर्वचन करते हैं— 'आखण्डयितः खण्डं खण्ड-यतेः'। यहाँ 'आखण्डयितः' आखण्डयिता का सम्बोधन रूप है। 'आखण्डयिता' का अर्थ है— खण्ड-खण्ड करने वाला। इसके लिए ग्रन्थकार ने एक निगमांश भी प्रस्तुत किया है— 'आखण्डल प्र हूयसे' (ऋ.८.१७.१२)। इस ऋचा का देवता इन्द्र है तथा 'आखण्डल' पद इन्द्र के लिए ही सम्बोधन में प्रयुक्त है। इस मन्त्रांश का भाव है— बाधक असुर पदार्थ को खण्ड-२ करने वाले हे इन्द्र! तुझे प्रकृष्ट रूप से पुकारा जा रहा है अर्थात् वह इन्द्र तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में बाधक पदार्थों के प्रभावी होने पर सब ओर से प्रकट होता है। वह इन्द्र तत्त्व उस आसुर मेघ रूप पदार्थ पर प्रहार करके उसे खण्ड-२ अर्थात् छिन्न-भिन्न कर देता है। इससे सृष्टि में सृजन प्रक्रियाएँ यथावत् चलती रहती हैं अथवा बन्द हुई क्रियाएँ पुनः प्रारम्भ हो जाती हैं।

'आखण्डल' नामपद के अतिरिक्त 'तळित्' भी नामपद है, जो 'वधकर्मा' धातुओं के साथ पढ़ा गया है। इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार का कथन है— 'तळिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म ताडयतीति सतः' अर्थात् 'तळित्' पद अन्तिक एवं वध के संश्लिष्ट अर्थ में है अर्थात् यह पद समीप तथा वधकर्म दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'ताडयतीति सतः' पर टीका करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है— 'ताडयतीति सत इति वधकर्मनिर्वचनम् इतरत्र ताडयतिरेव सन्निकर्षार्थत्वात् सन्निकर्षार्थस्य निर्वचनम्' अर्थात्

'तड' धातु का अर्थ मारना तथा निकट होना वा निकट आना, ये दोनों ही ग्रन्थकार को स्वीकार्य हैं। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु केवल मारने अर्थ में ही प्रयुक्त है। 'तळित्' पद के लिए निगम अग्रिम खण्ड में दिया गया है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः॥

[ऋ.२.२३.९]

त्वया वयं सुवर्द्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि। याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिके। अरातयोऽदानकर्माणो वा। अदानप्रज्ञा वा। जम्भय ता अनप्नसः। अप्न इति रूपनाम। आप्नोतीति सतः।
विद्युत्तडिद्भवतीति शाकपूणिः। सा ह्यवताडयति। दूराच्च दृश्यते।
अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्।
दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे॥ [ऋ.१.९४.७]
दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यस इति।

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है [गृत्समदः = स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद् गृत्समदः (ऐ.आ.२.२.१)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राणापान रश्मियों के युग्म से होती है। इसका देवता ब्रह्मणस्पति तथा छन्द विराट् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विशाल लोकों की रक्षा करने वाले अति विशाल आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया में दूर-२ तक तेजस्वी पदार्थ गतिशील हो उठता है।

आधिदैविक भाष्य— (त्वया, वयम्, सुवृधा, ब्रह्मणस्पते) 'त्वया वयं सुवर्द्धयित्रा ब्रह्मणस्पते' यहाँ विशाल आदित्य लोक वर्तमान भाषा में गैलेक्सियों के केन्द्र की उत्पत्ति

की प्रक्रिया की चर्चा की गई है। यहाँ 'वयम्' का तात्पर्य इस छन्द रश्मि की कारणरूप प्राण एवं अपान आदि रश्मियाँ हैं तथा 'त्वम्' सर्वनाम का प्रयोग उस निर्माणाधीन विशाल आदित्य लोक के लिए ही हुआ है। इसे ही ब्रह्मणस्पति कहा गया है। उस निर्माणाधीन और विशाल आकार को ग्रहण करते हुए आदित्य लोक के अन्दर (स्पार्हा, वसु, मनुष्या, ददीमहि) 'स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि' अर्थात् उस आदित्य लोक के अङ्गभूत 'मनुष्य' नामक विभिन्न कणों, जिनकी चर्चा पूर्व में खण्ड ३.७ में की गई है, से नाना प्रकार की अभीष्ट प्राण रश्मियों व छन्दादि पदार्थों का सब ओर से ग्रहण किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'मनुष्याः' का अर्थ 'मनुष्येभ्यः' किया है। इसी को दृष्टिगत रखकर हमने यहाँ अर्थ किया है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि विशाल आदित्य लोकों के निर्माण के समय विभिन्न प्रकार के मनुष्य नामक कणों से उत्सर्जित होने वाली विभिन्न प्राण वा छन्द रश्मियों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है।

(याः, नः, दूरे, तळितो, याः) 'याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिके' हमारे अर्थात् प्राणापान रश्मियों, जिनसे इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, के निकट अथवा दूर अर्थात् जहाँ प्राणापान रश्मियों की अधिकता अथवा न्यूनता है। (अरातयः, सन्ति, ता, अनप्नसः) 'अरातयोऽदानकर्माणो वा अदानप्रज्ञा वा ता अनप्नसः अप्न इति रूपनाम आप्नोतीति सतः' वहाँ विभिन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थों के आदान-प्रदान वा संयोग-वियोग की प्रक्रिया एवं संयोग आदि हेतु अनुकूल रश्मि आदि पदार्थों को खोजने की प्रवृत्ति के अभाव अथवा उसकी अति न्यूनता को, जो नाना रूपों अर्थात् रूपवान् पदार्थों को उत्पन्न नहीं होने देती है, (अभि, जम्भय) सब ओर से नष्ट करती है।

भावार्थ— जब विशाल आदित्य लोकों का निर्माण हो रहा होता है, तब उनमें प्राणापान रश्मियों का युग्म इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करता है। ये प्राणापान रश्मियाँ उस क्षेत्र में विद्यमान मनुष्य नामक नाना प्रकार के कणों से उत्सर्जित होने वाली विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों को ग्रहण करती हैं। इनके कारण उस क्षेत्र में नाना प्रकार की रश्मियों के द्वारा होने वाली सृजन प्रक्रियाओं की बाधा दूर होती है और उस विशाल आदित्य लोक का आकार धीरे-२ निर्मित होने लगता है।

इसके पश्चात् महर्षि शाकपूणि का 'तडित्' विषय में मत दर्शाते हुए लिखते हैं— 'विद्युत्तडिद्भवतीति शाकपूणिः सा ह्यवताडयति दूराच्च दृश्यते अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं

स्यात्'। इसका अर्थ यह है कि महर्षि शाकपूणि के मत में विद्युत् को ही तडित् कहते हैं, क्योंकि वह मारने वाली होती है और दूर से ही दिखाई देने वाली होती है, इस कारण इसका अन्तिक अर्थात् समीप अर्थ करना उचित नहीं है, जैसा कि ग्रन्थकार ने इससे पूर्व दर्शाया है।

परन्तु यहाँ ग्रन्थकार महर्षि शाकपूणि से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि यहाँ भी तडित् समीपवाची ही है। इसके लिए वे एक ऋचा का पाद प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे' (ऋ.१.९४.७)।

इस पर व्याख्यान करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यस इति' अर्थात् दूर होने पर भी तडित् = आकाशीय विद्युत् समीपस्थ ही सुन्दर रूप वाली दिखाई देती है। इस प्रकार दोनों ऋषियों के मत में विरोध प्रतीत होते हुए भी इस मन्त्र से दोनों का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश। वज्रः कस्मात्। वर्जयतीति सतः।
तत्र कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति।
कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः।
अथाप्यस्य वधकर्मैव भवति। तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति।

तदनन्तर निघण्टु २.२० में ये १८ नाम वज्रवाची पढ़े गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

दिद्युत्। नेमिः। हेतिः। नमः। पविः। सृकः। वृकः। वधः। वज्रः। अर्कः। कुत्सः। कुलिशः। तुञ्जः। तिग्मः। [तुजः। तिग्मम्।][२] मेनिः। स्वधितिः। सायकः। परशुः।

यहाँ 'वज्रः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है कि यह पद किस कारण से बना और इस प्रश्न का उत्तर दिया कि वज्ररूपी रश्मियाँ वा तरंगें असुरादि पदार्थों को रोकती हैं, जिससे वे सृजन प्रक्रिया में बाधा नहीं पहुँचाने पाते। 'वृजी वर्जने' धातु का एक अर्थ 'छोड़ना' भी है। इस कारण वज्र रश्मियाँ असुरादि रश्मियों को छिन्न-भिन्न करके आकाश तत्त्व में विसर्जित कर देती हैं। 'सतः' अर्थात् ऐसा होने से वज्र कहलाता है। यहाँ दर्शाये

2. कहीं [ ] अन्तर्गत पाठ मिलता है।

गये वज्रनामों में एक नाम कुत्स भी है और यह पद 'कृती छेदने' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् वज्र रश्मियाँ असुर तत्त्व को छिन्न-भिन्न करने वाली होती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार महर्षि औपमन्यव का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः' अर्थात् ऋषि रश्मियाँ भी 'कुत्स' कहलाती हैं, क्योंकि वे नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न वा धारण करती हैं। विभिन्न ऋषि रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की चर्चा हमारे 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में सर्वत्र की गई है। ध्यान रहे यहाँ 'ऋषि' पद का अर्थ प्राणादि रश्मियाँ ही हैं, न कि कोई ऐतिहासिक ऋषि। इस विषय में कुछ तत्त्वदर्शियों ने कहा है—

प्राणा वा ऋषयः (ऐ.ब्रा.२.२७), प्राणाऽऋषयः (श.ब्रा.७.२.३.५),
ऋषयः = प्राणादयः पञ्च देवदत्तधनञ्जयौ च (म.द.य.भा.१७.७९)

इस प्रकार ब्रह्माण्ड में इन प्राण रश्मियों (ऋषियों) से सभी छन्द रश्मियाँ (वेद मन्त्र) उत्पन्न होती हैं।

यहाँ पुनः ग्रन्थकार कहते हैं— 'अथाप्यस्य वधकर्मैव भवति तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति' अर्थात् यह ऋषि पद भी वधकर्मा ही होता है, क्योंकि ऋषि प्राण रश्मियाँ भी उतनी सूक्ष्म होती हैं, जो सूक्ष्म असुर रश्मियों (तथाकथित डार्क एनर्जी) को नष्ट करने में समर्थ होती हैं। इन ऋषि रश्मियों के सख्य में इन्द्र तत्त्व भी शुष्ण अर्थात् शोषक बलों से युक्त असुर पदार्थ को नष्ट करता है। यहाँ ऋषि रश्मियों के सख्य का तात्पर्य यह है कि इन्द्र तत्त्व सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के सहाय से ही आसुर मेघों को नष्ट कर पाता है। जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्री-डुर्महयन्तः (श.ब्रा.२.५.३.२०)।

'वज्र' पद वेदादि शास्त्रों में अनेक बार आया है एवं वैदिक भौतिकी में यह एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। इस कारण हम इसके नामवाची सभी पदों पर क्रमशः विचार करना आवश्यक समझते हैं।

१. दिद्युत् — इसके विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'दिद्युद् द्युतेर्वा द्योततेर्वा'। इससे सिद्ध होता है कि वज्र रश्मियों का यह रूप अतीव प्रकाशमान और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाला होता है।

२. नेमिः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.४४ में लिखा है— 'नयतीति नेमिः चक्रावयवो वा' अर्थात् ये रश्मियाँ चक्र के अवयवों की भाँति घूर्णन करती हुई असुर रश्मियों को उठाकर दूर ले जाती हैं।

३. हेतिः — इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'हेतिर्हन्तेः' (निरु.६.३)। यह पद 'हि गतौ वृद्धौ च' (स्वा.) एवं 'हन हिंसागत्योः' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। ये वज्र रश्मियाँ निरन्तर बढ़ती हुई गति से गमन करती तथा असुरादि पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें नष्ट करने में समर्थ होती हैं।

४. नमः — ये रश्मियाँ संयोज्य पदार्थों की ओर झुकती हुई व सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न करती हुई मार्ग में आने वाले बाधक असुर पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें नष्ट करती हैं।

५. पविः — ये रश्मियाँ दृश्य और अदृश्य पदार्थ के संघर्ष के समय उनमें प्रविष्ट होकर शोधन का कार्य करती हैं अर्थात् ये असुर पदार्थ को छिन्न-भिन्न करके देव पदार्थ को पृथक् कर उसे शुद्ध करती हैं।

६. सृकः — यह पद 'सृ गतौ' धातु से उणादि कक् प्रत्यय (उ.को.३.४१) होकर व्युत्पन्न होता है। ये रश्मियाँ विशेष तीव्रगामिनी न होकर सामान्य सर्पिलाकार गति से गमन करती हैं और इसी गति से असुरादि पदार्थों को नष्ट करती हैं।

७. वृकः — यह पद 'वृञ् वरणे' धातु से पूर्वोक्त कक् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'वृको विकर्तनात्' (निरु.६.२६) अर्थात् ये रश्मियाँ पहले असुरादि पदार्थ को आच्छादित कर लेती हैं, फिर उसका कर्तन करके उसे छिन्न-भिन्न कर देती हैं।

८. वधः — इसे निघण्टु २.९ में बलनामों में भी पढ़ा गया है, जिनकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। ये रश्मियाँ अपेक्षाकृत अधिक बलसम्पन्न होती हैं, जो विभिन्न असुरादि पदार्थों को नष्ट करती हैं।

९. वज्रः — इसकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं।

१०. अर्कः — इसे निघण्टु २.७ में अन्ननाम में भी पढ़ा गया है। अन्यत्र भी कहा है— अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति (तां.ब्रा.१५.३.२३), प्राणो वाऽअर्कः (श.ब्रा.१०.४.१.२३),

अयं वाऽअग्निरर्कः (श.ब्रा.८.६.२.१९), अर्को वै देवानामन्नम् (श.ब्रा.१२.८.१.२)। इससे प्रतीत होता है कि ये रश्मियाँ अग्निरूप होकर असुर पदार्थ पर प्रहार करती हैं और उसे छिन्न-भिन्न वा नष्ट करके देव रश्मियों अर्थात् दृश्य पदार्थ द्वारा अवशोषित हो जाती हैं।

११. **कुत्सः** — इस पद की व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं।

१२. **कुलिशः** — इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'कुलिश कूलशातनो भवति' (निरु.६.१७) अर्थात् ये रश्मियाँ असुर पदार्थ के किनारों को काटने वाली होती हैं।

१३. **तुञ्जः** — यह पद 'तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस धातु को निरुक्तकार ने निरुक्त ६.१७ में दान करने के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ असुरादि रश्मियों को नष्ट करके और बलवती हो जाती हैं। इसके पश्चात् वे देव पदार्थ में वास करती और चमकती हुई विद्यमान रहती हैं।

१४. **तिग्मः** — इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (निरु.१०.६)। उधर उणादि-कोष १.१४६ की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'तेजते छिनत्तीति तिग्मम् तीक्ष्णं वा'। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ अति तीव्र बल के साथ असुरादि पदार्थ पर प्रहार करके उसे छिन्न-भिन्न करने में समर्थ होती हैं।

१५. **मेनिः** — यह पद 'मन्यते कान्तिकर्मा' अथवा 'मीञ् हिंसायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। उधर एक ऋषि का कथन है— ता वा एता अङ्गिरसां यामयो यन्मेनयः (गो.पू.१.९)। अङ्गिरस के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् (ऐ.ब्रा.३.३४)। इन सब वचनों से यह सिद्ध है कि ब्रह्माण्ड में अग्नि की ज्वालाओं के मध्य में इस प्रकार की रश्मियाँ प्रकट होकर असुरादि पदार्थों को नष्ट करके देव पदार्थ को आकृष्ट कर उन्हें संयुक्त करने में सहयोग करती हैं।

१६. **स्वधितिः** — इस प्रकार की रश्मियाँ देव पदार्थ का धारण और पोषण करने में समर्थ होती हैं।

१७. **सायकः** — यह पद 'षो अन्तकर्मणि' धातु से व्युत्पन्न होता है। ये रश्मियाँ विभिन्न बाधक पदार्थों को नष्ट करने में अस्त्र के समान तीक्ष्ण व्यवहार करती हैं।

१८. **परशुः** — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष १.३३ की व्याख्या में ऋषि

दयानन्द ने लिखा है— 'परान् शत्रून् शृणाति हिनस्ति येन स परशुः, शस्त्रभेदः कुठारो वा'। ये रश्मियाँ आसुर मेघादि पदार्थों को कुठार के समान तीक्ष्णता से काटती हैं, जिससे वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः।
ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि। तत्रेन इत्येतत् सनित ऐश्वर्येणेति वा। सनितमनेनैश्वर्यमिति वा॥ ११॥

तदनन्तर निघण्टु २.२१ में अगले चार धातु ऐश्वर्यकर्मा हैं। ये धातु इस प्रकार हैं—

इरज्यति। पत्यते। क्षयति। राजति।

इसके पश्चात् निघण्टु २.२२ में अगले चार पद ईश्वरवाची हैं। वे चार नाम इस प्रकार हैं—

राष्ट्री। अर्यः। नियुत्वान्। इनः।

इन ईश्वरवाची चार नामों में 'इनः' भी एक नाम है। 'इनः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सनित ऐश्वर्येणेति वा' अर्थात् ऐश्वर्य जिसमें व्याप्त है अर्थात् जो ऐश्वर्य से पूर्णतः संगत है, उसे 'इनः' अथवा ईश्वर कहते हैं। इसका भाव यह है कि जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को अपने नियन्त्रण में रखने का सामर्थ्य रखता हो, वह 'इनः' वा ईश्वर कहलाता है। यह आधिदैविक अर्थ हुआ। आधिभौतिक अर्थ में 'इनः' वा ईश्वर पद राजा के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण प्रजा पर अपना नियन्त्रण रखता है। आध्यात्मिक अर्थ में 'इनः' अथवा ईश्वर पद परब्रह्म परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करता है और उसका शासक कोई नहीं होता, इस कारण उसे परमेश्वर भी कहते हैं।

अब 'इनः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सनितमनेनैश्वर्यमिति वा' यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर एवं आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) ने 'सनितम्' पद का अर्थ 'संगत' किया है अथवा 'संयुक्त है', ऐसा माना है। जबकि स्कन्दस्वामी ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है— 'सनितमवरुद्धमनेनैश्वर्यमिति'। आचार्य विश्वेश्वर ने 'सनितम्' का अर्थ 'ऐश्वर्य का विभाजन' किया है। मुकुन्द झा शर्मा ने भी

इसका अर्थ 'सम्भक्तम्' किया है, जबकि स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने 'सनितम्' पद को अनुचित मानकर इसके स्थान पर 'समितम्' पाठ स्वीकार किया है, जिसका अर्थ 'प्राप्तम्' किया है।

हमारे मत में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर एवं आचार्य भगीरथ शास्त्री का अर्थ अशुद्ध है और स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का 'समितम्' पाठ भी अशुद्ध है। जब पूर्व में 'सनितः' द्वारा 'संगत' यह अर्थ आ ही गया, तब 'सनितम्' पद से पुनः इसी अर्थ का ग्रहण करना अथवा 'समितम्' पाठ का ग्रहण करना पिष्टपेषण के समान व्यर्थ है। इस कारण 'सनितम्' का अर्थ 'ऐश्वर्य का विभाजक' ही उचित है।

आधिदैविक दृष्टि से विचार करें, तो सृष्टि में जो भी एक मूल बल है अर्थात् काल का बल है, वह ही अन्य सभी बलों में संगत रहते हुए भिन्न-२ पदार्थों में उन बलों को भिन्न-२ रूपों में विभाजित करता है। इसी कारण इस सृष्टि में एक मूल बल के रहते हुए भी अनेक बल कार्य करते हैं। उन सबका कारण वही एक मूल बल है। आधिभौतिक अर्थ पर विचार करें, तो राजा सर्वोच्च अधिकारी होता है अर्थात् सभी अधिकार उसी में संगत रहते हैं, किन्तु इसके साथ ही वह राजा सभी राज्याधिकारियों एवं प्रजाओं के अधिकारों का विभाजन करता है। इस कारण राजा को भी 'इन' अर्थात् ईश्वर कहते हैं।

उधर आध्यात्मिक दृष्टि से परब्रह्म परमेश्वर सर्वोच्च ऐश्वर्यवान् अर्थात् अधिकारी होता है, परन्तु इसके साथ ही वह सृष्टि के विभिन्न जड़ पदार्थों एवं जीवों को बल का देने हारा भी होने से 'इन' अर्थात् ईश्वर वा परमेश्वर कहलाता है। परमात्मा ही विभिन्न पदार्थों का सृष्टि के प्रयोजनानुसार विभाग भी करता है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

[ऋ.१.१६४.२१]

यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। अमृतस्य भागमुदकस्य।
अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा।
ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः। स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति।
धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आदित्यः।
इत्युपनिषद्वर्णो भवति। इत्यधिदैवतम्।

'इनः' पद के लिए यहाँ एक निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ (ऋ.१.१६४.२१)

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति एक फैलते हुए प्राण विशेष से होती है। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड के सभी देव पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यत्र) जहाँ अर्थात् आदित्य लोक में (सुपर्णाः) 'सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः' अच्छे प्रकार से गमन करने वाली अथवा विभिन्न पदार्थों के ऊपर अच्छे प्रकार से गिरने वाली आदित्य रश्मियाँ (अमृतस्य, भागम्) 'अमृतस्य भागमुदकस्य' [अमृतम् = अमृतं वै प्राणाः (गो.उ.३.११; कौ.ब्रा.११.४), अमृतमु वै प्राणाः (श.ब्रा. ९.३.३.१३), अमृतम् वाऽआपः (श.ब्रा.१.९.३.७)] पूर्वोक्त २.२४ खण्ड में वर्णित उदक पदार्थ, जो सृष्टि काल में अविनाशी एवं व्यापनशील प्राण रश्मियों के रूप में विद्यमान होता है, उसके अंश को अथवा पृथिवी आदि लोकों में स्थित अमृत नामवाची जल के अंश को (अनिमेषम्, विदथा, अभिस्वरन्ति) 'अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा अभिप्रयन्तीति वा' [विदथः = यज्ञनाम (निघं.३.१७)] निमेष मात्र भी विराम लिए बिना अर्थात् निरन्तर सृष्टि के नियमों के अनुसार अर्थात् विज्ञानपूर्वक, इसके साथ ही विभिन्न कणों के प्रति सहयोग करने की प्रवृत्तिपूर्वक ले जाती हैं वा पहुँचाती रहती हैं। इस प्रक्रिया में सूक्ष्म ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होती रहती हैं। यहाँ 'विदथा' पद महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह प्रकट होता है कि सूर्य की किरणों के गमन करने का एक निश्चित विज्ञान होता है। उनके

मार्ग और गति भी निश्चित होती है। कुछ भी यदृच्छया नहीं होता। इसके साथ ही वे किरणें मार्ग में आने वाले प्रत्येक पदार्थ से संयोग अवश्य करती हैं, भले ही उस संयोग की अवधि अत्यल्प ही क्यों न हो।

(इनः, विश्वस्य, भुवनस्य, गोपाः) 'ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः' अर्थात् वह आदित्य लोक अपने परिवार के सभी लोकों को अपने बल से नियन्त्रित करने और उनकी रक्षा करने वाला होता है। इसके साथ ही वह आदित्य लोक इन लोकों में विद्यमान सभी प्राणियों एवं वनस्पतियों का भी रक्षक और नियन्त्रक होता है। ध्यातव्य है कि आदित्य लोक न केवल अपने गुरुत्वीय बल, अपितु अपने प्रकाश और ऊष्मा के द्वारा सभी लोकों एवं जीवों के नियन्त्रक और पालक का कार्य करता है।

(सः, मा, धीरः, पाकम्, अत्र, आविवेश) 'स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति धीरो धीमान् पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आदित्यः इत्युपनिषद्वर्णो भवति' [धीः = कर्मनाम (निघं. २.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)। पाकः = प्रशस्यनाम (निघं.३.८), पिबतीति पाकः (उ.को. ५.५३)] अर्थात् वह धीर संज्ञक आदित्य लोक जब निर्मित हो रहा होता है, उस समय वह पाक संज्ञक भी होता है। यहाँ 'धीरः' पद यह संकेत करता है कि कोई भी निर्माणाधीन तारा धारण और पोषण गुणों से विशेष युक्त होता है। इसके साथ ही उसमें विज्ञानपूर्वक एवं दीप्तिवर्धक क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं, इस कारण उसके केन्द्रीय भाग की ओर सूक्ष्म कणों की विशाल धाराएँ तेजी से आकर मिलती रहती हैं और इस प्रक्रिया के कारण आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर श्रेष्ठतर होती रहती है। जबकि पूर्व में वह आदित्य लोक ऐसा नहीं होता, लेकिन इन प्रक्रियाओं के कारण वह विशेष परिपक्व कर्मों एवं उत्तम प्रकाशयुक्त होता चला जाता है। इसी प्रक्रिया के समय इस छन्द रश्मि की कारणभूत दीर्घतमा नामक प्राण रश्मियाँ उस आदित्य लोक में सब ओर से प्रविष्ट होती रहती हैं। यहाँ दीर्घतमा ऋषि के साथ-२ उससे उत्पन्न होने वाली न केवल इस सूक्त की छन्द रश्मियाँ, अपितु अन्य अनेक छन्द रश्मियाँ, जिनका ऋषि दीर्घतमा होता है, भी आदित्य लोक में प्रविष्ट होती रहती हैं।

यहाँ 'विपक्वप्रज्ञ' अर्थात् विशेष रूप से श्रेष्ठ विज्ञानमयी क्रियाओं एवं दीप्तियों से युक्त आदित्य लोक को 'उपनिषद्वर्ण' कहा है। प्रायः भाष्यकारों ने इस पंक्ति का अर्थ अस्पष्ट ही किया है और आचार्य विश्वेश्वर ने इस पंक्ति को अस्पष्ट और क्लिष्ट अर्थ

वाली ही माना है। हमारी दृष्टि में यह पंक्ति इस विज्ञान को दर्शाती है कि जब कोई आदित्य लोक विशेष रूप से परिपक्व हो जाता है, उस समय वह अनेक रंगों से संकेन्द्रित रहस्यमय वर्ण वाला ही होता है। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने इस ऋचा का आधिदैविक व्याख्यान किया है।

भावार्थ— सूर्य की किरणें अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों को तथा पृथिव्यादि लोकों पर विद्यमान जल को विज्ञानपूर्वक निरन्तर ले जाती रहती हैं। वे मार्ग में गमन करते हुए अनेक प्रकार के कणों से टकराती रहती हैं, भले ही उस टक्कर व संयोग का समय अत्यल्प ही क्यों न हो। वह सूर्यलोक अपने गुरुत्व बल, ऊष्मा व प्रकाशादि के द्वारा विभिन्न लोकों व उन पर रहने वाले प्राणियों का रक्षक होता है। कोई भी तारा अपनी उत्पत्ति प्रक्रिया से ही धारण व पोषण आदि गुणों से युक्त होता है। निर्माणाधीन तारे के केन्द्रीय भाग की ओर पदार्थ की विशाल धाराएँ विज्ञानपूर्वक निरन्तर आती रहती हैं। इससे उस तारे के निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर श्रेष्ठतर होती चली जाती है। इसके साथ ही उससे उत्पन्न प्रकाश में रंगों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने इस ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ भी किया है।

अथाध्यात्मम्। यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि। अमृतस्य भागं ज्ञानस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा। स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आत्मा। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १२॥

आध्यात्मिक भाष्य— (यत्र, सुपर्णाः, अमृतस्य, भागम्, अनिमेषम्, विदथा, अभिस्वरन्ति) 'यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि अमृतस्य भागं ज्ञानस्य अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा अभिप्रयन्तीति वा' जहाँ शरीर के अन्दर नाना विषयों में अच्छी प्रकार गमन करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानरूपी अमृत के अंश को ज्ञान द्वारा ही पहुँचाती एवं अभिव्यक्त करती रहती हैं। यहाँ ज्ञान के अंश को ज्ञान ही के द्वारा पहुँचाने एवं अभिव्यक्त करने का आशय यह है कि इन्द्रियाँ विषयों अर्थात् सृष्टि के पदार्थों के विराड् ज्ञान के अंश को आत्मा के ज्ञान के

प्रकाश द्वारा आत्मा को ही पहुँचाती रहती हैं और उस ज्ञान को लोक में अभिव्यक्त भी करती रहती हैं और यह कार्य बिना किसी विराम के निरन्तर होता रहता है। यद्यपि हमारा मन एक समय में एक इन्द्रिय से ही सम्पर्क कर सकता है, परन्तु व्यवहार में हम एक ही समय में देखना, सूँघना, चखना, स्पर्श करना, सुनना आदि क्रियाओं को करते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। पुनरपि इन सब क्रियाओं के अति तीव्र होने के कारण ये सभी क्रियाएँ हमें एक साथ होती हुई प्रतीत होती हैं। उधर ऋषियों ने मन को भी एक इन्द्रिय कहा है, जो ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के सम्पर्क में रहता है। इसी बात को भगवान् कपिल ने निम्नलिखित दो सूत्रों द्वारा समझाया है। ये सूत्र इस प्रकार हैं—

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् (सां.द.२.१९)
उभयात्मकं मनः (सां.द.२.२६)

इसी कारण मन्त्र में 'अनिमेषम्' पद का प्रयोग है, क्योंकि ये सभी क्रियाएँ हमें सतत होती हुई प्रतीत होती हैं।

(इनः, विश्वस्य, भुवनस्य, गोपाः) 'ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा' अर्थात् वह आत्मा सभी इन्द्रियों का रक्षक व नियन्त्रक है। शरीर में जीवात्मा की शक्ति व सामर्थ्य के कारण ही सभी इन्द्रियाँ हमारे शरीर में न केवल कार्य करती हैं, अपितु विद्यमान भी रहती हैं।

(सः, मा, धीरः, पाकम्, अत्र, आविवेश) 'स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति धीरो धीमान् पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मा' वह धीर अर्थात् परिपक्व एवं श्रेष्ठ प्रज्ञा व कर्मों से सम्पन्न आत्मा अथवा श्रेष्ठतम सर्वज्ञ सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमेश्वर प्राणियों को इस लोक अर्थात् पवित्र ज्ञान के लोक में प्रविष्ट कराता है। भाव यह है कि जब परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ज्ञानामृत से आत्मा तृप्त हो उठता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है अथवा इस लोक में भी उत्तम सुख व ऐश्वर्य का स्वामी होता है। इस प्रकार आत्मा की गति का वर्णन आध्यात्मिक भाष्य में हुआ।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बहु कस्मात्। प्रभवतीति सतः।
ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश। ह्रस्वो ह्रसतेः।
महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। महान् कस्मात्।
मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः। मंहनीयो भवतीति वा।
तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साऽभ्यासात्।

तदनन्तर निघण्टु ३.१ में अगले बारह नाम बहुत के वाचक पढ़े गये हैं अर्थात् बहुत अर्थ में ग्यारह नाम निम्नानुसार हैं—

उरु। तुवि। पुरु। भूरि। शश्वत्। विश्वम्। परीणसा। व्यानशिः। शतम्। सहस्रम्। सलिलम्। कुवित्।

अब 'बहु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'प्रभवतीति सतः' अर्थात् प्रभूत मात्रा में होता है अथवा सामर्थ्यवान् होता है, ऐसा होने से 'बहु' कहलाता है। यहाँ कोई पाठक महर्षि यास्क पर व्यंग्य कर सकता है कि उनके निर्वचन कहीं-२ मूर्खतापूर्ण और कहीं अति सामान्य स्तर के हैं। ऐसे पाठक को हम कहना चाहेंगे कि ऋषियों की कोई भी बात सदैव गम्भीर एवं वैज्ञानिक ही होती है, जिसको हम अनेक निर्वचनों में दिखला चुके हैं। यहाँ 'प्रभवतीति सतः' का अर्थ भी इतना सामान्य नहीं, जितना कोई समझ सकता है।

यह 'प्रभवति' पद 'प्र' पूर्वक 'भू' धातु से सम्पन्न होता है, जिसके अर्थ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'दृष्टिगोचर होना, प्रकट होना, शासन करना' आदि बतलाये हैं। उधर आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोष में कुछ अन्य अर्थ भी इस प्रकार दिये हैं— जन्म लेना, उपयोगी होना, बल दिखाना आदि। इन सभी अर्थों पर विचार करने से 'बहु' शब्द का एक महान् विज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है—

जो पदार्थ एक है, एकरस है, वह कभी किसी को दिखलाई नहीं दे सकता। इस सृष्टि में ईश्वर, जीव एवं प्रकृति तीनों ही पदार्थ एकत्व वाले होने से कभी किसी को दिखाई नहीं पड़ते। यद्यपि जीवों की संख्या असंख्य है, परन्तु कोई भी अकेला जीव जब तक शरीर धारण नहीं करता, तब तक वह भी कभी किसी को दिखलाई नहीं पड़ सकता।

जब तक ईश्वर प्रकृति की एकरसता को भंग करके सृष्टि की रचना नहीं करता, तब तक प्रकृति किसी के भी उपयोग में नहीं आ सकती। यहाँ तक कि ईश्वर और जीव की सत्ता भी सर्वथा निरुपयोगी रहेगी। जब प्रकृति से अनेक प्रकार की रश्मियाँ व कण आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, तभी वे दृष्टिगोचर हो पाते हैं अथवा अनुभव में आते हैं। इन बहुत्वयुक्त पदार्थों का ही जन्म हो सकता है, एकत्वयुक्त ईश्वर आदि पदार्थों का कभी जन्म नहीं हो सकता। एकत्व वाली सत्ता का बल भी तब तक अनुभव में नहीं आ सकता, जब तक कि उससे अनेक बल उत्पन्न न हो गए हों। इस कारण 'प्रभवतीति सतः' ऐसा निर्वचन करना मूर्खता अथवा लघुता का परिचायक नहीं, बल्कि अत्यन्त बुद्धिमत्ता का परिचायक है।

तदनन्तर निघण्टु ३.२ में ह्रस्व नामवाची ११ पद इस प्रकार दिये गये हैं-

ऋहन्। ह्रस्वः। निघृष्वः। मायुकः। प्रतिष्ठा। कृधु। वम्रकः। द्रभ्रम्। अर्भकः। क्षुल्लकः। अल्पः।

इन ग्यारह नामों में 'ह्रस्व' स्वयं एक नाम है, जिसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ह्रस्वो ह्रसतेः' अर्थात् जो अपेक्षाकृत कम मात्रा में होता है। 'ह्रस' धातु न केवल कम होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, अपितु इसका अर्थ ध्वनि करना भी होता है। इससे यह प्रकट होता है कि जब कोई बड़ा पदार्थ अर्थात् बहुत्वयुक्त पदार्थ विखण्डित होकर छोटा होता है, तब इस प्रक्रिया में ध्वनि तरंगें अवश्य उत्पन्न होती हैं, चाहे वे तरंगें हमें सुनाई दे सकें अथवा नहीं। इस निर्वचन का यह एक वैज्ञानिक तथ्य है।

तदुपरान्त अगले २५ नाम निघण्टु ३.३ में महत् नामवाची पढ़े गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं-

महत्। ब्रध्नः। ऋष्वः। बृहत्। उक्षितः। तवसः। तविषः। महिषः। अभ्वः। ऋभुक्षाः। उक्षा। विहायाः। यह्वः। ववक्षिथ। विवक्षसे। अम्भृणः। माहिनः। गभीरः। ककुहः। रभसः। व्राधन्। विरप्शी। अद्भुतम्। बंहिष्ठः। बर्हिषत्।

यहाँ 'महान्' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि शाकपूणि का मत दर्शाते हुए लिखते हैं— मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः' अर्थात् जो परिमाण में अन्यों को पीछे छोड़ता अर्थात् अन्य पदार्थों की अपेक्षा जो पदार्थ परिमाण में (आकार, बल, ज्ञान, भार आदि गुणों के परिमाण में) बड़ा होता है, वह अन्य पदार्थों की अपेक्षा महान् कहलाता है।

अब अन्य निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मंहनीयो भवतीति वा' अर्थात् जो पूजनीय होता है और बढ़ा हुआ होता है, वह महान् कहलाता है। यहाँ वृद्धि केवल आकार की नहीं समझनी चाहिए, बल्कि ज्ञान, बल, धन एवं यश आदि हर प्रकार से बढ़ा हुआ 'महान्' कहलाता है।

यहाँ महन्नामवाची पदों में दो नामों की चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साऽभ्यासात्' अर्थात् 'ववक्षिथ' एवं 'विवक्षसे' इन दोनों ही क्रियावाची पदों को महत् नाम में पढ़ा गया है। ये दोनों पद क्रमशः 'वच परिभाषणे' एवं 'वह प्रापणे' धातुओं से व्युत्पन्न होते हैं, जिनमें अभ्यास होकर अर्थात् वकार को द्वित्व होने से ये क्रियापद व्युत्पन्न होते हैं। यहाँ अभ्यास होने की बात स्वयं ग्रन्थकार ने लिखी है, इस कारण ये दोनों पद क्रियापद ही हैं, नामवाची नहीं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ये क्रियापद महन्नामवाची कैसे हो सकते हैं? हमारे मत में 'ववक्षिथ' पद यह दर्शाता है कि वह महान् पदार्थ अपनी सत्ता को लघु पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्पष्टतया अभिव्यक्त करता है। इसके साथ ही महान् पदार्थों के यश का ही संसार बखान करता है। इसी कारण इस क्रियापद को महन्नामवाची पदों के अन्तर्गत पढ़ा गया है। उधर द्वितीय क्रियापद 'विवक्षसे' दर्शाता है कि महान् पदार्थ लघु पदार्थों का वहन करने वाला तथा लघु पदार्थों को अपने अन्दर व्याप्त करने वाला होता है।

गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। गृहाः कस्माद्। गृह्णन्तीति सताम्। परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश। सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः। सुखं कस्मात्। सुहितं खेभ्यः। खं पुनः खनतेः। रूपनामान्युत्तराणि षोडश। रूपं रोचतेः। प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश। प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश। सत्यनामान्युत्तराणि षट्। सत्यं कस्मात्। सत्सु तायते। सत्प्रभवं भवतीति वा। अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माण उत्तरे धातवश्चिक्यत् प्रभृतीनि च। नामान्यामिश्राणि। नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय।

तदनन्तर निघण्टु ३.४ में २२ नाम गृहवाची पढ़े गये हैं। वे २२ नाम इस प्रकार हैं—

गयः। कृदरः। गर्त्तः। हर्म्यम्। अस्तम्। पस्त्यम्। दुरोणे। नीळम्। दुर्य्याः। स्वसराणि। अमा। दमे। कृत्तिः। योनिः। सद्म। शरणम्। वरूथम्। छर्दिः। छदिः। छाया। शर्म्म। अज्म।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'गृहाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'गृहाः कस्माद् गृह्णन्तीति सताम्' अर्थात् ये ग्रहण करने वाले होते हैं, ऐसा होने से इन्हें 'गृहाः' कहते हैं। इस कारण इस सृष्टि में विद्यमान आकर्षण एवं धारण बल भी 'गृहाः' कहलाते हैं। घर को 'गृहाः' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह उस घर में रहने वाले सभी सदस्यों को ग्रहण वा धारण किये रहता है। इस पद के विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''ग्रह' धातु से 'घ-प्रत्यय' और सम्प्रसारण करके 'गृहाः' पद बनता है। गृह शब्द सामान्यतः नपुंसकलिंगी शब्द है, किन्तु पुल्लिंग में नित्य बहुवचनान्त रूप में 'गृहाः' पद का प्रयोग होता है। एकवचन या द्विवचन में पुल्लिंग गृह शब्द का प्रयोग नहीं होता है।''

तदनन्तर निघण्टु ३.५ में अगले दस पद परिचर्या अर्थ में दिये गये हैं। ये दस धातुएँ इस प्रकार हैं—

इरज्यति। विधेम। सपर्यति। नमस्यति। दुवस्यति। ऋध्नोति। ऋणद्धि। ऋच्छति। सपति। विवासति।

यहाँ हम 'परिचरण' पद पर विचार करते हैं— यह पद 'परि' पूर्वक 'चर गतौ भक्षणे च'' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ 'सेवा करना' के साथ-२ 'सब ओर गति करना' भी है। इसके अतिरिक्त 'सब ओर से भक्षण करना' भी इसका अर्थ होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण ३.१.३ में कहा गया है— 'यजमानः परिचरः'। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि यजन प्रक्रिया को भी परिचरण कहते हैं। इस प्रकार परिचरणकर्मा जो भी दस धातुएँ यहाँ दर्शायी गई हैं, उन सबके भी ये सभी अर्थ समझने चाहिए। लोक प्रचलित 'सेवा करना' अर्थ सृष्टि विज्ञान के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। वस्तुतः हम जिस प्रकार का भाष्य कर रहे होते हैं, वैदिक पदों का तदनुकूल अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

तदुपरान्त निघण्टु ३.६ में अगले बीस नाम सुखवाचक दिये गये हैं। ये बीस नाम इस प्रकार हैं—

शिम्बाता। शतरा। शातपन्ता। शर्म। स्यूमकम्। शेवृधम्। मयः। सुग्म्यम्। सुदिनम्।

शूषम्। शुनम्। शग्मम्। भेषजम्। जलाषम्। स्योनम्। सुम्नम्। शेवम्। शिवम्। शम्। कम्।

यहाँ 'सुखम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः' अर्थात् जो इन्द्रियों के लिए अच्छा व हितकारी होता है, उसे सुख कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो इन्द्रियों का अच्छी प्रकार से धारण और पोषण करता है। ध्यातव्य है कि रुचि और सुख अर्थात् हित में महदन्तर है। रुचियाँ हमारी इच्छाओं पर निर्भर करती हैं, फिर वे चाहे हमारी इन्द्रियों का धारण और पोषण करें अथवा उनको क्षीण करें। दूसरी बात यह है कि रुचियाँ विभिन्न जीवों की पृथक्-२ हो सकती हैं, परन्तु हित प्रायः एक जैसे ही होते हैं।

यहाँ 'ख' का अर्थ इन्द्रियाँ है और इसका निर्वचन करते हुए लिखा है कि इन्द्रियों को 'ख' इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये बार-२ विषयों को खोदती रहती हैं। यहाँ गम्भीरता से विचार करें, तो सुख शब्द स्वयं में पूर्ण है, किन्तु उसकी सीमा इन्द्रियों तक है और ऐसा सुख जिससे हमारी इन्द्रियाँ दीर्घायु, नीरोग एवं बलवान् होवें, वह कदापि हेय नहीं हो सकता। आज संसार में इन्द्रियों की रुचि को ही सुख मान लिया गया है, जो नितान्त भ्रम है। हाँ, इतना अवश्य है कि सुख की पहुँच आत्मा तक नहीं है। आत्मा तक आनन्द की ही पहुँच है।

'खम्' आकाश को भी कहते हैं और सुख का एक नाम 'कम्' भी है। उधर महर्षि जैमिनी की दृष्टि में— 'प्राणो वाव कः' (जै.उ.४.२३.४)। इस प्रकार आधिदैविक दृष्टि से प्राण रश्मियों अथवा प्राणत्व को भी सुख कह सकते हैं और ये प्राण रश्मियाँ विभिन्न कणों के आच्छादक, आधार अथवा उनमें व्यापक आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करती हैं। इसी कारण प्राण रश्मियों एवं प्राणत्व को 'सुख' कहते हैं। सुखवाची सभी २० पदों को इसी प्रकार आधिदैविक दृष्टि से भी व्याख्यात किया जा सकता है।

इसके पश्चात् निघण्टु ३.७ में १६ नाम रूपवाचक दिये गये हैं, ये नाम इस प्रकार हैं—

निर्णिक्। वव्रिः। वर्पः। वपः। अमतिः। अप्सः। प्सुः। अप्नः। पिष्टम्। पेशः। कृशनम्। मरुत्। अर्जुनम्। ताम्रम्। अरुषम्। शिल्पम्।

यहाँ 'रूपम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'रूपं रोचतेः' अर्थात् जो

प्रकाशित होता है, उसे 'रूप' कहते हैं। ध्यान रहे कि किसी भी रूप का निर्माण बिना प्रकाश के सम्भव नहीं है। इस कारण इसके निर्वचन में 'रुच दीप्तौ' धातु का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः रूप एवं प्रकाश दोनों ही अग्नि तत्त्व के गुण हैं।

इसके पश्चात् निघण्टु ३.८ में प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठ के दस नाम दिये गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

अस्रेमा। अनेमा। अनेद्यः। अनवद्यः। अनभिशस्त्यः। उक्थ्यः। सुनीथः। पाकः। वामः। वयुनम्।

यहाँ किसी नाम का निर्वचन ग्रन्थकार ने नहीं किया है। इसके पश्चात् निघण्टु ३.९ में अगले ११ नाम प्रज्ञावाचक लिखे हैं। ये ग्यारह नाम इस प्रकार हैं-

केतः। केतुः। चेतः। चित्तम्। क्रतुः। असुः। धीः। शची। माया। वयुनम्। अभिख्या।

यहाँ 'प्रज्ञा' पद का अर्थ केवल उत्तम बुद्धि ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि आधिदैविक अर्थ में दृश्य पदार्थ का बोध कराने वाली प्रकाश रश्मियों को भी प्रज्ञा समझना चाहिए। इसके नामवाची 'केतुः' पद से ही हमारे इस मत की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि ग्रन्थकार ने खण्ड १२.१५ में लिखा है— 'केतवः रश्मयः'। इससे भी 'केतुः' का अर्थ 'रश्मि' होना स्पष्ट है। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अनेकत्र 'केतुः' का अर्थ 'किरण' किया है। उदाहरणतः ऋग्वेद भाष्य १.१२४.५ व १.११३.१५ में। इस प्रकार प्रज्ञा का अर्थ किरण भी होता है, क्योंकि प्रकाश की किरणें भी प्रज्ञा बुद्धि की भाँति पदार्थ के स्वरूप का यथावत् बोध कराने वाली होती हैं।

इसके अनन्तर निघण्टु ३.१० में अगले ६ नाम सत्यवाची हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

बट्। श्रत्। सत्रा। अद्धा। इत्था। ऋतम्।

'सत्यम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा' अर्थात् जो सत्पुरुषों में ही फैलता है एवं उन्हीं में उत्पन्न भी होता है, उसे सत्य कहते हैं। दुष्ट पुरुषों में न तो सत्य कभी उत्पन्न होता है और न उनमें ठहरता ही है। अब हम सत्य के आधिदैविक स्वरूप पर विचार करते हैं—

'सत्' के विषय में ऋषियों का कथन है— यत् सत् तत् साम तन्मनस्स प्राणाः (जै.उ.१.५३.२), सदमृतम् (श.ब्रा.१४.४.१.३१) अर्थात् अविनाशी पदार्थों अथवा मनस्तत्त्व एवं प्राणादि पदार्थों को 'सत्' कहते हैं और जो पदार्थ इनमें स्थित होते हैं, उन्हें 'सत्य' कहते हैं। इसलिए सत्य के विषय में ऋषियों का कथन है—

असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१),
तद्यत्तत्सत्यम् असौ सऽआदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२)।

यहाँ आदित्य लोक को 'सत्य' इसलिए कहा, क्योंकि यह मनस्तत्त्व एवं प्राण रश्मियों में स्थित होता है और उन्हीं के द्वारा धारण और पुष्ट होता है। उधर प्राण रश्मियों को सत्य इसलिए कहा, क्योंकि प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व में स्थित होती हैं और उन्हीं के द्वारा धारण की जाती हैं और पुष्ट की जाती हैं। जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। (श.ब्रा.७.५.२.६)

इसके पश्चात् निघण्टु ३.११ में अगले आठ पद दर्शन अर्थ वाले हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

चिक्यत्। चाकनत्। अचक्ष्म। चष्टे। विचष्टे। विचर्षणिः। विश्वचर्षणिः। अवचाकशत्।

यहाँ आचार्य विश्वेश्वर का कथन है—

''इन मिश्रित दर्शनार्थक आठ पदों में 'विचर्षणिः' तथा 'विश्वचर्षणिः' ये दो नामपद हैं, 'अचक्ष्म', 'चष्टे' और 'विचष्टे' ये तीन आख्यात-पद हैं एवं शेष 'चिक्यत्', 'चाकनत्' तथा 'अवचाकशत्' ये तीन नाम तथा आख्यात दोनों रूपों में प्रयुक्त होने वाले आमिश्रित पद हैं। इन्हीं का उल्लेख ऊपर निरुक्तकार ने किया है।

निरुक्त के पुराने संस्करणों में 'उत्तरे धातवश्चायतिप्रभृतीनि च नामान्यामिश्राणि' यह पाठ पाया जाता है। इसमें 'चायति' धातु का उल्लेख किया गया है। किन्तु निघण्टु के इस खण्ड में 'चायति' धातु नहीं पढ़ा है, 'चिक्यत्' धातु पढ़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकार के प्रमाद से 'चिक्यत्प्रभृतीनि' के स्थान पर 'चायतिप्रभृतीनि' लिखा जाने से पूर्व संस्करणों में 'चायतिप्रभृतीनि' पाठ छप गया है।''

आचार्य विश्वेश्वर के अतिरिक्त अन्य भाष्यकारों जैसे— स्कन्दस्वामी, पण्डित

भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर, आचार्य भगीरथ शास्त्री एवं मुकुन्द झा शर्मा तथा स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक सभी ने 'चिक्यत्' के स्थान पर 'चायति' धातु का पाठ स्वीकार किया है। हमें आचार्य विश्वेश्वर का पाठ और उसके पीछे का तर्क दोनों ही उचित प्रतीत होते हैं। इस कारण हमने उसी पाठ को स्वीकार किया है।

अन्त में निघण्टु ३.१२ में अगले नौ पद सब पदों के पाठ की दृष्टि से पढ़े गये हैं। ये नौ पद इस प्रकार हैं—

हिकम्। नुकम्। सुकम्। आहिकम्। आकीम्। नकिः। माकिः। नकीम्। आकृतम्।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''ये सब पद संयुक्त पद हैं। इनमें से प्रत्येक दो-दो या तीन-तीन पदों के योग से बना है। 'हिकम्', 'नुकम्' आदि कुछ पद 'हि' तथा 'कम्', 'नु' तथा 'कम्' इन दो-दो निपातों के योग से बने हैं। 'हिकम्' में 'हि' तथा 'कम्' दोनों निपात पद हैं। उन दोनों के योग से एक 'हिकम्' पद बना है। 'मधुना हिकं गतम्' [ऋ.२.३७.५] में इस 'हिकम्' पद का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'नुकम्' पद 'नु' तथा 'कम्' दो निपातों को मिलाकर बना है। 'इमा नुकं भुवना सीषधाम' (ऋ.१०.१५७.१) में इसका प्रयोग पदपूर्ति के लिए हुआ है। 'सुकम्' पद में 'सु' उपसर्ग तथा 'कम्' निपात दोनों का योग है। इसी प्रकार 'आकीम्' में 'आङ्' उपसर्ग तथा 'कीम्' निपात दोनों का योग है।''

अथात उपमाः। यदेतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्॥ १३॥

अब हम उपमा का निरूपण करते हैं—

जो उपमान पदार्थ से भिन्न होने पर भी उसके सदृश हो, वह उपमाओं का कर्म है अर्थात् लक्षण है, ऐसा गार्ग्य ऋषि का कथन है। अब उपमाओं का वर्गीकरण करते हुए कहते हैं—

१. इनमें प्रथम उपमा वह है, जब किसी बड़े वा प्रसिद्ध गुण के आधार पर उपमान को छोटे वा अप्रसिद्ध उपमेय पदार्थ की उपमा दी जाती है।

२. द्वितीय उपमा वह है, जब किसी छोटे वा अप्रसिद्ध उपमान पदार्थ को बड़े वा प्रसिद्ध उपमेय पदार्थ की उपमा दी जाती है।

इनमें प्रथम उपमा को हीनोपमा तथा द्वितीय उपमा को अधिकोपमा कहते हैं। अब उपमा के उदाहरण के रूप में एक मन्त्र का पूर्वार्ध अगले खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्॥ [ऋ.१०.४.६]
तनूत्यक् तनूत्यक्ता। वनर्गू वनगामिनौ।
अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते। तस्करस्तत्करोति।
तत्करो भवति यत्पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात्। सन्ततकर्मा भवति।
अहोरात्रकर्मा वा। रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। अभ्यधीतामिति अभ्यधाताम्।
ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः॥ १४॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। (ऋ.१०.४.६)

इसका ऋषि आप्त्यस्त्रितः है। [आप्त्यः = आप्त्या आप्नोतेः (निरु.११.२०)। आप्त्यम् = आप्तव्यम् (निरु.११.२१)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण, अपान एवं व्यान नामक सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म रश्मियों के त्रित से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (तनूत्यजा) 'तनूत्यक् तनूत्यक्ता' अपने फैलाव को त्यागने अर्थात् उसे अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित करने वाले एवं अपने विस्तार के नष्ट हो जाने तक सक्रिय होने वाले (वनर्गू) 'वनर्गू वनगामिनौ' [वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५), वनर्गुः स्तेननाम (निघं.३.२४)] विभिन्न रश्मियों में व्याप्त अथवा गमन करने वाली दो प्रकार की

असुर रश्मियाँ, जिनकी चर्चा हमने 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ में की है। इनमें ४ प्रकार से छन्द रश्मियों के असुर रश्मियों में परिवर्तित होने तथा २ प्रकार से प्राण रश्मियों के असुर रश्मियों में परिवर्तित होने की चर्चा की है, वे ऐसी दोनों प्रकार की असुर रश्मियाँ (तस्करा) 'तस्करस्तत्करोति तत्करो भवति यत्पापकमिति नैरुक्ता: तनोतेर्वा स्यात् सन्ततकर्मा भवति अहोरात्रकर्मा वा' उस दृश्य पदार्थ को दूर से ही प्रक्षिप्त करने में वा निकालने में अथवा बाँधकर उसके कार्यों को बाधित करने में समर्थ होती हैं, वे रश्मियाँ पातकरूप होकर दृश्य पदार्थों को बार-२ पतित करने वाली होती हैं, जिससे सृजन प्रक्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती है। इन रश्मियों को इस ग्रन्थकार से प्राचीन नैरुक्तों ने पापक बताया है। ये तस्कररूप रश्मियाँ यजन कार्य में लगे पदार्थों को अपहृत करके दूर ले जाती हैं। ये तस्कर रूप रश्मियाँ सूर्यादि लोकों के अन्दर अपना विस्तार करती रहती हैं और इस प्रकार की बाधाओं को निरन्तर बढ़ाती रहती हैं। इन रश्मियों को यहाँ अहोरात्रकर्मा कहा गया है।

[अहन् = अहरेव सविता (गो.पू.१.३३), अह: स्वर्ग: (श.ब्रा.१३.२.१.६)। रात्रि: = रात्रेर्वत्स: श्वेत आदित्य: (तै.आ.१.१०.५)। अहोरात्राणि = के अहोरात्रे इति, बृहद्रथन्तरे इति (जै.ब्रा.२.४२४)] इसका आशय यह है कि ये दोनों प्रकार की तस्कर रूप रश्मियाँ तारे के परिपक्व होने से पूर्व और पश्चात् एवं तारे के केन्द्रीय भाग और अन्य भाग तथा तारे के अन्दर बृहत् एवं रथन्तर साम रूप रश्मियों के मध्य अर्थात् सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में सक्रिय रह सकती हैं।

(रशनाभि:, दशभि:, अभ्यधीताम्) 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् अभ्यधीतामिति अभ्यधाताम्' [रशना = रशना: अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)] अर्थात् वे तस्कर रूप असुर रश्मियाँ कुल दस प्रकार की शक्तियों के द्वारा दृश्य पदार्थ को बाँधती अथवा बिखेरती हैं। यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते' अर्थात् इसी प्रकार तारों के अन्दर अग्निमन्थन की क्रिया अर्थात् उनके केन्द्र में अग्नि के उत्पन्न होने की क्रिया होती है। उस समय दो तस्कर रूप पदार्थ अर्थात् सम्पूर्ण लोक में फैले हुए दो प्रकार के पदार्थ ऊर्जा को उत्पन्न करते हैं। ध्यातव्य है कि ये तस्कर रूप पदार्थ पूर्वोक्त असुर रश्मियों से भिन्न ही नहीं होते, बल्कि ये उन तस्कर रूप पदार्थों को नष्ट करने वाले भी होते हैं। ये दो प्रकार के पदार्थ अनेक हो सकते हैं, जिनमें बृहत् एवं रथन्तर साम रश्मियाँ वा अग्नि व सोम

तत्त्व प्रमुख हैं। हम यहाँ बृहत् एवं रथन्तर साम के विषय में ही चर्चा करना पर्याप्त समझते हैं। इनके विषय में कुछ तत्त्वदर्शियों ने कहा है—

रथन्तरेणैवाग्नि श्रेष्ठतामगच्छद् बृहतेन्द्रः (जै.ब्रा.२.१३२), रथन्तरेणैव ब्राह्मण श्रेष्ठतां गच्छति बृहता राजन्यः (जै.ब्रा.२.१३२), एते वै यज्ञस्य नावौ संपारिण्यौ यद् बृहद्रथन्तरे ताभ्यामेव तत्संवत्सरं तरन्ति (ऐ.ब्रा.४.१३), पुंसो वा एतद्रूपं यद् बृहत् स्त्रियै रथन्तरम् (जै.ब्रा.३.१८९), यद् बृहद्रथन्तरे अभितो गायते रक्षसामपहत्यै (मै.सं.३.३.५), बृहद्रथन्तरे वै देवानां प्लवः (काठ.सं.३३.५)

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बृहत् एवं रथन्तर साम रश्मियाँ, जो परस्पर क्रमशः पुरुष व स्त्री की भाँति व्यवहार करती हैं तथा जिनसे क्रमशः अग्नि तत्त्व एवं ब्राह्मण संज्ञक पदार्थ तथा इन्द्र तत्त्व एवं क्षत्रिय संज्ञक पदार्थ श्रेष्ठता को प्राप्त करके बाधक असुर पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करते हुए सूर्य्यादि लोकों के निर्माण व संचालन में महती भूमिका निभाते हैं। ये दोनों प्रकार की साम रश्मियाँ भी दस रश्मियों रूपी बलों अर्थात् दस प्राण रश्मियों के द्वारा बाधक पदार्थ को नियन्त्रित करके दृश्य पदार्थ को बाँधकर अर्थात् संलयित करके ऊर्जा की उत्पत्ति करने में महती भूमिका निभाती हैं। ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में निरन्तर संचरित होती रहती हैं। पाठक बृहत् एवं रथन्तर साम रश्मियों के विषय में मद्रचित 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ का खण्ड ४.१३ पढ़ें।

ध्यातव्य है कि आधिदैविक भाष्य में उपमादि अलंकारों का वह महत्त्व नहीं है, जो आधिभौतिक व आध्यात्मिक भाष्यों में है। यहाँ 'इव' पद का अर्थ 'समान' न होकर, यह अर्थ होगा कि जब तस्कर रूप ये असुर रश्मियाँ बाधक कार्य को करने में प्रवृत्त होती हैं, तभी अग्निमन्थन हेतु बृहत् एवं रथन्तर रश्मियों के साथ ही अन्यान्य अनेक रश्मियाँ असुर रश्मियों को नियन्त्रित वा नष्ट करने हेतु सक्रिय हो उठती हैं। यहाँ असुर रश्मियों के अप्रशस्त बल से बृहत् एवं रथन्तर रश्मियों के प्रशस्त बल की उपमा दी गई है, इसलिए यह अधिकोपमा का उदाहरण है।

अब अगले खण्ड में एक अन्य मन्त्र प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥

[ऋ.१०.४०.२]

क्व स्विद्रात्रौ भवथः। क्व दिवा। क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः। क्व वसथः।
को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्मात्। द्वितीयो वर उच्यते।
विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिराः।
अपि वा धव इति मनुष्यनाम। तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा।
मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौतेः। आकुरुते सहस्थाने।

इस मन्त्र का ऋषि काक्षीवती घोषा है। इसका आशय यह है कि इस ग्रन्थ के खण्ड २.२ में वर्णित कक्ष संज्ञक रश्मि समूह से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द जगती होने से [अश्विनौ = द्यावापृथिव्यौ (निरु.१२.१), वायुविद्युतौ (म.द.ऋ.भा.३.५८.४)] प्रकाशित और अप्रकाशित कण एवं वायु और विद्युत् विस्तृत क्षेत्र में फैलने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अश्विनौ) विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित लोक वा कण (कुह, स्वित्, दोषा) 'क्व स्विद्रात्रौ भवथः' [दोषा = रात्रिनाम (निघं.१.७)। कः = प्रजापतिर्वै कः (तै.सं.१.६.८.५; मै.सं.१.१०.१०; श.ब्रा.६.४.३.४; जै.उ.३.२.१०; तै.ब्रा.२.२.५.५; जै.ब्रा.१.२९०, २.२३१; ऐ.ब्रा.२.३८; ६.२१; तां.ब्रा.७.८.३; गो.उ.१.२२; कौ.ब्रा.५.४, २४.४;), प्राणो वाव कः (जै.उ.४.२३.४)] महाप्रलयरूपी रात्रि में कहाँ रहते हैं? अर्थात् वे नष्ट होकर अपने कारणभूत पदार्थ में परिवर्तित हो जाते हैं। हमारे मत में यहाँ 'कः' को 'किम्' एवं उससे बना 'कुह' शब्द छान्दस प्रयोग है, इस कारण यहाँ इस प्रश्न का उत्तर भी छुपा हुआ है कि महाप्रलय काल में प्रकाशित और अप्रकाशित लोक वा कण प्रजापति रूप परमात्मा एवं प्रकृति में लीन हो जाते हैं अथवा वास करते हैं। (कुह, वस्तोः) 'क्व दिवा' ब्राह्मदिन अर्थात् सृष्टिकाल में वे दोनों प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोक वा कण कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में इन्हीं शब्दों के द्वारा बताया कि ये दोनों प्रकार के पदार्थ प्राण तत्त्व

में वास करते हैं, परन्तु प्राण तत्त्व स्वयं प्रकृति और ईश्वर में ही वास करते हैं। ध्यान रहे कि सृष्टिकाल में भी मूल पदार्थ प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है अर्थात् वह सम्पूर्ण रूप से सृष्टि में परिवर्तित नहीं होता। (कुह, अभिपित्वम्, करतः) 'क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः' अर्थात् सृष्टिकाल में ये दोनों पदार्थ किन पदार्थों को सब ओर से प्राप्त करते हैं? इस प्रश्न के साथ ही उत्तर देते हुए कहा कि ये दोनों पदार्थ सृष्टिकाल में विभिन्न प्राण रश्मियों को ही सब ओर से प्राप्त करते हैं।

(कुह, ऊषतुः) 'क्व वसथः' ये दोनों पदार्थ सृष्टिकाल में कहाँ बसते हैं? उनके साथ ही लिखा कि ये दोनों पदार्थ सृष्टिकाल में परमात्मा एवं प्रकृति के साथ-२ प्राण एवं मनस्तत्त्व में बसते हैं और इन्हीं के द्वारा आच्छादित रहते हैं। (कः, वाम्, शयुत्रा, विधवेव, देवरम्) 'को वां शयने विधवेव देवरम् देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधावनाद्वेति चर्मशिराः अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा देवरो दीव्य-तिकर्मा' उन दोनों का शयन स्थान क्या है? अर्थात् वे दोनों कहाँ मिलते हैं? इसका उत्तर भी इसी में निहित है कि प्रकाशित व अप्रकाशित कण प्राण तत्त्व में ही मिलते हैं। [कः = सुखं वै कम् (गो.उ.६.३), अन्नं वै कम् (मै.सं.३.३.६, ऐ.ब्रा.६.२१, गो.उ. ६.३)] इसके साथ ही ये दोनों एक-दूसरे की बल रश्मि रूपी इन्द्रियों को परस्पर उत्तमता से धारण व पुष्ट करने वा एक-दूसरे को अवशोषित करने हेतु मिलते हैं।

[वरम् = वरो वरयितव्यो भवति (निरु.१.७), वर इव वै स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.९९), स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१)] यह मिलन कब होता है, यह बतलाते हुए कहते हैं कि विधवा अर्थात् जब कोई कण अपने धारक व पोषक लोक से उत्सर्जित होकर अन्तरिक्ष में कम्पन करता हुआ विविध प्रकारेण गमन करता है, उस समय वह देवर अर्थात् किसी अन्य कण के साथ शयन करता है अर्थात् संयुक्त हो जाता है। उससे संयुक्त होकर उसकी गति अपेक्षाकृत सरल व अविक्षुब्ध हो जाती है। विधवा पद का यह निर्वचन आचार्य चर्मशिरा ने किया है, जिसे ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है।

इसी प्रकार की क्रिया तब भी होती है, जब इस ग्रन्थ के खण्ड ३.७ में वर्णित धवाः संज्ञक कण अपने साथ संयुक्त किसी अन्य कण से वियुक्त होकर यत्र-तत्र कम्पन करते हुए भटकने लगते हैं और उस समय चमकने वाले देवर अर्थात् कुछ प्रकाशित कण, तरंगाणु आदि उनसे संयुक्त हो जाते हैं।

(मर्यम्, न, योषा, आकृणुते, सधस्थे) 'मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा योषा यौतेः आकुरुते सहस्थाने' इसी प्रकार की संयोग प्रक्रिया तब होती है, जब अल्पायु वाले मनुष्य नामक कण, जिनकी व्याख्या खण्ड ३.७ में की गयी है, किसी स्त्री संज्ञक संयोज्य कण के साथ संयोग करते हैं और उस समय स्त्री संज्ञक संयोज्य पदार्थ उन अल्पायु कणों को अपने साथ धारण कर लेते हैं और उनको एक नवीन पदार्थ में परिवर्तित कर देते हैं।

ध्यातव्य है कि पूर्ववत् यहाँ भी हमने उपमावाची पदों का उपमार्थ में ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि आधिदैविक भाष्य में इसकी उपादेयता नहीं है। अब हम इस मन्त्र के आधिभौतिक अर्थ पर विचार करते हैं, जहाँ उपमा आदि अलंकारों का पूर्ण महत्त्व है—

आधिभौतिक भाष्य— (अश्विनौ) हे राजन् व राजपुरुषो! आप दोनों (कुह, स्वित्, दोषा) दुःखरूप रात्रि में कहाँ (कुह, वस्तोः) सुखरूप दिनों में कहाँ (कुह, अभिपित्वम्, करतः) एक-दूसरे को कहाँ प्राप्त करते हो अर्थात् प्रजा कल्याणार्थ कहाँ मिलते हो? कहाँ व कैसे प्रजा के सुख सम्पादनार्थ संसाधन प्राप्त करते हो? (कुह, ऊषतुः) आप दोनों कहाँ रहते हो? अर्थात् सुरक्षा व जनसामान्य की समस्याओं के समाधानार्थ आप दोनों कहाँ रहते हो? (कः, वाम्, शयुत्रा) आप दोनों का शयन वा विश्राम-स्थल कहाँ है? (विधवा, इव, देवरम्) आप दोनों प्रजाहित की कामना एवं उसी लक्ष्य को लेकर राजसभा में परस्पर उसी प्रकार मिलते हो, जैसे कोई विधवा स्त्री मात्र सन्तान प्राप्ति की इच्छा से ही अपने नियुक्त पति से मिलती है और इसके अतिरिक्त मात्र विषयासक्ति हेतु कभी नहीं मिलती और (मर्यम्, न, योषा, आकृणुते, सधस्थे) जिस प्रकार मात्र सन्तान की ही कामना करती हुई कोई पत्नी अपने पति को अपने स्थान पर बुलाती है, इसके अतिरिक्त पति व पत्नी का भी कोई शारीरिक सम्बन्ध कभी नहीं होता वा नहीं होना चाहिए।

भावार्थ— राजा व राजपुरुष (मन्त्री आदि) सदैव सुरक्षित स्थानों पर ही रहें। सुख व दुःख दोनों ही परिस्थितियों में एकमात्र प्रजा का कल्याण ही उनका लक्ष्य होना चाहिए। उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध मात्र प्रजा कल्याण की कामना के लिए ही होना चाहिए, अन्यत्र वे स्वतन्त्र रहें अर्थात् अपने व्यक्तिगत हितों में वे स्वतन्त्र रहें और प्रजाहित में वे परस्पर एक-दूसरे से बँधे रहें। यहाँ उपमा के द्वारा समझाया है कि जिस प्रकार कोई विधवा अपने नियुक्त पति से अथवा कोई पत्नी अपने पति से केवल सन्तानोत्पत्ति की कामना से ही मिलती है, मात्र विषयसुख हेतु नहीं। उसी प्रकार राजा एवं अमात्यों को

व्यक्तिगत हितों में स्वतन्त्र व प्रजाहित में सभा आयोजित करते रहकर उचित विचार-विमर्श करते रहना चाहिए। यहाँ बार-२ 'कहाँ' प्रश्नवाचक पद का प्रयोजन यही है कि राजा और राजपुरुषों को अपना वास बहुत सावधानी से चुनना चाहिए, जिससे वे आपातकाल में कभी भी अपने व प्रजा के रक्षण व पालन हेतु तत्काल मिलकर निर्णय कर सकें। इसके साथ ही सुख व दुःख दोनों में उनकी नीतियाँ सदैव प्रजाहित का रक्षण करने वाली ही होनी चाहिए।

यह उपमा का दूसरा उदाहरण हुआ।

अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः। यथेति कर्मोपमा॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति॥ [ऋ.५.७८.८]
भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ [ऋ.१.५०.३]
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥ [ऋ.१०.९७.११]
आत्माऽततेर्वा। आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्यात्। यावद् व्याप्तिभूत इति।
अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः॥ [ऋ.१०.७८.२]
अग्निरिव ये। मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का।
भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः॥ १५॥

अब निपात संज्ञक पदों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि इनकी व्याख्या पूर्व में प्रथम अध्याय में की जा चुकी है, किन्तु उनकी यहाँ विशेष चर्चा प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि कुछ निपात उपमा अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। इसके उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि 'यथा' संज्ञक निपात क्रिया की उपमा में प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण रूप में ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ (ऋ.५.७८.८)

इस मन्त्र का ऋषि सप्तवध्ररात्रेय है। इसका आशय है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अत्रि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सृष्टि प्रक्रिया को बढ़ाने वाली प्राण, अपान,

व्यान, उदान, समान, देवदत्त एवं धनञ्जय प्राण रश्मियों के समूह से अथवा सबमें व्याप्त मनस्तत्त्व से उत्पन्न सात महाव्याहृति रूप रश्मियों के समूह से होती है। इसका देवता अश्विनौ एवं छन्द निचृत् अनुष्टुप् है। इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से 'अश्विनौ' अर्थात् वायु एवं अग्नि तत्त्व तेजस्वी होते हैं एवं इनके क्षेत्र में विद्यमान सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ अधिकाधिक सक्रिय होने लगती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यथा, वातः) जिस प्रकार वायु तत्त्व अर्थात् कथित वैक्यूम एनर्जी (यथा, वनम्) जिस प्रकार अग्नि तत्त्व की रश्मियाँ अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं विद्युत् आवेशित कण तथा (यथा, समुद्रः) [समुद्रः = एष वाव स समुद्रः यच्चात्वालः (तै.ब्रा. १.५.१०.१), एषा (चात्वालः) वा अग्नीनाः योनिः (मै.सं.३.९.७), अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] जिस प्रकार निर्माणाधीन आदित्य लोक का आकाश तत्त्व, ये तीनों (एजति) थरथराते हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण क्षेत्र जैसे-२ तीव्रता से कम्पन करने लगता है।

(एवा) [यहाँ 'एवा' पद 'एव' का निपातित रूप है] वैसे-२ अथवा उसी प्रकार (त्वम्, दशमास्य) दस मास रश्मियों से युक्त [पञ्चर्तवः संवत्सरस्य (श.ब्रा.१.५.२.१६), पञ्चर्तवो हेमन्त-शिशिरयोः समानेन (ऐ.ब्रा.१.१), पञ्चानां त्वर्तूनां यन्त्राय धर्त्राय (आज्यं) गृह्णामि (तै.सं. १.६.१.२), यन्त्रम्-यत्रि संकोचने] वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शिशिर, इन पाँच ऋतुओं की कुल दस मास रश्मियों के द्वारा निर्माणाधीन आदित्य लोक के संकुचन की क्रिया होती है। इन सभी रश्मियों के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' पठनीय है। यद्यपि तारों के निर्माण में अनेक प्रकार की रश्मियों की भूमिका होती है, परन्तु मास रश्मियों के अभाव में प्रायः कोई भी छन्द रश्मि संयोजन और संघनन का कार्य नहीं कर सकती। इस कारण ही यहाँ आदित्य लोक को दशमास्य कहा है।

(सह, जरायुणा) [जरते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), जरते गृणाति (निरु.४.२४)] ऐसा वह आदित्य लोक घोष उत्पन्न करते हुए चमकीले आवरण के साथ (अवेहि) [आगच्छ-ऋषि दयानन्द भाष्य] प्रकट वा उत्पन्न होता है।

भावार्थ— जब कॉस्मिक मेघ एवं उसके बाहर विद्यमान वायु तत्त्व, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों व विद्युत् कणों एवं आकाशतत्त्व में तेज कम्पन-थरथराहट होने लगती है, उस समय पाँच ऋतु (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् व शिशिर) रश्मियों की दसों मास रश्मियों के द्वारा उस मेघ के संकुचन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक

के निर्माण के समय सम्पूर्ण मेघ तेजी से थरथराता हुआ सिकुड़ने लगता है। उस समय गम्भीर घोष करता हुआ वह आदित्य लोक चमकीले आवरण के साथ प्रकट होता है। वस्तुतः यह घटना उस समय होती है, जब वह तप्त मेघ विखण्डित होकर बाहरी भाग को दूर फेंक देता है, जिससे ग्रहों की उत्पत्ति होती है और केन्द्रीय भाग तारे का रूप ले लेता है। उस समय वह नवनिर्मित तारा अन्य लोकों की अपेक्षा बहुत चमकीला होता है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (यथा) येन प्रकारेण (वातः) वायुः (यथा) (वनम्) जङ्गलम् (यथा) (समुद्रः) उदधिः (एजति) कम्पते चलति वा (एवा) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (त्वम्) (दशमास्य) दशसु मासेषु जातः (सह) (अव) (इहि) आगच्छ (जरायुणा) देहावरणेन।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः- स एव गर्भस्तत्स्थो बालकश्चोत्तमो जायते यो दशमे मासे जायते।

पदार्थ— हे (दशमास्य) दश महीनों में उत्पन्न हुए (यथा) जिस प्रकार से (वातः) वायु और (यथा) जिस प्रकार से (वनम्) जङ्गल (यथा) जिस प्रकार से (समुद्रः) समुद्र (एजति) कम्पित होता वा चलता है, वैसे (एवा) ही (त्वम्) आप (जरायुणा) देह के ढांपने वाले के (सह) सहित (अव, इहि) आइये।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है— वही गर्भ और उसमें स्थित बालक उत्तम होता है, जो दशवें महीने में होता है।''

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का कथन मननीय है कि ''जहाँ श्रेष्ठोपमा होती है, वहाँ 'यथा' उदात्त होता है और जहाँ हीनोपमा होती है, वहाँ 'यथा' सर्वनिघात होता है।''

अब अगला मन्त्रांश उद्धृत किया गया है, जिसके स्थान पर हम सम्पूर्ण मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं—

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ (ऋ.१.५०.३)

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व है। [कण्वः = मेधाविनाम (निघं.३.१५)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीव्रता से कार्य करते हुए सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता

सूर्य और छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में विद्यमान पदार्थ के विद्युत् तेज में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (यथा) जिस प्रकार से (अस्य) इस सूर्यलोक के अन्दर (अग्नयः) अग्नि तत्त्व (भ्राजन्तः) प्रकाशमान होता है अर्थात् सूर्यलोक के अन्दर जिस मात्रा में ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, (केतवः, वि, रश्मयः) प्रकाश की विशेष व्यापनशील तरंगें (जनान्, अनु) विभिन्न उत्पन्न अप्रकाशित लोकों को उसी के अनुसार (अदृश्रम्) प्रकाशित करती हैं।

भावार्थ— किसी तारे से आने वाले प्रकाश की तीव्रता एवं स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि उस तारे के अन्दर कितनी मात्रा में और किस प्रकार की ऊर्जा की उत्पत्ति हो रही है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (अदृश्रम्) प्रेक्षेयम्। अत्र लिङर्थे लङ् शपो लुक् रुडागमश्च। (अस्य) सूर्य्यस्य (केतवः) ज्ञापकाः (वि) विशेषार्थे (रश्मयः) किरणाः (जनान्) मनुष्यादीन्प्राणिनः (अनु) पश्चात् (भ्राजन्तः) प्रकाशमानाः (अग्नयः) प्रज्वलिता वह्नयः (यथा) येन प्रकारेण।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा प्रदीप्ता अग्नयः सूर्य्यादयो बहिः सर्वेषु प्रकाशन्ते तथैवान्तरात्मनीश्वरस्य प्रकाशो वर्त्तते। एतद्विज्ञानाय सर्वेषां मनुष्याणां प्रयत्नः कर्त्तुं योग्योऽस्ति तदाज्ञया परस्त्रीपुरुषैः सह व्यभिचारं सर्वथा विहाय विवाहिताः स्व स्व स्त्रीपुरुषा ऋतुगामिन एव स्युः।

पदार्थ— (यथा) जैसे (अस्य) इस सविता के (भ्राजन्तः) प्रकाशमान (अग्नयः) प्रज्वलित (केतवः) जनाने वाली (रश्मयः) किरणें (जनान्) मनुष्यादि प्राणियों को (अनु) अनुकूलता से प्रकाशित करती हैं, वैसे मैं अपनी विवाहित स्त्री और अपने पति ही को समागम के योग्य देखूं अन्य को नहीं।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे प्रज्वलित हुए अग्नि और सूर्य्यादिक बाहर सब में प्रकाशमान हैं, वैसे ही अन्तरात्मा में ईश्वर का प्रकाश वर्त्तमान है। इसके जानने के लिये सब मनुष्यों को प्रयत्न करना योग्य है, उस परमात्मा की आज्ञा से परस्त्री के साथ

पुरुष और परपुरुष के संग स्त्री व्यभिचार को सब प्रकार छोड़ के पाणिगृहीत अपनी अपनी स्त्री और अपने-अपने पुरुष के साथ ऋतुगामी ही होवें।''

तदनन्तर ग्रन्थकार ने एक मन्त्र के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है। हम यहाँ उस सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥ (ऋ.१०.९७.११)

इस मन्त्र का ऋषि आथर्वणो भिषक् है। [अथर्वाण: = अथर्वाणोऽथनवन्त: थर्वतिश्चर-तिकर्मा तत्प्रतिषेध: (निरु.११.१८), अथर्वणोऽहिंसकस्यापत्यम् (म.द.ऋ.भा.१.११६.१२)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अपेक्षाकृत शान्त एवं न्यून गति वाली नाग प्राण रश्मियों, जो विभिन्न विकृत प्रक्रियाओं को परिशुद्ध करने में सहायक होती हैं, से होती है। इसका देवता ओषधीस्तुति तथा छन्द अनुष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से [औषध: = औषधो वै सोमो राजा (ऐ.ब्रा.३.४०)] सोम रश्मियाँ तेजस्वी होने लगती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यत्, अहम्) जब मैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणरूप रश्मियाँ, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, (वाजयन्) सभी पदार्थों को विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा बल प्रदान करते हुए (इमा:, ओषधी:) सोम रश्मियों को (हस्ते, आदधे) अपने आकर्षण आदि बलों के द्वारा सब ओर से धारण करती हैं अर्थात् उस क्षेत्र में नाग प्राण रश्मियाँ विशेष सक्रिय होने लगती हैं।

(यक्ष्मस्य, आत्मा) 'आत्माऽततेर्वा आप्तेर्वा अपि वाप्त इव स्यात् यावद् व्याप्तिभूत इति' [आत्मा = आत्मा वै तनू: (श.ब्रा.६.७.२.६)] सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं को यक्ष्मा रोग की भाँति क्षीण करने वाली असुर रश्मियों की सतत विनाशक गति एवं फैलाव (पुरा, नश्यति) नाग रश्मियों के प्रभाव से पूर्व में ही नष्ट हो जाती है। नाग रश्मियों के प्रभाव को जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोक:' ४.२९ एवं ४.३० पठनीय है। यह कब नष्ट होता है, इसके उत्तर में लिखा कि (जीवगृभ:, यथा) जब सोम अथवा विभिन्न छन्द रश्मियाँ प्राण रश्मियों को धारण करती हैं। ध्यातव्य है कि जब छन्द अथवा मरुत् एवं प्राण रश्मियों का अनुकूल मेल होता है, उस समय उनके मध्य कोई भी असुर रश्मि बाधक नहीं बनती,

बल्कि वह वहीं नष्ट हो जाती है।

आध्यात्मिक भाष्य— (यत्, अहम्) धर्मात्माओं के दुःखों को दूर करने वाला मैं एक निश्चल परब्रह्म जब (वाजयन्) उन सत्पुरुषों को आत्मबल प्रदान करते हुए (इमाः, ओषधीः, हस्ते, आदधे) [ओषधयः = ओषद् धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा (निरु. ९.२७)] उनके दाहक दोषों को पीने अर्थात् नष्ट करने वाले परमानन्द को अपने हाथों में धारण करता हूँ अर्थात् उनके दोषों को हर लेता हूँ। [हस्तः = हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने (निरु.१.७)] मैं ऐसे धर्मात्मा जनों के दोषों को अतिशीघ्र हर लेता हूँ।

(यक्ष्मस्य, आत्मा) इस प्रकार उनके आत्मबल एवं उत्तम संस्कारों को क्षीण करने वाले दोषों का आत्मा अर्थात् आत्मारूप मूल कारण अज्ञान (पुरा, नश्यति) ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व ही अर्थात् योग साधना के सतत अभ्यास से ध्यान की प्रक्रिया परिपक्व होते ही उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, किंवा समाधि के द्वारा पूर्णतः नष्ट हो जाता है, [पुरा = पूर्ण रूप से (आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री वेद-भाष्य)] (जीवगृभः, यथा) जिस प्रकार कोई प्राणी मृत्यु के पाश में फँसते ही मर जाता है, किंवा मृत्यु के भय के कारण पूर्व में ही अपने प्राण त्याग देता है।

इसका **आधिभौतिक भाष्य** स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस प्रकार किया है और हम भी इस भाष्य से सहमत हैं।

''**सं. अन्वयार्थः** — (यत्-अहम् वाजयन्) यदाऽहं रोगिणे बलं स्वास्थ्यबलं प्रयच्छन् (इमाः-ओषधीः-हस्ते-आदधे) एना ओषधीः स्वहस्ते गृह्णामि (तदा यक्ष्मस्य-आत्मा पुरा नश्यति) रोगस्य स्वरूपं मूलं पूर्वमेव नष्टं भवति (जीवगृभः यथा) जीवानां ग्रहीतुः सकाशाद् जीवाः पलायन्ते तथा।

भा. अन्वयार्थ— (यत्) जब (अहम्) मैं (वाजयन्) रोगी के लिए स्वास्थ्य बल को देता हुआ-देने के हेतु (इमाः) इन (ओषधीः) ओषधियों को (हस्ते) हाथ में (आदधे) चिकित्सा के लिए लेता हूँ— ग्रहण करता हूँ, तो (यक्ष्मस्य) रोग का (आत्मा) आत्मा-स्वरूप या मूल (पुरा) पूर्व ही (नश्यति) नष्ट हो जाता है, (जीवगृभः, यथा) जीवों के ग्रहण करने वाले पकड़ने वाले के पास से जीव जैसे भाग जाते हैं।

भावार्थ— वैद्य चिकित्सा करने में ऐसे कुशल हों तथा प्रसिद्ध हों कि जैसे ही ओषधियों

को चिकित्सा के लिए प्रयोग करें रोगी को यह अनुभव हो कि ओषधी सेवन से पहले ही मेरा रोग भाग रहा है तथा वैद्य भी ओषधी देने के साथ-साथ उसे आश्वासन दे कि तेरा रोग तो अब जा रहा है।''

अब अगले उदाहरण के रूप में ऋ.१०.७८.२ के प्रथम पाद को उद्धृत करते हैं। यह सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्य ऊतयः।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते॥ (ऋ.१०.७८.२)

इस मन्त्र का ऋषि स्यूमरश्मि भार्गव है। [भृगुः = अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुर्भृज्यमानो न देहे (निरु.३.१७)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की ज्वालाओं में विद्यमान अनेक रश्मियों के संयुक्त रूप से होती है। इसका देवता मरुतः तथा छन्द विराड् जगती है, इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ प्रकाशमान होती हुई फैलती जाती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (ये) जो मरुत् रश्मियाँ (अग्निः, न, भ्राजसा) अग्नि तत्त्व के समान तेजयुक्त (रुक्मवक्षसः) [वक्षः = वक्षो भासोऽध्यूढम् इदमपीतरद्वक्षः एतस्मादेव अध्यूढं काये (निरु.४.१६)। रुक्मः = असौ वाऽआदित्य एष रुक्मः (श.ब्रा.६.७.१.३), हिरण्यनाम (निघं.१.२)] आदित्य लोक के उभरे एवं तेजस्वी भागों में विद्यमान (वातासः, न, स्वयुजः) विभिन्न वायु रश्मियों के समान स्वयं परस्पर संयुक्त होने के स्वभावयुक्त (सद्यः, ऊतयः) अपना एवं विभिन्न कणों वा तरंगों का त्वरित संरक्षण करने, उन्हें परस्पर मिलाने, विभिन्न पदार्थों में प्रविष्ट होने में त्वरित रूप से समर्थ होती हैं। (प्रज्ञातारः, न, ज्येष्ठाः) प्राण वा मनस्तत्त्व के समान श्रेष्ठ प्रकाशक अर्थात् इनके बिना प्राण रश्मियाँ प्रकाशमान नहीं हो सकतीं। (सुनीतयः, सुशर्माणः, न, सोमाः) उत्तम वहन कर्म करने तथा विभिन्न पदार्थों को शर्म अर्थात् गृह वा आश्रय वा बल प्रदान करने वाली मरुत् रश्मियाँ सबके लिये प्रेरक और उत्पादिका के समान कार्य करती हैं। (ऋतम्, यते) इन मरुत् रश्मियों के सभी कार्य [ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०), ऋतस्य यज्ञस्य (निरु.६.२२)] सूर्यादि तेजस्वी लोकों के निर्माण तथा नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए होते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के प्रथम पाद के व्याख्यान में लिखा है— 'अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः'। [उरः = उरस् त्रिष्टुभः (श.ब्रा. ८.६.२.७)] इसका आशय भी यही है, जो हमने ऊपर मन्त्र में दर्शाया है। यहाँ इतना विशेष है कि ये मरुत् रश्मियाँ संदीप्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के समान अग्निरूप में होती हैं। इसके आधिभौतिक अर्थ के लिए आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री और आध्यात्मिक अर्थ के लिए स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य सन्तोषजनक कहा जा सकता है। इस कारण पाठक उन्हें पढ़ सकते हैं। हमने विस्तारभय से आधिदैविक भाष्य ही प्रस्तुत किया है।

ये उपमावाची निपातों के उदाहरण हैं अर्थात् उपमावाची तीसरे उदाहरण हैं।

* * * * *

षोडशः खण्डः

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥

[ऋ.१.४१.९]

चतुरश्चिद् अक्षान् धारयत इति।
तद्यथा कितवाद् बिभीयादेवमेव दुरुक्ताद् बिभीयात्।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित्।

इस मन्त्र का ऋषि घोरः कण्व है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विक्षुब्ध हुई कुछ सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता वरुणमित्रार्यम्णः तथा छन्द निचृत् गायत्री है। इसका तात्पर्य यह है [अर्यमा = यज्ञो वा अर्यमा (तै.ब्रा.२.३.५.४), सूत्रात्मा वायु (म.द.य.भा.३४.५७)] कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ तीव्र तेज और बल से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य—

(चतुरः, चित्, ददमानात्) 'चतुरश्चिदक्षान्धारयत इति' [ददतेर्धारयतिकर्मा (निरु.२.२)। अक्षः = अक्षाः परिधयः (मै.सं.४.५.९)] चार प्रकार की परिधियों को धारण करते हुए

(आ, निधातोः, बिभीयात्) 'तद्यथा कितवाद् बिभीयात्' कितव अर्थात् तेज को हरने, विद्युत् को नष्ट करने एवं वैद्युत् तेज में आश्रित होकर विभिन्न पदार्थों को परस्पर दूर फेंकने की क्षमता वाले कितव नामक पदार्थ के कारण उसके अधीनस्थ विभिन्न पदार्थ कम्पन करने लगते हैं अथवा विक्षुब्ध हो जाते हैं। 'कितव' नामक पदार्थ के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.१९.१ पठनीय है। इसके विषय में स्वयं ग्रन्थकार निरुक्त ५.२२ में लिखते हैं— 'श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्वं पुनराश्रितं भवति'। हमने ग्रन्थकार के इन्हीं भावों के अनुसार 'वेदविज्ञान-आलोकः' के उपर्युक्त प्रसङ्ग में कितव पद की व्याख्या की है। (दुरुक्ताय) 'एवमेव दुरुक्ताद् बिभीयात्' इसी प्रकार से दुष्ट वाणी वाले अर्थात् बाधक असुरादि पदार्थ से देव पदार्थ विक्षुब्ध एवं कम्पित होता है। (न, स्पृहयेत्) 'न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित्' सृष्टि के देव अर्थात् दृश्य पदार्थ इन असुर पदार्थों के साथ संगत नहीं होना चाहते हैं अर्थात् वे इनके साथ कभी-भी संगत नहीं होते हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में असुर पदार्थ से कुछ समानता रखने वाले कितव नामक पदार्थ के कारण भी दृश्य पदार्थ विक्षुब्ध और कम्पित होता रहता है। दृश्य पदार्थ का इन दोनों ही प्रकार के बाधक पदार्थों से कभी मेल नहीं होता।

अब हम ऋषि दयानन्द का **आधिभौतिक भाष्य** प्रस्तुत करते हैं-

''**पदार्थः** — (चतुरः) घ्नन्तं शपन्तं द्वावुक्तौ। द्वौ वक्ष्यमाणौ (चित्) अपि (ददमानात्) दुःखार्थं विषादिकं प्रयच्छतः (बिभीयात्) भयं कुर्य्यात् (आ) आभिमुख्ये (निधातोः) अन्यायेन परपदार्थानां स्वीकर्तुः (न) निषेधार्थे (दुरुक्ताय) दुष्टमुक्तं येन तस्मै (स्पृहयेत्) ईप्सेदाप्तुमिच्छेत्।

भावार्थः — मनुष्यैर्दुष्टकर्म्मकारिणां दुष्टवचसां सङ्गविश्वासौ कदाचिन्नैव कार्यौ मित्रद्रोहा-पमानविश्वासघाताश्च कदाचिन्नैव कर्त्तव्या इति।

पदार्थ— मनुष्य (चतुरः) मारने, शाप देने और (ददमानात्) विषादि देने और (निधातोः) अन्याय से दूसरे के पदार्थों को हरने वाले इन चार प्रकार के मनुष्यों का विश्वास न करे (चित्) और इन से (बिभीयात्) नित्य डरे और (दुरुक्ताय) दुष्ट वचन कहने वाले मनुष्य के लिये (न स्पृहयेत्) इन पाँचों को मित्र करने की इच्छा कभी न करे।

भावार्थ— मनुष्य दुष्ट कर्म्म करने वा दुष्ट वचन बोलने वाले मनुष्यों का संग, विश्वास

और मित्र से द्रोह, दूसरे का अपमान और विश्वासघात आदि कर्म्म कभी न करें।''

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथाप्युपमार्थे दृश्यते।
जार आ भगम्॥ [ऋ.१०.११.६]
जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रेर्जरयिता।
स एव भासाम्। तथापि निगमो भवति।
स्वसुर्जारः शृणोतु नः॥ [ऋ.६.५५.५] इति।
उषसमस्य स्वसारमाह। साहचर्यात्। रसहरणाद्वा।
अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात्। स्त्रीभगस्तथा स्यात्। भजतेः।

'आ' उपसर्ग की व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है। यह उपसर्ग उपमा अर्थ में भी देखा जाता है। इसके लिए एक मन्त्रांश प्रस्तुत किया गया है। उस मन्त्र का एक पाद इस प्रकार है—

उदीरय पितरा जार आ भगम्। (ऋ.१०.११.६)

आधिदैविक भाष्य— (जारः, आ, भगम्) 'जार इव भगम् आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता स एव भासाम्' अर्थात् रात्रि को जीर्ण करने वाला होने से सूर्यलोक को जार कहा गया है। [भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९), भगो वा असौ (द्यौः) (जै.ब्रा. १.३३०)] यह सूर्यलोक जिस प्रकार रात्रि को जीर्ण करता है, उसी प्रकार द्युलोक में स्थित विभिन्न नक्षत्रों की आभा को भी जीर्ण करता है। [जरयिता = जरति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), जरतेः स्तुतिकर्मणः (निरु.१०.८)] इसके साथ ही यह सूर्यलोक सृष्टि की अनेक सृजन क्रियाओं को संदीप्त वा सक्रिय करता है। (पितरा, उदीरय) उसी प्रकार अग्नि तत्त्व समस्त द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न और समृद्ध करता है। यहाँ हमने 'अग्नि' पद का अध्याहार किया है। इसका कारण यह है कि इस मन्त्र का देवता ही अग्नि है।

इसके **आधिभौतिक अर्थ** में 'जारः' का अर्थ वयोवृद्ध विद्वान् वा राजा तथा 'भगः' का अर्थ ऐश्वर्य है। इस कारण यहाँ कहा गया है कि जब कोई प्रसिद्ध विद्वान् वा राजा शरीर से जीर्ण हो जाता है, तब जिस प्रकार उसका ऐश्वर्य भी क्षीण हो जाता है, उसी

प्रकार शिष्यों वा प्रजाजनों का समाज व सुख भी क्षीण होने लगता है।

अब इसी प्रकार एक और मन्त्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः'। हम यहाँ इस मन्त्रांश से ही मन्त्रगत विज्ञान को यथावत् नहीं समझ सकते, इस कारण सम्पूर्ण मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं—

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥ (ऋ.६.५५.५)

इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाज बार्हस्पत्य है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता पूषा तथा छन्द गायत्री है। [पूषा = असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२), पूषा विशां विट्पतिः (तै.ब्रा.२.५.७.४)] इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में प्रकाशादि की तीव्रता में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (इन्द्रस्य, भ्राता) [भ्राता = भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः (निरु.४.२६)] इन्द्र अर्थात् तीव्र विद्युत् युक्त वायु अथवा सूर्यलोक का भ्राता अर्थात् वायु तत्त्व वा अग्नि (सखा, मम) मेरे अर्थात् प्राण तत्त्व के समान प्रकाशित होता है किंवा प्राण तत्त्व के सख्य में प्रकाशित होता है। (मातुः) [माता = माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरु.२.८), सोमो दाधार अन्तरिक्षम् (ऋ.६.४७.४)] यह प्राण नामक प्राण तत्त्व (दिधिषुम्) अन्तरिक्ष को धारण करने वाले सोम तत्त्व अर्थात् मरुद् रश्मियों को सक्रिय किंवा विभिन्न यजन प्रक्रियाओं को सम्पन्न करने में समर्थ बनाने के लिए उन्हें (अब्रवम्) प्रकाशित करता है। (स्वसुः, जारः, शृणोतु, नः) [स्वसा = अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)] इन रश्मियों के विषय में हम पूर्व में ३.८ में लिख चुके हैं। इन प्रक्षेपक स्वसा नामक रश्मियों को जीर्ण करने वाली रश्मियाँ प्राण नामक प्राण रश्मियों की ओर गमन करती हैं।

भावार्थ— आकाश तत्त्व (स्पेस) को धारण करने वाली लघु छन्द रश्मियों को प्राण नामक प्राण रश्मियाँ बल प्रदान करती हैं अथवा इस प्रक्रिया में इनकी विशेष भूमिका होती है। उधर ऐसी कुछ छन्द रश्मियाँ, जो अव्यवस्थित रूप से विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होकर असुर रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, उन असुर रश्मियों को ये प्राण नामक प्राण रश्मियाँ नियन्त्रित करके शान्त करती हैं अथवा उन्हें देव रश्मियों में भी परिवर्तित कर

सकती हैं। ऐसी असुर रश्मियों के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ पठनीय है।

अब हम ऋषि दयानन्द का **आधिभौतिक भाष्य** प्रस्तुत करते हैं—

''**पदार्थः** — (मातुः) जनन्याः (दिधिषुम्) धारकम् (अब्रवम्) ब्रूयाम् (स्वसुः) भगिन्या इवोषसः (जारः) निवारयिता (शृणोतु) (नः) अस्माकम् (भ्राता) बन्धुरिव (इन्द्रस्य) विद्युतः (सखा) (मम)।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यथाऽग्नेः सखा वायुरस्ति रात्रेर्निव-र्त्तकः सूर्य्यश्च तथैव धार्मिका मम सखायोऽहं च तेषां सुहृद् भूत्वा रात्रिमिव वर्त्तमानामविद्यां वयं निवारयेम।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (इन्द्रस्य) बिजुली के (भ्राता) भ्राता के समान (मम) मेरा (सखा) मित्र (नः) हम लोगों के (दिधिषुम्) धारण करने वाले को (शृणोतु) सुने और जो (स्वसुः) भगिनी के समान उषा का (जारः) निवारण करने वाला (मातुः) माता का धारण करने वाला है, उसको मैं (अब्रवम्) कहूँ और उसको सब जानें।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जैसे अग्नि का मित्र वायु है और रात्रि का निवारण करने वाला सूर्य भी है, वैसे ही धार्मिक मेरे मित्र और मैं भी उनका मित्र होकर रात्रि के समान वर्त्तमान अविद्या का हम सब निवारण करें।''

अब हम यहाँ ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्रांश और उसके अर्थ पर ही विचार करते हैं। वह मन्त्रांश है— 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' और यहाँ निरुक्तकार का कथन है— 'उषसमस्य स्वसारमाह साहचर्यात् रसहरणाद्वा'। यहाँ उषा को आदित्य लोक की स्वसा कहा गया है। इसका कारण बताते हुए कहा है कि उषा सूर्य के साथ ही गमन करती है। जब-जब सूर्योदय होता है, तब-तब उषाकाल की लालिमा उत्पन्न होती है और दूसरा कारण बताया कि उषाकाल की किरणें सूर्य की अन्य किरणों की भाँति पृथिवी आदि लोकों पर विभिन्न पदार्थों में विद्यमान जल का अवशोषण करती हैं। ऐसी उषा को सूर्यलोक ही जीर्ण करता है और उषाकाल समाप्त होकर सूर्य के चढ़ने के साथ ही लालिमा समाप्त हो जाती है। इसी कारण सूर्य को स्वसारूपी उषा का जार अर्थात् उसे जीर्ण करने वाला कहा गया है। यहाँ 'जरते' धातु का अर्थ स्तुति अर्थात् प्रकाशित करना ग्रहण करें, तब भी उचित है। इससे सूर्यलोक उषा का प्रकाशक सिद्ध होता है, जो

सर्वविदित है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'जारः' का एक अन्य अर्थ ग्रहण करते हुए लिखा है— 'अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात् स्त्रीभगस्तथा स्यात् भजतेः'। यहाँ मनुष्य पद से वे कण ग्रहण करने चाहिए, जिनकी चर्चा पूर्व खण्ड ३.७ में की गई है। वहाँ मनुष्य नामक पदों में पञ्चजन भी एक पद दिया गया है, जिनमें गन्धर्व एवं देव नामक दो प्रकार के पदार्थ भी सम्मिलित हैं। इनमें गन्धर्व पुरुष रूप व देव स्त्री रूप में व्यवहार करते हैं। उधर असुर एवं राक्षस संज्ञक पदार्थ इन दोनों के संयोग में बाधा डालने का प्रयास करते हैं। इसलिए इन दोनों को मनुष्य-जार कहा जा सकता है, जो स्त्री संज्ञक देव एवं गन्धर्व पदार्थों के भग अर्थात् [भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९)] संयोग प्रक्रिया को जीर्ण करते हैं। यजन प्रक्रिया को 'भग' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें संयुक्त होने वाले पदार्थ एक-दूसरे से उत्सर्जित होने वाली रश्मियों का सेवन करते हैं अर्थात् उन रश्मियों के द्वारा ही यजन प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

मेष इति भूतोपमा।
मेषो भूतोऽभि यन्नयः॥ [ऋ.८.२.४०]
मेषो मिषतेः। तथा पशुः पश्यतेः।

'मेष' यह पद भूत शब्द के साथ उपमावाची है अर्थात् 'मेषो भूतः' में इन्द्र की प्राणी के साथ उपमा दी गई है। इसके लिए एक मन्त्र का अन्तिम एक पाद उद्धृत किया गया है। यहाँ हम पूरा मन्त्र उद्धृत कर रहे हैं—

इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम्।
मेषो भूतोऽभि यन्नयः॥ (ऋ.८.२.४०)

इस मन्त्र का ऋषि मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की ज्वालाओं के मध्य विद्यमान सूत्रात्मा वायु की विशेष संगमनीय रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द आर्षी विराट् गायत्री है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व प्रकाश और बल से समृद्ध होता है।

आधिदैविक भाष्य— (अद्रिवः) [अद्रिवः = अद्रिवन् (निरु.४.४)। अद्रिः = मेघनाम

(निघं.१.१०)] जिसमें अनेक तन्मात्राओं के विशाल मेघ विद्यमान हैं, ऐसा वह इन्द्र तत्त्व (इत्था) पूर्व मन्त्र में दर्शाए हुए कर्मों से (धीवन्तम्) नाना प्रकार की क्रियाओं एवं नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों से समृद्ध, (काण्वम्) सूत्रात्मा वायु रश्मियों से समृद्ध अथवा उनसे उत्पन्न (मेध्यातिथिम्) संगमन प्रक्रियाओं को समृद्ध करने वाली एवं सूर्यलोक में निरन्तर प्रवाहित होने वाली धाराओं को (मेषः, भूतः) 'मेषो मिषतेः तथा पशुः पश्यतेः' उनके साथ स्पर्धा करता हुआ और उनके अन्दर बलों को सिंचित वा प्रवाहित करता हुआ (अभियन्) उनके पार्श्ववर्ती होकर अर्थात् उनके सम्मुख गमन करता हुआ (अयः) उन्हें गति प्रदान करता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने इन्द्र तत्त्व को मेष अर्थात् नर भेड़ की उपमा दी है। इसका तात्पर्य भी यही है कि जिस प्रकार नर भेड़ मादाओं की अपेक्षा बलवान् होकर उनको नेतृत्व प्रदान करता है, उनको अपनी ओर आकर्षित करता हुआ, साथ ही उनसे सन्तान उत्पन्न करता हुआ गमन करता रहता है। उसी प्रकार सूर्यादि लोकों के अन्दर इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कणों व रश्मियों की धाराओं से स्पर्धा करता हुआ, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ और उनके साथ संयोग करके नाना प्रकार के तरंगादि पदार्थों को उत्पन्न करता हुआ निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। ध्यातव्य है कि यहाँ 'दृशिर् दर्शने' धातु इच्छा अर्थात् आकर्षण अर्थ में प्रयुक्त है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १.२४.१ मन्त्र के 'दृशेयम्' पद का भाष्य 'इच्छां कुर्याम्' किया है और जड़ पदार्थों में इच्छा करने का अर्थ आकर्षित करना ही होता है।

भावार्थ— सूर्यलोक के अन्दर अनेक प्रकार के मेघ विद्यमान होते हैं, उनमें से कुछ मेघ ऐसे होते हैं, जिनमें अत्यन्त तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें विद्यमान होती हैं। इस कारण वे मेघ स्वयं ही इन्द्र रूप हो जाते हैं। इनमें नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। ये विद्युत् से अत्यन्त समृद्ध मेघ सूर्यलोक में निरन्तर बहने वाली धाराओं को सिंचित करते हुए उनके पार्श्ववर्ती भाग में गमन करते हुए उन्हें तीव्र गति प्रदान करते हैं।

अग्निरिति रूपोपमा।

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः॥

[ऋ.२.३५.१०]

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्।

अग्नि यह रूप की उपमा का उदाहरण है। इसके लिए ग्रन्थकार ने ऋग्वेद २.३५.१० के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया है, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में उद्धृत कर रहे हैं—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥ (ऋ.२.३५.१०)

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है अर्थात् [गृत्समद = स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद् गृत्समदः (ऐ.आ.२.२.१)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण एवं अपान रश्मियों के युग्म से होती है। इसका देवता अपांनपात् तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से तन्मात्राओं में गमन करने वाली अग्नि तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती है।

आधिदैविक भाष्य— (हिरण्यरूपः) 'हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्' स्वर्णिम तेजयुक्त, (सः, हिरण्यसन्दृक्) जो अपने उस तेज को सम्यक् रूप से प्रकट करता है अर्थात् सबको दिखलाई पड़ता है। (अपाम्, नपात्) आकाश में बिना पादों के गमन करने वाला एवं अपने मार्ग से पतित नहीं होने वाला (सः, इत्, उ) वह अग्नि, (हिरण्यवर्णः) जिसका रंग स्वर्ण के समान होता है, (हिरण्ययात्, योनेः) [हिरण्यम् = प्राणो वै हिरण्यम् (श.ब्रा. ७.५.२.८)] अपने कारणरूप एवं आधाररूप प्राण तत्त्व से (परि, निषद्या) सब ओर स्थित होकर [यहाँ निषद्य के अकार को दीर्घत्व छान्दस प्रयोग है।] (हिरण्यदा) प्राण रश्मियाँ प्रदान करने वाला (अस्मै, अन्नम्, ददति) इसकी कारणरूप गृत्समद ऋषि रश्मियों अर्थात् प्राण एवं अपान रश्मियों के युग्मों [अन्नम् = अन्नं वै मरुतः (तै.ब्रा.१.७.३.५), अन्नं वा आदित्याः (तै.सं.५.३.४.३), अन्नं हि गौः (श.ब्रा.४.३.४.२५), अन्नं वै स्तोमाः (श.ब्रा. ९.३.३.६)] को अन्नत्व प्रदान करता है अर्थात् प्राणापान रश्मियों, विभिन्न मरुत् रश्मियों एवं अन्य आग्नेय तरंगों के साथ मिलकर आदित्य लोक को रूप प्रदान करता है अर्थात् सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति के लिए पहले अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति होना अनिवार्य है।

था इति च।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा॥ [ऋ.५.४४.१]

प्रत्न इव पूर्व इव विश्व इवेम इवेति। अयमेततरोऽमुष्मात्। असावस्ततरोऽस्मात्। अमुथा। यथासाविति व्याख्यातम्।

'था' यह भी उपमावाचक शब्द है। इसके लिए उदाहरण के रूप में एक निगम को प्रस्तुत किया है। यह सम्पूर्ण निगम इस प्रकार है—

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिराशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ (ऋ.५.४४.१)

इस मन्त्र का ऋषि अवत्सार काश्यप है। [कश्यपः = कश्यपो वै कूर्मः (श.ब्रा. ७.५.१.७)] इसका अर्थ है कि यह छन्द रश्मि कूर्म प्राण से उत्पन्न अथवा रक्षिका कूर्म प्राण रश्मियों में गमन करने वाली विशेष प्रकार की रश्मियों से उत्पन्न होती है। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द विराड् जगती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सभी प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् कण एवं तरंगाणु (क्वाण्टा) प्रकाशमान होते हुए दूर-२ तक व्याप्त होने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (तम्, प्रत्नथा) 'प्रत्न इव' [प्रत्नः = पुराणनाम (निघं.३.२७), प्रत्नः पुराणः (निरु.१२.३२), सुवर्गो वै लोकः प्रत्नः (तै.सं.१.५.७.१)] वे देवकण प्राचीन तारों के केन्द्रीय भाग के समान अथवा आदित्य लोकों के समान (पूर्वथा) 'पूर्व इव' प्रथम उत्पन्न होने वाले के समान अर्थात् अपने कारणरूप पदार्थ के समान (विश्वथा) 'विश्व इव' ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्राणादि पदार्थों के समान (इमथा) 'इम इवेति' [इमेव = इममेव (ऋषि दयानन्द भाष्य)] निकटतर अथवा प्रत्यक्ष पदार्थों के समान, यहाँ ग्रन्थकार ने इतना और लिखा है— 'अयमेततरोऽमुष्मात् असावस्ततरोऽस्मात् अमुथा यथासाविति व्याख्यातम्' अर्थात् 'अयम्' निकटतर को दर्शाता है और 'असौ' दूरतर को दर्शाता है। इस प्रकार 'अमुथा' से दूरतर जैसा अर्थ सिद्ध होता है। यद्यपि ये पद इस मन्त्र में नहीं हैं, पुनरपि इनका अध्याहार होना चाहिए, ऐसा ग्रन्थकार का संकेत है। इस कारण वे देव पदार्थ निकटतर पदार्थों के समान एवं दूरतर पदार्थों के समान (ज्येष्ठतातिम्, बर्हिषदम्) अति ज्येष्ठ अर्थात् विस्तारयुक्त एवं उच्चतर कोटि के तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान (स्वर्विदम्) [स्वर्विदः = स्वर्विदि सूर्यविदि (निरु.७.२५)] सूर्यलोक को अथवा अग्नि के परमाणुओं को (प्रतीचीनम्, वृजनम्) अपने सम्मुख विद्यमान वारक बलों से युक्त पदार्थों को (गिरा,

आशुम्, जयन्तम्) वाक् रश्मियों के द्वारा इन सबको त्वरित गति से नियन्त्रित करते हुए (दोहसे) परिपूर्ण करते हैं। (अनु, यासु, वर्धसे) और उनमें व्याप्त होकर सृष्टि की नाना प्रकार की प्रक्रियाओं के अनुकूल वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में सभी प्रकार के सूक्ष्म परमाणु सभी स्थानों में और सभी कालों में समान नियमों में बँधे हुए प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोकों एवं आकाश में नाना प्रकार की क्रियाओं को करते, अपने बल के द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते तथा विभिन्न लोकादि पदार्थों के निर्माण हेतु सर्वत्र अनुकूल व्यवहार करते हैं। देश और काल की परिस्थिति के अनुसार इनके नियमों में परिवर्तन नहीं होता।

अब हम ऋषि दयानन्द का **आधिभौतिक भाष्य** प्रस्तुत करते हैं-

''**पदार्थः** — (तम्) (प्रत्नथा) प्रत्नमिव (पूर्वथा) पूर्वमिव (विश्वथा) विश्वमिव (इमथा) इममिव (ज्येष्ठतातिम्) ज्येष्ठमेव (बर्हिषदम्) बर्हिष्युत्तमासनेऽन्तरिक्षे वा सीदन्तम् (स्वर्विदम्) स्वः सुखं विदन्ति येन तम् (प्रतीचीनम्) अस्मान् प्रत्यभिमुखं प्राप्नुवन्तम् (वृजनम्) बलम् (दोहसे) पिपरसि (गिरा) वाण्या (आशुम्) शीघ्रकारिणं सङ्ग्रामम् (जयन्तम्) विजयमानम् (अनु) (यासु) (वर्धसे)।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। हे मनुष्या ये सनातनरीत्या पूर्वोत्तमराजवत्पितृवद् राष्ट्रं सम्पाल्य पूर्णबलां सेनां कृत्वा सद्योविजयमानाः प्रजाः सुखानुकूला वर्त्तयन्तु तानेवोत्तमाऽधिकारे नियोजयत यतो राजप्रजानां सततं सुखं वर्धेत।

पदार्थ— हे राजन्! जो आप (गिरा) वाणी से (प्रत्नथा) पुराने के सदृश (पूर्वथा) पूर्व के सदृश (विश्वथा) सम्पूर्ण संसार के सदृश (इमथा) इस के सदृश (ज्येष्ठतातिम्) जेठे ही को (बर्हिषदम्) उत्तम आसन वा अन्तरिक्ष में स्थित होने वाले (स्वर्विदम्) सुख को जानते जिससे उस (प्रतीचीनम्) हम लोगों के सम्मुख-सम्मुख प्राप्त होते हुए (वृजनम्) बल को तथा (आशुम्) शीघ्रकारी संग्राम को (जयन्तम्) जीतते हुए को (दोहसे) पूर्ण करते हो (तम्) उन आप को और (यासु) जिन में (अनु, वर्धसे) वृद्धि को प्राप्त होते हो उन सेनाओं और प्रजाओं की हम लोग निरन्तर वृद्धि करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है— हे मनुष्यो! जो प्राचीन रीति से प्राचीन उत्तम राजाओं के तुल्य पिता के सदृश राज्य का उत्तम प्रकार पालन करके पूर्ण बलयुक्त सेना को

कर शीघ्र विजय को प्राप्त हुई प्रजाओं को सुख के अनुकूल वर्त्तावें, उन्हीं को उत्तम अधिकार में नियुक्त करिये, जिससे राजा और प्रजा का निरन्तर सुख बढ़े।''

वदिति सिद्धोपमा। ब्राह्मणवद् वृषलवत्। ब्राह्मणा इव वृषला इवेति। वृषलो वृषशीलो भवति। वृषाशीलो वा॥ १६॥

'वत्' यह अति प्रसिद्ध उपमा है। उदाहरणतः ब्राह्मणवत् अर्थात् ब्राह्मण के समान एवं वृषलवत् अर्थात् वृषल के समान। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण आदि वर्णों का निर्धारण कर्मों के आधार पर होता है। इस विषय में भगवान् मनु का कथन है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (मनु.१०.६५)

अर्थात् श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर शूद्र व्यक्ति भी ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त कर सकता है एवं अश्रेष्ठ कर्मों के कारण ब्राह्मण वर्णस्थ व्यक्ति भी शूद्र वर्ण को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अश्रेष्ठ कर्मों से शूद्रत्व को प्राप्त होते और शूद्र व्यक्ति श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को प्राप्त कर सकता है अर्थात् योग्यता एवं कर्मों के आधार पर मनुष्य के वर्ण का निर्धारण और निर्धारित वर्ण का वर्णान्तर में परिवर्तन भगवान् मनु प्रोक्त वैदिक व्यवस्था है।

भगवान् मनु ने ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु.१.८८)

अर्थात् वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, अनुसन्धान एवं अध्यापन, यज्ञ करना एवं कराना अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों के विशेषज्ञ, इसके साथ ही नाना प्रकार के शिल्प (अभियान्त्रिकी) कर्मों को करना व कराना, दान देना एवं दान लेना, ये सब ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। जो इन्हें करने की योग्यता रखता है और करता है, वही मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है।

यहाँ 'वृषल' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वृषलो वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा' अर्थात् जो वृष के अनुकूल स्वभाव वाला होता है, उसे वृषशील अर्थात्

वृषल कहते हैं, जबकि जो व्यक्ति वृष के विरुद्ध स्वभाव वाला होता है, उसे भी वृषल कहते हैं। इस विषय में भगवान् मनु का कथन है—

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ (मनु.८.१६)

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य का दाता धर्म ही वृष कहलाता है। उस ऐसे वृष अर्थात् धर्म को जो व्यक्ति त्याग देता है, उसे वृषल कहते हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकार की दृष्टि में धर्मात्मा एवं अधर्मात्मा दोनों ही प्रकार के व्यक्ति वृषल कहलाते हैं अर्थात् वृषल के अर्थ निकृष्ट और श्रेष्ठ दोनों ही हैं। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त-भाष्य में लिखा है—

''दोनों अर्थों के वाचक वृषल शब्द स्वर-भेद से पृथक्-पृथक् हैं। धर्मात्मा अर्थ वाला वृषल शब्द आद्युदात्त होता है और अधर्मात्मा अर्थ वाला अन्तोदात्त।''

जो मनुष्य श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट गुणों वाले वृषल के समान होता है, उसे वृषलवत् कहते हैं।

* * * * *

सप्तदशः खण्डः

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ [ऋ.१.४५.३]
प्रियमेधः। प्रिया अस्य मेधाः। यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्।
प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। कण्वप्रभवः। यथा प्राग्रम्।
अर्चिषि भृगुः सम्बभूव। भृगुर्भृज्यमानो न देहे। अङ्गारेष्वङ्गिराः।
अङ्गारा अङ्कनाः अञ्चनाः। अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः। तस्मादत्रिः।
न त्रय इति। विखननाद्वैखानसः। भरणाद्भारद्वाजः।

विरूपो नानारूपः। महिव्रतो महाव्रत इति॥ १७॥

इस 'वत्' उपमा का यह निगम प्रस्तुत है—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ (ऋ.१.४५.३)

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व काण्व है। [कण्वः = कणति निमीलति चेष्टतेऽसौ कण्वः (उ.को.१.१५१)] इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विशेष रूप से सक्रिय बन्धक बलों से युक्त विशेष प्रकार की रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्निर्देवा और छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु विशेष प्रकाशशील एवं संगमनीय होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (प्रियमेधवत्) 'प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधाः' संगमनादि क्रियाओं के लिए तत्पर पदार्थों के समान (जातवेदः, महिव्रत) 'महिव्रतो महाव्रत इति' [जातवेदः = प्राणो वै जातवेदाः स हि जातानां वेद (ऐ.ब्रा.२.३९), यज्जातः पशूनविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् (मै.सं.१.८.२), सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति तज्जातवेदस्यमभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् (ऐ.ब्रा.३.३६), वायुर्वै जात-वेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किञ्च (ऐ.ब्रा.२.३४)। व्रतम् = कर्मनाम (निघं. २.१), अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः (गो.उ.१.१४)] व्यापक कर्म करने वाले आकाश में विद्यमान प्राण एवं मरुद् रश्मियों से समृद्ध अग्नि एवं वायु तत्त्व (प्रस्कण्वस्य, श्रुधी, हवम्) 'यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम् प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवः यथा प्राग्रम्' कण्व का पुत्र अथवा कण्व (सूत्रात्मा वायु) नामक रश्मियों से उत्पन्न रश्मियों को प्रस्कण्व कहा जाता है। जैसे प्राग्रम् का अर्थ है— प्र+अग्रम् अर्थात् अग्र उत्पन्न ऐसी प्रस्कण्व रश्मियों से प्रेरित होकर [मासः = मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३), हवं ह्वानम् (निरु.१०.२)] नाना प्रकार के आकर्षण आदि बलों को उत्पन्न करके विभिन्न परमाणुओं को संयुक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली मास रश्मियों को आकर्षित व धारण करते हैं।

(विरूपवत्, अंगिरस्वत्, अत्रिवत्) 'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुर्भृज्यमानो न देहे अङ्गारेष्वङ्गिराः अङ्गारा अङ्कनाः अञ्चनाः अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः तस्मादत्रिः न त्रय इति

विखननाद्वैखानसः भरणाद्भारद्वाजः विरूपो नानारूपः' अर्थात् कॉस्मिक मेघों में उत्पन्न ज्वालाओं से भृगु नामक पदार्थ की उत्पत्ति होती है। गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध २.२४ में 'आपः' को 'भृगु' कहा गया है। इस प्रकार ज्वालाओं में उत्पन्न आपः अर्थात् तन्मात्राएँ अत्यधिक ऊष्मा होने पर भी जलकर नष्ट नहीं होती हैं। जब वे ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं, उस अवस्था में उन तन्मात्राओं के अन्दर जो अग्नि विद्यमान होता है, उसे 'अङ्गिरा' कहते हैं। यह अग्नि सम्पूर्ण पदार्थ का अङ्कन वा अञ्चन करने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि इस अग्नि से सम्पन्न पदार्थ अपने अक्ष पर घूमना प्रारम्भ कर देता है तथा उसमें अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इस स्थिति में उस लोक के अन्दर विद्यमान पदार्थ तीसरे प्रकार के अग्नि को उत्पन्न करना प्रारम्भ करते हैं। उस तीसरे अग्नि को 'अत्र+त्रि = अत्रि' कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार का यही निर्वचन है, जिसका व्याकरण की दृष्टि से कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसे प्राचीन आचार्यों का निर्वचन माना है, ग्रन्थकार का नहीं। इस निर्वचन की दृष्टि से उस स्थान पर जो अग्नि की तृतीय स्थिति होती है, उसे अत्रि कहते हैं।

अब ग्रन्थकार 'अत्रि' का अपना निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'तस्मादत्रिः न त्रय इति' अर्थात् जिसमें असुर, राक्षस एवं पाप्मा संज्ञक कोई भी बाधक पदार्थ बाधक नहीं बन सकते, उसे अत्रि कहते हैं। इन तीन बाधक पदार्थों के विषय में हम अनेकत्र लिख चुके हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ में इन पदार्थों की अनेकत्र चर्चा की गयी है। इसके विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं— स यदिदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च तस्माद-त्रयस्तस्मादत्रय इत्याचक्षत एतमेव (प्राणम्) सन्तम् (ऐ.आ.२.२.१)। इसका भी भाव यही है कि जो पदार्थ पाप्मा संज्ञक पदार्थ से देव पदार्थ की रक्षा करता है, वह अत्रि कहलाता है।

इस प्रकार निर्माणाधीन आदित्य लोक में अग्नि का यह तीसरा स्वरूप प्रकट होता है, जिसमें विभिन्न कणों के संयोग में बाधक बन सकने वाले सभी पदार्थ नष्ट वा नियन्त्रित हो जाते हैं और कणों के संलयन की प्रक्रिया विधिवत् प्रारम्भ हो जाती है। ग्रन्थकार ने अत्रि के पश्चात् वैखानस एवं भारद्वाज की भी चर्चा की है, जबकि ये पद मन्त्र में नहीं हैं। वैखानस के विषय में अन्य ऋषियों ने लिखा है—

तदिन्द्रो ह वै विखानाः स यदिन्द्र एतत्सामापश्यत्तस्माद्वैखानसमित्याख्यायते (जै.ब्रा.३.१९०)

ये नखाः (प्रजापतेः) ते वैखानसाः (तै.आ.१.२३.३)

इसका अर्थ यह है कि इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् ही विभिन्न कणों को बाँधती है। इस प्रक्रिया के समय वह विद्युत् उस स्थान पर उत्पन्न वा विद्यमान बृहत् एवं रथन्तर साम आदि रश्मि समूह अर्थात् गायत्री छन्द रश्मि समूह एवं विभिन्न साम रश्मियों के साथ संहत होती है। इसी इन्द्र को ग्रन्थकार ने पदार्थ का विशेष रूप से खनन करने वाला 'वैखानस' कहा है। वैखानस पद यह दर्शाता है कि नाभिकीय संलयन के समय उस क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ में सतत विक्षोभ होता रहता है अर्थात् वह प्रक्रिया शान्तिपूर्वक नहीं होती, बल्कि भारी उथल-पुथल के साथ होती है।

भारद्वाज नामक पदार्थ को इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का पोषक बताया है। उधर भरद्वाज के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

सोऽसौ (द्यु) लोकः सोऽसावादित्यस्तन्मनस्तद् बृहत् स भरद्वाजः (ऐ.आ.१.४.२)

अर्थात् मनस्तत्त्व रूपी भरद्वाज सब में व्याप्त होकर समस्त ब्रह्माण्ड का पोषण करता है। इसी प्रकार उसी मनस्तत्त्व रूपी भरद्वाज से उत्पन्न प्राण रश्मियों रूपी भारद्वाज, विशेषकर प्राण, अपान एवं व्यान का त्रिक् नाभिकीय संलयन की क्रियाओं का धारक और पोषक होता है।

इस प्रकार प्रियमेधा, अङ्गिरा, अत्रि आदि विविध रूपों वाले पदार्थ किसी भी आदित्य लोक में जिस अनुपात वा स्थिति में विद्यमान होते हैं, उसी अनुपात व मात्रा में वह आदित्य लोक ऊष्मा एवं प्रकाश आदि को उत्पन्न करने में सक्षम होता है। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि वेद के आधिदैविक अर्थ में उपमा आदि अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं होता, जबकि आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थों में इनकी पूर्ण महत्ता है।

भावार्थ— आकाश में विद्यमान वायु एवं अग्नि तत्त्व नाना प्रकार के आकर्षण आदि बलों को उत्पन्न करके विभिन्न परमाणुओं को संयुक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली मास रश्मियों को आकर्षित व धारण करते हैं। विशेष ऊर्जा प्राप्त करने पर कण अपने अक्ष पर घूर्णन करना प्रारम्भ कर देते हैं। इसके साथ ही वे सूक्ष्म ध्वनि तरंगों को भी उत्पन्न करने लगते हैं। एक अन्य प्रकार का अग्नि किसी भी संयोज्य कण को प्रत्येक प्रकार के बाधक असुरादि पदार्थ से बचाता है। विद्युत् के कारण ही सभी पदार्थ बँधे रहते हैं। इस

प्रक्रिया में नाना प्रकार की छन्द रश्मियों का यजन होता है। नाभिकीय संलयन के समय वहाँ विद्यमान पदार्थ में सतत विक्षोभ होता रहता है। प्राणापान-व्यान का त्रिक नाभिकीय संलयन की क्रियाओं का धारक व पोषक होता है। आदित्य लोक के प्रकाश, ऊष्मा आदि गुण उसके अन्दर विद्यमान विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों की मात्रा एवं परस्पर अनुपात पर निर्भर रहते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (जातवेदः) सृष्टि के प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को जानने हारे एवं उसमें सदैव व्याप्त (महिव्रत) सृष्टि उत्पत्ति, धारण, सञ्चालन एवं विनाश जैसे महान् कर्मों को करने वाले परमेश्वर (प्रियमेधवत्) सदैव वेद विद्या में रत प्रज्ञावान् पुरुषों के समान (अत्रिवत्) जो तीनों प्रकार के अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक दुःखों एवं पापों से मुक्त हैं, उन पवित्र आत्माओं के तुल्य (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान (विरूपवत्) विविध रूप वाले जगत् अर्थात् मानव समुदाय के समान (प्रस्कण्वस्य, श्रुधी, हवम्) प्रकृष्ट मेधासम्पन्न की पुकार को आप सुनिए अर्थात् जिस प्रकार प्रियमेध, अत्रि एवं विरूप शब्दों से दर्शाये मनुष्य प्रकृष्ट मेधावी पुरुष की पुकार सुनते हैं, वैसे आप भी हमारी प्रार्थना को सुनिये।

अब हम ऋषि दयानन्द का **आधिभौतिक भाष्य** प्रस्तुत करते हैं-

''**पदार्थः** — (प्रियमेधवत्) प्रिया तृप्ता कमनीया प्रदीप्ता मेधा बुद्धिर्यस्य तेन तुल्यः (अत्रिवत्) न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तापा यस्य तद्वत् (जातवेदः) यो जातेषु पदार्थेषु विद्यते सः (विरूपवत्) विविधानि रूपाणि यस्य तद्वत् (अङ्गिरस्वत्) योऽङ्गानां रसः प्राणस्तद्वत् (महिव्रत) महि महद् व्रतं शीलं यस्य सः (प्रस्कण्वस्य) प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी (श्रुधी) शृणु। अत्र व्यत्ययो, द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः। (हवम्) ग्राह्यं देयमध्ययनाध्यापनाख्यं व्यवहारम्। यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याख्यातवान्। प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वस्य प्रभवो यथा प्राग्रमिति। विरूपो नानारूपो महिव्रतो महाव्रत इति॥ निरु.३.१७॥

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यथा सर्वस्य प्रियकारिणो जनाः कायिकवाचिक-मानसदोषरहिता नानाविद्याप्रत्यक्षाः स्वप्राणवत्सर्वान् जानन्तो विद्वांसो मनुष्याणां प्रियाणि कार्य्याणि साध्नुयुस्तथा यूयमप्याचरत।

पदार्थ— हे (जातवेदः) उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने हारे (महिव्रत) बड़े व्रतयुक्त विद्वान्! आप (प्रियमेधवत्) विद्याप्रिय बुद्धि वाले के तुल्य (अत्रिवत्) तीन अर्थात् शरीर, अन्य प्राणी और मन आदि इन्द्रियों के दुःखों से रहित के समान (विरूपवत्) अनेक प्रकार के रूप वाले के तुल्य (अङ्गिरस्वत्) अङ्गों के रसरूप प्राणों के सदृश (प्रस्कण्वस्य) उत्तम मेधावी मनुष्य के (हवम्) देने-लेने पढ़ने-पढ़ाने योग्य व्यवहार को (श्रुधि) श्रवण किया करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जैसे सबके प्रिय करने वाले विद्वान् लोग शरीर, वाणी और मन के दोषों से रहित नाना विद्याओं को प्रत्यक्ष करने और अपने प्राण के समान सबको जानते हुए विद्वान् लोग मनुष्यों के प्रिय कार्य्यों को सिद्ध करते हैं और जैसे पढ़ाये हुए बुद्धिमान् विद्यार्थी भी बहुत उत्तम उत्तम कार्य्यों को सिद्ध कर सकें वैसे तुम भी किया करो।''

* * * * *

अष्टादशः खण्डः

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्।
श्वा काक इति कुत्सायाम्। काक इति शब्दानुकृतिः।
तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः।
काकोऽपकालयितव्यो भवति। तित्तिरिस्तरणात्। तिलमात्रचित्र इति वा।
कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः। कपिरिव जवते। ईषत्पिङ्गलो वा।
कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। श्वा। शुयायी। शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः।
श्वसितेर्वा। सिंहः सहनात्। हिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य। सम्पूर्वस्य वा हन्तेः।
संहाय हन्तीति वा। व्याघ्रो व्याघ्राणात्। व्यादाय हन्तीति वा॥ १८॥

इसका भाष्य सामान्य है, इसलिए हम आचार्य विश्वेश्वर के भाष्य को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

"इसके बाद 'लुप्तोपमा' [वाले वाक्यों] को अन्य लोग अर्थोपमावाक्य कहते हैं। मूल में 'लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते' इस प्रकार का पाठ है। इसके साथ 'वाक्यानि' जोड़कर ही अर्थ करना होगा। अन्यथा स्त्रीलिंग 'लुप्तोपमा' के लिए 'लुप्तोपमानि' यह प्रयोग संगत नहीं होगा। अत: 'वाक्यानि' का अध्याहार करके ही यहाँ अर्थ किया गया है। लुप्तोपमा प्रशंसा-परक और निन्दा-परक दो रूप की होती है, इसका प्रतिपादन उदाहरण सहित आगे करते हैं। सिंह और व्याघ्र ये दोनों पूजा [अर्थात् प्रशंसा] में [प्रयुक्त होते] हैं। श्वा और काक ये दोनों निन्दा में प्रयुक्त होते हैं।]

'काक' यह [नाम] शब्दानुकरण [के आधार पर किया गया है]। [अर्थात् कौओं की कांव-कांव ध्वनि के अनुसार उनको 'काक' कांव-कांव करने वाला कहा जाता है। यह [अर्थात् शब्दानुकरण के आधार पर नामकरण] पक्षियों [के नामकरण] में बहुतायत से पाया जाता है।

शब्दानुकरण [के आधार पर पक्षियों का नामकरण] नहीं होता है, ऐसा 'औपमन्यव' मानते हैं। [उनके मतानुसार] कौआ निकालने योग्य होता है [इसलिए 'काक' पद से कहा जाता है। इसी प्रकार] तित्तिरि तैरता हुआ [कूदकर चलने वाला] होने से [तित्तिरि: कहा जाता है] अथवा तिल के बराबर चिह्नों वाला होने से [तित्तिरि कहलाता है]। कपिंजल [पक्षी] बन्दर के समान धूसरवर्ण होता है अथवा कपि के समान भागता है अथवा तनिक पीला होता है अथवा कमनीय शब्द को बोलता है, [इसलिए 'कपिरिव जीर्ण:' वाले पक्ष में कपिपूर्वक 'जृ' धातु से अप्-प्रत्यय करके, दूसरे 'कपिरिव जवते' वाले पक्ष में कपिपूर्वक 'जृ' धातु से डल-प्रत्यय करके कपिञ्जल शब्द सिद्ध होता है]।

श्वा आशुयायी [शीघ्र चलने वाला] होता है। [इसलिए 'आशु' के पर्यायवाचक 'शु' पूर्वक 'अय' धातु से अथवा उणादि सू० १५७ के अनुसार 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय करके श्वन् शब्द सिद्ध होता है।] अथवा गत्यर्थक 'शव' धातु से ['कनिन्' प्रत्यय द्वारा 'श्वन्' शब्द] बनता है। अथवा 'श्वस' धातु से ['कनिन्' प्रत्यय द्वारा श्वन् शब्द] बन सकता है।

सिंह [शब्द] 'सह' धातु से [अन्य प्राणियों को सहन करने वाला] अथवा 'हिंस' धातु का विपर्यय करने से] अथवा 'सम्' पूर्वक 'हन' धातु से। पकड़ कर मारता है, [इसलिए 'सिंह' कहलाता है। इस प्रकार निरुक्तकार ने तीन प्रकार से 'सिंह' शब्द के

निर्वचन दिखलाये हैं।] व्याघ्र विशेष रूप से गन्ध ग्रहण करने वाला होता है [इसलिए] अथवा [मुख, पंजे आदि को] फैला कर मारता है, [इसलिए व्याघ्र कहलाता है।]''

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत्।

निघण्टु ३.१४ में पढ़े गये अगले ४४ धातु अर्चना अर्थ में हैं। ये ४४ धातु इस प्रकार हैं—

अर्चति। गायति। रेभति। स्तोभति। गूर्द्धयति। गृणाति। जरते। ह्वयते। नदति। पृच्छति। रिहति। धमति। कृपायति। कृपण्यति। पनस्यति। पनायते। वल्गूयति। मन्दते। भन्दते। छन्दति। छदयते। शशमानः। रञ्जयति। रजयति। शंसति। स्तौति। यौति। रौति। नौति। भनति। पणायति। पणते। सपति। पपृक्षाः। महयति। वाजयति। पूजयति। मन्यते। मदति। रसति। स्वरति। वेनति। मन्द्रयते। जल्पति।

लोक में 'अर्च' धातु का प्रयोग पूजा करने के अर्थ में माना जाता है, जबकि सृष्टि विज्ञान में पूजा करने अर्थात् सम्मान करने का कोई अर्थ नहीं है। इस कारण मन्त्रों के आधिदैविक अर्थ में इस अर्थ की कोई उपयोगिता नहीं है। हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' में सर्वत्र ही इस धातु का अर्थ 'चमकना' वा 'प्रकाशित होना' माना है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में इसका वेद में यही अर्थ माना है। हम अपने तथा पण्डित युधिष्ठिर के मत की पुष्टि में कुछ आर्ष प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

अर्चिषा = तेजसा (म.द.ऋ.भा.५.७९.९), दीप्त्या (म.द.ऋ.भा.६.४८.३)। अर्चिषि = अर्चितुं योग्ये शुद्धे तेजसि (म.द.य.भा.१९.४१)। अर्चयः = किरणाः (म.द.ऋ.भा. ५.२५.८), दीप्तिरूपा ज्वालाः (म.द.ऋ.भा.१.३६.३)। अर्चिः = दीप्तिः (म.द.ऋ.भा. १.९२.५), विद्युत् तेजः (म.द.ऋ.भा.४.७.९)। अर्चिरिति ज्वलतोनाम (निघं.१.१७)।

इस प्रकार इस धातु के अर्थ में जो भी अन्य धातुएँ यहाँ उद्धृत की गई हैं, उनका

आधिदैविक भाष्य करते समय इसी प्रकार का अर्थ ग्रहण करना चाहिए, जबकि आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक अर्थ में पूजा और सम्मान करना आदि अर्थ ग्राह्य हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि चमकने एवं प्रकाशित करने के अर्थ में ४४ धातुओं का प्रयोग क्यों हुआ? इसके उत्तर में हमारा मत पूर्ववत् है कि सृष्टि में दीप्ति वा प्रकाश उत्पन्न करने की अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ होती हैं और दीप्तियों वा प्रकाश का स्वरूप भी सर्वत्र एवं सदैव समान नहीं होता है। इस कारण पृथक्-२ प्रक्रियाओं और स्वरूपों को दर्शाने के लिए ही पृथक्-पृथक् ४४ धातुओं का प्रयोग हुआ है। इस सूक्ष्म वैज्ञानिक भेद को लेखनी अथवा वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः। मेधावी कस्मात्। मेधया तद्वान्भवति। मेधा मतौ धीयते।

तदुपरान्त निघण्टु ३.१५ में मेधावी के वाचक २४ नाम दिये गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

विप्रः। विग्रः। गृत्सः। धीरः। वेनः। वेधाः। कण्वः। ऋभुः। नवेदाः। कविः। मनीषी। मन्धाता। विधाता। विपः। मनश्चित्। विपश्चित्। विपन्यवः। आकेनिपः। उशिजः। कीस्तासः। अद्धातयः। मतयः। मतुथाः। वाघतः।

यहाँ मेधावी पद का निर्वचन करते हुए कहा है कि बुद्धि में धारण कराने वाली होने से मेधा कहलाती है और जो मेधा अर्थात् धारणावती बुद्धि से युक्त होता है, वह मेधावी कहलाता है। वेद मन्त्रों के आधिदैविक अर्थ में हमने अनेकत्र मेधावी पद का अर्थ सूत्रात्मा वायु किया है। हम जानते हैं कि सूत्रात्मा वायु मनस्तत्त्व से युक्त और उसी में स्थित होता है और मनस्तत्त्व को बुद्धि तत्त्व अर्थात् महत् तत्त्व धारण किये रहता है। इस प्रकार मेधावी पद का आधिदैविक अर्थ सूत्रात्मा वायु सिद्ध होता है। यद्यपि मनस्तत्त्व में प्राणापान आदि अन्य प्राण रश्मियाँ एवं भूरादि सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ भी विद्यमान होती हैं। इस कारण प्रसङ्गानुसार मेधावी वाचक नामों से अन्य रश्मियों का भी ग्रहण हो सकता है। इस पद का प्रयोग वेदों में अनेकत्र हुआ है। इस कारण हम सभी २४ नामों की क्रमशः संक्षिप्त व्याख्या कर रहे हैं-

१. विप्रः — यह पद 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' धातु से 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्र-क्षुरखुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लगौरवन्नेरामालाः' (उ.को.२.२९) सूत्र से 'रन्' प्रत्यय होकर निपातित है। डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में क्षीरस्वामी को उद्धृत करके इस पद को 'विप क्षेपे' धातु से निपातित माना है। इस प्रकार जो पदार्थ किसी क्रिया विशेष एवं पदार्थ विशेष को उत्पन्न करने अथवा उसका छेदन करने एवं उसे फेंकने का कार्य करता है, वह 'विप्र' कहलाता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १.६२.४ के भाष्य में 'विप्रैः' का भाष्य करते हुए लिखा है— 'विविधान् पदार्थान् प्रान्ति तैः किरणैः'। इस कारण विप्र उन किरणों को कहते हैं, जो सृष्टि में नाना प्रकार की रासायनिक एवं भौतिक क्रियाओं को प्रारम्भ करने, विभिन्न सूक्ष्म कणों को विखण्डित करने और उन्हें इधर-उधर बिखेरने का काम करती हैं।

आधिभौतिक अर्थ में 'विप्र' विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण को कहते हैं, क्योंकि विद्वान् समाज में विद्या और सुसंस्कारों का बीज वपन करता है, दुर्गुण एवं दुर्व्यसन आदि पापों को नष्ट करता व दूर भगाता है।

२. विग्रः — डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'विपूर्वाद् गृणातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा.३.२.१०१) इति डः। विविधं गृणात्यर्थान्' अर्थात् जो वेदार्थ का विविध प्रकार से उपदेश करता है, उसे 'विग्रः' कहते हैं, यह आधिभौतिक अर्थ है।

आधिदैविक पक्ष में 'विग्रः' उस पदार्थ को कहते हैं, जो विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्सर्जित करते हुए नाना प्रकार की दीप्तियों को उत्पन्न करता है।

३. गृत्सः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ३.६९ की व्याख्या में लिखा है— 'गृध्यति अभिकाङ्क्षतीति गृत्सः' अर्थात् जो प्राणिमात्र का कल्याण चाहता और करने का प्रयत्न करता है, उसे 'गृत्सः' अर्थात् ब्राह्मण कहते हैं। यह आधिभौतिक पक्ष है।

अब हम इसके आधिदैविक पक्ष पर विचार करते हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास ने ऐ.आ.२.२.१ में लिखा है— 'स यत्प्राणो गृत्सः' अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मियाँ ही 'गृत्स' कहलाती हैं। इसके साथ उपर्युक्त व्युत्पत्ति, जो उणादि-कोष भाष्य में दी गई है,

पर विचार करने से यह संकेत मिलता है कि आकर्षण बलयुक्त कणों, रश्मियों वा विकिरणों को 'गृत्सः' कहते हैं।

४. धीरः — उणादि-कोष २.२५ की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'दधाति सर्वान् पोषयति वा स धीरः पण्डितो वा' अर्थात् जो पदार्थ अन्य विभिन्न पदार्थों का धारण और पोषण करता है, उसे 'धीर' कहते हैं। इस सृष्टि में ऐसे विभिन्न पदार्थ धीर कहलाते हैं, इनमें से प्राण रश्मियों के स्तर पर प्राण नामक प्राथमिक प्राण एवं सूत्रात्मा वायु को धीर कह सकते हैं। परमात्मा सबका अन्तिम धारक व पोषक होने से 'धीर' कहलाता है। ये दोनों अर्थ क्रमशः आधिदैविक एवं आध्यात्मिक पक्ष में हैं।

आधिभौतिक अर्थ में वेदज्ञ ब्राह्मण को भी 'धीर' कहा जाता है, क्योंकि वह अपनी विद्या के द्वारा सम्पूर्ण प्राणी जगत् का धारक और पोषक होता है।

५. वेनः — इसके विषय में विभिन्न ऋषियों ने लिखा है— वेनति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), वेनः यज्ञनाम (निघं.३.१७), इन्द्र उ वै वेनः (कौ.ब्रा.८.५), असावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिज-निषमाणोऽवेनत्तस्माद् वेनः (श.ब्रा.७.४.१.१४)।

इनसे यह संकेत मिलता है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, जो सृष्टि में नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं को सम्पन्न करती एवं नाना प्रकार की दीप्तियों को उत्पन्न करती हैं, 'वेन' कहलाती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.२०.१ के अनुसार कुछ छन्द रश्मियाँ भी वेन कहलाती हैं, ऐसी रश्मियों के विषय में लिखा है— "यह छन्द प्राण वेन संज्ञक तथा नाभिरूप होने से ऊर्जा को भी प्रकाशाणु (फोटोन) या तरंगाणु (क्वाण्टा) के रूप में बाँधता है, जिससे विभिन्न प्रकाशाणु ऊर्जा की एक विशेष मात्रा को ही धारण करते हैं। विशेषकर जब प्रकाशाणु किसी सोम्य कण अर्थात् इलेक्ट्रॉन पर गिरते हैं, तब ऊर्जा की एक विशेष मात्रा के साथ ही सोम्य कण से संयुक्त हो जाते हैं, न कि सतत प्रवहमान ऊर्जा किसी सोम्य कण से संयुक्त होती है। यह वेन छन्द प्रकाशाणुओं के साथ संयुक्त होने वाले अन्य छन्द आदि प्राणों के मध्य स्थित होकर चलता है, जो मुक्त अवस्था में ऊर्जा के सतत प्रवाह में बाधक नहीं होते, परन्तु उत्सर्जन व अवशोषण के समय ऊर्जा को बाँधकर कण रूप में बदल देते हैं।" ये सभी अर्थ आधिदैविक पक्ष में है।

उधर उणादि-कोष ३.६ की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'अजति

गच्छति प्राप्नोति वा स वेनः कमनीयः प्रजापतिरीश्वरो वा' अर्थात् जो धर्मात्मा योगिजनों को सहज प्राप्त होता और दुर्जनों को स्वयं से दूर रखता, वह परमेश्वर भी 'वेन' कहलाता है। यह आध्यात्मिक पक्ष है और आधिभौतिक पक्ष में जो व्यक्ति वेदविद्या में पारङ्गत होकर उसी में रमण करता और अन्यों को भी विद्या का प्रकाश देता हुआ अविद्यान्धकार को दूर करता है, वह ब्राह्मण भी 'वेन' कहलाता है।

६. **वेधाः** — उणादि-कोष ४.२२६ की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'विशेषेण दधातीति वेधाः विद्वान् विधाता जगदीश्वरो वा'। उधर अन्य ऋषियों का कथन है— इन्द्रो वै वेधाः (ऐ.ब्रा.६.१०; गो.उ.२.२०), वेधसे विधात्रे (निरु.१०.६) अर्थात् इन्द्र तत्त्व ही 'वेधा' कहलाता है, क्योंकि यही सम्पूर्ण सृष्टि का धारण और पोषण करता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

आध्यात्मिक पक्ष में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र अर्थात् परमात्मा ही 'वेधा' कहलाता है, क्योंकि वही सम्पूर्ण सृष्टि का धारण और पोषण करने वाला है। आधिभौतिक पक्ष में मेधावी वेदवेत्ता विद्वान् ही 'वेधा' कहलाता है, क्योंकि वह अपनी वेदविद्या के द्वारा नाना प्रकार के ऐश्वर्य साधनों एवं मनुष्यों में आध्यात्मिक प्रकाश द्वारा उनके हितों का सम्पादन करता है।

७. **कण्वः** — उणादि-कोष १.१५१ के भाष्य में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'कणति निमीलति चेष्टतेऽसौ कण्वः'। यहाँ 'कण शब्दार्थः', 'कण गतौ' एवं 'कण निमीलने' इन तीनों ही धातुओं का प्रयोग माना जा सकता है। इस प्रकार 'कण्व' उस पदार्थ का नाम है, जो सभी कण वा लोक आदि पदार्थों को निकटता से व्याप्त करता, आच्छादित करता और बाँधता है। हमारी दृष्टि में यह पदार्थ सूत्रात्मा वायु ही हो सकता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

आध्यात्मिक पक्ष में 'कण्व' परमात्मा का नाम है, क्योंकि परमात्मा सबको निकटता से व्याप्त व आच्छादित करते हुए पाप से बचने और सुमार्ग पर चलने की निरन्तर प्रेरणा करता है तथा सृष्टि के आदि में मानव कल्याण के लिए वेदज्ञान भी प्रदान करता है। आधिभौतिक पक्ष में 'कण्व' का अर्थ परोपकारी वैदिक विद्वान् सिद्ध होता है, क्योंकि वह मनुष्यों को वेद विद्या का निरन्तर उपदेश करता है।

८. ऋभुः — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— ऋभवः उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा (निरु.११.१५), आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (निरु.११.१६), ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम (तां.ब्रा.१४.२.५)। इससे स्पष्ट है कि व्यापक रूप एवं प्राण रश्मियों से चमकने वाला पदार्थ 'ऋभु' कहलाता है और यह पदार्थ सूर्य की किरणें ही है। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक पक्ष में अपनी विद्या और तप से चमकने वाला वैदिक विद्वान् ही 'ऋभु' कहलाता है। उधर आध्यात्मिक पक्ष में परमात्मा को ही 'ऋभु' कहते हैं, क्योंकि सृष्टि का समस्त प्रकाश और बल परमात्मा से ही उत्पन्न होता है।

९. नवेदाः — इस पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १.१६५.१३ के भाष्य में लिखा है— 'न विद्यन्ते दुःखानि येषु ते' अर्थात् जो मनुष्य परमपिता परमेश्वर का साक्षात्कार करके एवं उसके द्वारा सभी दुःखों से तर जाते हैं, वे योगिजन 'नवेदा' कहलाते हैं। यह आधिभौतिक और आध्यात्मिक पक्ष है।

विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियाँ एवं सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ, जिन्हें असुरादि कोई भी बाधक रश्मि बाधित नहीं कर सकती, वे रश्मियाँ भी 'नवेदा' कहलाती हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

१०. कविः — इसके विषय में महर्षि यास्क ने लिखा है— कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु.१२.१३)। इन वचनों से सूर्यलोक की रश्मियाँ, ऋषि प्राण रश्मियाँ एवं सूर्य लोक सभी 'कवि' कहलाते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है। सूर्यलोक और सूर्य रश्मियाँ प्रकाश के साथ सूक्ष्म ध्वनि तरंग उत्पन्न करने के कारण कवि कहलाते हैं और ऋषि रश्मियों को कवि इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये छन्द रश्मियों एवं सूक्ष्म प्रकाश आदि को उत्पन्न करती हैं।

आध्यात्मिक अर्थ में परब्रह्म परमात्मा को 'कवि' कहा गया है, क्योंकि वह सूर्यादि तेजस्वी लोकों का भी प्रकाशक और सबको अपने ज्ञान चक्षुओं से सतत देखने वाला तथा वेद विद्या का मूल उपदेष्टा है। आधिभौतिक पक्ष में प्रज्ञासम्पन्न वेदवित् विद्वान् को 'कवि' कहते हैं, क्योंकि वह वेदार्थ के सूक्ष्म रहस्यों का भी साक्षात् द्रष्टा होता है।

११. मनीषी — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के

तृतीय अध्याय में यजुर्वेद ४०.८ की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति'। आचार्य राजवीर शास्त्री इस पद की व्युत्पत्ति के विषय में लिखते हैं— 'मनस्-ईषिन्पदयोः समासे कृते शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। ईषिन् = ईष गतिहिंसादर्शनेषु (भ्वा.) धातोस्ताच्छील्ये णिनिः'।

इन दोनों प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जो पदार्थ मनस्तत्त्व के द्वारा गति, हिंसा एवं आकर्षण आदि गुणों वा कर्मों को प्राप्त वा धारण करता है अथवा मनस्तत्त्व को निकटता से देखता व जानता है, वह मनीषी कहलाता है। इस प्रकार विभिन्न सूक्ष्म छन्द एवं प्राण रश्मियाँ 'मनीषी' कहलाती हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

अन्तर्यामी परमात्मा सबके मन की बात जानने हारा होने से 'मनीषी' कहलाता है। यह आध्यात्मिक पक्ष है। जो विद्वान् अपने योगबल से अपने मन को देखता और उसे जीतता है, उसे भी 'मनीषी' कहते हैं। यह आधिभौतिक पक्ष है।

१२. मन्धाता — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने निघण्टु-निर्वचनम् ग्रन्थ में लिखा है— 'मन्यतेर्ल्युट्, दधातेस्तृच्। मानस्य ज्ञानस्य विधाता, पृषोदरादिः (अष्टा.६.३.१०९)'। उधर ग्रन्थकार ने निघण्टु ३.१४ में मन्यते धातु को 'अर्चतिकर्मा' कहा है। इन सब वचनों से यह स्पष्ट होता है कि जो पदार्थ प्रकाश को धारण करता है, उसे मन्धाता कहते हैं। इस प्रकार प्रकाश की किरणें, छन्दादि रश्मियाँ एवं सूर्यादि तेजस्वी लोक सब 'मन्धाता' कहलाते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

आध्यात्मिक पक्ष में ईश्वर को और आधिभौतिक पक्ष में ब्राह्मण को 'मन्धाता' कहा जा सकता है।

१३. विधाता — सभी पदार्थों को विशेष रूप से धारण और पोषित करने वाला होने से परमात्मा सर्वोच्च 'विधाता' है। यह आध्यात्मिक पक्ष है। उधर सूत्रात्मा वायु, मनस् वा महत् तत्त्व सृष्टि के सब पदार्थों को धारण करते हैं, इसलिए ये सभी पदार्थ भी 'विधाता' कहे जाते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

वेदज्ञ ब्राह्मण अपनी विद्या व्यवस्था से जीवलोक का हित करने वाले होते हैं, इसलिए वे भी 'विधाता' कहे जाते हैं। यह आधिभौतिक पक्ष है।

१४. विपः — यह पद 'वि' पूर्वक 'पा रक्षणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह

है कि जो परब्रह्म परमात्मा इस जगत् की विभिन्न प्रकार से रक्षा करता है, इससे उसका नाम 'विप' है। यह आध्यात्मिक पक्ष है। प्राण एवं वाक् तत्त्व भी इस सम्पूर्ण जगत् की विविध प्रकार से रक्षा करते हैं, इससे वे भी 'विप' कहलाते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक पक्ष में मेधावी ब्राह्मण भी 'विप' कहलाता है, क्योंकि वह अपने वेदज्ञान से सब जीवों की रक्षा करने अर्थात् उनका हित साधने में समर्थ होता है।

१५. मनश्चित् — यह पद 'मनस्' पद के उपपद रहते 'चिती संज्ञाने' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो पदार्थ मनस्तत्त्व के द्वारा सक्रिय किया जाता है, उसे मनश्चित् कहते हैं। इस प्रकार प्राण एवं सूक्ष्म छन्द रश्मियों से बना वायुतत्त्व 'मनश्चित्' कहलाता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

जो मनुष्यों के अन्तःकरण में निवास करता हुआ उन्हें शुभ कर्मों को करने एवं अशुभ कर्मों से दूर रहने की सतत प्रेरणा करता है, वह ईश्वर भी 'मनश्चित्' कहलाता है। यह आध्यात्मिक पक्ष है। आधिभौतिक पक्ष में विद्वान् उपदेष्टा को भी 'मनश्चित्' कहते हैं, क्योंकि वह अपने सदुपदेशों द्वारा मनुष्यों के अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ उन्हें सचेत व जाग्रत करता रहता है।

१६. विपश्चित् — जो पदार्थ अपनी विविध प्रकार की रक्षण आदि क्रियाओं के द्वारा विभिन्न पदार्थों को सक्रिय व संरक्षित करता है, वह 'विपश्चित्' कहलाता है। यह पदार्थ काल तत्त्व एवं प्राण तत्त्व हो सकता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

परमपिता परमात्मा भी इसी प्रकार हम सब मनुष्यों को सचेत करता है, इस कारण उसे भी 'विपश्चित्' कहते हैं। यह आध्यात्मिक पक्ष है। आधिभौतिक पक्ष में परोपकारी विद्वान् को भी 'विपश्चित्' कहते हैं, क्योंकि वह भी अपने उपदेशों से मनुष्यों को पापों से बचाने का प्रयास करता है।

१७. विपन्यवः — यह पद 'वि' पूर्वक 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' धातु से उणादि 'कु' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। जो पदार्थ विभिन्न पदार्थों को विविध प्रकार से प्रकाशित और सक्रिय करता है। आधिदैविक पक्ष में वाक् एवं प्राण तत्त्व 'विपन्यव' कहलाते हैं।

आध्यात्मिक अर्थ में ईश्वर को भी 'विपन्यव' कहते हैं, क्योंकि वही सृष्टि के समस्त व्यवहारों एवं प्रकाश आदि गुणों का मूल निमित्त कारण है। उधर आधिभौतिक अर्थ

में कोई प्रज्ञावान् वेदज्ञ भी मनुष्यमात्र को अपने सद्ज्ञान और कर्मों के द्वारा उनके धर्म और कर्त्तव्यों का बोध कराता है।

१८. आकेनिपः — [आके = अन्तिकनाम (निघं.२.१६)] जो पदार्थ अति निकटता से विभिन्न पदार्थों का पूर्ण रक्षण करते हैं, उन्हें आकेनिप कहा जाता है। आध्यात्मिक पक्ष में ईश्वर को 'आकेनिप' कहा जा सकता है।

आधिदैविक अर्थ में 'ओम्' आदि सूक्ष्म वाक् रश्मियाँ एवं विद्युत् आदि पदार्थ 'आकेनिप' कहे जा सकते हैं। आधिभौतिक अर्थ में माता-पिता एवं गुरु आदि को 'आकेनिप' कह सकते हैं।

१९. उशिजः — [उशिक् = कान्तिकर्मा (निघं.२.६), उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः (निरु. ६.१०)] अग्नि तत्त्व विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित और आकर्षित करने वाला होने से 'उशिक्' कहलाता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

आध्यात्मिक पक्ष में सबको अपने ज्ञान से प्रकाशित करने वाला एवं धर्मात्मा जनों को चाहने वाला होने से परमात्मा भी 'उशिक्' कहलाता है। आधिभौतिक अर्थ में मेधासम्पन्न ब्राह्मण भी 'उशिक्' कहलाता है, क्योंकि वह ज्ञान पिपासुओं द्वारा कामना करने योग्य एवं ज्ञान पिपासुओं की कामना करने वाला होता है।

२०. कीस्तासः — इसका निर्वचन करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य और आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में लिखा है— 'कीर्त्तयतेः पचाद्यचि (अष्टा.३.१.१३४) घञि वा कीर्तयन्ति प्रशस्तानर्थान्'। आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ वह परमात्मा है, जो सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु आदि चार ऋषियों के अन्तःकरण में वेदार्थ प्रकाशित करता है।

आधिदैविक अर्थ में काल वा प्राण तत्त्व आदि पदार्थ 'कीस्तास' कहलाते हैं, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण सृष्टि के सभी पदार्थों को प्रकाशित वा उत्पन्न करते हैं। आधिभौतिक अर्थ में सच्चा ब्राह्मण ही 'कीस्तास' कहलाता है, क्योंकि वही सम्पूर्ण मानव जाति में अपने ज्ञान के द्वारा पदार्थ विद्या का प्रकाश करता है।

२१. अद्धातयः — [अद्धा = सत्यनाम (निघं.३.१०)] जो सदैव सत्य में ही गमन करता है अर्थात् जिसके सभी व्यवहार सत्यमय होते हैं, वे मनुष्य ब्राह्मण अर्थात् 'अद्धाति'

कहलाते हैं। यह आधिभौतिक पक्ष है। आध्यात्मिक पक्ष में सत्यस्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा ही 'अद्धाति' कहलाता है।

सृष्टि की प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु एवं 'ओम्' रश्मियों की अन्य की अपेक्षा निकट एवं साक्षात् भूमिका होती है, इस कारण इन दोनों ही रश्मियों को 'अद्धाति' कह सकते हैं।

२२. मतयः — [मतयः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते (श.ब्रा.८.१.२.७), प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८)] विभिन्न छन्द रश्मियाँ और उनसे उत्पन्न विभिन्न प्रकार की तरंगें एवं कण 'मति' कहलाते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष में क्रमशः मननशील मेधावी विद्वान् एवं सर्वोच्च मेधावी सर्वज्ञ परमात्मा को भी 'मति' कहते हैं।

२३. मतुथाः — [तुथः = तुथोऽसि विश्ववेदाः (तै.सं.१.३.३.१, मै.सं.१.२.१२), ब्रह्म वै तुथः (श.ब्रा.४.३.४.१५)] जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् वेद व परमात्मा को जानने वाला अथवा जो सम्पूर्ण देव पदार्थों, जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई है, को जानता है, उसे 'मतुथा' कहते हैं। यह आधिभौतिक पक्ष है।

जो परमात्मा सम्पूर्ण वेद, सृष्टि एवं समस्त जीवों के कर्मों एवं व्यवहारों को पूर्णतः जानने वाला है, उसे भी 'मतुथा' कहते हैं। यह आध्यात्मिक पक्ष है। आधिदैविक पक्ष में जो वाक् व प्राण तत्त्व सभी देव पदार्थों अर्थात् सभी कणों व विकिरणों को प्रकाशित करते हैं, वे प्राण व वाक् तत्त्व भी 'मतुथा' कहलाते हैं।

२४. वाघतः — डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने इसकी व्युत्पत्ति अपने ग्रन्थ 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस प्रकार की है—

''वहेः 'संश्चत्तृपद्वेहत्' (उ.को.२.८६) इति अति प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, हकारस्य धकारश्च निपात्यते।''

अर्थात् जो पदार्थ सभी पदार्थों के वाहक होते हैं, उन्हें वाघत कहा जाता है। उधर ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद ३.३७.२ के भाष्य में इसका भाष्य करते हुए लिखा है— 'ये वाचा दोषान् घ्नन्ति ते मेधाविनः'। इससे संकेत मिलता है कि विभिन्न वज्ररूपी वाक् रश्मियों के

द्वारा बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने वाला इन्द्र तत्त्व भी 'वाघत' कहलाता है। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक पक्ष में अपने सदुपदेशों द्वारा मनुष्यों के दोषों को दूर करने वाला वेदज्ञ उपदेशक भी 'वाघत' कहाता है। उधर आध्यात्मिक पक्ष में सृष्टि के आदि में वेदज्ञान द्वारा तथा कर्म करते समय अन्तःप्रेरणा द्वारा परमात्मा सभी मनुष्यों को दोषों से बचाने का प्रयास करता है, इस कारण परमात्मा भी 'वाघत' है।

यहाँ ग्रन्थकार ने मेधायुक्त पदार्थों को मेधावी कहा है। ये उपर्युक्त २४ पदार्थ मेधावी के वाचक होने से मेधा से युक्त होते हैं। यह 'मेधा' पद 'मेधृ संगमे' एवं 'मेधा आशुग्रहणे' धातुओं से व्युत्पन्न होता है और यह मति अर्थात् 'वाक्' इस सूक्ष्म रश्मि, जिसे 'वेदविज्ञान-आलोकः' ५.३.१ में सूत्रात्मा वायु कहा है, का रूप होता है। जो इसे धारण करता है, वही मेधा और वही मेधावी कहलाता है।

स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश। स्तोता स्तवनात्।

तदनन्तर निघण्टु ३.१६ में ग्रन्थकार स्तोतावाची तेरह नामों का उल्लेख करते हैं। वे तेरह नाम इस प्रकार हैं-

रेभः। जरिता। कारुः। नदः। स्तामुः। कीरिः। गौः। सूरिः। नादः। छन्दः। स्तुप्। रुद्रः। कृपण्युः।

यहाँ ग्रन्थकार 'स्तोता' पद का निर्वचन करते हैं— 'स्तोता स्तवनात्' अर्थात् जो स्तवन करता है, वह स्तोता कहलाता है। यहाँ आधिदैविक अर्थ में स्तवन का अर्थ प्रकाशित करना है। इस प्रकार स्तोता का आधिदैविक पक्ष में अर्थ है— जो पदार्थ विभिन्न पदार्थों का प्रकाशक होवे, वह 'स्तोता' कहलाता है। इस कारण स्तोतावाची जो भी नाम ग्रन्थकार ने दिए हैं, सभी प्रकाशक अर्थ में हैं।

आधिभौतिक अर्थ में स्तुति अर्थात् प्रशंसा करने वाला व्यक्ति 'स्तोता' कहलाता है और आध्यात्मिक अर्थ में परमात्मा के गुणों का कीर्तन करके अपने गुणों में सुधार करने वाला योगी 'स्तोता' कहलाता है। इस प्रकार स्तोतावाची सभी पदों के भी तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। प्रकाशित करने वाले के तेरह विभिन्न प्रकारों में पृथक्-२ भेद दर्शाना दुष्कर

कार्य है और हम इसे इतना आवश्यक भी नहीं समझते, इस कारण हम प्रसंग को आगे बढ़ाकर अगले पद के विषय में लिखते हैं—

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश। यज्ञः कस्मात्। प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वा।

तदनन्तर ग्रन्थकार ने निघण्टु ३.१७ में यज्ञवाचक १५ पद दिये हैं। ये पद इस प्रकार हैं—

यज्ञः। वेनः। अध्वरः। मेधः। विदथः। नार्यः। सवनम्। होत्रा। इष्टिः। देवताता। मखः। विष्णुः। इन्दुः। प्रजापतिः। धर्मः।

१. यज्ञः — यहाँ 'यज्ञः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः' अर्थात् नैरुक्तों की दृष्टि में प्रख्यात यजन कर्म ही यज्ञ कहलाता है। यह पद 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस कर्म में देवपूजा अर्थात् विभिन्न देव कणों व तरंगों (दृश्य पदार्थ एवं ऊर्जा) का उपयोग होता हो, इन पदार्थों का परस्पर संयोग एवं वियोग होता हो, इनका आदान-प्रदान होता हो, वह कर्म 'यज्ञ' कहलाता है। यह सम्पूर्ण जगत् दृश्य कणों और तरंगों के संयोग-वियोग व आदान-प्रदान से ही निर्मित होता है। इस कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि एवं इसके विभिन्न अङ्ग यज्ञ के ही रूप हैं। इस विषय में ऋषियों के कथन हैं— अयं वै यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते (ऐ.ब्रा.५.३३; श.ब्रा.१.९.२.२८; २.१.४.२१; ४.४.४.१३; ११.१.२.३), एष वै यज्ञो यदग्निः (श.ब्रा.२.१.४.१९), वागु वै यज्ञः (श.ब्रा.१.१.४.११), संवत्सरो यज्ञः (श.ब्रा.११.२.७.१), स यः स यज्ञोऽसौ सऽआदित्यः (श.ब्रा.१४.१.१.६), स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१)।

इन सभी वचनों से यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि में सूर्य, अग्नि, वायु आदि विभिन्न पदार्थ यज्ञरूप ही होते हैं। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक पक्ष में शिल्प क्रिया अर्थात् अभियान्त्रिकी के द्वारा नाना प्रकार के सर्वहितकारी यन्त्रों का निर्माण करना, अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों के द्वारा सम्पूर्ण

प्रजा को नीरोगता आदि प्रदान करते हुए उनका सर्वविध पालन व रक्षण करना भी 'यज्ञ' कहलाता है। आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर की उपासना और उसका साक्षात्कार करना आदि कर्म भी 'यज्ञ' कहलाते हैं।

इसके पश्चात् अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'याच्ञो भवतीति वा' अर्थात् जिस कर्म में किसी पदार्थ की याचना वा इच्छा की जाती है, वह कर्म भी यज्ञ कहलाता है। इस सृष्टि में नाना प्रकार के कण एवं विकिरण, स्थूलतम लोक वा सूक्ष्मतम रश्मि आदि पदार्थ अपने-२ स्तर से नाना प्रकार के पदार्थों की इच्छा सदैव करते रहते हैं अर्थात् उन्हें आकर्षित करते रहते हैं अथवा उनमें आकर्षण का स्वाभाविक भाव होता है। इस कारण आकर्षण की इस प्रक्रिया को भी 'यज्ञ' कहते हैं। इस प्रक्रिया के अभाव में सृष्टि के किसी भी पदार्थ का निर्माण नहीं हो सकता। यह आधिदैविक पक्ष है।

आधिभौतिक पक्ष में सन्तान द्वारा अपने माता-पिता आदि एवं अपने गुरु की सेवा-शुश्रूषा करके उनसे स्नेह और आशीर्वाद चाहना भी 'यज्ञ' है, जिसे पितृ-यज्ञ कहते हैं। आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर की प्रार्थना करना और उससे धर्माचरण आदि की प्रेरणा की याचना करना भी 'यज्ञ' कहलाता है, इसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'यजुरुन्नो भवतीति वा' अर्थात् जो यजुर्वेद के मन्त्रों से संपृक्त होता है अर्थात् जिसमें यजुर्मन्त्रों की प्रचुरता होती है, उसे 'यज्ञ' कहते हैं। यह आधियाज्ञिक अर्थ है।

आधिदैविक पक्ष में जिस यजन क्रिया में याजुषी छन्द रश्मियाँ संयोज्य पदार्थों को विशेष रूप से सिञ्चित करती हैं अर्थात् संयोगादि क्रियाओं में याजुषी छन्द रश्मियों की विशेष भूमिका होती है, इस कारण यजन प्रक्रिया को 'यज्ञ' कहते हैं। हम यह बात जानते हैं कि आकाश तत्त्व याजुषी छन्द रश्मियों से ही मिलकर निर्मित होता है। इसलिए ऋषियों ने कहा है— अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम् (गो.पू.२.२४)। जब दो पदार्थों के बीच आकर्षण आदि प्रक्रियाएँ होती हैं, उस समय आकाश तत्त्व में संकुचन होता है। उसके कारण ही दो पदार्थ परस्पर निकट आ पाते हैं और इस संकुचन में यजु रश्मियाँ ही विशेष भूमिका निभाती हैं। इसी का संकेत करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— अन्तरिक्षं यजुषा (जयति) (श.ब्रा.४.६.७.२)। इसी बिन्दु को दृष्टिगत रखते हुए एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा— अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः (ष.ब्रा.१.५)। इसी बात को महर्षि जैमिनी ने इस

प्रकार कहा—

(प्रजापतिः) भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त तदिदमन्तरिक्षमभवत् (जै.उ.१.१.४)।

आधिभौतिक अर्थ में राष्ट्र को अन्नादि से समृद्ध करना भी 'यज्ञ' कहलाता है। ध्यातव्य है कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने यजु के विषय में लिखा है— अन्नमेव यजुः (श.ब्रा. १०.३.५.६)। आध्यात्मिक पक्ष में ब्रह्मानन्द का पान करना भी 'यज्ञ' कहलाता है, क्योंकि यजु का अर्थ ब्रह्म भी है, जैसा कि कहा है— ब्रह्म यजुः (मै.सं.३.२.३; काठ.सं.२०.१)।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार महर्षि उपमन्यु के पुत्र वा अनुयायी महर्षि औपमन्यव का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः' अर्थात् जिसमें कृष्णाजिनों की प्रचुरता रहती है, उसे यज्ञ कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिन क्रियाओं में अति तीव्रगामी आकर्षण आदि बलों से युक्त कणों की यजन क्रिया होती है, उसे 'यज्ञ' कहते हैं। कृष्णाजिन के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.३.१२ पठनीय है। तदनन्तर अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'यजूंष्येनं नयन्तीति वा' अर्थात् यजु रश्मियाँ जिन क्रियाओं को वहन करती हैं, वे क्रियाएँ 'यज्ञ' कहलाती हैं।

इस प्रकार हम यज्ञवाची पन्द्रह नामों में से मुख्य नाम यज्ञ की व्याख्या कर चुके हैं। अब हम यज्ञवाची अन्य नामों की क्रमशः संक्षिप्त व्याख्या करते हैं—

२. वेनः — [वेनः = वेनति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), वेनः मेधाविनाम (निघं.३.१५), अयं वै वेनोऽस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाचोऽन्ये तस्माद् वेनः (ऐ.ब्रा.१.२०)] संयोगादि क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु, विभिन्न प्राण रश्मियाँ एवं विद्युत् सभी आकर्षण आदि बलों से युक्त होकर सक्रिय होते हैं, इसलिए इन क्रियाओं को 'वेन' कहते हैं।

३. अध्वरः — [ध्वरति वधकर्मा (निघं.२.१९)] जिन यजन क्रियाओं में किसी की हिंसा नहीं होती, उन्हें 'अध्वर' अर्थात् यज्ञ कहते हैं। यह पद स्वयं इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि किसी भी याग में किसी भी प्राणी की बलि देना वेदविरुद्ध कर्म है। इस कारण यह भयंकर पाप है।

आधिदैविक पक्ष में जब असुर रश्मि आदि पदार्थ देव पदार्थों की यजन क्रियाओं में कोई भी हिंसा नहीं कर पाते अर्थात् बाधा नहीं पहुँचा पाते, तभी यजन क्रिया पूर्ण हो पाती है। आध्यात्मिक पक्ष में भी अहिंसा महाव्रत का पूर्ण रूप से पालन करने वाला साधक ही

ब्रह्मयज्ञ की सफलता को प्राप्त कर सकता है।

४. मेधः — यह पद 'मेधृ मेधाहिंसनयोः संगमे च' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थों की यजन प्रक्रियाओं में बाधक एवं हिंसक पदार्थों को नष्ट करके विभिन्न रश्मियों द्वारा, विशेषकर सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा विभिन्न कण आदि पदार्थों का संगमन होता है। इस कारण इस यजन वा संयोग प्रक्रिया को 'मेध' कहते हैं।

५. विदथः — यह पद 'विद ज्ञाने' और 'विद्लृ लाभे' धातुओं से 'रुविदिभ्यां ङित्' (उ.को.३.११५) से 'अथः' प्रत्यय एवं गुणप्रतिषेध से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि की वे क्रियाएँ, जिनमें विभिन्न कण, विकिरण एवं रश्मि आदि पदार्थ विज्ञानपूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करते वा परस्पर संगत होते हैं, 'विदथः' कहलाती हैं। ध्यातव्य है कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक क्रिया सर्वज्ञ चेतन सत्ता की सर्वोच्च बुद्धि द्वारा सम्पादित होती है।

६. नार्यः — यह पद 'नृ नये' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (अष्टा.३.१.१२४) से 'ण्यत्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि जिन क्रियाओं में विभिन्न पदार्थ इष्ट पदार्थों के निर्माण हेतु गमन करते हैं, एक-दूसरे का उसी दिशा में वहन करते हैं, उन क्रियाओं को 'नार्यः' कहते हैं।

७. सवनम् — विभिन्न प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं में नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियों एवं कणों से सूक्ष्म अंश पृथक् होकर नाना प्रकार की रश्मियों और कणों का निर्माण होता है, इस कारण इन क्रियाओं को 'सवनम्' कहते हैं। ध्यातव्य है कि जब दो कणों वा लोकों का परस्पर संयोग होता है, तब उत्पन्न कणों वा लोकों में छन्दादि रश्मियों की संख्या संरक्षित नहीं रहती, बल्कि कुछ रश्मियों के विखण्डन से सर्वथा नवीन रश्मियाँ उत्पन्न होती जाती हैं, मानो कारणरूप रश्मियों को निचोड़ कर उनके रसरूप अन्य रश्मियों की उत्पत्ति हुई हो।

८. होत्रा — इसके विषय में वाक् रश्मियों में पढ़ें, क्योंकि इस पद को वाङ्नाम में भी पढ़ा गया है।

९. इष्टिः — यह पद 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से यज्ञ पद की भाँति ही व्युत्पन्न होता है। हम पूर्व में 'यज्ञ' पद की व्याख्या कर चुके हैं। इसी तरह पाठक इष्टि की

व्याख्या भी समझ सकते हैं।

१०. देवताता — विभिन्न यजन क्रियाओं में देव अर्थात् दृश्य कणों, विकिरणों एवं छन्द व प्राणादि रश्मियों के नाना प्रकार के व्यवहार होते रहते हैं। इस कारण इन क्रियाओं को देवताता कहते हैं। यद्यपि इन क्रियाओं में असुरादि पदार्थों की भी कुछ भूमिका होती है, परन्तु देव पदार्थों की भूमिका की प्रधानता होने तथा सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का उपादान कारण देव पदार्थ ही होने के कारण इन क्रियाओं को 'देवताता' ही कहा जाता है।

११. मखः — इसके विषय में एक ऋषि का कथन है— मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्र-प्रतिषेधसामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति (गो.उ.२.५) अर्थात् इस सृष्टि में विभिन्न संयोग आदि क्रियाओं में कोई भी छिद्र नहीं रहता। इसका अर्थ यह है कि संयोग के समय जो भी रश्मियाँ अथवा कण इन क्रियाओं में भाग ले रहे होते हैं, उनके मध्य कहीं अनावश्यक रिक्त क्षेत्र नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाए, तो यजन क्रिया सफल नहीं हो सकती। यहाँ छिद्र शब्द का अर्थ दोष भी लिया जा सकता है, जिसका अर्थ यह है कि संयोग की प्रक्रियाओं में किसी प्रकार की विकृति नहीं आनी चाहिए और जो बाधक असुरादि पदार्थ विकृति उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं, उनका उन्मूलन अनिवार्य होता है। इस कारण भी यज्ञ को 'मख' कहते हैं।

१२. विष्णुः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा (निरु.१२.१८)। इसका आशय यह है कि यजन प्रक्रियाओं में विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म रश्मियाँ विविध प्रकार से कणों वा लोकों में प्रविष्ट होकर व्याप्त होती हैं। इस कारण इन क्रियाओं को विष्णु कहा जाता है। ये रश्मियाँ उन कणों वा लोकों को सब ओर से आच्छादित भी करती हैं। इस कारण से यजन क्रियाओं को 'विष्णु' कहते हैं।

१३. इन्दुः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— इन्दुः इन्धेरुनत्तेर्वा (निरु.१०.४१) अर्थात् यजन क्रियाओं में विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ जब विभिन्न कणों वा लोकों पर अपनी वृष्टि करती हैं, उस समय वे उन कणों वा लोकों में दीप्ति भी उत्पन्न करती हैं। इस कारण उन यजन क्रियाओं को 'इन्दु' भी कहते हैं।

१४. प्रजापतिः — सृष्टि की सभी यजन क्रियाएँ विभिन्न पदार्थरूपी प्रजाओं को उत्पन्न भी

करती हैं और उनका पालन व संरक्षण भी करती हैं। इसी प्रकार सृष्टि में उत्पन्न सभी प्राणधारी जीवों के शरीर भी इन्हीं यजन क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं और इन्हीं के द्वारा उनकी रक्षा भी होती है। इस कारण यज्ञ को 'प्रजापति' कहा गया है।

१५. धर्मः — सृष्टि के सभी उत्पन्न सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थ अपने से सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थों की यजन क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं और ये सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थ ही उन सभी पदार्थों के धारक, पोषक और संचालक होते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म कण और विशाल से विशाल आकाशीय लोक सभी की गतियों एवं उनके बलों आदि के पीछे विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों की यजन प्रक्रिया ही अपनी भूमिका निभाती है।

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। ऋत्विक् कस्मात्। ईरणः। ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा।

इसके पश्चात् निघण्टु ३.१८ में ऋत्विक् वाची आठ नाम दिये गये हैं। ये आठ नाम इस प्रकार हैं—

भारताः। कुरवः। वाघतः। वृक्तबर्हिषः। यतस्रुचः। मरुतः। सबाधः। देवयवः।

'ऋत्विक्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋत्विक् कस्मात् ईरणः ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ऋतुयाजी भवतीति वा'। यहाँ 'ईरणः' पद 'ईर क्षेपे' एवं 'ईर गतौ कम्पने च' इन दो धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि सृष्टि की विभिन्न यजन क्रियाओं में भाग लेने वाले वे पदार्थ, जो अन्य पदार्थों को प्रेरित करते, उन्हें प्रक्षिप्त करते और कम्पन करते व थरथराते हुए स्वयं गति करते एवं अन्य पदार्थों को भी ऐसी गति कराते हैं, वे पदार्थ ऋत्विक् कहलाते हैं। ये पदार्थ कण, विकिरण अथवा विशाल लोक कुछ भी हो सकते हैं। अब ग्रन्थकार आचार्य शाकपूणि का मत दर्शाते हुए लिखते हैं कि जो कण आदि पदार्थ ऋक् संज्ञक छन्द रश्मियों की प्रधानता में यजन कार्य करते हैं, वे ऋत्विक् कहलाते हैं। अन्त में उन्होंने पुनः अपना अन्य मत प्रस्तुत करते हुए कहा— जो ऋतु चक्र की भाँति निश्चित नियमों के आधार पर यजन कार्य करते हैं अथवा विभिन्न ऋतु रश्मियों का यजन करते हैं, वे पदार्थ 'ऋत्विक्' कहलाते हैं।

अब हम सभी ऋत्विग्वाची पदों की संक्षिप्त व्याख्या करते हैं-

१. भारताः — इसके विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— एष (अग्निः) उ वाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भारतेति। (श.ब्रा.१.४.२.२) अर्थात् अग्नि एवं प्राण तत्त्व अथवा अग्नि तत्त्व बल और गति देने वाले होकर सृष्टि के सभी पदार्थों, प्राणियों और वनस्पतियों के धारक और पोषक होने से 'भारत' कहलाते हैं। यहाँ वेद का कोई अध्येता 'भारताः' इस बहुवचनान्त पद को वेद में विद्यमान देखकर भरतवंशी राजाओं वा राजकुमारों का इतिहास मान सकता है और ऐसी भारी भूल अनेक कथित विद्वान् करते रहे हैं और कर भी रहे हैं। उन्हें यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए कि यहाँ 'भारत' शब्द न तो रूढ़ है और न ही योगरूढ़, बल्कि यह विशुद्ध यौगिक पद है, जो ऋत्विक् अर्थ में वेद में प्रयुक्त हुआ है। भले ही वह ऋत्विक् कोई कण, लोक अथवा रश्मि आदि जड़ पदार्थ अथवा राष्ट्र का जागरुक पुरोहित अथवा राजा हो अथवा ब्रह्मरूपी अग्नि में अपने आत्मा का हवन करने वाला कोई सिद्धयोगी हो, परन्तु निश्चित ही वह कोई व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता और न वेद में किसी मनुष्य आदि का इतिहास हो सकता है।

२. कुरवः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.२४ की व्याख्या में लिखा है— 'यः करोति येन वा स कुरुः कुरवो राजानो वा' अर्थात् नाना प्रकार की क्रियाओं का कर्त्ता अथवा साधन ही 'कुरु' कहलाता है, जिसका बहुवचन यहाँ 'कुरवः' दिया गया है। इस प्रकार वेद में 'कुरवः' पद को देखकर कोई वेद में कौरवों एवं पाण्डवों के इतिहास की मिथ्या कल्पना न करे, क्योंकि यह पद ग्रन्थकार ने 'ऋत्विक्' अर्थ में ही प्रयुक्त माना है। इस विषय में महर्षि जैमिनी का यह वचन बहुत महत्त्वपूर्ण है—

अप्येतर्हि वसिष्ठाः कुरुष्वग्रयाश्चैव मुख्याश्च मन्यन्ते। (जै.ब्रा.२.२१७)

यहाँ 'वसिष्ठ' पद बहुवचन में है, इस कारण यह कोई ऐतिहासिक ऋषि नहीं हो सकता। इसके साथ ही इन वसिष्ठों को कुरुओं में गिना गया है और कोई भी इतिहासकार वसिष्ठ ऋषि को कुरुवंशी नहीं कह सकता। वसिष्ठ के विषय में ऋषियों ने लिखा है—

प्राणो वै वसिष्ठ ऽऋषिः (श.ब्रा.८.१.१.६), सा ह वागुवाच (हे प्राण) यद्वाऽअहं वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति (श.ब्रा.१४.९.२.१४), अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)।

इसका तात्पर्य है कि प्राण एवं वाक् रश्मियाँ तथा अग्नि तत्त्व ये सभी पदार्थ 'वसिष्ठ' कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने कार्यों से सृष्टि के सभी पदार्थों को बसाते और बनाते हैं।

३. वाघतः — इस पद की व्याख्या प्राग्वर्णित मेधावीवाची पदों की व्याख्या में पठनीय है।

४. वृक्तबर्हिषः — यहाँ 'वृक्तम्' पद 'वृजी वर्जने' धातु से निष्पन्न होता है तथा 'बर्हिः' पद निघण्टु १.३ में अन्तरिक्षनामों में पढ़ा गया है। इस कारण जो पदार्थ आकाश तत्त्व को रोकने एवं छोड़ने अर्थात् उसका संकुचन एवं प्रसारण करके नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं, वे 'वृक्तबर्हिषः' ऋत्विक् कहलाते हैं।

५. यतस्रुचः — [स्रुक् = गौर्वै स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४), इमे वै लोकाः स्रुचः (तै.ब्रा. ३.३.१.२)] जो पदार्थ विभिन्न लोकों, कणों अथवा रश्मियों को नियन्त्रित करते हैं, वे 'यतस्रुक्' कहे जाते हैं।

६. मरुतः — नाना प्रकार की मरुत् रश्मियाँ विभिन्न सृजन क्रियाओं में ऋत्विक् का कार्य करती हैं, इस कारण 'मरुत्' को भी ऋत्विक् कहा गया है।

७. सबाधः — जो कण वा रश्मियाँ सूक्ष्म बाधक रश्मियों के साथ वर्तमान रहती हैं और यजन कार्यों को सम्पादित करती हैं, उन्हें 'सबाध' कहते हैं।

८. देवयवः — विभिन्न क्रियाओं में देव अर्थात् प्रकाशित वा दृश्य पदार्थों के मिश्रण तथा अमिश्रण की क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं, उन क्रियाओं को यज्ञ कहते हैं तथा उन क्रियाओं को करने वाले पदार्थ 'देवयव' कहलाते हैं।

हमने यहाँ सभी अर्थ आधिदैविक पक्ष को दृष्टिगत रखकर किये हैं। अन्य पक्षों के अर्थों को हम यहाँ विस्तारभय के कारण छोड़ रहे हैं।

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश।

तदनन्तर निघण्टु ३.१९ में याचना अर्थ वाली सत्रह धातुओं का संग्रह किया गया है। ये धातुएँ इस प्रकार हैं—

ईमहे। यामि। मन्महे। दद्धि। शग्धि। पूर्द्धि। रिरिढ्ढि। मिमिढ्ढि। मिमीहि। रिरीहि।

पीपरत्। यन्तारः। यन्धि। इषुध्यति। मदेमहि। मनामहे। मायते।

आधिदैविक पक्ष में याचना करने का अर्थ किसी पदार्थ को अपनी ओर आकृष्ट करना होता है।

दानकर्माण उत्तरे धातवो दश।

तदनन्तर निघण्टु ३.२० में दान करना अर्थ वाली दस धातुओं के नाम संग्रहित हैं—

दाति। दाशति। दासति। राति। रासति। पृणक्षि। पृणाति। शिक्षति। तुञ्जति। मंहते।

आधिदैविक अर्थ में दान करने का अर्थ रश्मि आदि पदार्थों का विसर्जन करके अन्य किसी पदार्थ को देना मानना चाहिये।

अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः।

इसके पश्चात् निघण्टु ३.२१ में चार धातुएँ अध्येषणा अर्थ में लिखी गई हैं। अध्येषणा का तात्पर्य विशेष रूप से याचना वा इच्छा करना अथवा खोजना है। इन अर्थों वाली चार धातुएँ इस प्रकार हैं—

परिस्रव। पवस्व। अभ्यर्ष। आशिषः।

स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ।

तत्पश्चात् निघण्टु ३.२२ में सोने (शयन क्रिया) के अर्थ में दो धातुओं का संग्रह किया गया है। वे धातुपद इस प्रकार हैं—

स्वपिति। सस्ति।

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश। कूपः कस्मात्। कु पानं भवति। कुप्यतेर्वा।

इसके पश्चात् निघण्टु ३.२३ में अगले १४ नाम कूपवाची पढ़े गये हैं। ये चौदह नाम इस प्रकार हैं—

कूपः। कातुः। कर्त्तः। वव्रः। काटः। खातः। अवतः। क्रिविः। सूदः। उत्सः। ऋश्यदात्। कारोतरात्। कुशयः। केवटः।

यहाँ 'कूपः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कूपः कस्मात् कु पानं भवति कुप्यतेर्वा'। यहाँ स्कन्दस्वामी से लेकर वे सभी भाष्यकार, जिनके भाष्य को मैंने देखा है, इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'कूप कुएँ को कहते हैं और कूप इस कारण कहते हैं, क्योंकि उससे पानी निकालकर पीना कठिन होता है और जब प्यासे व्यक्ति के पास कुएँ से पानी निकालने का साधन न हो, तब उसे क्रोध आता है। इस कारण कुएँ को कूप कहते हैं।'

हमें इस निर्वचन की यह व्याख्या न तो तर्कसंगत प्रतीत होती है और न इस ग्रन्थ के स्तर के अनुकूल ही। महर्षि यास्क का काल महाभारत काल के लगभग समकक्ष माना जाता है। तब जिस महाभारत काल में उच्च स्तर का विज्ञान और तकनीक विद्यमान था, उस समय कुएँ से पानी खींचना भी कठिन माना जाए और इसके कारण कुएँ को कूप कहा जाए और उसका उपर्युक्त निर्वचन करना पड़े, यह हमें कदापि स्वीकार्य नहीं है। इस निर्वचन की उपर्युक्त व्याख्या से भारतवर्ष की वैज्ञानिक उन्नति पर गम्भीर प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है और एक ऐसा भारत हमारे सम्मुख प्रकट होता है, जिसमें पेयजल व्यवस्था भी समुचित रूप से उपलब्ध नहीं थी। जहाँ कुएँ से जल खींचने के लिए रस्सी जैसी व्यवस्था भी सर्वसुलभ नहीं थी। फिर कोई कैसे मान सकता है कि वैदिक काल में भारत ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से बहुत उन्नत था? कैसे कोई उस भारतवर्ष को अत्यन्त पिछड़ा, असभ्य एवं नितान्त अनपढ़ और जंगली नहीं मानेगा?

यह बड़े खेद की बात है कि वेद की यौगिकता हजारों वर्ष पूर्व ही लुप्त होकर रूढ़िवादिता में परिवर्तित हो गई। यहाँ संस्कृत भाषा के बड़े-बड़े पण्डित, साहित्यकार एवं वैयाकरण हुए। कुछ अंशों में आज भी आर्यसमाजी एवं पौराणिक (कथित सनातनी) समाज में विद्यमान हैं। ये विद्वान् विभिन्न पदों की पाण्डित्यपूर्वक अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति करने में सक्षम हैं, परन्तु वे विद्वान् सारा श्रम व समय विभिन्न वाचकों की व्युत्पत्तियों और निर्वचनों पर व्यय करते हैं। उनके पास शब्दों का विशाल भण्डार है, जिसमें वे सदैव रमण करते रहते हैं। जिसके पास जितने अधिक शब्द हैं, शब्दों की प्रकृति, प्रत्यय एवं निर्वचन का जितना अधिक ज्ञान है, वे उतने ही अधिक बड़े पण्डित माने जाते हैं, परन्तु शोक की बात यह है कि वे वाचकों से बाहर निकलकर वाच्यरूप पदार्थों को न कभी जान पाते और न जानने का प्रयास करते। यही कारण है कि आज वेदविद्या अप्रासंगिक और निरुपयोगी

हो चुकी है। आज वेदादि शास्त्र विज्ञान के ग्रन्थ नहीं, बल्कि संस्कृत साहित्य (गद्य एवं पद्य) के ग्रन्थ मात्र रह गये हैं और जिनकी पहुँच प्रवचनपटु, कर्मकाण्डोपजीवी एवं साहित्यविलास में रमण करने वाले कुछ लोगों तक ही रह गई है। वेद के गौरव के विनाश का सबसे बड़ा कारण यही है।

अब हम ग्रन्थकार द्वारा किये 'कूप' पद के निर्वचन पर अपने ढंग से विचार करते हैं-

यहाँ हम 'कुप क्रोधे' धातु के साथ 'कुप भाषार्थः' धातु का ग्रहण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं और उसमें 'णिच्' प्रत्यय का अभाव छान्दस प्रयोग मानते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त निर्वचन का अभिप्राय यह है कि इस ब्रह्माण्ड में कूप नामक ऐसे विशाल विवरनुमा क्षेत्र होते हैं, जिनको पी जाना अर्थात् उनको मिटाना वा नष्ट कर देना अथवा संरक्षित रखना बहुत कठिन होता है। इसका आशय यह हुआ कि ये क्षेत्र ऐसे विवर होते हैं, जो न तो मिटते हैं और न एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, बल्कि ये स्थान परिवर्तन करते हुए भारी उथल-पुथल मचाते रहते हैं। ऐसे क्षेत्र सूर्यादि तारों में प्रचुरता से पाये जाते हैं।

'कुप क्रोधे' धातु का प्रयोग यह बतलाता है कि ये क्षेत्र अपने चारों ओर विद्यमान पदार्थ को विक्षुब्ध करते रहते हैं और स्वयं भी सदैव विक्षुब्ध ही रहते हैं। यहाँ 'कुप भाषार्थः' धातु का प्रयोग मानने पर यह सिद्ध होता है कि ये विवर तीव्र ध्वनियाँ करते हुए चमकते रहते हैं। इनमें प्रवेश करते हुए पदार्थ की धाराएँ प्रकाशयुक्त होती हैं। महर्षि तित्तिर का 'एता (कूप्याः) वै तेजस्विनीरापः' (तै.आ.१.२४.२) यह कथन हमारे इस मत की पुष्टि करता है कि कूप पद के निर्वचन में 'कुप क्रोधे' के साथ-२ 'कुप भाषार्थः' धातु का भी प्रयोग मानना चाहिए। इस निर्वचन में 'कुपानम्' पद यह दर्शाता है कि तारों के अन्दर थरथराते, उत्तेजित होते और घोर गर्जना करते हुए इन कूपनुमा क्षेत्रों में पदार्थ का प्रवेश अति कुत्सित रूप में होता है अर्थात् यह प्रवेश अति तीव्र गति से तीक्ष्णतापूर्वक होता है, न कि सहजतापूर्वक। इसलिए भी इन विवरों को कूप कहते हैं। इस प्रकार 'कूपः' शब्द के निर्वचन से तारों का एक गम्भीर विज्ञान प्रदर्शित होता है।

कूप के निर्वचन का प्रचलित अर्थ पशुओं के सन्दर्भ में तो उचित माना जा सकता है, क्योंकि वे कुएँ से पानी नहीं पी सकते हैं अथवा जंगल में भटका हुआ पथिक भी कुएँ से बिना साधन पानी नहीं पी सकता और प्यासे कुएँ में जल देखकर निश्चय ही दुःखी होते

होंगे, परन्तु एक वेदद्रष्टा महान् वैज्ञानिक महर्षि यास्क का निर्वचन इतना निम्न स्तर का नहीं हो सकता।

कूपवाची पदों में 'कूप' स्वयं एक पद है, जिसकी व्याख्या हम कर चुके हैं। अब हम अन्य शेष पदों की भी क्रमशः संक्षिप्त व्याख्या करते हैं—

२. **कातुः** — यह पद 'कै शब्दे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जो इस बात का परिचायक है कि तारों के अन्दर पाये जाने वाले विवर इस प्रकार ध्वनि उत्पन्न करते हैं, जैसे किसी नदी में उठ रहे पानी के भँवर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

३. **कर्त्तः** — यह पद 'कृती छेदने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह इस बात का परिचायक है कि इन विवरों के अन्दर जो भी पदार्थ प्रवेश करता है, उस पदार्थ का वहाँ विखण्डन होने लगता है और बड़े कण विखण्डित होकर छोटे-२ कणों में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर वे सूक्ष्म कण तारों के केन्द्रीय भाग की ओर धीरे-२ बढ़ते रहते हैं।

४. **वव्रः** — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य और आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने अपने 'निघण्टु-निर्वचनम्' ग्रन्थ में लिखा है— वृञ् सम्भक्तौ (स्वा.उभ. ८), घञर्थे कविधानम् (अष्टा.३.३.५८ वा.) इति कः, कृञादीनां के द्वे भवतः (अष्टा. ६.१.१२ वा.)।

पाणिनीय धातुपाठ एवं क्षीरस्वामी विरचित 'क्षीरतरंगिणी' नामक ग्रन्थ में 'वृञ् सम्भक्तौ' के स्थान पर 'वृङ् सम्भक्तौ' धातु है। सम्भवतः 'निघण्टु-निर्वचनम्' में मुद्रण त्रुटि रह गई हो। यह पद यह दर्शाता है कि ये विवर पदार्थ को सूक्ष्म रूप में परिणत करके सूर्य के आन्तरिक भाग की ओर भेजकर निरन्तर इन लोकों की परिचर्या करते रहते हैं। इनके अभाव में सूर्य के बाहरी भागों से पदार्थ का अन्दर की ओर जाना कठिन होता है।

५. **काटः** — यह पद 'कटे वर्षावरणयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इन विवरों में सूर्यलोक के तल से पदार्थ की धाराएँ बरसती हुई निरन्तर उनको आवृत करने का प्रयास करती रहती हैं, परन्तु वे विवर उस पदार्थ को अन्दर की ओर खींचते हुए आगे प्रवाहित करते रहते हैं। इस कारण वे विवर कभी भी बन्द नहीं होते। हाँ, वे स्थानान्तरित अवश्य होते रहते हैं।

६. **खातः** — यह पद 'खनु अवदारणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि वे

विवर खोदे हुए विशाल कुएँ अथवा गुफाओं जैसे प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही वे अपने अन्दर आने वाले पदार्थ को खोदते-तोड़ते रहते हैं।

७. अवतः — यह पद 'अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसा-आदान-भाव-वृद्धिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे इन विवरों के विषय में कई महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. ये कूप सूर्यादि लोकों के रक्षक होते हैं, क्योंकि ये सूर्य के आन्तरिक भाग में ईन्धनरूपी पदार्थ पहुँचाने का कार्य करते हैं।
२. सूर्य के अन्दर और उसके ऊपरी पृष्ठ पर पदार्थ की विभिन्न धाराओं के प्रवाह में ये महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
३. ये सूर्यादि लोकों की दीप्ति का कारण तो होते ही हैं, बल्कि इसके साथ ही ये सूर्य पर कार्यरत विद्युत् चुम्बकीय बलों को उत्पन्न व संचालित करने में अपनी भूमिका निभाते हैं।
४. ये बाहरी भाग से पदार्थ का आभ्यन्तर भाग में संचरण करके तारों के केन्द्रीय भाग को तृप्त करते रहते हैं।
५. ये कूप सूर्यादि लोकों में अन्दर तक धँसे रहते हैं अर्थात् ये बहुत गहरे होते हैं।
६. ये विवर सूर्यादि लोकों की नाना प्रकार की क्रियाओं के नियन्त्रक होते हैं।
७. ये विवर अपने निकटवर्ती क्षेत्रों से पदार्थ को आकर्षित करते हुए बहुत सक्रिय रहते हैं।
८. ये विवर अपने क्षेत्र में विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ को ग्रहण करके अपने में समा लेते हैं।
९. ये विवर हिंसक रूप होकर आए हुए पदार्थ को छिन्न-भिन्न वा विखण्डित करते रहते हैं।
१०. ये विवर पदार्थ की मात्रा के अनुसार आकार की दृष्टि से घटते-बढ़ते रहते हैं।

८. क्रिविः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य १०.२० में लिखा है— 'कृणोति हिनस्ति येन तत्'। इसका अर्थ यह है कि ये विवर अति हिंसक विक्षोभकारी क्रियाओं से युक्त होते हैं। ये क्रियाएँ भी पदार्थ को विखण्डित करके तारों के

आभ्यन्तर भाग में जाने और उपयोग में आने योग्य बनाती हैं।

९. सूदः — यह पद 'सूद क्षरणे हिंसायाञ्च' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि तारों के इन विवरों में हिंसक क्रियाओं के द्वारा जो सूक्ष्म पदार्थ उत्पन्न होता है, वह आभ्यन्तर भाग की ओर रिसता हुए शनैः-शनैः जाता है, न कि तीव्र धाराओं के रूप में।

१०. उत्सः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ३.६८ की व्याख्या में लिखा है— 'उनत्ति क्लिद्यतीति उत्सः'। उधर ग्रन्थकार ने इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'उत्सः उत्सरणाद्वा उत्स्यन्दनाद्वा उनत्तेर्वा'। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन विवरों में पदार्थ सूक्ष्म होता हुआ अन्दर की ओर रिसता रहता है, परन्तु इन विवरों के आन्तरिक पृष्ठ अर्थात् दीवारनुमा भाग जल में उठे भँवरों की भाँति चक्राकार घूमते हुए प्रतीत होते हैं और ऐसा करते हुए पदार्थ के कुछ भाग को ऊपर की ओर उछालते-फेंकते रहते हैं।

११. ऋश्यदात् — यहाँ ऋश्य पद 'ऋषि गतौ' धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु के कई अर्थ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में दिये हैं। ये अर्थ इस प्रकार हैं— जाना, आना, मार डालना, धकेलना, बहना, ग्रहण करना आदि। इस प्रकार 'ऋश्यदात्' पद से यह स्पष्ट होता है कि इन विवरों में पदार्थ जाता-आता, बहता एवं एक-दूसरे को धकेलता हुआ अति तीव्र वेग से विलोडित होता हुआ खण्ड-२ होता है। जैसे दही को बिलोया जाता है, वैसी ही क्रिया अति प्रचण्ड वेग और बल से इन विवरों में होती रहती है।

१२. कारोतरात् — इस पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद-भाष्य १.११६.७ में लिखा है— 'कारान् व्यवहारान् कुर्वतः शिल्पिन उ इति वितर्के तरति येन तस्मात्'। इसका आशय यह है कि इन विवरों के अन्दर पदार्थ नाना प्रकार की क्रियाओं को करता हुआ, उसमें अनेक प्रकार का संघर्षण होता हुआ, आभ्यन्तर भाग में जाने योग्य सूक्ष्म होकर तैरता हुआ-सा उन विवरों के निचले भाग में पहुँचता है, उसके पश्चात् रिसकर अन्दर प्रवेश करने लगता है। इस कारण इन विवरों को 'कारोतर' कहते हैं।

१३. कुशयः — यह पद यह दर्शाता है कि ये विवर कुत्सित रूप से सूर्यादि लोकों में सोए

अर्थात् लेटे रहते हैं। इसका आशय यह है कि ये विवर सर्वथा सीधे नहीं होते, बल्कि टेढ़े-मेढ़े गुफाओं की भाँति विद्यमान होते हैं। इस कारण इनकी तुलना नदियों में उठते हुए भँवरों से सर्वथा अनुकूल नहीं है, परन्तु यह भी सत्य है कि आकार के अतिरिक्त अन्य समानताएँ बहुत अधिक हैं।

१४. केवटः — यह पद 'केवृ सेवने' धातु से 'शकादिभ्योऽटन्' (उ.को.४.८२) से 'अटन्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तारों में पाये जाने वाले विवर तारों के बाहरी भाग में विद्यमान पदार्थ को पूर्वोक्तानुसार तारों के उपयोग में आने योग्य बनाकर मानो तारों की सेवा ही करते हैं। इनके अभाव में कोई भी तारा अपने स्वरूप को बनाये नहीं रख सकता।

स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दश। स्तेनः कस्मात्। संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

तदनन्तर निघण्टु ३.२४ में चौदह नाम स्तेनवाची कहे गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं-

तृपुः। तक्वा। रिभ्वा। रिपुः। रिक्वा। रिहायाः। तायुः। तस्करः। वनर्गुः। हुरश्चित्। मुषीवान्। मलिम्लुचः। अघशंसः। वृकः।

यहाँ 'स्तेनः' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'स्तेनः कस्मात् संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः' अर्थात् स्तेन उस पदार्थ को कहते हैं, [पापः = पापः पाताऽपेयानाम् पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा पापत्यतेर्वा स्यात् (निरु.५.२)] जो संयोज्य कण आदि पदार्थों को बार-२ अपने मार्ग से पतित करने का प्रयास करता रहता है और अन्य बाधक रश्मियों को अपने साथ मिलाकर संयोग की प्रक्रिया में बाधा डालता रहता है। आधिभौतिक पक्ष में स्तेन चोर को कहते हैं, क्योंकि यह चोरी आदि के पापों को एकत्र करता रहता है। यह ध्यातव्य है कि आधिदैविक स्तेन नामक पदार्थ पापक नामक पदार्थों का भण्डार होता है।

अब हम स्तेन संज्ञक पदार्थ के वाचक नामों पर क्रमशः संक्षिप्त विचार करते हैं—

१. तृपुः — यह पद 'तृप तृप्तौ' धातु से 'ईषेः किच्च' (उ.को.१.१३) के बाहुलक प्रयोग

से 'उ' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त स्तेन संज्ञक पदार्थ जब किसी देव पदार्थ पर आक्रमण करता है, तब वह आक्रमण करने से पूर्व अति उत्तेजित और आक्रामक होता है। यह आक्रमण करके देव पदार्थों के कार्यों में बाधा डालकर ही शान्त और तृप्त होता है, इस कारण इसे 'तृपु' कहते हैं।

२. तक्वा — यह पद 'तक सहने' और 'तकति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) धातुओं से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ प्रतिरोधी शक्ति से सम्पन्न होकर देव पदार्थ पर आक्रमण करने के लिए गति करता है। प्रतिरोधी शक्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह इन्द्ररूप पदार्थ के साथ संघर्ष करता है। वर्तमान में कथित डार्क एनर्जी 'स्तेन' अर्थात् 'तक्वा' तथा तीव्र विद्युत् तरंगें 'इन्द्र' कहाती हैं।

३. रिभ्वा — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में लिखा है— ''रभ राभस्ये' (भ्वा.आ.७०१)। पूर्ववद्वनिप्। पृषोदरादित्वाद् इकारो गुणाभावश्च' [रभसः = महन्नाम (निघं.३.३), वेगम् (म.द.य.भा.२१.३८)] अर्थात् स्तेन संज्ञक असुर पदार्थ जब देव पदार्थ पर आक्रमण करता है, तब उसकी गति तीव्र हो जाती है।

४. रिपुः — यह पद 'रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु' धातु से निष्पन्न होता है। यहाँ 'फकार' को 'पकार' आदेश छान्दस प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि जब यह अप्रकाशित पदार्थ प्रकाशित पदार्थ के कार्यों में अवरोध डालता है, तब यह हिंसक हो उठता है।

५. रिक्वा — यह पद 'रिच वियोजनसंपर्चनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ संयोजनीय अथवा संयुक्त हुए देव पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें पृथक्-२ कर देता है।

६. रिहायाः — यह पद 'रिह कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसके विषय में डॉ. सुद्युम्नाचार्य और आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में लिखा है— ''रिह कत्थनादौ' इति क्षीरस्वामी। रेपस्नेकुणसूधस्विहायस्' (स.क.२.१.३४४) इत्यादिनासिः, आयुडागमो गुणाभावश्च निपात्यते। रिपुवदर्थः'।

इसका अर्थ रिपु के समान समझें। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब 'रिपु' और 'रिहाया' दोनों समान अर्थ रखते हैं, तब एक ही पदार्थ के दो नाम रखने की क्या

आवश्यकता है? इस विषय में हमारा मत यह है कि सर्वथा समान अर्थों के लिए एक ही पदार्थ के दो नाम नहीं हो सकते। इस कारण इन दोनों में कुछ भेद अवश्य होना चाहिए। वह भेद इनके अक्षरों से ज्ञात होता है। रिपु नामक पदार्थ रिहाया नामक पदार्थ की अपेक्षा लघुतर होता है और रिहाया अधिक बृहत् एवं व्यापक होता है। यही दोनों में भेद है। अक्षरों के प्रभाव के लिए पाठक पण्डित रघुनन्दन शर्मा कृत वैदिक सम्पत्ति नामक ग्रन्थ पढ़ें।

७. तायुः — यह पद 'तायृ सन्तानपालनयोः' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ विभिन्न लोकों के मध्य आकाश तत्त्व को फैलाने में सहायक होता है। सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में तारे एवं ग्रह आदि लोकों के मध्य दूरियों को बढ़ाने में इसी पदार्थ की विशेष भूमिका होती है और इन दूरियों के बढ़ने अर्थात् कक्षाओं के व्यवस्थित होने से ही उन सब लोकों का संरक्षण होता है।

८. तस्करः — इसके विषय में खण्ड ३.१४ देखें।

९. वनर्गुः — यह पदार्थ [वनम् = सम्यग् विभाजकं किरणं (तु.म.द.ऋ.भा.१.७०.५), वनम् रश्मिनाम (निघं.१.५)] विभिन्न विभाजक किरणों में व्याप्त रहते हुए नाना प्रकार के पदार्थों के विभाजन में अपनी भूमिका निभाता है।

१०. हुरश्चित् — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य और आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में लिखा है— "'हुर्च्छा कौटिल्ये' (भ्वा.प.१२६)। क्विप्। 'राल्लोपः' (अष्टा.६.४.२१)। इति छकारलोपः। 'चिती सञ्ज्ञाने' (भ्वा.प.३२)। क्विप्। हुरः कौटिल्यानि चेतयते'। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ कुटिल गतियों वाले तथा देव पदार्थों को विकृत करने का प्रयास करने वाले अन्य सभी असुरादि पदार्थों को सक्रिय करता है, जिसके कारण संयोगादि क्रियाएँ और अधिक बाधित होती हैं।

११. मुषीवान् — यह पदार्थ देव पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें खण्डित कर देता है और फिर उन खण्डित पदार्थों से कुछ पदार्थों को सहसा ही उठाकर दूर फेंक देता है।

१२. मलिम्लुचः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए डॉ. सुद्युम्नाचार्य और आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में लिखा है—

'मलमस्यास्ति। ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः (अष्टा.

५.२.११४) इति मलिनो निपात्यते। 'म्लुचु स्तेयकरणे' (भ्वा.प.११६)। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा.३.१.१३५)। मलिमश्चासौ म्लुचश्च मलिम्लुचः। पृषोदरादित्वेन नलोपः।'

पाणिनीय धातुपाठ एवं क्षीरस्वामी विरचित क्षीरतरङ्गिणी में 'म्लुचु' धातु गति अर्थ में दी गई है। इस कारण हम भी इसी अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में इसके दो अर्थ दिये हैं— 'जाना और स्थानान्तर करना'। इस कारण यह पदार्थ अनेक प्रकार की मलीन रश्मि आदि पदार्थों के रूप में विद्यमान रहकर इस ब्रह्माण्ड में स्थान-२ पर गति करता रहता है और जहाँ भी देव पदार्थ निर्बल होता है, वहीं उस पर आक्रमण कर देता है।

१३. अघशंसः — यहाँ 'शंसति' धातु 'अर्चतिकर्मा' माननी चाहिए। (देखें— निघण्टु ३.१४) यह पदार्थ पूर्वोक्त पापसंज्ञक पदार्थों को सक्रिय करता है, इस कारण इसे 'अघशंस' कहते हैं।

१४. वृकः — यह पदार्थ विभिन्न देव पदार्थों को रोकने का कार्य करता है अर्थात् उनकी क्रियाओं में बाधा डालता है, इस कारण 'वृक' कहलाता है।

निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट्। निर्णीतं कस्मात्। निर्णिक्तं भवति।

निघण्टु ३.२५ में अगले छः नाम निर्णीत तथा अन्तर्हित दोनों के वाचक दिये गये हैं। वे छः नाम इस प्रकार हैं—

निण्यम्। सस्वः। सनुतः। हिरुक्। प्रतीच्यम्। अपीच्यम्।

यहाँ 'निर्णीत' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'निर्णीतं कस्मात् निर्णिक्तं भवति' अर्थात् जो पूर्ण रूप से शोध किया हुआ होता है, उसे निर्णीत कहते हैं। हम जानते हैं कि जब हम विचारों के अन्तर्द्वन्द्व में फँसे होते हैं, तब विषय के विभिन्न पक्षों पर शोध करके जो निष्कर्ष निकालते हैं, हमारा वह पक्ष 'निर्णीत' माना जाता है।

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च। दूरं कस्मात्। द्रुतं भवति। दुरयं वा।
पुराणनामान्युत्तराणि षट्। पुराणं कस्मात्। पुरा नवं भवति।
नवनामान्युत्तराणि षळेव। नवं कस्मात्। आनीतं भवति॥ १९॥

तदनन्तर निरुक्त ३.२६ में आगामी पाँच नाम दूरवाची दिये गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

आके। पराके। पराचैः। आरे। परावतः।

यहाँ 'दूरम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'दूरं कस्मात् द्रुतं भवति दुरयं वा' अर्थात् जो आगे-२ तीव्रता से भागा हुआ होता है अथवा जो कठिनाई से प्राप्त होने योग्य होता है, उसे दूर कहते हैं।

तदनन्तर निघण्टु ३.२७ में आगामी छः नाम पुराणवाची पढ़े गये हैं। ये छः नाम इस प्रकार हैं—

प्रत्नम्। प्रदिवः। प्रवयाः। सनेमि। पूर्व्यम्। अह्नाय।

'पुराणम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पुराणं कस्मात् पुरा नवं भवति' अर्थात् जो पूर्व काल में नया होता है। इसका आशय यह है कि जो पहले कभी नया था, वही आज पुराण अर्थात् पुराना कहलाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक ग्रन्थ पुराण कहलाते हैं। ऋषि दयानन्द ने ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों को पुराण कहा है, क्योंकि इन ग्रन्थों में प्राचीन ऋषि-मुनियों के कुछ नामोल्लेख के साथ-२ सृष्टि रचना का आश्चर्यजनक इतिहास अर्थात् सृष्टि विज्ञान है।

तत्पश्चात् निघण्टु ३.२८ में अगले छः नाम नवीनवाचक दिये गये हैं। वे छः नाम इस प्रकार हैं—

नवम्। नूत्नम्। नूतनम्। नव्यम्। इदा। इदानीम्।

यहाँ 'नवम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'नवं कस्मात् आनीतं भवति' अर्थात् जो सद्यः लाया हुआ होता है अर्थात् जो अभी-२ आया है अर्थात् बना है, उसे नव अथवा नवीन कहते हैं।

* * * * *

= विंशः खण्डः =

द्विश उत्तराणि नामानि षड्विंशतिः। प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य।

प्रपित्वे प्राप्ते। अभीकेऽभ्यक्ते ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि॥ [ऋ.८.४.३]
अभीके चिदुलोककृत्॥ [ऋ.१०.१३३.१]
इत्यपि निगमौ भवतः।

तदनन्तर निघण्टु ३.२९ में दो-दो एक साथ पढ़े हुए कुल २६ नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं। वे २६ नाम इस प्रकार हैं—

प्रपित्वे। अभीके। दभ्रम्। अर्भकम्। तिरः। सतः। त्वः। नेमः। ऋक्षाः। स्तृभिः। वम्रीभिः। उपजिह्विका। ऊर्दरम्। कृदरम्। रम्भः। पिनाकम्। मेना। ग्नाः। शेपः। वैतसः। अया। एना। सिषक्तु । सचते। भ्यसते। रेजते।

यहाँ दो-दो पदों के जोड़ों का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'प्रपित्वे' एवं 'अभीके' दोनों साथ-साथ लिखे गए हैं। इन दोनों का अर्थ समान ही है, जिनमें से प्रपित्वे का अर्थ 'प्राप्ते' और अभीके का अर्थ 'अभ्यक्ते' है। यहाँ प्राप्ते का अर्थ भी समीपस्थ है एवं अभ्यक्ते का अर्थ भी 'अभिमुख आया हुआ है' अर्थात् समीपस्थ है। इस कारण प्रपित्वे और अभीके दोनों निकटवर्ती पद समीपस्थ अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनमें से 'प्रपित्वे' पद के लिए एक निगम प्रस्तुत किया गया है— 'आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि'। हम यहाँ पूरे मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब॥ (ऋ.८.४.३)

इस मन्त्र का ऋषि देवातिथिः काण्व है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सतत गमन करने वाले प्राणापान व व्यान के त्रिक से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् बृहती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युत् बल पदार्थ का तीव्रता से संघनन करते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यथा, गौरः) [गौरः = गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भ्वा.) धातोः 'ऋज्रेन्द्राग्र' उ.२.२९ सूत्रेण निपातनात् साधु। अथवा = 'गो' इत्युपपदे रमु क्रीडायाम् (भ्वा.) धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते' सूत्रेण डः प्रत्ययः। विभक्ते श्चालुक् (वै.को.)। गौः =

गावो वै शक्वर्यः (जै.ब्रा.३.१०३), गौस्त्रिष्टुप् (तै.सं.७.५.१.५), जगती छन्दस्तद् गौः प्रजापतिर्देवता (मै.सं.२.१३.१४)] जिस प्रकार अथवा ज्यों ही शक्वरी, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों से परिपूर्ण लालमिश्रित गौर वर्ण वाले नाना प्रकार के घोष उत्पन्न करते हुए कॉस्मिक मेघ (तृष्यन्) प्यासे की भाँति तीव्र आकांक्षा व आकर्षण बलों से युक्त होकर (अपाकृतम्, इरिणम्) [आपः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), आपो वै दिव्यं नभः (श.ब्रा.३.८.५.३)] बन्धक शक्ति से सम्पन्न प्रेरक आकाश तत्त्व को धारण करने वाले वायु तत्त्व की ओर (एति, अव) गमन करते हैं, वैसे ही अथवा तभी (नः, आपित्वे, प्रपित्वे) इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राणापान एवं व्यान रश्मियाँ कॉस्मिक मेघ को बाँधने वाले आकाश तत्त्व के समीप आकर (तूयम्, आगहि) अति वेगपूर्वक उस आकाश तत्त्व में व्याप्त हो जाती हैं। इस व्याप्ति की प्रक्रिया को समझाते हुए कहा कि (कण्वेषु, सु, सचा) वे प्राणापान एवं व्यान रश्मियाँ आकाश तत्त्व तथा उस कॉस्मिक मेघ की अङ्गभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ अच्छी प्रकार मिश्रित होकर (पिब) कॉस्मिक मेघ की रश्मियों को अवशोषित करने लगती हैं।

भावार्थ— जब ब्रह्माण्ड में शक्वरी, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों से सम्पन्न लालमिश्रित गौर वर्ण वाले बलशाली नाना प्रकार के घोष उत्पन्न करने वाले कॉस्मिक मेघ उत्पन्न हो जाते हैं, तब वे घूर्णन करते हुए आकाश तत्त्व मिश्रित वायु के द्वारा तीव्ररूप से आकर्षित किये जाते हैं। वे कॉस्मिक मेघ इसी वायु तत्त्व एवं कॉस्मिक मेघ की आवरक कुछ छन्दादि रश्मियों के द्वारा ही घूर्णन करते हैं। वस्तुतः घूर्णन प्रक्रिया का प्रारम्भ सर्वप्रथम उसकी अपनी दिगादि रश्मियों के कारण होता है। उस समय वह वायु तत्त्व (कथित वैक्यूम एनर्जी) प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों के अतिरिक्त आकाश तत्त्व की अङ्गभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियों एवं उस कॉस्मिक मेघ के बाहरी भाग में विद्यमान सूक्ष्म रश्मियों में व्याप्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप कॉस्मिक मेघ तेजी से घूर्णन करते हुए सम्पीडित होता चला जाता है।

इस मन्त्र में 'प्रपित्वे' पद समीपस्थ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब अगले निगम में 'अभीके' पद का समीपस्थ अर्थ में प्रयोग हुआ है। ग्रन्थकार ने यह निगम इस प्रकार प्रयुक्त किया है— 'अभीके चिदु लोककृत्'। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु

वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ (ऋ.१०.१३३.१)

इस मन्त्र का ऋषि पैजवन सुदा है। इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि तीव्र भेदक वा आकर्षक बलों से युक्त कणों वा विकिरणों से उत्पन्न होती है। इस ऋषि के विषय में खण्ड २.२४ पठनीय है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द शक्वरी है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युत् तरंगें अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अस्मै, इन्द्राय) इन्द्ररूपी तीव्र विद्युत् तरंगों के [यहाँ षष्ठी अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है] (पुरोरथम्, शूषम्) [रथः = वज्रो वै रथः (तै.सं. ५.४.११.२)] अग्रभाग में वज्ररूप रश्मियाँ गमन करती हैं। वे रश्मियाँ शोषक बलों से युक्त होकर सम्मुख आने वाले असुरादि पदार्थों के बल को सोखने में समर्थ होती हैं। (सु, प्र, उ, अर्चत) वे वज्र रश्मियाँ अच्छी प्रकार से तीव्र होकर चमकती हैं और इन्हीं रश्मियों के कारण इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण शक्तियों से युक्त होता है। (समत्सु) [समत्सु = संग्रामनाम (निघं.२.१७)] वह इन्द्र तत्त्व बाधक असुरादि पदार्थों के साथ संग्राम में (संगे) असुर पदार्थ के सम्मुख (अभीके, चित्, उ) समीप आने पर (लोककृत्) नाना लोकों का धारण करने वाला इन्द्र तत्त्व (वृत्रहा) वृत्र संज्ञक विशाल आसुर मेघ अर्थात् ऐसे विशाल एवं अप्रकाशित मेघ को नष्ट करता है। (अस्माकम्) वह इन्द्र तत्त्व छन्द रश्मि के कारणरूप ऋषि पदार्थ अर्थात् तीक्ष्ण विकिरणों को (चोदिता, बोधि) प्रेरित करता और जगाता है अर्थात् इन्द्ररूप पदार्थ तीक्ष्ण भेदन क्षमता वाले विकिरणों को प्रेरित भी करता है और शिथिल वा दुर्बल हुए विकिरणों को सक्रिय भी करता है। (अन्यकेषाम्, धन्वसु, अधि) [धन्व = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] वह इन्द्र तत्त्व देव पदार्थों से इतर विभिन्न असुरादि बाधक पदार्थों के साथ संघर्ष के समय विभिन्न आकाश रश्मियों में विद्यमान (ज्याकाः) नियन्त्रक बलों को (नभन्ताम्) [नभ हिंसासाम्] नष्ट व नियन्त्रित करता है, जिससे वे पदार्थ देव पदार्थों की नाना प्रकार की संगति को बाधित नहीं कर पाते हैं।

भावार्थ— इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युत् तरंगों का अग्रभाग अति तीक्ष्ण बल से युक्त होता है। जब इन तरंगों का असुर ऊर्जा तथा असुर पदार्थ (वैदिक डार्क मैटर व डार्क एनर्जी) के साथ संघर्ष होता है, उस समय वे दोनों अति निकट आ जाते हैं। वे तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें असुर पदार्थ के विशाल समूह को नष्ट वा नियन्त्रित करके विभिन्न लोकों को धारण करती

हैं अर्थात् दूर फेंके जाते हुए लोकों को रोकती हैं। वे उन्हें प्रेरित करके उचित कक्षाओं में स्थापित करने में सहयोग करती हैं तथा विभिन्न बाधक अनिष्ट पदार्थों को नष्ट कर देती हैं। इस मन्त्र में 'अभीके' पद समीपस्थ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य। दभ्रं दभ्नोतेः। सुदम्भं भवति। अर्भकमवहृतं भवति।
उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः॥ [ऋ.१.१२६.७]
नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः॥ [ऋ.१.२७.१३]
इत्यपि निगमौ भवतः।

'दभ्रम्' एवं 'अर्भकम्' ये दोनों पद अल्प अर्थ के वाचक हैं। इनमें से 'दभ्रम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'दभ्रं दभ्नोतेः सुदम्भं भवति' अर्थात् यह पद 'दम्भु दम्भने' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो सरलता से दबाने या तोड़ने योग्य होता है अर्थात् जो सामर्थ्य की दृष्टि से हीन होता है, उसे दभ्रम् कहते हैं। इसके पश्चात् 'अर्भकम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अर्भकमवहृतं भवति' [अव = अवेति विनिग्रहार्थीयः (निरु.१.३)] अर्थात् सहजता से उठाकर ले जाने योग्य। इस प्रकार दभ्रम् एवं अर्भकम् दोनों का अर्थ अल्पसामर्थ्ययुक्त ही सिद्ध होता है। यहाँ 'दभ्रम्' पद के लिए जो निगम प्रस्तुत किया है, उस मन्त्र को हम पूर्ण रूप से प्रस्तुत करते हैं—

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ (ऋ.१.१२६.७)

इस मन्त्र का ऋषि रोमशा ब्रह्मवादिनी है। ऋषियों के विषय में हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' में लिख चुके हैं कि ऋषि नामक पदार्थ सूक्ष्म रश्मियों के रूप में ब्रह्माण्ड की प्राथमिक अवस्था में ही उत्पन्न हुआ था। उन्हीं ऋषि रश्मियों से विभिन्न मन्त्ररूपी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न हुई और जिस किसी ऐतिहासिक ऋषि ने जिस-२ मन्त्र पर विशेष अनुसन्धान किया, वह ऋषि उसी नाम से विख्यात हुआ, जिस अन्तरिक्षस्थ ऋषि से उस छन्द रश्मि की उत्पत्ति हुई थी। अब हम इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली अन्तरिक्षस्थ ऋषि के विषय में विचार करते हैं—

[लोम = लोमैव हिंकारः (जै.उ.१.३६.६), छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.६.४.१.६),

लोमानि हृदये श्रितानि (तै.ब्रा.३.१०.८.८), हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.६.२.१५)]

यहाँ लत्व को रेफ होना छान्दस प्रयोग है। इस प्रकार इस मन्त्र का ऋषि लोमशा हुआ अर्थात् जो सूक्ष्म रश्मियाँ त्रिवृत् स्तोम अर्थात् गायत्री छन्द समूह के मध्य में 'हिम्' रूप सूक्ष्म रश्मियों के रूप में होती हैं, उन्हें रोमशा कहते हैं। इन्हीं 'हिम्' रश्मियों से इस रश्मि की उत्पत्ति होती है। ध्यातव्य है कि रोमशा को यहाँ ब्रह्मवादिनी कहा है। इस कारण यह [ब्रह्म = ब्रह्म वै त्रिवृत् (तां.ब्रा.२.१६.४), वदति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] रश्मि त्रिवृत् स्तोमों के मध्य ही विचरण करने वाली अथवा व्याप्त होने वाली होती है। यहाँ स्पष्टतः ही अन्य स्तोमों में पायी जाने वाली 'हिम्' रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति का निषेध हो जाता है।

इसका देवता विद्वांसः और छन्द अनुष्टुप् है। [विद्वांसः = विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा.३.७.३.१०), ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षास्त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति (तां.ब्रा.१४.१.१३)] इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान त्रिवृत् एवं पञ्चदश नामक गायत्री छन्द रश्मि समूह इस अनुष्टुप् छन्द रश्मि के साथ मिलकर अग्नि तत्त्व में वृद्धि करके विभिन्न देव कणों में यजन प्रक्रिया को समृद्ध करता है।

आधिदैविक भाष्य— (अहम्) इस छन्द रश्मि की कारणरूप रोमशा ऋषि रश्मि अर्थात् 'हिम्' रश्मियाँ (गन्धारीणाम्, इव) विभिन्न वाक् रश्मियों का धारण और पोषण करने वाली 'ओम्' रश्मि के समान (अविका) विभिन्न छन्द रश्मियों की रक्षा करने वाली होती हैं अर्थात् जैसे 'ओम्' रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़कर सृष्टि निर्माण और उसके संरक्षण में अपनी आधारभूत भूमिका निभाती हैं, उसी प्रकार ये 'हिम्' रश्मियाँ भी वैसा ही करती हैं। जब 'ओम्' रश्मियाँ अपना धारण कर्म करती हैं, तब उनके साथ उनसे प्रेरित 'हिम्' रश्मियाँ यही कार्य करती हैं। (रोमशा) वे उपर्युक्त 'हिम्' रश्मियाँ (सर्वा, अस्मि) सृष्टि की सभी क्रियाओं में विद्यमान रहती हैं। (मे, परा, मृश) विभिन्न स्तोम रूप गायत्री छन्द रश्मि समूह मुझे अर्थात् त्रिवृत् स्तोम रश्मियों में विद्यमान 'हिम्' रश्मियों को अपने साथ बाँधते हैं। (मे, दभ्राणि) 'हिम्' रश्मियों की शक्तियों को वे गायत्री छन्द रश्मि समूह अल्प मात्रा में (मा, उपोप, मन्यथाः) अपने अति समीप प्रकाशित नहीं करते हैं अर्थात् उन्हें अल्प या न्यूनतर नहीं मानते हैं अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों में विद्यमान 'हिम्'

रश्मियाँ उनके ही समान शक्ति वाली होती हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो वे स्तोम सृष्टि की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकते। जैसे सिले हुए वस्त्र में यदि कपड़ा मजबूत हो और सिलाई का धागा दुर्बल हो, तो वस्त्र अधिक दिन नहीं चल पायेगा। इसी प्रकार हिम् रश्मियों एवं गायत्री रश्मियों में शक्ति का संतुलन अनिवार्य है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (उपोप) अतिसमीपत्वे (मे) मम (परा) (मृश) विचारय (मा) निषेधे (मे) मम (दभ्राणि) अल्पानि कर्माणि (मन्यथाः) जानीयाः (सर्वा) (अहम्) (अस्मि) (रोमशा) प्रशस्तलोमा (गन्धारीणामिव) यथा पृथिवीराज्यधर्त्रीणां मध्ये (अविका) रक्षिका।

भावार्थः — राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयादहं भवतो न्यूना नास्मि, यथा भवान् पुरुषाणां न्यायाधीशोऽस्ति तथाऽहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि, यथा पूर्वा राजपत्न्यः प्रजास्थानां स्त्रीणां न्यायकारिण्योऽभूवन् तथाहमपि स्याम्।

पदार्थ— हे पति राजन्! जो (अहम्) मैं (गन्धारीणाम् इव) पृथिवी के राज्य धारण करने वालियों में जैसे (अविका) रक्षा करने वाली होती वैसे (रोमशा) प्रशंसित रोमों वाली (सर्वा) सब प्रकार की (अस्मि) हूँ, उस (मे) मेरे गुणों को (परा, मृश) विचारो (मे) मेरे (दभ्राणि) कामों को छोटे (मा, उपोप) अपने पास में मत (मन्यथाः) मानो।

भावार्थ— रानी राजा के प्रति कहे कि मैं आप से न्यून नहीं हूँ, जैसे आप पुरुषों के न्यायाधीश हो, वैसे मैं स्त्रियों का न्याय करने वाली होती हूँ और जैसे पहिले राजा-महाराजाओं की स्त्री प्रजास्थ स्त्रियों की न्याय करने वाली हुई वैसी मै भी होऊं।"

इस मन्त्र में 'दभ्रम्' पद अल्प अर्थ का वाचक है। इसके पश्चात् अल्प अर्थ वाले दूसरे पद 'अर्भकम्' का निगम 'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः' (ऋ.१.२७.१३) प्रस्तुत किया गया है। हम इस मन्त्र को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान् यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः॥ (ऋ.१.२७.१३)

इस मन्त्र का ऋषि आजीगर्तिः शुनःशेप है। इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि शुनःशेप नामक ऋषि रश्मि से उत्पन्न होती है। शुनःशेप के विषय में वेदविज्ञान-

आलोकः ७.१५.३ में लिखा है—

"ये रश्मियाँ मध्यम बल व विस्तार से युक्त होती हैं। ये रश्मियाँ प्रजनन-उत्पादन क्षमता से विशेष सम्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ जब किसी अन्य रश्मि आदि पदार्थ से संयुक्त होती हैं, उस समय अपना तेज-बल उस रश्मि को प्रदान करके स्वयं शान्त जैसी हो जाती हैं। ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों से संयुक्त होते समय उन्हें स्पर्श मात्र करके अपना बल संचरित कर देती हैं।"

इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (नमः, महद्भ्यः) [नमः = यज्ञो वै नमः (श.ब्रा.२.४.२.२४), वज्रनाम (निघं.२.२०)। महत् = महद् वा अन्तरिक्षम् (ऐ.ब्रा.५.१८)] विशाल अन्तरिक्ष लोक विभिन्न कणों व तरंगों के साथ संयुक्त रहता है। इसके साथ ही यह उनकी ओर कुछ झुका हुआ अर्थात् सघन भी होता है। इसके साथ ही विशाल आसुर मेघों को छिन्न-भिन्न करने के लिए वज्र रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। (नमः, अर्भकेभ्यः) सूक्ष्म असुर पदार्थों को नियन्त्रित करने के लिए भी वज्र रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जिससे सूक्ष्म स्तर पर संयोगादि क्रियाएँ सम्भव हो पाती हैं। (नमः, युवभ्यः) विभिन्न पदार्थों के संयोजन एवं वियोजन अथवा संयोजक एवं वियोजक दोनों ही पदार्थों के लिए वज्र रश्मियों की आवश्यकता होती है। देव पदार्थों के संयोजन तथा असुर पदार्थों के भेदन में वज्र रश्मियों की भूमिका सर्वविदित है। (नमः, आशिनेभ्यः) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त सूत्रात्मा वायु आदि में यजन क्रिया होती है। दो कणों वा लोकों के अन्दर विद्यमान सूत्रात्मा आदि प्राण रश्मियों के परस्पर संगत होने से ही विभिन्न कण वा लोक आदि पदार्थ परस्पर संयुक्त हो सकते हैं।

(यदि, शक्रवाम, देवान्, आयजाम) यदि विभिन्न देव पदार्थ वज्रादि रश्मियों एवं सूत्रात्मा वायु आदि प्राण रश्मियों के अनुकूल संगमन के द्वारा अपेक्षित बल आदि सामर्थ्यसम्पन्न होवें अर्थात् जब सामर्थ्यसम्पन्न हो जाते हैं, तभी वे परस्पर संगमन कर पाते हैं, अन्यथा नहीं। यह सामर्थ्य एक-दूसरे के सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष कभी नहीं। (ज्यायसः, शंसम्) वे देव पदार्थ उत्तम सामर्थ्य से युक्त होकर अर्थात् प्रबल सामर्थ्य प्राप्त करने पर अधिक प्रकाशित होने के साथ-२ अधिक भेदन शक्तिसम्पन्न होते हैं। इस सृष्टि का कोई भी पदार्थ जितनी अधिक ऊर्जा से युक्त होता है, वह उतना ही अधिक प्रकाशित अथवा

भेदन क्षमता से युक्त हो जाता है। (मा, देवाः, वृक्षि) ऐसे सामर्थ्यसम्पन्न देव पदार्थों को असुर पदार्थ नहीं काट सकते हैं। इस कारण तीव्र ऊर्जा सम्पन्न कणों वा तरंगों पर असुर पदार्थ (कथित डार्क मैटर) का कोई बाधक प्रभाव नहीं होता है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (नमः) सत्करणमन्नं वा। नम इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं.२.७। (महद्भ्यः) पूर्णविद्यायुक्तेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) प्रीणनाय (अर्भकेभ्यः) अल्पगुणेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (नमः) सत्काराय (युवभ्यः) युवावस्थया बलिष्ठेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) सेवायै (आशिनेभ्यः) सकलविद्याव्यापकेभ्यः स्थविरेभ्यः (यजाम) दद्याम (देवान्) विदुषः (यदि) सामर्थ्याऽनुकूलविचारे (शक्नवाम) समर्था भवेम (मा) निषेधार्थे (ज्यायसः) विद्याशुभगुणैर्ज्येष्ठान् (शंसम्) शंसंति येन तं स्तुतिसमूहम् (आ) समन्तात् (वृक्षि) वर्जयेयम्। अत्र 'वृजी वर्जन' इत्यस्माल्लिडर्थे लुङ्छन्दस्युभयथा इति सार्वधातुकाश्रयणा-दिण् न। वृजीत्यस्य सिद्धे सति सायणाचार्य्येण ओव्रश्चू इत्यस्य व्यत्ययं मत्वा प्रमादादेवो-क्तमिति (देवाः) देवयन्ति प्रकाशयन्ति विद्यास्तत्संबोधने।

भावार्थः — अत्र मनुष्यैर्निरभिमानत्वं प्राप्यान्नादिभिः सर्वे सत्कर्त्तव्या इतीश्वर उपदिशति यावत्स्वसामर्थ्यं तावद्विदुषां संगसत्कारौ नित्यं कर्त्तव्यौ नैव कदाचित्तेषां निन्दा कर्त्तव्येति।

पदार्थ— हे (देवाः) सब विद्याओं को प्रकाशित करने वाले विद्वानो! हम लोग (महद्भ्यः) पूर्ण विद्यायुक्त विद्वानों के लिये (नमः) सत्कार अन्न (यजाम) करें और दें (अर्भकेभ्यः) थोड़े गुण वाले विद्यार्थियों के (नमः) तृप्ति (युवभ्यः) युवावस्था से जो बल वाले विद्वान् हैं उनके लिये (नमः) सत्कार (आशिनेभ्यः) समस्त विद्याओं में व्याप्त जो बुड्ढे विद्वान् हैं उनके लिये (नमः) सेवापूर्वक देते हुए (यदि) जो सामर्थ्य के अनुकूल विचार में (शक्नवाम) समर्थ हों तो (ज्यायसः) विद्या आदि उत्तम गुणों से अति प्रशंसनीय (देवान्) विद्वानों को (आयजाम) अच्छे प्रकार विद्या ग्रहण करें इसी प्रकार हम सब जने (शंसम्) इनकी स्तुति प्रशंसा को (मा वृक्षि) कभी न काटें।

भावार्थ— इस मन्त्र में ईश्वर का यह उपदेश है कि मनुष्यों को चाहिये अभिमान छोड़कर अन्नादि से सब उत्तम जनों का सत्कार करें अर्थात् जितना धन पदार्थ आदि उत्तम बातों से अपना सामर्थ्य हो उतना उनका सङ्ग करके विद्या प्राप्त करें, किन्तु उनकी कभी निन्दा न

करें।''

यहाँ 'अर्भकम्' पद अल्प सामर्थ्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

तिरः सत इति प्राप्तस्य। तिरस्तीर्णं भवति। सतः संसृतं भवति।
तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या॥ [ऋ.५.७५.७]
पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः॥ [ऋ.७.१०४.२१]
इत्यपि निगमौ भवतः।

'तिर:' और 'सत:' ये दोनों पद प्राप्त होने अर्थ के वाचक हैं। यहाँ 'तिर:' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'तिरस्तीर्णं भवति' अर्थात् जो तैरकर आया हुआ होता है और तैरकर आना समीप आने को ही दर्शाता है अर्थात् प्राप्त अर्थ का वाचक है। 'सत:' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सत: संसृतं भवति' अर्थात् जो अच्छी प्रकार आया हुआ अथवा पहुँचा हुआ होता है। इस प्रकार यह भी प्राप्त अर्थ में ही प्रयुक्त है। यहाँ तिर: का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या'।

यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

अश्विनावेह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम्।
तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ (ऋ.५.७५.७)

इस मन्त्र का ऋषि अवस्युरात्रेय: है अर्थात् यह छन्द रश्मि सबमें व्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृत् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण तीव्रतापूर्वक विस्तृत होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (नासत्या) जिनके व्यवहार असत्य नहीं होते अर्थात् जो नियमित और निश्चित व्यवहारों से युक्त होते हैं, (अदाभ्या) जो बाधक पदार्थों द्वारा हिंसित वा विखण्डित नहीं हो सकते (माध्वी) [मधु = अन्नं वै मधु (तां.ब्रा.११.१०.३), प्राणो वै मधु (श.ब्रा.६.४.३.२), प्रजा वै मधु (जै.ब्रा.१.८८)] और जो प्राण वा अन्नरूप होकर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं, ऐसे (अश्विनौ) प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण (इह, आ, गच्छतम्) इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त हैं अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में

सर्वत्र ही विभिन्न प्रकार के कण और तरंगाणु (क्वाण्टा) भरे हुए हैं। (अर्यया) वे कण वा विकिरण [अर्यः = ईश्वरनाम (निघं.२.२२)] अपने नियन्त्रक अथवा आकर्षण व प्रतिकर्षण बल द्वारा (वेनतम्) परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित और संदीप्त करते हैं। ध्यातव्य है कि जब कोई कण किसी प्रकाशाणु से संयुक्त होता है, तब न केवल वह कण दीप्तिमान् हो उठता है, अपितु उस प्रकाशाणु की भी दीप्ति भासने लगती है।

(तिरः) वे प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण अपनी प्राप्त उत्तम गति को (परि, वर्त्तिः, चित्, मा) विशेष परिस्थितियों में परिवर्तित करके भी परिवर्तित नहीं करते हैं अर्थात् वह परिवर्तन नितान्त अस्थायी होता है। (मम, हवम्, वि, श्रुतम्) वे कण वा विकिरण सूत्रात्मा वायु के आकर्षण से विशेष प्रकार की क्षणिक गति करते हुए (यातम्) अपनी स्वाभाविक एवं उत्तम गति से मार्ग को व्याप्त करते हैं अर्थात् सृष्टि में सभी मूल कण एवं विकिरण अपनी निश्चित गति से ही यात्रा करते हैं। कभी-कभी किसी विशेष बल के क्षेत्र में उनकी गति में कुछ परिवर्तन हो जाता है, परन्तु यह परिवर्तन पूर्णतः अस्थायी होता है।

यहाँ 'तिरः' पद प्राप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब 'सतः' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, वह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः॥ (ऋ.७.१०४.२१)

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृज्जगती है अर्थात् इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व दूर-दूर तक व्याप्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (इन्द्रः) इन्द्र तत्त्व (हविर्मथीनाम्) विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थों को मथने वाले, उन्हें छिन्न-भिन्न करके उनकी संयोग प्रक्रिया को बाधित करने वाले (अभि, आविवासताम्) जो देव पदार्थों के अभिमुख होकर उनको सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, वे (यातूनाम्) देव पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें नष्ट करने वाले असुर वा राक्षस आदि पदार्थ हैं। (पराशरः, अभवत्) उन पदार्थों को वह इन्द्र तत्त्व नष्ट करने वाला है। इस विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परा शातयिता यातूनाम् (निरु.६.३०)। यही बात अब तक इस मन्त्र में भी कही गयी है।

(शक्रः) वह शक्तिशाली इन्द्रतत्त्व (परशुः, यथा, वनम्) [परशुः = वज्रनाम (निघं.२.२०), वज्रो वै परशुः (श.ब्रा.३.६.४.१०)। वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५)] जिस सामर्थ्य से वज्र रश्मियाँ हानिकारक सूक्ष्म रश्मियों को छिन्न-भिन्न करती हैं (पात्रा, इव, भिन्दन्) [पात्रम् = देवपात्रं वाऽएष यदग्निः (श.ब्रा.१.४.२.१३), इयं (पृथिवी) वै देवपात्रम्। (मै.सं.४.५.५)] और जिस सामर्थ्य से आग्नेय परमाणु नाना प्रकार के पदार्थों का भेदन करते हैं, विशेषकर पार्थिव अणुओं का भेदन करते हैं। (अभि, इत्, उ) उसी सामर्थ्य से निश्चय करके चारों ओर (सतः, रक्षसः, एति) वज्र रश्मियाँ एवं अग्नि के तीव्र विकिरण अपने समीप विद्यमान हानिकारक असुर व राक्षस पदार्थों को व्याप्त करके नष्ट करते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में असुर वा राक्षस आदि पदार्थ सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं, जो प्रत्येक संयोग क्रिया में बाधा डालते रहते हैं। उस समय वहाँ विद्यमान इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के अग्रभाग में विद्यमान वज्ररूप सूक्ष्म रश्मियाँ असुरादि पदार्थों में विद्यमान अथवा उनसे उत्सर्जित होने वाली हानिकारक सूक्ष्म रश्मियों को जिस सामर्थ्य से नष्ट व नियन्त्रित करती हैं, उसी सामर्थ्य से अथवा उसी अनुपात में इन्द्र तत्त्व असुर वा राक्षस पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में ऊष्मा की भी भूमिका होती है, जो विभिन्न अणुओं को नाना प्रकार से तोड़कर नवीन अणुओं का निर्माण करती रहती है।

इस मन्त्र में 'सतः' पद समीपस्थ का वाचक है।

आधिभौतिक भाष्य— (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (हविर्मथीनाम्) जो विभिन्न सत्कर्मरूपी यज्ञों के हविरूप अथवा होतारूप परोपकारी जनों को त्रास पहुँचाने वालों को (आविवासताम्, अभि) और जो सज्जनों के मार्ग में बाधा डालने के लिए सब ओर से उपस्थित हो जाते हैं। (यातूनाम्, पराशरः, अभवत्) उन दुःखदायी राक्षस आदि पापी जनों को वह राजा नष्ट वा नियन्त्रित करता है। (शक्रः) वह सामर्थ्यवान् राजा (परशुः, यथा, वनम्) जिस प्रकार कुठार से कोई व्यक्ति वनों की कँटीली झाड़ियों को काटता है। (पात्रा, इव, भिन्दन्) जैसे कोई व्यक्ति मिट्टी के पात्रों को सहजता से फोड़ने का सामर्थ्य रखता है, वैसे ही (अभि, इत्, उ) राष्ट्र में चारों ओर विद्यमान (रक्षसः, सतः, एति) राक्षसी प्रवृत्ति वाले अपराधियों के निकट वह दण्डधारी राजा अपने दण्डरूप सामर्थ्य से सदा प्राप्त होता

है अर्थात् उन्हें तत्काल दण्ड देता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (इन्द्रः) आसुरी प्रवृत्तियों का विजेता योगी पुरुष (हविर्मथीनाम्) योगाग्नि में अथवा ब्रह्माग्नि में स्वयं को आहूत करने की सत्प्रवृत्तियों को मथने वाली (अभि, आविवासताम्) एवं योगसाधना के समय चारों ओर से उठने वाली पतनकारी (यातूनाम्) राक्षसी वृत्तियों को (पराशरः, अभवत्) वह योगी पुरुष नष्ट कर देता है। (शक्रः) योगबल से समर्थ हुआ वह पुरुष (परशुः, यथा, वनम्) जैसे कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी से जंगल में झाड़ियों को काटता है और (पात्रा, इव, भिन्दन्) जैसे कोई व्यक्ति मिट्टी के पात्रों को सहजता से फोड़ने में समर्थ होता है, वैसे ही वह योगी पुरुष (अभि, इत्, उ) अपने अन्तःकरण में चारों ओर से उठने वाली (रक्षसः, सतः, एति) आसुरी वृत्तियों को अपने योगबल से निकटता से व्याप्त करके नष्ट कर देता है।

त्वो नेम इत्यर्धस्य। त्वोऽपततः। नेमोऽपनीतः। अर्धं हरतेर्विपरीतात्। धारयतेर्वा स्यात्। उद्धृतं भवति। ऋध्नोतेर्वा स्यात्। ऋद्धतमो विभागः। पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति॥ [ऋ.१.१४७.२]
नेमे देवो नेमेऽसुराः। इत्यपि निगमौ भवतः।

'त्वः' एवं 'नेमः' ये दोनों पद आधा वा अर्ध के वाचक हैं। 'त्वः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'त्वः अपततः' अर्थात् सम्पूर्ण में से अलग किया हुआ होता है और 'नेमः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'नेमः अपनीतः' अर्थात् जो सम्पूर्ण में से अलग निकाला हुआ होता है।

ये दोनों पद अर्धवाचक हैं, इस कारण प्रसङ्गतः ग्रन्थकार ने 'अर्धम्' पद का भी निर्वचन कर दिया है। वह इस प्रकार है— 'अर्धं हरतेर्विपरीतात् धारयतेर्वा स्यात् उद्धृतं भवति ऋध्नोतेर्वा स्यात् ऋद्धतमो विभागः'। यहाँ अर्धम् का तीन प्रकार से निर्वचन किया गया है—

१. यह पद 'हृञ् हरणे' धातु से निष्पन्न माना है, जिसकी व्याख्या आचार्य भगीरथ शास्त्री ने इस प्रकार की है— अर्द्ध यह हृ धातु से अप् प्रत्यय करके हर बनाकर, फिर विपरीत कर दो तो अर्ह बन जावेगा, ह को धकार करके 'अर्द्ध'। यह पूरे में से अपहृत होता है।

२. 'धृञ् धारणे' धातु से भी 'अर्धम्' पद निष्पन्न होता है, क्योंकि यह पूरे भाग में से उठाया हुआ होता है।

३. 'ऋद्धतमो विभागः' अथवा यह पद 'ऋधु वृद्धौ' धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि यह अन्य किसी भी भाग से बढ़ा हुआ होता है। यदि किसी वस्तु के आधे-आधे दो भाग करें, तो एक आधा भाग, दूसरे आधे भाग के किसी भी भाग से बड़ा ही होता है। इसलिए उसे 'अर्धम्' कहते हैं।

यहाँ 'त्वः' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने॥ (ऋ.१.१४७.२)

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है अर्थात् इसकी उत्पत्ति लम्बायमान होते हुए प्राण विशेष से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द विराट् त्रिष्टुप् है, इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र तेजस्वी होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (स्वधावः) [स्वधा = अन्ननाम (निघं.२.७), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] संयोज्य प्रकाशित और अप्रकाशित कणों से युक्त वा समृद्ध (यविष्ठ) संयोग और विभाग करने की शक्ति से अत्यन्त युक्त (अग्ने) अग्नि तत्त्व (मे) मेरे अर्थात् उपर्युक्त दीर्घतमा ऋषि प्राण के (अस्य, मंहिष्ठस्य) [मंहते दानकर्मा (निघं.३.२०), 'महि वृद्धौ (भ्वा.) धातोः कर्त्तरि तृजन्तादतिशायन इष्ठन्। 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृचो लोपः'] इन विशाल दानादि कर्मों से अर्थात् नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम (प्रभृतस्य, वचसः) उत्तमता से धारण और संरक्षित की हुई नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को (बोध) वह अग्नि तत्त्व सक्रिय करता हुआ नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता व दान करता है। (वन्दारुः) वे दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ प्रकाशक स्वभाव वाली होकर (ते, तन्वम्) अग्नि तत्त्व के विस्तृत क्षेत्र को (वन्दे) प्रकाशित करती हैं। (त्वः, पीयति) इस अग्नि तत्त्व को आधे पदार्थ अवशोषित कर लेते हैं और (त्वः, अनुगृणाति) अन्य आधे पदार्थ अग्नि के परमाणुओं के अनुगत होकर चमकने लगते हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में संयोजकता गुणयुक्त विभिन्न कण एवं विकिरण विद्यमान होते

हैं। अग्नि के परमाणु विभिन्न ऋषि रश्मियों, विशेषकर दीर्घतमा ऋषि रश्मियों से उत्पन्न व धारित विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त होते हैं। वे ऋषि रश्मियाँ सूक्ष्म दीप्ति से युक्त होकर अग्नि को भी प्रकाशित करती हैं अथवा वे सभी आग्नेय क्षेत्रों को प्रकाशित करती हैं। कुछ कण अथवा आधा पदार्थ अग्नि के परमाणुओं को पी लेता है अर्थात् अवशोषित कर लेता है एवं दूसरा आधा पदार्थ अग्नि के परमाणुओं से मिलकर चमकने लगता है।

यहाँ 'त्वः' पद आधे का वाचक है।

अब 'नेमः' पद का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'नेमे देवा नेमेऽसुराः' अर्थात् इस सृष्टि में देव एवं असुर ये दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं। प्रकाशित पदार्थ को देव एवं अप्रकाशित पदार्थ को असुर कहते हैं। इस सृष्टि में आधे पदार्थ प्रकाशित एवं आधे पदार्थ अप्रकाशित हैं।

ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः।
नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्।
ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते। स्तृभिस्तीर्णानीव ख्यायन्ते।
अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा॥ [ऋ.१.२४.१०]
पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः॥ [ऋ.४.७.३]
इत्यपि निगमौ भवतः।

'ऋक्षाः' एवं 'स्तृभिः' ये दोनों नक्षत्रों के नाम हैं। यहाँ 'नक्षत्रम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्' अर्थात् 'नक्षत्रम्' पद गतिकर्मा 'नक्ष' धातु से व्युत्पन्न होता है। ये निरन्तर गमन करते रहते हैं, इसलिए नक्षत्र कहलाते हैं। [क्षत्रम् = क्षत्रस्येव प्रकाशो भवति (जै.ब्रा.१.२४३), क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् (श.ब्रा.१३.२.२.१७), क्षत्रमिन्द्रः (जै.ब्रा.१.१८२), आदित्यो वै दैवं क्षत्रमादित्य एषां भूतानामधिपतिः (ऐ.ब्रा.७.२०), क्षत्रं वै प्रजापतिः (जै.ब्रा.३.३४), निरुक्तमिव हि क्षत्रम् (श.ब्रा.९.३.१.१५)]

'नक्षत्रम्' पद का अगला निर्वचन करते हुए लिखा है कि जो क्षत्रविहीन होते हैं, वे खगोलीय पिण्ड नक्षत्र कहलाते हैं। ये पिण्ड यद्यपि चमकीले होते हैं, परन्तु इनमें अपना

स्वयं का प्रकाश नहीं होता, ये अन्य तारों के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। ये प्रजापति रूप भी नहीं होते अर्थात् इनके अन्दर सूर्यादि तारों की भाँति नाभिकीय संलयन के द्वारा नवीन कणों का निर्माण नहीं होता। ये तारों की भाँति इन्द्ररूप भी नहीं होते अर्थात् इनमें गुरुत्व बल न्यूनतर होता है। इनको अनिरुक्त कहा गया है, इसका कारण यह है कि प्रकाश के अभाव में ये किसी को दिखाई भी नहीं देते, जैसे अमावस्या का चन्द्रमा किसी को दिखाई नहीं देता। ऐसा मत किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का है, जिसे ग्रन्थकार ने यहाँ उद्धृत किया है।

अब 'ऋक्षाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते' अर्थात् जो लोक ऊपर फेंके हुए किंवा उठाए हुए से कहे जाते हैं अथवा दिखाई देते हैं, उन नक्षत्रों को 'ऋक्षा' कहते हैं। तदनन्तर 'स्तृभिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्तृभिस्तीर्णानीव ख्यायन्ते' अर्थात् जो आकाश में फैलाए हुए किंवा बिखेरे हुए जैसे दिखाई देते हैं, वे लोक 'स्तृभिः' कहलाते हैं।

अब 'ऋक्षाः' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उस मन्त्र को हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥ (ऋ.१.२४.१०)

इस मन्त्र का ऋषि आजीगर्तिः शुनःशेपः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिर्ऋषिः है। हम आजीगर्ति शुनःशेप नामक ऋषि के विषय में पूर्व में लिख चुके हैं। अन्य ऋषि कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिर्ऋषिः का तात्पर्य उन रश्मियों से है, जो 'ओम्' रश्मियों से उत्पन्न होती हैं और विशेष सक्रिय प्राण रश्मि को उत्पन्न करती हैं। विशेष सक्रियता का कारण यह है कि उनमें 'ओम्' रश्मियाँ अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में स्पन्दित होती हैं। इस प्रकार इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय और स्थान पर होती है, जहाँ ये दोनों प्रकार की ऋषि रश्मियाँ विद्यमान हों और वे ऋषि रश्मियाँ ही इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करती हैं।

इसका देवता वरुण और छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वरुण नामक पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। [वरुणः = संवत्सरो वरुणः (श.ब्रा.४.४.५.१८), वरुण एव सविता (जै.उ.४.२७.३), स वा एषो

(सूर्यः) ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति (कौ.ब्रा.१८.९)। आपः = आप इति तत् प्रथमं वज्ररूपम् (कौ.ब्रा.१२.२), आपो वै रक्षोघ्नीः (तै.ब्रा.३.२.३.१२), आपो वै प्राणाः (श.ब्रा. ३.८.२.४), वज्रो वाऽआपः (श.ब्रा.१.७.१.२०)] इसका तात्पर्य यह है कि तारों के अन्दर जो विभिन्न प्राण रश्मियाँ वज्ररूप होकर राक्षस रूप हानिकारक पदार्थों को नष्ट करती हैं, वे प्राण रश्मियाँ तीव्र तेज और बल से युक्त होने लगती हैं, जिससे सूर्यादि लोकों में असुर पदार्थ (वैदिक डार्क एनर्जी) नियन्त्रित होने से नाभिकीय संलयन आदि की क्रियाओं के लिए निरापद स्थिति उत्पन्न होती है।

आधिदैविक भाष्य— (अमी, ये, ऋक्षाः) जो वे विभिन्न प्रकार के नक्षत्र (निहितासः, उच्चाः) ऊँचे आकाश में स्थित हैं वा स्थित होते हैं। यहाँ 'नि' उपसर्ग यह संकेत करता है कि ये नक्षत्र नितराम् अर्थात् सम्पूर्ण रूप से ईश्वर और उसके द्वारा रचित अनेक प्रकार के बलों द्वारा धारण व पोषित किये जाते हैं। इसके साथ ही वे अपनी निश्चित कक्षाओं में ही सदैव धारण किये जाते हैं। यहाँ 'उच्चाः' पद यह भी संकेत करता है कि ये लोक अपनी उत्पत्ति के समय अपनी उत्पत्ति के स्रोत किसी निर्माणाधीन तारे से पृथक् करके ऊँचे उठाये वा दूर किये जाते हैं। यहाँ ऊँचे उठाने का तात्पर्य उस निर्माणाधीन तारे के गुरुत्व बल के विपरीत जाना है। (नक्तम्, ददृश्रे) ये नक्षत्र रात्रि में दिखाई देते हैं, यह सामान्य अर्थ है। विशेष यह है कि रात्रिरूप असुर पदार्थ (वैदिक डार्क एनर्जी) के द्वारा ये लोक इनके जनक रूप विशाल लोक से पृथक् करके दूर किये जाते हैं अर्थात् जब विशाल और सघन कॉस्मिक मेघ में तीव्र घूर्णन प्रक्रिया हो रही होती है, उस समय उसके चारों ओर तस्तरीनुमा पदार्थ को असुर ऊर्जा द्वारा ही पृथक् करके नक्षत्रों के रूप में पृथक् किया जाता है।

(कुह, चित्, दिवा, ईयुः) और दिन में वे नक्षत्र कहाँ चले जाते हैं? यह प्रश्न है, यह साधारण अर्थ हुआ। हमारी दृष्टि में यहाँ 'कुह' पद प्रजापति अर्थ वाले 'कः' का सप्तमी विभक्ति एकवचन के रूप का छान्दस प्रयोग है। इस कारण विशेष अर्थ यह है कि वे नक्षत्र जब असुर पदार्थ द्वारा पृथक् करके दूर कर दिये जाते हैं और वे आदित्य लोक से दूर जा रहे होते हैं, तब द्युलोक अर्थात् नक्षत्रों के जनक आदित्य लोक द्वारा अपने आकर्षण क्षेत्र में अर्थात् स्वयं की ओर उन्हें प्राप्त कर लिया जाता है अर्थात् उन दूर जाते हुओं को आदित्य लोक अपनी ओर आकर्षित करके कुछ विशेष कक्षाओं में गमन कराने लगते हैं।

(वरुणस्य) सबके नियन्त्रक ईश्वर अथवा नक्षत्रों के नियन्त्रक आदित्य लोक के (अदब्धानि, व्रतानि) न दबाये जा सकने वाले तथा नक्षत्र आदि लोकों को क्षति न पहुँचाने वाले निश्चित नियम होते हैं और [व्रतम् = वीर्यं वै व्रतम् (श.ब्रा.१३.४.१.१५)] उनके महान् बल भी होते हैं। (नक्तम्, विचाकशत्, चन्द्रमाः, एति) विविध प्रकार से प्रकाशित अर्थात् आदित्य लोक के प्रकाश की विशिष्ट क्रिया द्वारा प्रकाशित चन्द्रमा आदि लोक रात्रि में प्रकाश को प्राप्त करते हैं अर्थात् रात्रि में ही चमकते हैं, यह सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ यह है कि वे चमकीले चन्द्रमा आदि नक्षत्र रात्रिरूप असुर पदार्थ में ही गमन करते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नक्षत्र लोक भले ही अपने आकर्षण के केन्द्र रूप किसी आदित्य लोक के कारण उसका परिक्रमण करते हैं, परन्तु इस कार्य में असुर पदार्थ (वैदिक डार्क एनर्जी) आदि की भी भूमिका अवश्य ही होती है।

भावार्थ— सभी ग्रह अपने-२ तारों से पृथक् होते ही दूर उठाये जाते हैं। तदुपरान्त वे निश्चित कक्षाओं में परिक्रमण करने लग जाते हैं। वे सभी लोक तेजी से घूर्णन करते हुए कॉस्मिक मेघ से पृथक् होते हैं। उन दूर जाते हुए ग्रहों को तारे अपने आकर्षण बल से स्थिर कक्षाएँ प्रदान करते हैं। इन सभी लोकों को कक्षाओं में परिक्रमण कराने में असुर पदार्थ वा असुर ऊर्जा की भी भूमिका होती है। आधुनिक विज्ञान को इस विषय में अनुसंधान करना चाहिए।

तदनन्तर नक्षत्रवाची 'स्तृभिः' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उस सम्पूर्ण मन्त्र को हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे॥ (ऋ.४.७.३)

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राणों में श्रेष्ठ प्राण अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से होती है। इसका देवता अग्नि एवं छन्द निचृत् अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी होता है।

आधिदैविक भाष्य— (विश्वेषाम्, अध्वराणाम्) [अध्वरम् = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), यज्ञनाम (निघं.३.१७)] सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विद्यमान कॉस्मिक मेघों में होने वाली नाना

प्रकार की यजन क्रियाओं से उत्पन्न (स्तृभिः) विभिन्न नक्षत्र (द्यामिव) सूर्यादि लोकों के समान (दमेदमे) [दमः = गृहनाम (निघं.३.४), दमः शमयिता (तै.आ.१०.६४.१)] अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में (हस्कर्त्तारम्) प्रकाश करने वाले और निरन्तर अपने मार्गों पर बढ़ने वाले [हस् हसने = हँसना, चमकाना, आगे बढ़ जाना आदि] (विचेतसम्, ऋतावानम्) विविध विज्ञानपूर्वक निश्चित नियमों से बँधे हुए (पश्यन्तः) नाना प्रकार के कर्मों को करते हुए हम देखते हैं, यह सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ यह है कि वे चन्द्र आदि नक्षत्र लोक अपने-अपने मार्गों पर निश्चित नियमों से बँधकर गमन करते हुए अन्य लोकों को अपने बल से आकर्षित करते रहते हैं।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (ऋतावानम्) ऋतं सत्यं विद्यते यस्मिँस्तम् (विचेतसम्) विगतं चेतो यस्मात्तम् (पश्यन्तः) (द्यामिव) सूर्यमिव (स्तृभिः) नक्षत्रैः (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (अध्वराणाम्) अहिंसनीयानां यज्ञानाम् (हस्कर्त्तारम्) प्रकाशकर्त्तारम् (दमेदमे) गृहे गृहे।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः — ये चेतनारहितं कारणयुक्तं प्रतिगृहं प्रकाशयन्तं जानन्ति ते सूर्य्यप्रकाशे चन्द्रादीनीव जगति प्रकाशन्ते।

पदार्थ— जो मनुष्य लोग (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (अध्वराणाम्) नहीं हिंसा करने योग्य यज्ञों के (स्तृभिः) नक्षत्रों से (द्यामिव) सूर्य्य के सदृश (दमेदमे) घर घर में (हस्कर्त्तारम्) प्रकाश करने वाले (विचेतसम्) जिस से विगतचित्त होता (ऋतावानम्) जिसमें सत्य विद्यमान उस को (पश्यन्तः) देखते हुए ग्रहण करे हुए हैं, वे उत्तम प्रकार शोभित होते हैं।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है— जो लोग चेतनारहित कारण से युक्त प्रत्येक गृह के प्रकाश करने वाले को जानते हैं, वे सूर्य के प्रकाश में चन्द्र आदिकों के सदृश संसार में प्रकाशित होते हैं।''

वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानाम्। वम्र्यो वमनात्। सीमिका स्यमनात्। उपजिह्विका उपजिघ्र्यः।

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम्॥ [ऋ.४.१९.९]

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति॥ [ऋ.८.१०२.२१]

इत्यपि निगमौ भवतः।

'वम्रीभिः' एवं 'उपजिह्विका' ये दोनों सीमिका के नाम हैं। यहाँ 'वम्रीः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वम्र्यो वमनात्' अर्थात् वम्री का अर्थ है— उगली हुई। यह पद 'वम उद्गिरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है।

'उपजिह्विका' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उपजिह्विका उपजिघ्र्यः' [जिह्वा = वाङ्नाम (निघं.१.११), किरणज्वालासमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.१०), 'जिघ्रीः' पद 'घ्रा गन्धोपादाने' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ 'सूँघना' सर्वविदित है, लेकिन पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने कहीं-२ इसका अर्थ 'चूमना' भी स्वीकार किया है।] अर्थात् निकटता से चूमती वा स्पर्श करती हुई।

अब सीमिका पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सीमिका स्यमनात्'। यहाँ 'स्यमन' पद 'स्यमु शब्दे' धातु से निष्पन्न होता है। इस कारण सीमिका का अर्थ है— ध्वनि उत्पन्न करती हुई।

अब 'वम्रीभिः' का जो निगम प्रस्तुत किया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व॥ (ऋ.४.१९.९)

इसका ऋषि वामदेव है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों में इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् तरंगें अति तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (हरिवः) हरणशील तेजस्वी विकिरणों व रश्मियों से युक्त विशाल कॉस्मिक मेघ (निवेशनात्) अपने अन्दर विद्यमान अनेक क्षेत्रों से (वम्रीभिः) उगली हुई अर्थात् तीव्र वेग से निकलती हुई (अग्रुवः) [अग्रुवः = नदीनाम (निघं.१.१३)] तरल गर्म पदार्थ की धाराएँ (अदानम्, पुत्रम्) विशाल आकर्षण बल को उत्पन्न करने वाले कॉस्मिक मेघ के पुत्ररूप निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भाग, जो ऊर्जा को उत्पन्न करके उसे

अन्तरिक्ष आदि लोकों को प्रदान करने में अक्षम हैं, उन भागों को वे धाराएँ (आ, जभर्थ) सब ओर से पोषित और धारण करती हैं अर्थात् वे धाराएँ केन्द्रीय भाग को लक्ष्य बनाकर निरन्तर अग्रगामिनी होती हैं।

(अन्धः, अहिमा) इसके साथ ही इन्द्र तत्त्व अप्रकाशित लघु मेघों को (आददानः) ग्रहण करके व्याप्त करता हुआ (वि, अख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करने लगता है। (उखच्छित्) [उखम् पद 'उख गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वह इन्द्र तत्त्व उन लघु मेघों, जो विशाल कॉस्मिक मेघ के अन्दर विद्यमान होते हैं, की गतियों और मार्गों को छिन्न-भिन्न करता हुआ (निः, भूत्) निरन्तर विद्यमान रहकर उन मेघों एवं उनसे उत्पन्न निर्माणाधीन सम्पूर्ण आदित्य लोक को नियन्त्रित करता रहता है। (पर्व, सम्, अरन्त) वह इन्द्र तत्त्व सूर्यादि लोकों के पालक उन मेघरूप पदार्थों को अच्छी प्रकार व्याप्त करके उचित गमनागमन आदि कर्मों एवं गुणों से युक्त करता है।

भावार्थ— इस मन्त्र में सूर्यादि तारों की उत्पत्ति का विज्ञान दर्शाया गया है। किसी विशाल कॉस्मिक मेघ में जब किसी तारे का निर्माण प्रारम्भ होता है, तब कुछ प्राणादि रश्मियों की अधिकता के कारण सर्वप्रथम एक केन्द्र का निर्माण होता है। तदुपरान्त उस विशाल मेघ के कुछ क्षेत्रों से उष्ण पदार्थ की धाराएँ उस केन्द्र की ओर तेजी से बहने लगती हैं। इस समय केन्द्रीय भाग में ऊष्मा आदि के उत्पादन एवं उत्सर्जन आदि की प्रक्रियाएँ नहीं हो रही होती हैं। ऐसे समय में पदार्थ की वे तीव्रगामी धाराएँ केन्द्रीय भाग को उस पदार्थ से पुष्ट करती हैं। उस समय उस विशाल कॉस्मिक मेघ के अन्दर अनेक लघु मेघ भी होते हैं, जो विशेष तप्त एवं दीप्त नहीं होते। उस समय उस क्षेत्र में तीव्र विद्युत् तरंगें और उनकी उत्पादिका छन्दादि रश्मियाँ उन मेघरूप पदार्थों को व्याप्त करके उन्हें प्रकाशित एवं संदीप्त करने लगती हैं। वे विद्युत् तरंगें उन लघु मेघरूप पदार्थों की यदृच्छया गतियों को विदीर्ण करके नियन्त्रित करने लगती हैं, जिससे वे मेघ उस निर्माणाधीन सूर्यादि लोक के पालक बन जाते हैं। यहाँ 'वम्रीः' पद सौर नदियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसी ही नदीरूप धाराओं का वर्णन 'वेदविज्ञान-आलोकः' ५.१३.१ और ५.१३.२ में किया गया है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (वम्रीभिः) उद्गीर्णाभिः (पुत्रम्) (अग्रुवः) नद्यः (अदानम्) दानस्याऽकर्त्तारम् (निवेशनात्) स्वस्थानात् (हरिवः) प्रशस्ताऽश्वयुक्त (आ) (जभर्थ)

हरसि (वि) (अन्धः) अन्धकारकृत् (अख्यत्) ख्याति (अहिम्) मेघम् (आददानः) गृह्णन् (निः) (भूत्) भवति (उखच्छित्) य उखङ्गमनञ्छिनत्ति सः (सम्) (अरन्त) रमते (पर्व) पालकम्।

भावार्थः — अत्र वाचकलु०—हे राजन्त्स्वस्य पुत्रोऽपि कुलक्षणश्चेन्निरधिकारी कर्त्तव्यो यथा वर्षासु नद्यो वर्धन्ते तथैव प्रजा वर्द्धनीयाः।

पदार्थ— हे (हरिवः) प्रशंसित घोड़ों से युक्त राजन्! जैसे (निवेशनात्) अपने स्थान से (वम्रीभिः) उगली हुई पहाड़ियों से (अग्रुवः) नदियाँ तट आदि का हरण करती हैं वैसे ही (अदानम्) दान नहीं करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (आ, जभर्थ) हरते हो और जैसे (अन्धः) अन्धकार करने वाला (अहिम्) मेघ को (आददानः) ग्रहण करता हुआ (वि, अख्यत्) विख्यात करता है और (उखच्छित्) गमन का काटने अर्थात् मार्ग छिन्न-भिन्न करने वाला (निः, भूत्) निरन्तर होता (पर्व) और पालने वाले को (सम्, अरन्त) अच्छे प्रकार रमाता है वैसे ही नहीं दान करने वाला गति पाता है।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलु०—हे राजन्! अपना पुत्र भी बुरे लक्षणों वाला हो तो नहीं अधिकार देने योग्य और वर्षाकालों में नदियाँ बढ़ती हैं, वैसे ही प्रजाओं की वृद्धि करनी चाहिये।''

यह 'वम्रीभिः' का निगम है। 'उपजिह्विका' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उस मन्त्र को पूर्ण रूप में हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतम्॥ (ऋ.८.१०२.२१)

इस मन्त्र का ऋषि प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः अथवाग्नी गृहपतिय-विष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः है। [गृहपतिः = असौ वै गृहपतिर्योऽसौ (सूर्यः) तपत्येष (सूर्यः) पतिः ऋतवो गृहाः (ऐ.ब्रा.५.२५)] इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रक्षेपक एवं पावक शक्तिसम्पन्न अग्नि की ज्वालाओं अथवा संयोजक और वियोजक बलों से सम्पन्न अग्नि, जो सूर्यादि लोकों में विद्यमान होता है, से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृद् गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (उपजिह्विका) [उपजिह्विका = उपगताऽनुकूला जिह्वा यस्याः

पत्न्याः सा (म.द.य.भा.११.७४)] सूर्यादि लोकों के अन्दर उत्पन्न अग्नि की अनुकूल ज्वालाएँ (यत्, अत्ति) विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियों एवं विकिरणों का जो भक्षण करती हैं, (यत्, वम्रः) [हमें यहाँ 'वम्रः' पद 'वम्री' पद का छान्दस प्रयोग प्रतीत होता है, जहाँ स्त्रीलिङ्ग के स्थान पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ है।] पूर्व मन्त्र में दर्शायी गयी जो सौर नदियाँ अर्थात् सूर्यादि लोकों का निर्माण करने वाली उष्ण पदार्थ की धाराएँ (अतिसर्पति) तीव्र वेग से बहती हैं, (सर्वम्, तत्) वह सब कुछ अर्थात् तीव्र ज्वालाएँ एवं सौर नदियाँ (ते, घृतम्, अस्तु) तेरे अर्थात् अग्नि, जो सूर्यादि तारे के निर्माण के लिए अपेक्षित है, का घृतरूप हैं अर्थात् ये ही सौर अग्नि को संदीप्त करती हैं। जैसे यज्ञ में घृत अग्नि को संदीप्त और समृद्ध करता है, वैसे ही ये निर्माणाधीन तारे में ऊष्मा को संदीप्त व समृद्ध करती हैं। इनके अभाव में कोई भी तारा अस्तित्व में नहीं आ सकता।

यहाँ हमने 'उपजिह्विका' पद का अर्थ अग्नि की तीव्र ज्वालाएँ ग्रहण किया है और ग्रन्थकार ने 'वम्री' एवं 'उपजिह्विका' दोनों को 'सीमिका' का समानार्थक बताया है। वस्तुतः अग्नि की ज्वालाएँ भी अग्नि की नदियाँ ही हैं। इस कारण वम्री और उपजिह्विका दोनों पद समानार्थक हैं और दोनों को सीमिका इसलिए कहा जाता है, क्योंकि दोनों ही प्रकार की नदियाँ व धाराएँ घोष करती हुई ही चलती हैं।

ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य। ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति। ऊर्जे दीर्णं वा।
तमूर्दरं न पृणता यवेन॥ [ऋ.२.१४.११]
इत्यपि निगमो भवति। तमूर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं भवति।
समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम्॥ [यजु.२९.१]
इत्यपि निगमो भवति॥ २०॥

'ऊर्दरम्' एवं 'कृदरम्' आवपन के नाम हैं। [आवपनम् = प्रतिष्ठा वा आवपनम् (शां.आ.२.१४)] यहाँ 'आवपनम्' उन क्षेत्रों का नाम है, जो सूर्यादि लोकों की प्रतिष्ठा रूप होते हैं। जिनमें विभिन्न प्रकार के कणों की उत्पत्ति प्रक्रिया का बीज वपन किया जाता है एवं जिनके अन्दर नाना प्रकार की छेदन-भेदन की क्रियाएँ चलती रहती हैं। हमारी दृष्टि में सूर्यादि लोकों में जो कूपनुमा विशाल क्षेत्र होते हैं, वे ही आवपन क्षेत्र कहे जाते हैं। इनके विषय में हम पूर्व में विस्तार से लिख चुके हैं।

अब ग्रन्थकार 'ऊर्दरम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति ऊर्जे दीर्णं वा' अर्थात् जो ऊपर की ओर खुले हुए होते हैं एवं जो [ऊर्क् = अन्ननाम (निघं.२.७), ऊर्क् अन्नं च रसं च (निरु.९.४३)] नाना प्रकार के संयोज्य कण सूर्यादि तारों के लिए रस अर्थात् बीज रूप होते हैं, जो कूपनुमा क्षेत्र ऊपर की ओर खुले हुए होते हैं अथवा कटे हुए होते हैं, उन्हें 'ऊर्दर' कहते हैं। निश्चित ही यह संरचना पूर्वोक्त सौर कूपों की रचना से मेल खाती है। इन्हीं क्षेत्रों में प्रवाहित होता हुआ पदार्थ नाना प्रकार की छेदन-भेदन क्रियाओं के द्वारा छिन्न-भिन्न होकर केन्द्रीय भाग की ओर धीरे-२ रिसता हुआ जाता रहता है।

इसका जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उसे हम पूर्ण रूप में यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु॥ (ऋ.२.१४.११)

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण एवं अपान के युग्म से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द भुरिक् पंक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव दर्शाता हुआ संयोग आदि क्रियाओं को विस्तृत करता है।

आधिदैविक भाष्य— (अध्वर्यवः) [अध्वर्युः = वायुर्वा अध्वर्युरधिदैवं प्राणोऽध्यात्मम् (गो.पू.४.५), वह्निरध्वर्युः (तै.ब्रा.१.१.६.१०)] अग्नि और वायु तत्त्व (दिव्यस्य) द्युलोकों अर्थात् सूर्यादि लोकों के अन्दर उत्पन्न हुए (वस्वः) कण वा विकिरण आदि पदार्थों को (यः) जो तथा (पार्थिवस्य, क्षम्यस्य, यः) जो प्रतिरोधी बलयुक्त पृथिवी आदि लोकों में उत्पन्न पदार्थों के मध्य (वः, राजा, अस्तु) उनका [यहाँ पुरुष व्यत्यय है।] जो राजा होता है अर्थात् जो इन सब प्रक्रियाओं और पदार्थों को प्रकाशित एवं नियन्त्रित करता है। (तम्, इन्द्रम्) उस इन्द्र तत्त्व को अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों को (यवेन, सोमेभिः) संदीप्त सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों से सम्पन्न संयोजक एवं विभाजक गुणों से युक्त विभिन्न कणों की धाराओं से (ऊर्दरम्, पृणता) पूर्वोक्त सौर कूप भरते रहते हैं अर्थात् वे सौर नदियाँ सौर कूपों में गिरती रहती हैं। (न, तत्, अपः) वे सौर नदियाँ तथा उनमें विद्यमान सोम आदि पदार्थ जिस स्तर के होते हैं, उसी स्तर के कर्म उन सौर कूपों में और अन्ततः सूर्यादि

लोकों के केन्द्रीय भागों में होते हैं और इसी स्तर की ऊर्जा भी उन लोकों में उत्पन्न होती है।

भावार्थ— अग्नि एवं वायु तत्त्व सूर्यलोक में विद्यमान सौर कूपों को मरुद् रश्मियों से सम्पन्न संयोजक व विभाजक गुणों से युक्त पदार्थ से निरन्तर भरते रहते हैं। इन कूपों में जिस स्तर पर वह पदार्थ भरा जाता है, उसी स्तर पर वह पदार्थ सूर्य के नाभिक में जाकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होता है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (अध्वर्यवः) राजसम्बन्धिनः (यः) (दिव्यस्य) दिवि भवस्य (वस्वः) वसोर्धनस्य (यः) (पार्थिवस्य) पृथिव्यां विदितस्य (क्षम्यस्य) क्षमायां साधोः (राजा) (तम्) (ऊर्दरम्) कुसूलम् (न) इव (पृणत) पूरयत। अत्रापि दीर्घः। (यवेन) (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तम् (सोमेभिः) ओषधिभिः (तत्) (अपः) (वः) युष्मभ्यम् (अस्तु) भवतु।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। ये विद्वांसो धान्येन कुसूलमिव विद्यार्थिनां बुद्धीर्विद्यासुशि-क्षाभ्यां पिपुरति ते राजसेव्याः स्युः।

पदार्थ— हे (अध्वर्यवः) राजसम्बन्धी विद्वान् जनो! (यः) जो (दिव्यस्य) प्रकाश में उत्पन्न हुए (वस्वः) धन को वा (यः) जो (पार्थिवस्य) पृथिवी में विदित (क्षम्यस्य) सहनशीलता में उत्तम उसके बीच (वः) तुम्हारे लिये (राजा) राजा (अस्तु) हो (तम्) उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् को (यवेन) यव अन्न से जैसे (ऊर्दरम्) मटका को वा डिहरा को (न) वैसे (सोमेभिः) सोमादि ओषधियों से (पृणत) पूरो परिपूर्ण करो (तत्) उस (अपः) कर्म को प्राप्त होओ।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो विद्वान् जन धान्य अन्न से मटका वा डिहरा को जैसे वैसे विद्यार्थियों की बुद्धियों को विद्या और उत्तम शिक्षा से तृप्त करते हैं, वे राजा को सेवने योग्य हों।''

यहाँ 'ऊर्दरम्' पद सौर कूपों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो सूर्यलोकों में आवपन का कार्य भी करते हैं। अब 'कृदरम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कृदरं कृतदरं भवति' अर्थात् जो कटा हुआ होता है और आवपन इसको कहा ही गया है। इस कारण

'कृदरम्' भी सौर कूपों का ही नाम है, जो ऊपर से खुले हुए अथवा कटे हुए ही होते हैं।

यहाँ जो 'कृदरम्' पद का निगम प्रस्तुत किया गया है, उस मन्त्र को हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥ (यजु.२९.१)

इस मन्त्र का ऋषि बृहदुक्थो वामदेव्यः है। इसका आशय यह है कि [उक्थम् = अन्नमुक्थानि (कौ.ब्रा.११.८; १७.७)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राणों में श्रेष्ठ प्राण नामक प्राथमिक प्राण से विशेष समृद्ध एवं विशेष संयोज्य गुणों से युक्त सूक्ष्म मरुद् रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से ऊष्मा एवं प्रकाश आदि गुण तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (जातवेदः, अग्ने) सूर्यादि लोकों में उत्पन्न सभी पदार्थों में विद्यमान (समिधः, अञ्जन्) अच्छी प्रकार से संदीप्त व ज्वलनशील प्रकट होता हुआ अग्नि तत्त्व (मतीनाम्) विभिन्न छन्द रश्मियाँ एवं उनसे उत्पन्न नाना प्रकार के कण वा विकिरण आदि पदार्थों के (कृदरम्) पूर्वोक्त सौर कूप (मधुमत्, घृतम्) [मधु = सौम्यं वै मधु (काठ.सं. ११.२), मिथुनं वै मधु प्रजा मधु (ऐ.आ.१.३.४), घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ. सं.२४.७), वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५; क.सं.३१.७)] सोम्य कणों, जो तीव्र संयोज्य स्वभाव से युक्त होते हैं, से सम्पन्न वज्ररूप पदार्थ, जो 'घृङ्' रश्मियों से युक्त होते हैं, [यहाँ सोम्य कणों को वर्तमान विज्ञान की भाषा में विद्युत् धनावेशित कण, विशेषकर इलेक्ट्रॉन्स ग्रहण करना चाहिए।] (पिन्वमानः) उन सोम्य कण आदि पदार्थों की धाराओं को पीते रहते हैं अर्थात् अवशोषित वा आकर्षित करते रहते हैं।

(वाजि, वाजिनम्, वहन्) [वाजी = आदित्यो वाजी (तै.ब्रा.१.३.६.४)। वाजिनः = अग्निर्वायुः सूर्यः ते वै वाजिनः (तै.ब्रा.१.६.३.९)] सूर्यादि लोक विभिन्न आयन्स, सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन्स) रूपी अग्नि तत्त्व, विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों के सम्मिश्रण रूपी वायु, जिसे वर्तमान भौतिकी की भाषा में वैक्यूम एनर्जी कह सकते हैं एवं विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों रूपी सूर्य आदि पदार्थों को वहन करता किंवा इनसे व्याप्त होता हुआ (देवानाम्, सधस्थम्, प्रियम्) विभिन्न कमनीय अर्थात् संलयनीय देव कणों को तृप्त

करने योग्य अर्थात् उनके लिए अनुकूल परिस्थितियों से युक्त सहस्थान को (आ, वक्षि) प्राप्त करता है।

भावार्थ— सूर्यादि लोकों में पाये जाने वाले कूपनुमा गहरे गड्ढों के अन्दर तेजस्वी और अति उष्ण अग्नि प्रज्वलित होता रहता है। उन सौर कूपों के अन्दर उन लोकों के पृष्ठ पर बहने वाली ऋणावेशित कणों, विशेषकर सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) की विशाल धाराएँ तेजस्वी रूप में प्रवाहित होती रहती हैं। उन धाराओं में से 'घृङ्' पदों के घोष भी गूँजते रहते हैं। उस सूर्यलोक में विभिन्न प्रकार के आयन, सोम्य कण एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सर्वत्र संचरित होती रहती हैं। सौर कूपों के अन्दर प्रवाहित ऋणावेशित कणों की धाराएँ धनावेशित कणों की धाराओं को अपने आकर्षण बल से खींचते हुए सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर ले जाती रहती हैं।

इस मन्त्र में 'कृदरम्' पद आवपन अर्थात् सौर कूपों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्तः (अञ्जन्) व्यक्तीभवन् (कृदरम्) उदरम् (मतीनाम्) मनुष्याणाम् (घृतम्) उदकमाज्यं वा (अग्ने) अग्निवद्वर्त्तमान (मधुमत्) मधुरा बहवो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् तत् (पिन्वमानः) सेवमानः (वाजी) वेगवान् जनः (वहन्) (वाजिनम्) वेगवन्तमश्वम् (जातवेदः) जातप्रज्ञ (देवानाम्) विदुषाम् (वक्षि) वहसि प्रापयसि (प्रियम्) प्रीणन्ति यस्मिंस्तत् (आ) समन्तात् (सधस्थम्) सहस्थानम्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यदि मनुष्या जाठराग्निं प्रदीप्तं रक्षेयुर्बाह्यमग्निं सप्रयुञ्जीरंस्तर्ह्ययमश्ववद्यानानि देशान्तरं सद्यः प्रापयेत्।

पदार्थ— हे (जातवेदः) प्रसिद्ध बुद्धिमान् (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् जन जैसे (समिद्धः) सम्यक् जलाया (अञ्जन्) प्रकट होता हुआ अग्नि (मतीनाम्) मनुष्यों के (कृदरम्) पेट और (मधुमत्) बहुत उत्तम गुणों वाले (घृतम्) जल वा घी को (पिन्वमानः) सेवन करता हुआ जैसे (वाजी) वेगवान् मनुष्य (वाजिनम्) शीघ्रगामी घोड़े को (वहन्) चलाता वैसे (देवानाम्) विद्वानों के (सधस्थम्) साथ स्थिति को (आ) प्राप्त करता है वैसे (प्रियम्) प्रीति के निमित्तस्थान को (वक्षि) प्राप्त कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य जाठराग्नि को तेज रक्खें और

बाहर के अग्नि को कला-कौशलादि में युक्त किया करें, तो यह अग्नि घोड़े के तुल्य सवारियों को देशान्तर में शीघ्र पहुंचावे।''

* * * * *

= एकविंश: खण्ड: =

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य। रम्भ आरभन्त एनम्।
आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भ॥ [ऋ.८.४५.२०]
इत्यपि निगमो भवति। आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम्।
पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन।
कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा॥ [काठ.सं.९.७]
इत्यपि निगमो भवति।

'रम्भः' एवं 'पिनाकम्' ये दोनों दण्ड के वाचक हैं। दण्ड के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है— 'वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै' (श.ब्रा.३.२.१.३२) अर्थात् राक्षस संज्ञक हिंसक रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट करने वाली वज्र रश्मियाँ दण्ड कहलाती हैं। यहाँ 'रम्भः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'रम्भ आरभन्त एनम्' अर्थात् जिन रश्मि आदि पदार्थों का नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं में बाधक पदार्थों से रक्षा के लिए आश्रय लेते हैं, उन्हें 'रम्भः' कहते हैं। यहाँ लम्भ के स्थान पर रम्भ का प्रयोग मानना चाहिए। इसके लिए एक निगम प्रस्तुत किया गया है। इस मन्त्र को हम यहाँ पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ॥ (ऋ.८.४५.२०)

इस मन्त्र का ऋषि त्रिशोक काण्व है। [शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)] ताण्ड्य ब्राह्मण ८.१.९ में त्रैशोक नामक साम की चर्चा करते हुए लिखा है— 'इमे वै लोकाः सहासं स्तेऽशोचं स्तेषामिन्द्र एतेन साम्ना शुचमपहन्यत्रयाणां शोचतामपाहं

स्तस्मात्रैशोकं'।

इसका आशय यह है कि सूर्य एवं ग्रह आदि लोकों के पृथक्करण की प्रक्रिया में गायत्री छन्द रश्मियों के समूह विशेष की भी विशेष भूमिका होती है। इस समूह को त्रैशोक साम कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन साम रश्मियों की उपस्थिति में तीन प्रकार की दीप्तियाँ अथवा ज्वालाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। जब किसी निर्माणाधीन तारे से ग्रह आदि लोक पृथक् होते हैं, तब उस आग्नेय पिण्ड में तीन प्रकार की ज्वालाएँ उठ रही होती हैं। इसी कारण इन साम रश्मियों को त्रैशोक कहा जाता है। यह 'त्रैशोक' पद 'त्रिशोक' पद का स्वार्थ में तद्धित रूप है। इसका अर्थ यह है कि इन साम रश्मियों के अन्दर विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी होता है।

आधिदैविक भाष्य— (शवसः, पते) बलों का अधिपति इन्द्र तत्त्व (न, जिव्रयः) [जिव्रयः = जिव्रयः जीर्णाः] जैसे अथवा जब जीर्ण अथवा दुर्बल रश्मि आदि पदार्थ (आ, रम्भम्) वज्र रश्मियों का आश्रय प्राप्त करते हैं अथवा तारक रश्मियों से बल प्राप्त करते हैं, (त्वाम्, आ, ररम्भा) वैसे अथवा तब ही विभिन्न कण आदि पदार्थ अथवा विशाल आकाशीय पिण्ड इन्द्र तत्त्व का आश्रय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निर्माणाधीन तारों से ग्रह आदि लोकों के पृथक्करण की प्रक्रिया में तीव्र विद्युत् तरंगों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। (त्वाम्, सधस्थे, आ, उश्मसि) और तारों के केन्द्रीय भाग, जहाँ विभिन्न प्रकार के पदार्थों का संगम होता है, में भी इन्द्र तत्त्व की भूमिका होती है। इसी को यहाँ इन्द्र को चाहना कहा गया है।

यहाँ 'रम्भः' पद वज्ररूपी दण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अब 'पिनाकम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन' अर्थात् जिसके द्वारा शत्रुओं के किसी आक्रमण को प्रत्याक्रमण द्वारा शत्रुओं को पीस दिया जाता है अर्थात् नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार आधिदैविक पक्ष में पिनाक का अर्थ भी वज्ररूप रश्मियाँ ही है, जिसके लिए यहाँ निगम प्रस्तुत किया गया है—

कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा। (काठ.सं.९.७)

[कृत्तिम् = गृहनाम (निघं.३.४), 'कृती छेदने' धातोः क्तिन् प्रत्ययः। धनुः = धन्वतेर्गति-कर्मणः वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्माद् इषवः (निरु.९.१६)] जो पदार्थ धनु संज्ञक रश्मियों को पृथक् कर देते हैं, तब वे पिनाक संज्ञक वज्र रश्मियों को ग्रहण करके कृत्तिवासा रूप धारण कर लेते हैं। स्मरण रहे कि धनु पद भी वज्र रश्मियों का नाम है, जैसा कि ऋषियों ने कहा है— वार्त्रघ्नं वै धनुः (श.ब्रा.५.३.५.२७), वज्रो वै धनुः (मै.सं.४.४.३)।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धनुरूपी वज्र को पृथक् करके पिनाकरूपी वज्र को कैसे धारण किया जा सकता है? धनु और पिनाक में क्या भेद है? हमारे मत में धनु संज्ञक वज्र रश्मियाँ दूरस्थ एवं विशाल असुर पदार्थ को नष्ट करने में सक्षम होती हैं, जबकि पिनाक संज्ञक वज्र रश्मियाँ उस निकटवर्ती असुरादि पदार्थ पर उस समय प्रहार करती हैं, जब वह देव पदार्थ पर प्रहार करता है। जब कोई पदार्थ पिनाक रश्मियों से युक्त हो जाता है, तब उसे कृत्तिवास क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि उस समय वह देव पदार्थ पिनाक रश्मियों का ऐसा आवरण धारण कर लेता है कि वह आवरण आक्रमण करते हुए असुर पदार्थ को काट कर गिरा देता है, यह दोनों प्रकार की वज्र रश्मियों में भेद है। इस प्रकार यह पिनाक नामक वज्र रश्मियों का निगम है।

भावार्थ— सूक्ष्म व बृहत् स्तर पर होने वाली क्रियाओं में जब स्थूल पदार्थ तीक्ष्ण व तारक विद्युत् का आश्रय लेते हैं, तभी उन स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म अवयव सूक्ष्म वज्र वा तारक रश्मियों का आश्रय लेते हैं। इसका आशय यह है कि ये दोनों क्रियाएँ साथ-२ होती हैं। विभिन्न लोकों के पृथक्करण में भी तीक्ष्ण विद्युत् की भूमिका होती है। तारों के केन्द्रीय भाग में भी तीव्र विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है। दूरस्थ असुर पदार्थ को नष्ट करने के लिए धनु संज्ञक रश्मियाँ समर्थ होती हैं तथा निकटस्थ असुर पदार्थ को नियन्त्रित वा नष्ट करने के लिए पिनाक संज्ञक रश्मियाँ क्रियाशील होती हैं।

मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्। स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः।
मेना मानयन्त्येनाः। ग्ना गच्छन्त्येनाः।
अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ॥ [ऋ.५.३१.२]
ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत। [मै.सं.१.९.४]
इत्यपि निगमौ भवतः।

'मेना' एवं 'ग्ना' दोनों पद स्त्रीवाची हैं। निघण्टु १.११ में इन दोनों नामों को वाङ्नाम के अन्तर्गत भी पढ़ा गया है। इन दोनों ही प्रकार की वाक् रश्मियों के विषय में इस ग्रन्थ का खण्ड २.२३ पठनीय है। वहाँ भी इन रश्मियों को प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्त्रीरूप ही माना है और यहाँ भी ग्रन्थकार ने इन्हें स्त्रीवाची कहा है। इस कारण प्रसङ्गतः यहाँ 'स्त्री' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः'।

यहाँ 'अपत्रपणम्' पद अप उपसर्ग पूर्वक 'त्रप्' धातु से व्युत्पन्न होता है। आप्टेकोष (संस्कृत-हिन्दी कोष) में अप+त्रप् का अर्थ मुड़ना और श्रम के कारण कार्यनिवृत्त होना लिखा है। स्त्री शब्द 'स्त्यै शब्दसंघातयोः' धातु से बना है, जिसके अर्थ 'संस्कृत-धातु-कोष' में इस प्रकार दिये हैं— शब्द करना, भीड़ होना, घेरना, फैलना। इस प्रकार स्त्री संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ वे हैं, जो पुरुष संज्ञक रश्मि आदि पदार्थों की अपेक्षा आकर्षण आदि हेतु कम सक्रिय होते हैं। धनावेशित और ऋणावेशित कणों की आकर्षण प्रक्रिया, जो 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.२.३ में प्रारम्भिक स्तर पर दी गई है, में देखा जा सकता है कि पुरुष संज्ञक प्राण रश्मियाँ स्त्री संज्ञक मरुद् रश्मियों को आकर्षित करती हैं और आकाश तत्त्व को भी आकर्षित करती हैं, जबकि मरुद् रश्मियाँ आकाश तत्त्व को थामे रखती हैं। दोनों के सम्मिलित प्रभाव से उनका संयोग हो पाता है। प्राण रश्मियाँ मरुद् रश्मियों को प्रत्यक्ष रूप से आकर्षित करती हैं, जबकि मरुद् रश्मियाँ आकाश तत्त्व के माध्यम से परोक्ष रूप से प्राण रश्मियों की ओर आकर्षित होती हैं। ऐसा ही भाव इस ग्रन्थ के इस प्रकरण में भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। स्त्री संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ अपेक्षाकृत ध्वनि उत्पन्न करने वाले ही होते हैं।
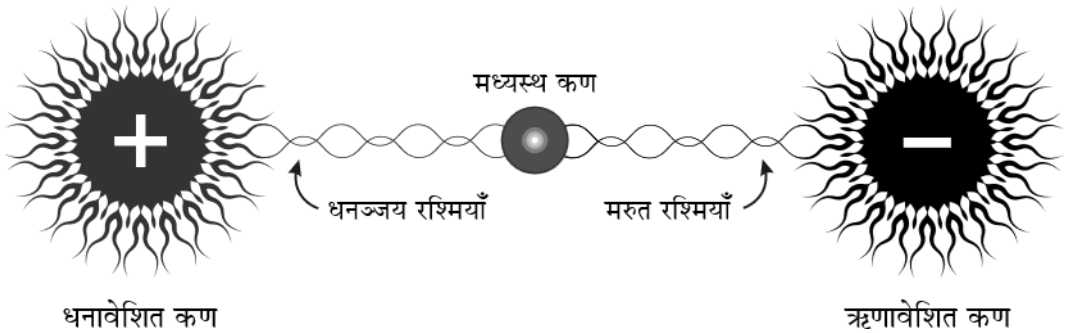
अब स्त्रीवाची 'मेना' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'मेना मानयन्त्येनाः' अर्थात् जिनका सम्मान किया जाता है। यहाँ सम्मान करने का भाव यही है कि जिन रश्मि

आदि पदार्थों अर्थात् जिनकी ओर आकृष्ट हुआ जाता है, उन्हें 'मेना' कहते हैं। सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्त्रीरूप व्यवहार ही करती हैं, उन्हें प्राण रश्मियाँ अपनी ओर आकृष्ट करती रहती हैं। अब स्त्रीवाची 'ग्नाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'ग्नाः गच्छन्त्येनाः' अर्थात् जिनकी ओर पुरुषरूप प्राणादि रश्मियाँ गमन करती हैं, इस कारण उन्हें 'ग्नाः' कहते हैं।

यहाँ 'मेना' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उस मन्त्र को हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

आ प्र द्रव हरिवो मा वि वेनः पिशङ्गराते अभि नः सचस्व।
नहि त्वदिन्द्र वस्यो अन्यदस्त्यमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ॥ (ऋ.५.३१.२)

इस मन्त्र का ऋषि अवस्युरात्रेयः है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अवस्युरात्रेय नामक एक सूक्ष्म रश्मि से होती है, जिसके बारे में खण्ड ३.२० पठनीय है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी और बलशाली होता है।

आधिदैविक भाष्य— (हरिवः) श्रेष्ठ हरणशील रश्मियों से युक्त अर्थात् विशेष बलसम्पन्न (पिशङ्गराते) [पिशङ्ग = पिशङ्गो वैश्वदेवः (मै.सं.४.७.८), यह पद 'पिश दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में 'पिश अवयवे' धातु को 'दीप्तौ' अर्थ में वेद में प्रयुक्त माना है।] विविध प्रकार की दीप्तियों को उत्पन्न करने वाला तथा विभिन्न पदार्थों को खण्ड-२ करने वाला (इन्द्र) सबका नियन्त्रक तत्त्व (मा, वि, वेनः) विशेष रूप से [वेनः = यज्ञनाम (निघं.३.१७) वेनतीति कान्तिकर्मा (निघं.२.६)] कामनाशील अर्थात् आकर्षण बलों से युक्त न होने के कारण यजनशील नहीं होता है। (अमेनान्) आकर्षण करने वाले विभिन्न छन्दादि स्त्रीरूप पदार्थ नहीं हैं जिनके साथ, (चित्, जनिवतः, चकर्थ) उन प्राणादि पुरुषरूप पदार्थों को छन्दादि पदार्थों से युक्त करता है।

इसका अर्थ यह है कि जब इन दोनों प्रकार के पदार्थों के मध्य अन्योन्य क्रिया होती है अर्थात् धनावेशित एवं ऋणावेशित पदार्थों के मध्य संयोग की क्रिया होने वाली होती है, उस समय असुर आदि पदार्थ बाधक के रूप में उपस्थित हो जाता है। ऐसी

स्थिति में उपरिदर्शित इन्द्र तत्त्व असुर तत्त्व को नष्ट करके उन रश्मियों एवं कणों के संयोग में परोक्ष सहायक होता है, जिससे प्राण प्रधान पुरुषरूप पदार्थ मरुत् प्रधान स्त्रीरूप पदार्थों को प्राप्त करके नवीन कण आदि पदार्थों को जन्म देते हैं। ध्यातव्य है कि इन्द्र तत्त्व का इस क्रिया में कोई प्रत्यक्ष सहयोग नहीं होता, बल्कि असुर पदार्थ को नष्ट करने में अवश्य ही प्रत्यक्ष सहयोग होता है।

(नः, अभि, सचस्व) इस इन्द्र तत्त्व की उपस्थिति में इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सब ओर से अर्थात् स्त्री और पुरुष संज्ञक दोनों ही पदार्थों से स्पन्दित होने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ परस्पर संयुक्त होने लगती हैं। (प्र, आ, द्रव) इस प्रक्रिया में बाधक असुर पदार्थ की ओर इन्द्र तत्त्व सब ओर से तीव्र प्रहार करता है। (त्वत्, वस्यः, अन्यत्, नहि, अस्ति) इस प्रकार उस इन्द्र तत्त्व से अन्य कोई पदार्थ अधिक बसाने वाला नहीं है अर्थात् विभिन्न यजन क्रियाओं के द्वारा नाना प्रकार के पदार्थों के निर्माणकर्त्ता इन्द्र तत्त्व से बढ़कर अन्य कोई पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान नहीं है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि कोई भी यजन प्रक्रिया इन्द्र तत्त्व के लिए दुष्कर नहीं है।

भावार्थ— विद्युत् यजन क्रिया में विभिन्न प्रकार की दीप्तियों को उत्पन्न करती है। जब वह विद्युत् प्रबल आकर्षण बल से युक्त नहीं होती है, उस समय वह यजनशील भी नहीं होती है। दो पदार्थों के संयोग के समय असुर तत्त्व प्रकट हो जाता है, जिसे तीक्ष्ण विद्युत् नष्ट कर देती है। इस प्रकार उस तीक्ष्ण विद्युत् की उस यजन क्रिया में अनिवार्य परन्तु परोक्ष भूमिका होती है। उस विद्युत् की उपस्थिति में दोनों ही पदार्थों से स्पन्दित होने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ परस्पर संयुक्त होने लगती हैं। विद्युत् ही सभी यजन क्रियाओं का मुख्य हेतु है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (आ) समन्तात् (प्र) (द्रव) धाव (हरिवः) प्रशस्ताश्वयुक्त (मा) (वि) (वेनः) कामयेः (पिशङ्गराते) यः पिशङ्गं सुवर्णादिकं राति ददाति तत्सम्बुद्धौ (अभि) (नः) अस्मान् (सचस्व) (नहि) (त्वत्) (इन्द्र) परमैश्वर्य्यप्रद (वस्यः) वसीयान् (अन्यत्) अन्यः (अस्ति) (अमेनान्) अविद्यमाना मेना प्रक्षेपकर्त्र्यः स्त्रियो येषां तान् (चित्) (जनिवतः) जन्मवतः (चकर्थ) कुरु।

भावार्थः — यो दीर्घं जीवितुं बलमुन्नेतुं राज्यं कर्त्तुं वर्धितुं च प्रयतते स एव कृतकृत्यो जायते।

पदार्थ— हे (हरिवः) श्रेष्ठ घोड़ों से युक्त (पिशङ्गराते) सुवर्ण आदि के और (इन्द्र) अत्यन्त ऐश्वर्य्य के देने वाले राजन्! आप (मा, वि, वेनः) कामना मत करें अर्थात् कामी न हों और (अमेनान्) नहीं विद्यमान हैं प्रक्षेप करने वाली स्त्रियाँ जिनकी उनको (चित्) उन्हीं (जनिवतः) जन्म वाले (चकर्थ) करें और (नः) हम लोगों का (अभि, सचस्व) सब ओर से सम्बन्ध करें और शत्रु के विजय के लिये (प्र, आ, द्रव) अच्छे प्रकार दौड़ें जिससे (त्वत्) आप से (वस्यः) अत्यन्त वसने वाला (अन्यत्) दूसरा (नहि) नहीं (अस्ति) है वह आप हम लोगों को सुख से सम्बन्ध कीजिये।

भावार्थ— जो अतिकाल पर्य्यन्त जीने, बल बढ़ाने, राज्य करने और वृद्धि करने के लिये यत्न करता है, वही कृतकृत्य होता है।''

यहाँ 'मेना' पद स्त्रीरूप पदार्थों के लिए प्रयुक्त है। तदनन्तर 'ग्नाः' पद का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत। (मै.सं.१.९.४)

यहाँ 'त्वा' सर्वनाम 'वासः' के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा मैत्रायणी संहिता देखने से विदित होता है। इसका अर्थ यह है— (त्वा) दो संयोजनीय कण जब आकर्षित होकर निकट आते हैं, तब पूर्वोक्तानुसार प्राणतत्त्व-प्रधान पदार्थ वाक्तत्त्व-प्रधान पदार्थ की ओर गमन करता है। संयोग करते समय दोनों पदार्थों के मध्य आच्छादक सूत्रात्मा एवं बृहती आदि रश्मियों के दोनों कणों के पृथक्-२ आवरण को (ग्नाः) स्त्रीरूप वाक् रश्मियाँ, जो स्त्री संज्ञक वाक्तत्त्व-प्रधान पदार्थ के परितः स्पन्दित होती हैं, (कृन्तन्) काटती हैं अर्थात् उस घेरे को तोड़ती हैं (अपसः, अतन्वत) और उस छिन्न-भिन्न हुए आच्छादक आवरण को प्राणप्रधान पुरुषरूप रश्मियाँ फैलाकर दूर कर देती हैं, जो संयोगोपरान्त दोनों ही कणों के संयुक्त रूप को आच्छादित कर लेती हैं। इस निगम में 'ग्नाः' पद स्त्रीरूप वाक् रश्मियों के लिए अथवा वाक् प्रधान ऋणावेशित कणों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य। शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः।
वैतसो वितस्तं भवति।

यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥[ऋ.१०.८५.३७]
त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन।[ऋ.१०.९५.५]
इत्यपि निगमौ भवतः।

यहाँ 'शेपः' एवं 'वैतसः' ये दो नाम पुंस्प्रजनन के दिए गये हैं। यहाँ पुमान् एवं प्रजनन दोनों पदों का रूढ़ अर्थ लेकर सभी भाष्यकारों ने वेद विद्या को पूर्णतः उपहासास्पद ही नहीं, अपितु अत्यन्त कलंकित भी बना दिया है। इन भाष्यकारों ने जो भी किया है, उसे न दर्शाते हुए हम यहाँ इन दोनों पदों पर विचार करते हैं। पुमान् के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— पुमान् वा असौ (द्यौः) (जै.ब्रा.१.३३०), पुंसो वा एतद्रूपं यदह स्त्रियै रात्रिः (जै.ब्रा.२.४३४)। इससे यह संकेत मिलता है कि द्युलोक के अन्दर विद्यमान सूर्यादि लोक 'पुमान्' कहलाता है। 'प्रजनन' पद के विषय में ऋषियों का कथन है—

प्रजननं जगती (जै.ब्रा.१.९३), अग्निः प्रजननम् (गो.पू.२.१५), प्रजननं वा अग्निः (तै.ब्रा.१.३.१.४), यानि द्वादश (अक्षराणि), प्रजननं तत् (जै.ब्रा.१.२०४), प्रजननँ सप्तदशः (काठ.सं.२१.१), सप्तदशस्ते अग्न आत्मा (काठ.सं.३९.२), उदरं वा एषः स्तोमानां यत्सप्तदशः (तां.ब्रा.४.५.१५)।

इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि लोकों में जो अग्नि विद्यमान होता है, उसके अन्दर जगती छन्द रश्मियाँ तथा सत्रह विशेष गायत्री छन्द रश्मियों का समुदाय, जो अन्य सामों अर्थात् विभिन्न गायत्री छन्द समूहों को अपने अन्दर समाविष्ट रखता है, उसे प्रजनन कहते हैं, क्योंकि ये ही छन्द रश्मियाँ और अग्नि तत्त्व तारे के अन्दर नाना प्रकार की प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हुए नवीन अग्नि अर्थात् नाभिकीय संलयन से उत्पन्न अग्नि एवं नवीन आयन्स को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार द्यौ के अन्दर विद्यमान सूर्यादि तारे और उनके अन्दर विद्यमान अग्नि, जगती छन्द एवं सप्तदश आदि साम रश्मियाँ पुंस 'प्रजनन' कहलाती हैं और इन्हें 'शेप' एवं 'वैतस' कहते हैं।

अब 'शेपः' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः' अर्थात् वे सप्तदश जगती आदि रश्मियाँ एवं उनसे समृद्ध अग्नि तत्त्व अथवा नाभिकीय संलयन प्रारम्भ करने हेतु आवश्यक ऊष्मा संलयनीय कणों को परस्पर बाँधने में समर्थ होती है। ध्यान रहे 'स्पर्श ग्रहणसंश्लेषणयोः' धातु छूने के साथ-२ संयुक्त

करने अर्थात् जोड़ने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। इसलिए इन पदार्थों को शेप कहते हैं। 'शेपः' पद के विषय में महर्षि तित्तिर का भी कथन है— गन्धर्वाञ्छेपेन (प्रीणामि) (तै.सं.५.७.१५.१)। यह कथन भी इस बात की पुष्टि करता है कि पृथ्वी आदि लोकों एवं विभिन्न प्रकार की किरणों का धारक इन्हीं शेप अर्थात् पुंस प्रजनन संज्ञक उपर्युक्त रश्मि आदि पदार्थों से ही तृप्त होता है अर्थात् उनसे ही उसकी सारी क्रियाएँ सम्पादित होती हैं।

अब 'वैतसः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वैतसो वितस्तं भवति'। यहाँ 'वितस्तम्' पद 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'तसु उपक्षये' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह धातु फेंकना, उड़ा देना, खोदना और कुम्हलाना अर्थ में पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में मानी है। इस प्रकार 'वैतसः' पद इस अर्थ का सूचक है कि पूर्वोक्त पुंस प्रजनन संज्ञक पदार्थ (अग्नि एवं पूर्वोक्त छन्दादि रश्मियाँ) तारों के अन्दर विभिन्न पदार्थों को फेंकते, फैलाते एवं उन्हें उपक्षीण करते हुए संलयन के लिए प्रेरित करते हैं। ये रश्मियाँ एवं अग्नि तत्त्व इन पदार्थों को तारों के केन्द्रीय भाग की ओर फेंकते हुए तीव्रगति प्रदान करके और केन्द्रीय भाग के निकट पहुँचकर उनकी गतियों को क्षीण करके और फिर उन्हें परस्पर संयुक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं अथवा संलयन के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करते हैं। इस कारण इनको 'वैतस' कहते हैं।

अब यहाँ 'शेपः' पद का जो निगम प्रस्तुत किया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥ (ऋ.१०.८५.३७)

इस मन्त्र का ऋषि सूर्या सावित्री है। [सूर्या = वाङ्नाम (निघं.१.११)। सावित्री = विद्युत् सावित्री (जै.उ.४.२७.९), अन्तरिक्षं सावित्री (गो.पू.१.३३), आकाशस्सावित्री (जै.उ.४.१२.१.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति आकाश तत्त्व की अङ्गभूत उन छन्द रश्मियों से होती है, जो सूक्ष्म विद्युत् का कार्य करती हैं। इसका देवता सूर्या एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियाँ तीक्ष्ण तेज और बल को उत्पन्न करने लगती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (पूषन्) [पूषन् = अयं वै पूषा योऽयं (वातः) पवते। एष हीदं

सर्वं पुष्यति। (श.ब्रा.१४.२.१.९; १४.२.२.३२)] सूर्यादि लोकों में विद्यमान वायु तत्त्व (कथित वैक्यूम एनर्जी) सभी क्रियाओं का पोषणकर्त्ता है। इसके बिना किन्हीं भी क्रियाओं का होना सम्भव नहीं है। वह ऐसा वायु तत्त्व (ताम्, शिवतमाम्) उन सूर्या संज्ञक वाक् रश्मियों, जो शान्त और संयत होती हैं अर्थात् जो इन लोकों में होने वाली आवश्यक विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए उपयुक्त रूप से सक्रिय नहीं होती हैं, उन्हें (आ, ईरयस्व) सब ओर से प्रेरित करता है अर्थात् वायु तत्त्व में विद्यमान सूक्ष्म प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ निर्माणाधीन तारे में अर्थात् आकाश तत्त्व में विद्यमान छन्द रश्मियों को सक्रिय करती हैं। (यस्याम्) उन छन्द रश्मियों के अन्दर (मनुष्याः) मनुष्य नामक कण, जिनकी चर्चा हमने इस ग्रन्थ के खण्ड ३.७ में की है। जहाँ यह भी कहा गया है कि इन कणों की उत्पत्ति विशाल कॉस्मिक मेघ एवं सूर्यादि लोकों में होती है। ऐसे ये मनुष्य नामक कण (बीजम्) [बीजम् = जज्ञि (जननस्वभावम्) बीजम् (अस्तु) (तै.सं.७.५.२०.१)] उन छन्द रश्मि आदि पदार्थों के अन्दर संयोजकता का गुण (वपन्ति) उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है— बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४)। उधर अन्य कुछ ऋषियों का कथन है—

मनुष्या यजुष्मत्यः (श.ब्रा.१०.५.४.१)
व्यानेन मनुष्यान् (इडा) दाधार (तै.सं.१.७.२.१)

इससे संकेत मिलता है कि विभिन्न कण आदि पदार्थों में बाहर की ओर स्पन्दित प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों, जो व्यान द्वारा धारण की जाती हैं, को भी मनुष्य कहते हैं। उधर याजुषी छन्द रश्मियों से युक्त पदार्थ, जिससे हम आकाश तत्त्व का भी ग्रहण कर सकते हैं, भी मनुष्य कहलाता है। इस प्रकार प्राण नामक प्राथमिक प्राण एवं आकाश तत्त्व की रश्मियाँ भी सद्यः सक्रिय होती हुई छन्दादि रश्मियों में संयोजक गुण का बीजवपन वा समर्थन करती हैं, (या, नः, उशती) जिससे वे छन्दादि पदार्थ उन मनुष्य संज्ञक रश्मि वा कणों व आकाश तत्त्व की ओर आकर्षित होते हुए अथवा उन्हें आकर्षित करते हुए और संदीप्त होते हुए (ऊरू, विश्रयाते) [ऊरू = अनुष्टुप् छन्दो विश्वेदेवा देवतोरू (श.ब्रा.१०.३.२.९)] अपने निकटवर्ती अथवा अपने साथ संयुक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियों, जो उनको थामे रखती हैं, को फैला देते हैं अथवा शिथिल कर देते हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के विषय में ऋषियों ने लिखा है— अनुष्टुप् छन्दसां प्रतिष्ठा (तै.सं.२.५.१०.३),

अनुष्टुबनुस्तोभनात् (दे.३.७)।

यद्यपि हम जानते हैं कि सूर्यादि लोकों के अन्दर होने वाली क्रियाओं में विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य सभी छन्द रश्मियों को थामकर अर्थात् उन्हें आधार प्रदान करके उनकी शक्तियों को बढ़ाती हैं, परन्तु इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि छन्द रश्मियों के पारस्परिक संयोग के समय उनकी आधाररूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ फैलकर कुछ शिथिल हो जाती हैं। (यस्याम्, उशन्तः) तदुपरान्त छन्दादि पदार्थों के अन्दर उनको सक्रिय और आकर्षित करते हुए मनुष्य नामक कण प्राण नामक प्राणतत्त्व एवं आकाश तत्त्व की याजुषी रश्मियाँ (शेपम्, प्रहराम) पूर्वोक्त शेप संज्ञक सप्तदश साम अर्थात् गायत्री आदि रश्मियों को प्रक्षिप्त करते हैं, जिससे वे रश्मि आदि पदार्थ सक्रिय होकर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने लगते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक में विद्यमान वायु तत्त्व विभिन्न वाक् रश्मियों को प्रेरित करके उन्हें नाना प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ बनाता रहता है। आकाशतत्त्व भी उन वाक् रश्मियों को संयोजक गुण उत्पन्न करने में समर्थ बनाता है। सूर्यलोक में विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को आधार बनाकर थामती हैं और उनकी शक्तियों को अनुकूलतापूर्वक बढ़ाती हैं। विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं के समय ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ फैलकर शिथिल हो जाती हैं। उस समय व्यान प्राण व आकाशतत्त्व विभिन्न छन्दादि रश्मियों के अन्दर सत्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूहों को प्रक्षिप्त करते हैं, जिससे नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं।

आधिभौतिक भाष्य— (पूषन्) वह सबका पोषक सूर्य (ताम्, शिवतमाम्) सभी प्राणियों व वनस्पतियों का कल्याण करने वाले सभी पदार्थों में श्रेष्ठतम उस पृथिवी को (ईरयस्व) अपने बल व प्रकाश-ऊष्मा आदि की तरंगों के द्वारा सत्प्रेरित करता रहता है। इसके साथ ही वह इस भूमि को निरन्तर गति भी प्रदान करता रहता है। सूर्य की नाना प्रकार की किरणें पृथिवीस्थ पदार्थों को सतत समुचित ऊर्जा प्रदान करती रहती हैं और इसी के कारण पृथिवी पर जीवन है। वस्तुतः पृथिवी की ऊर्जा का मूल स्रोत सूर्य ही है। हमारे मत में पृथिवी का कम्पन करते हुए गमन करना पृथिवी के अन्दर होने वाली नाना प्रकार की क्रियाओं को दृष्टिगत रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ को सन्तुलित रखने में सहायक होता है। जैसे किसी पात्र में अनाज आदि पदार्थ भरकर उस पात्र को हिला हिला कर उसमें भरे

अनाज आदि पदार्थ को सन्तुलित किया जाता है। यहाँ देवता सूर्य्या होने से हमने 'सूर्य्या' का अर्थ पृथिवी लिया है। हम जानते हैं कि सूर्य को सविता भी कहते हैं, उधर ऋषियों ने पृथिवी को भी सविता कहा है— 'इयं वै सविता' (तै.ब्रा.३.९.१३.२, श.ब्रा.१३.१.४.२)। इधर सूर्य का अर्थ उषा वा सूर्य की किरणें भी होता है। सूर्य ही उन पदार्थों अर्थात् उषा की लालिमा का उत्पादक वा प्रेरक है। वही इनका पोषक भी है, जो निरन्तर किरणें भेजता रहता है और पृथिव्यादि सभी लोकों व उनमें विद्यमान पदार्थों को पोषण प्रदान करता रहता है।

(मनुष्याः, यस्याम्, बीजम्, वपन्ति) मनस्वी कृषक जिस पृथिवी के अन्दर सूर्य की उषा में नाना प्रकार के बीजों को बोते हैं। यहाँ संकेत मिलता है कि बीज सूर्य के प्रकाश में ही बोने चाहिये, यदि उषाकाल में बीजवपन किया जाये, तो और भी उत्तम है। बीज बोते समय भूमि को हवा व प्रकाश दोनों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार हमारे लिये उषाकाल का लालिमायुक्त प्रकाश व वायु सर्वाधिक स्वास्थ्यप्रद होते हैं, उसी प्रकार बीजों तथा जहाँ बीज बोये जावें, उस मिट्टी की भी इन दोनों के मेल से बीजों को उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ती है, यहाँ ऐसा संकेत प्रतीत होता है। (उशती, या) वह उर्वरा मिट्टी बीजों को चाहती हुई अर्थात् बीजों के अंकुरण के लिए अनुकूलता को प्रकाशित करती हुई (नः, ऊरू, विश्रयाते) यहाँ 'नः' सर्वनाम पद का प्रयोग इस मन्त्र के ऋषि सावित्री सूर्या के लिए किया गया है। उषाकाल वा सूर्य के प्रकाश में [ऊरू = बह्वाच्छादनं स्वीकरणं वा (म.द.य.भा.४.२७)] बीजों के लिए अनुकूल मिट्टी बीजों के आच्छादक आवरण को शिथिल कर देती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बीजों के अंकुरण के लिए केवल प्रकाश, हवा व मिट्टी ही पर्याप्त हैं? क्या जल की आवश्यकता नहीं है? नहीं, ऐसा नहीं है, बल्कि यहाँ वक्तव्य इतना है कि सूर्य की किरणें बीजों के अंकुरण के लिए नितान्त आवश्यक हैं। जो बीज मिट्टी के अन्दर दबा हुआ है, वहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती, ऐसा सोचना उचित नहीं है। सम्पूर्ण पृथिवी सूर्य की किरणों के द्वारा निरन्तर ऊर्जा ग्रहण करती रहती है। इस ऊर्जा के अभाव में धरती पर कोई बीज नहीं उग सकता। यह परीक्षण का विषय है कि क्या बीजों की बुवाई अथवा अंकुरण के लिए उषाकाल सर्वोत्तम समय है। प्रसंगतः यह भी अन्वेषणीय है कि चन्द्रमा की किरणों का पौधों के पुष्पों व फलों पर क्या प्रभाव होता है।

(यस्याम्) उस उषाकाल में भूमि के अन्दर (उशन्तः) कान्तिमती उषा की किरणें अथवा सूर्य की वे विशेष किरणें, जो बीजों के अंकुरण के लिए विशेष उपयोगी होती हैं, (शेपम्, प्रहराम) अपनी शक्ति विशेष को अर्थात् अपनी अवयवभूत कुछ विशेष रश्मियों का मिट्टी व बीज के अणुओं पर प्रहार करती हैं। इन किरणों की शक्ति विशेष ऊष्मा का ही रूप है, जो प्रत्येक अंकुरण के लिए अनिवार्य होती है, भले ही प्रत्येक श्रेणी के बीज के लिए उसकी मात्रा भिन्न-२ क्यों न हो, परन्तु ऊष्मा अवश्य चाहिए।

निरुक्तकार ने 'शेपः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'शेपः पुंस्प्रजननस्य शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः'। उधर 'पुमान्' के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— पुंसो वा एतद्रूपं यदह स्त्रियै रात्रिः (जै.ब्रा.२.४३४)। यहाँ भी प्रकाश किरणों को पुमान् कहा गया है और हमने भी ऊपर यही अर्थ ग्रहण किया है। इस प्रकार इन किरणों का ही एक भाग उनका शेप कहलाता है, जैसा कि हमने लिखा है।

भावार्थ— सूर्यलोक सभी पृथिव्यादि लोकों तथा उस पर रहने वाले सभी प्राणियों व वनस्पतियों का पोषक है। सूर्य अपनी किरणों, उनमें भी विशेषकर उषा की लालिमा के द्वारा सबको पोषण प्रदान करता रहता है। विज्ञ कृषक उषाकाल के समय भी भूमि में बीजों को बोते हैं। सूर्य की अनेक किरणों में से कुछ विशेष प्रकार की किरणें वा उनके द्वारा उत्पन्न ऊष्मा की पृथक्-२ बीजों के लिए पृथक्-२ मात्रा बीजों के बाहरी आवरण को धीरे-२ शिथिल कर देती वा खोल देती है, जिससे बीज अंकुरित होने लगता है। सूर्य की कुछ विशेष किरणें वा ऊष्मा अपनी विशेष रश्मियों का पार्थिव अणुओं एवं बीज के अणुओं पर प्रहार करती हैं, जिसके कारण ही बीजावरण शिथिल वा खण्डित होने लगता है।

ध्यातव्य है कि जिस प्रकार उषा की किरणें बीजों के अंकुरण के लिए विशेष उपयोगी होती हैं, उसी प्रकार से ध्यान, अध्ययन, व्यायाम, अग्निहोत्र आदि नाना कर्मों के लिए उषाकाल उत्तम होता है। उस समय वायु की शुद्धता भी अन्य समय की अपेक्षा सर्वाधिक होती है। इसीलिये यहाँ उषा का महत्त्व प्रकाशित होता है।

ज्ञातव्य— इस मन्त्र के भाष्य में सभी भाष्यकारों ने गर्भाधान की प्रक्रिया का सत्य, परन्तु अति स्थूल वर्णन दर्शाया है, जो हमारी दृष्टि में न तो उचित ही है और न आवश्यक। इससे वेद की आपौरुषेयता पर भी गहरा प्रश्नचिह्न लग जाता है। यदि इतनी स्थूल बातें ही

वेद में होतीं, तो सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान देने के लिए वेद का आकार इतना बड़ा होना चाहिये था, जो एक विशाल भवन में भी न समा सके। इस कारण भाष्यकारों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे वेद को वेद के स्तर से ही देखें, सामान्य निरक्षर व्यक्ति के स्तर से नहीं। फिर भाष्यकारों ने जो भाष्य किया है, वह तो निरक्षर व्यक्ति को भी कोई शिक्षा नहीं दे सकता, तब यह वेद किसके लिए है? वस्तुतः ऐसे भाष्य वेद के गौरव को मिटाने वाले हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (पूषन्) हे सबको अपने आनन्द से पोषण प्रदान करने वाले परब्रह्म परमेश्वर! (ताम्, शिवतमाम्, ईरयस्व) हमारी जो कल्याणकारिणी प्रज्ञा वा ऋतम्भरा बुद्धि है, उसे आप कृपा करके सतत प्रेरित करते रहें। ईश्वर की प्रेरणा के अभाव में प्रज्ञा वा ऋतम्भरा बुद्धि अपने स्वरूप को खो देती है, इस कारण ईश्वरोपासना का सतत अभ्यास अनिवार्य है। (मनुष्याः) सत्यासत्य के विवेकी मनीषी योगी जन (यस्याम्, बीजम्, वपन्ति) जिस ऋतम्भरा प्रज्ञा में उत्तम विचारों व संस्कारों वा मोक्ष का बीजवपन करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वराराधन से पावन हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा में ही मुक्ति का बीजवपन किया जा सकता है, अन्यत्र नहीं। वस्तुतः मुक्ति के बीजवपन का अर्थ है— सभी प्रकार के संस्कारों-वासनाओं का दग्धबीज हो जाना, जिसे समाधि द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। (या, उशती) ब्रह्म तेज की कान्ति से कान्तिमती जो ऋतम्भरा प्रज्ञा (नः, ऊरू, विश्रयाते) हमारे सभी कर्मों व वासनाओं के आवरण को शिथिल कर देती है। समाधिस्थ योगी की ऋतम्भरा प्रज्ञा जब ब्रह्मतेज से तेजस्विनी हो जाती है, तब उसके सभी संस्कार धीरे-२ शिथिल वा दुर्बल होने लगते हैं।

(यस्याम्, उशन्तः, शेपम्, प्रहराम) मोक्ष की कामना करते हुए हम योगिजन जिस ऋतम्भरा बुद्धि में शेप = अहन् अर्थात् तेरे पावन तेज का प्रक्षेपण करते हैं अथवा उस पापनाशक तेज को प्रकृष्ट रूप से ग्रहण करके धारण करते हैं।

भावार्थ— योगी जन निरन्तर ईश्वरोपासना का अभ्यास करके अपनी बुद्धि को ऋतम्भरा बनाने का प्रयास करते हैं। निरन्तर अभ्यास के बिना पावनी ऋतम्भरा भी अपनी शुचिता खो देती है। इस अभ्यास से वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न ऋतम्भरा अपने सभी कर्मों के संस्कारों को दग्धबीज करने में समर्थ होती है। यह कर्म धीरे-२ होता है अर्थात् कर्मों के बन्धन वा संस्कार धीरे-२ शिथिल होते-२ दग्धबीज होने लगते हैं। वे योगिजन अपनी उस प्रज्ञा से

परमात्म तेज को अपने अन्दर धारण करने में समर्थ होते हैं।

अब 'वैतसः' पद के निगम को यहाँ पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं-

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वस्तदासीः॥ (ऋ.१०.९५.५)

[इला = अन्ननाम (निघं.२.७), पशव इळा (जै.ब्रा.१.३००), अयं वै लोक इळा (जै.ब्रा. १.३०७)। पुरुरवः = वाग्वा उर्वशी पुरूरवा असीति प्राण एव तन्मिथुनम् (मै.सं.३.९.५), पुरूरवाः रोरूयते (निरु.१०.४६)। उर्वशी = उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुते उरुभ्यामश्नुते उरुर्वा वशोऽस्याः अप्सरा अप्सारिणी (निरु.५.१३)]

इस मन्त्र का ऋषि उर्वशी एवं देवता पुरुरवा ऐलः है। इसका छन्द आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् है। इसका अर्थ यह है कि प्राण रश्मियों में रमण करने वाली आकाश तत्त्व में व्याप्त दो प्रकार की आच्छादक शक्तियों से परिपूर्ण विद्युत् से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न संयोजक कण तीव्र तेज, बल एवं ध्वनियों से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— सूर्यादि लोकों के अन्दर (वैतसेन) पूर्वोक्त वैतस संज्ञक गायत्री आदि विभिन्न छन्द रश्मियाँ (अह्नः) [अह्नः = अहरेव सविता (गो.पू.१.३३), अहः स्वर्गः (श.ब्रा.१३.२.१.६), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४), अग्निर्वाऽअहः, सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५)] उन लोकों के केन्द्रीय भाग, जहाँ नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है, में (मा, त्रिः, श्नथयः, स्म) [श्नथति = वधकर्मा (निघं.२.१९)] तीन प्रकार के असुर पदार्थों को नष्ट करके उर्वशी संज्ञक विद्युन्मय सम्पूर्ण पदार्थ समूह का मन्थन करती हैं। ये तीन प्रकार के असुर पदार्थ हैं— असुर, पाप्मा एवं राक्षस। इसके साथ ही वे वैतस संज्ञक गायत्री आदि रश्मियाँ तारों के अन्दर विद्यमान तीनों प्रकार के अग्नि यथा गार्हपत्य, आहवनीय एवं दाक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य) एवं उनके क्षेत्रों में विद्यमान पदार्थ को भी ताड़ती हैं अर्थात् मथती हैं। ध्यान रहे आहवनीय अग्नि तारे के नाभिक में विद्यमान होती है, जहाँ नाभिकीय संलयन की क्रियाएँ होती हैं। दाक्षिणाग्नि तारे के सन्धिभाग पर विद्यमान होती है और तारे के शेष विशाल भाग में गार्हपत्य अग्नि विद्यमान होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण तारे में वैतस नामक गायत्री आदि रश्मियाँ भारी उथल-पुथल उत्पन्न करती हैं।

(उत, अव्यत्यै, मे, पृणासि, स्म) वे पुरुरवा संज्ञक पदार्थ वैतस संज्ञक गायत्री आदि रश्मियों से ताड़ित विद्युन्मय पदार्थों को हर प्रकार से परिपूर्ण करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण तारे में वे गायत्री आदि रश्मियाँ व्याप्त होकर अन्य रश्मि आदि पदार्थों को अग्रिम चरण की प्रक्रियाओं के लिए अनुकूल बनाती हैं। (पुरुरवा, ते, केतम्, अनु) [केतः = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), अन्नं केतः (श.ब्रा.६.३.१.१९)] वह उर्वशी संज्ञक विद्युत् पुरुरवा संज्ञक संयोज्य कणों के संयोग आदि कर्मों में अपनी दिव्य आभा के साथ व्याप्त होती है अर्थात् तारों के अन्दर विद्युत् युक्त कण ही परस्पर संगत हो सकते हैं।

(तत्, वीर) इस कारण वे पुरुरवा संज्ञक संयोज्य कणादि पदार्थ ['वीरः' यह पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। वीरः = वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः वीरयतेर्वा (निरु.१.७)] वीरत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे तीव्रगति से इधर-उधर दौड़ते हुए एक-दूसरे पर आक्रमण करते हुए और बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करते हुए (मे, तन्वः) उर्वशी संज्ञक वाक् रश्मियों और उनसे उत्पन्न विद्युत् के आयतन अर्थात् फैलाव में (राजा, आसीः) तीव्रता से चमकने लगते हैं। 'राजा' पद के विषय में ऋषियों का कथन है— स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त (गो.पू.५.८.), राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति (श.ब्रा.५.१.१.१२)। उधर राजसूय के विषय में कहा गया है— यद्वै राजसूयँ स वरुणसवः (काठ.सं.३७.६)।

उस समय तारों के केन्द्रीय भाग में राजसूय यज्ञ अर्थात् वरुण देवता का यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है और उस यज्ञ के पश्चात् ही तारे का केन्द्रीय भाग और उसमें विद्यमान संयोज्य कण राजा की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। वरुण देवता के यज्ञ के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण के ३३वें अध्याय में विस्तार से वर्णन है, जो वस्तुतः निर्माणाधीन तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया का महान् विज्ञान है, जिसे हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ में समझाया है। दुर्भाग्य से इस प्रकरण, जिसे शुनःशेप अथवा हरिश्चन्द्र उपाख्यान नाम से जाना जाता है, के वास्तविक स्वरूप को 'वेदविज्ञान-आलोकः' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना जा सकता।

भावार्थ— सूर्यलोक के अन्दर वैतस अर्थात् प्रक्षेपक गुणों से युक्त विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियाँ तीनों प्रकार के बाधक असुर पदार्थ को नष्ट करके विद्युन्मय सम्पूर्ण पदार्थ समूह का मन्थन करती हैं। यह क्रिया सूर्यलोक के सभी प्रमुख तीनों भागों में होती है। इससे

सम्पूर्ण सूर्य में भारी उथल-पुथल होती रहती है। वे गायत्री रश्मियाँ सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर सभी छन्द रश्मियों वा विद्युत् कणों को परिपूर्ण करती हैं तथा अग्रिम चरण की क्रियाओं के लिए समर्थ बनाती हैं। सूर्य के अन्दर विद्युत् कण परस्पर संगत होने लगते हैं। इस समय वे विद्युत् कण तीव्र ऊर्जायुक्त होकर बाधक असुर पदार्थ को नष्ट करने हेतु इधर-उधर तीव्र गति से दौड़ते हुए उस पर आक्रमण करते हैं। वे कण तीव्रता से चमकने लगते हैं। तदुपरान्त उन कणों का परस्पर संगमन होने लगता है।

आधिभौतिक भाष्य— (उत, पुरूरवः) [उत अपि (निरु.१.६)] व्यापक वैदुष्य से सम्पन्न अनेक शास्त्रों का उपदेश करने वाला विद्वान् राजा वा पति (मा, अह्नः, त्रिः, वैतसेन, श्नथयः, स्म) मुझ प्रजा वा पत्नी, जो उर्वशीरूप है अर्थात् व्यापक रूप से अपनी वाणी को वश में करके अपने राजा वा पति के स्वामित्व में रहती है, के त्रिविध दुःखों को अपने न्याय वा पुरुषार्थ के प्रकाश में अपने पराक्रम से नष्ट करने का प्रयास करता है अर्थात् उसे इन दुःखों से पीड़ित नहीं होने देता है। यहाँ तीन प्रकार का अर्थ है— आधिभौतिक अर्थात् किसी अन्य प्राणी से प्राप्त दुःख, आध्यात्मिक अर्थात् शारीरिक व मानसिक रोग और आधिदैविक दुःख अर्थात् प्राकृतिक आपदाएँ। विद्वान् धर्मात्मा पुरुष (राजा वा पति) अपने धर्म से इन सबको दूर करने में समर्थ होता है।

यहाँ 'वैतस' का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं— 'वैतसो वितस्तं भवति' अर्थात् जिसका तेज उचित अवसर पर अर्थात् किसी निमित्त के उपस्थित होने पर ही प्रकट होता है, अन्यथा शान्त वा अदृश्य रहता है। यह किसी भी तेजस्वी व्यक्ति के लिए ऐसा ही देखा जाता है। इसको हम इस उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं— किसी व्यक्ति का ज्ञान वा बल तब तक प्रकट नहीं हो सकता, जब तक वह उसका प्रयोग नहीं करता, उसी ज्ञान, बल व पराक्रम को यहाँ वैतस कहा गया है। (मे, अव्यत्यै, पृणासि, स्म) इस पराक्रम से अनुकूल हुई प्रजा वा पत्नी को सभी प्रकार के सुखों से परिपूर्ण करता है। इसका अर्थ है कि जब राजा व पति का अपनी प्रजा वा पत्नी के मध्य पारस्परिक प्रेम व सहकार का सम्बन्ध होता है, तब वह राजा वा पति अपनी उस प्रजा वा पत्नी को सभी प्रकार के सुखों से भर देता है। (अनु, ते, केतम्, आयम्) ऐसी वह अनुकूल प्रजा वा पत्नी अपने राजा वा पति के निर्देशों वा परामर्श को निरन्तर प्राप्त करती रहती है और तदनुकूल व्यवहार करती रहती है। (मे, वीर, तन्वः, तत्, राजा, आसीः) [तनूः = आत्मा वै तनूः

(श.ब्रा.६.७.२.६, ७.३.१.२३)] वह प्रजा वा पत्नी अपने राजा वा पति से कहती है कि अपने आध्यात्मिक तेज व न्यायादि से प्रकाशित हे वीर राजन् वा पति! आप हमारे आत्मा के समान हैं और हम आपका शरीर रूप हैं।

भावार्थ— विद्वान् राजा अपनी प्रजा को तथा पति अपनी पत्नी को तीनों प्रकार के दुःखों से दूर करने का प्रयत्न करता रहता है। ऐसा व्यवहार करके राजा अपनी प्रजा तथा पति अपनी पत्नी को सर्वथा सर्वदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। ऐसे सुखप्रद राजा वा पति के निर्देशों वा परामर्श को प्रजा वा पत्नी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती है तथा उस राजा वा पति को उसकी प्रजा वा पत्नी अपने आत्मा के समान प्रिय मानती है। यहाँ यह शिक्षा मिलती है कि राजा व प्रजा तथा पति व पत्नी के मध्य कभी वैमनस्य, मतभेद वा कटुता का व्यवहार नहीं होना चाहिए, बल्कि इनके मध्य वही सम्बन्ध होना चाहिए, जो सम्बन्ध आत्मा व शरीर के मध्य होता है, जो कभी एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते।

आध्यात्मिक भाष्य— (उत, पुरूरवः) सृष्टि के आदि में वेद विद्या का व्यापक उपदेश देने वाले आचार्य वा परमेश्वर (मा, अह्नः, त्रिः, वैतसेन, श्नथयः, स्म) हमारी नियत प्रजा को अपने सदुपदेश वा उपासना के प्रकाश में [वैतसो वितस्तं भवति] दोषों को दूर करने की क्षमता के द्वारा नष्ट करे। आचार्य के सदुपदेश व परमेश्वर की उपासना में वह शक्ति होती है, जो अपने शिष्यों वा भक्तों के दोषों को नष्ट कर देती है। इसके लिए उन शिष्यों वा भक्तों को भी स्थिर वा नियत बुद्धि वा नियत वाणी वाला होना चाहिए। जिसकी बुद्धि व वाणी नियन्त्रित नहीं है, उसे न तो आचार्य और न परमात्मा ही दोषों वा पापों से बचा सकता है।

(मे, अव्यत्यै, पृणासि, स्म) जब शिष्य अपने आचार्य तथा भक्त अपने उपास्य परमात्मा की मर्यादा के अनुकूल आचरण करने वाले हो जाते हैं, तब आचार्य अपने शिष्यों तथा ईश्वर अपने भक्तों को सब सुखों से भर देते हैं। आचार्य ब्रह्मविद्या के द्वारा और ईश्वर उनकी बुद्धि को सर्वथा निर्दोष बनाकर तथा संस्कारों को दग्धबीज करके सुखों से भर देते हैं।

(अनु, ते, केतम्, आयम्) ऐसे शिष्य वा भक्त अपने आचार्य वा ब्रह्म के निर्देशों में सर्वथा स्वयं को सम्प्राप्त रखते हैं अर्थात् वे सदैव उन निर्देशों का पालन करते हुए अपने जीवन को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतम बनाने का प्रयास करते हैं। (मे, वीर, तन्वः, तत्,

राजा, आसीः) अविद्यान्धकार को दूर भगाने वाला आचार्य वा महतो महान् लोकों तक को कम्पायमान करने वाला और सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी ज्योति से प्रकाशित करने वाला परमेश्वर अपने शिष्यों वा भक्तों के आत्मा के समान होता है।

भावार्थ— जो शिष्य वा भक्त संयत वाणी वा स्थिर बुद्धि से युक्त होते हैं, उन्हें आचार्य वा परमेश्वर अपने दोष-निवारक उपदेश वा ज्ञान के द्वारा निष्कलंक जीवन वाला बनाते हैं। इससे वे शिष्य वा भक्त अपने आचार्य वा परमात्मा की मर्यादा के अनुकूल आचरण करने वाले हो जाते हैं। तब निष्कलंक बने शिष्यों वा भक्तों का जीवन सुख व आनन्द से भर जाता है। ऐसे शिष्य वा भक्त अपने आचार्य वा परमात्मा के आदेशों का अनुकरण करने वाले होकर अपने आचार्य वा परमात्मा को अपने आत्मा के समान प्रिय मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि शिष्य-आचार्य और भक्त व भगवान् के मध्य वैसा ही अटूट सम्बन्ध होना चाहिए, जैसा शरीर व आत्मा के मध्य होता है।

इस मन्त्र में 'वैतसः' पद का प्रयोग पुंस्प्रजनन संज्ञक पदार्थों के लिए हुआ है।

अयैना इत्युपदेशस्य।

अया ते अग्ने समिधा विधेम। [ऋ.४.४.१५]

इति स्त्रियाः।

एना वो अग्निम्। [ऋ.७.१६.१]

इति नपुंसकस्य।

एना पत्या तन्वं संसृजस्व। [ऋ.१०.८५.२७]

इति पुंसः।

'अया' एवं 'एना' ये दोनों पद उपदेश के वाचक हैं अर्थात् प्रत्यक्ष निर्देश के वाचक हैं। 'अया' पद का जो निगम यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्यस्मान्द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्॥ (ऋ.४.४.१५)

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक

प्राथमिक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्निरक्षोहा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से राक्षस संज्ञक अनिष्टकारी रश्मियों को नष्ट करने वाला अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (अग्ने, ते) कॉस्मिक मेघों में अग्नि तत्त्व (अया, समिधा) इस व्याप्त हुई समिधा अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ को अच्छी प्रकार प्रदीप्त करने वाली सात प्रकार की छन्द रश्मियों एवं सात प्रकार की प्राण रश्मियों के द्वारा (शस्यमानम्, स्तोमम्) प्रकाशित होते हुए विभिन्न विकिरणों व कणों को (विधेम) उत्पन्न करता है, उन कणों वा विकिरणों को (प्रति, गृभाय) अग्नि तत्त्व ग्रहण करता है अर्थात् वे कण और विकिरण और अधिक ऊर्जा को प्राप्त करते हैं। (अशसः, रक्षसः) अप्रकाशित एवं हिंसक राक्षस संज्ञक रश्मि आदि पदार्थों को (दह) वे तीव्र प्रकाशित कण वा विकिरण नष्ट कर देते हैं। (द्रुहः, निदः) प्रतिकर्षक एवं हिंसक रश्मि आदि पदार्थों के (अवद्यात्) हिंसक और छेदक कर्मों से (अस्मान्, मित्रमहः) [महयति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] और इस छन्द रश्मि के कारणभूत प्राणतत्त्व से सम्पृक्त संयोज्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाली रश्मि आदि पदार्थों का यह अग्नितत्त्व (पाहि) पालन और रक्षण करता है।

भावार्थ— कॉस्मिक मेघों में निर्माणाधीन तारों में विद्युदग्नि, प्राण और छन्द रश्मियों के द्वारा दीप्तिमान् कणों और विकिरणों को उत्पन्न और धारण करता है तथा इनके मार्ग में बाधक बने असुरादि पदार्थों से विभिन्न संयोज्य पदार्थों की रक्षा करता है। इस प्रकार तारों के अन्दर होने वाली सभी क्रियाओं में विद्युत् एवं प्राणादि रश्मियों का ही खेल होता रहता है।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (अया) अनया प्राप्तया (ते) तव (अग्ने) राजन् (समिधा) सम्यक् प्रदीप्तया नीत्या सह (विधेम) कुर्य्याम (प्रति) (स्तोमम्) प्रशंसनीयम् (शस्यमानम्) प्रशंसितव्यम् (गृभाय) गृहाण (दह) (अशसः) अस्तवकान् (रक्षसः) दुष्टाचारान् (पाहि) (अस्मान्) (द्रुहः) द्रोहयुक्ताः (निदः) निन्दकात् (मित्रमहः) ये मित्राणि महन्ति सत्कुर्वन्ति (अवद्यात्) अधर्माचरणात्।

भावार्थः — यदि राजाऽमात्याः सम्मतः सन्तो विनयेन राज्यं शासति तर्हि द्रोहनिन्दाऽधर्मा-

चरणात् पृथग्भूत्वा शिष्टाचाराः सन्तो दशसु दिक्षु कीर्तिं प्रसारयन्तीति।

पदार्थ— हे (अग्ने) राजन्! हम लोग (ते) आप की (अया) इस प्राप्त हुई (समिधा) उत्तम प्रकार प्रदीप्त नीति के साथ जिस (शस्यमानम्) प्रशंसा करने योग्य प्रशंसित होते हुए को (स्तोमम्) प्रशंसनीय (विधेम) करें उस को आप (प्रति, गृभाय) ग्रहण कीजिये (अशसः) निन्दक (रक्षसः) दुष्टाचरणों को (दह) भस्म कीजिये और (द्रुहः) द्रोह से युक्त (निदः) निन्दा करने वाले का (अवद्यात्) अधर्माचरण से (मित्रमहः) मित्रों का सत्कार करने वाले (अस्मान्) हम लोगों का (पाहि) पालन कीजिये।

भावार्थ— जो राजा और मन्त्री जन परस्पर सम्मत हुए नम्रता से राज्य की शिक्षा करते हैं तो द्वेष निन्दा और अधर्माचरण से अलग होकर उत्तम शिष्टाचार करते हुए दशों दिशाओं में यश को फैलाते हैं।''

यहाँ 'अया' पद स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। अब 'एना' पद के निगम को पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ (ऋ.७.१६.१]

इसका ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इसकी उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द स्वराड् अनुष्टुप् होने के कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व विशेष प्रकाशमान होता है।

आधिदैविक भाष्य— (वः, एना, नमसा) [नमः = वज्रनाम (निघं.२.२०), यज्ञो वै नमः (श.ब्रा.२.४.२.२४), अन्ननाम (निघं.२.७)] प्राण रश्मियाँ निर्माणाधीन तारों में विद्यमान प्रत्यक्ष संयोज्य कणों एवं वज्र रश्मियों के द्वारा (ऊर्जः, नपातम्) सम्पूर्ण पदार्थ की ऊर्जा का ह्रास न होने देने वाले (प्रियम्) विभिन्न कण आदि पदार्थों को नाना संयोगादि क्रियाओं के द्वारा तृप्त करने वाले (चेतिष्ठम्) सम्पूर्ण पदार्थ को अत्यन्त जगाने अर्थात् सक्रिय करने वाले (अरतिम्, स्वध्वरम्) हिंसा आदि दोषों से वर्जित [अरति = ऋ गतिप्रापणयोः (भ्वा.) धातोरौणादिकोऽतिः प्रत्ययः (वै.को.)] सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त (अमृतम्) अविनाशी अर्थात् इस सृष्टिकाल तक विद्यमान रहने वाले (विश्वस्य, दूतम्) सृष्टि के सभी कार्यों के सम्पादन में प्रमुख भूमिका निभाती हैं एवं सभी सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों के

वाहक (अग्निम्) अग्नि तत्त्व को अर्थात् विभिन्न विकिरणों और वर्तमान कथित मूलकणों को (आहुवे) सब ओर से बुलाती हैं अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ में अग्नितत्त्व को आकर्षित करती हैं।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (एना) एनेन (वः) युष्मान् (अग्निम्) (नमसा) अन्नेन सत्कारादिना वा (ऊर्जः) पराक्रमस्य (नपातम्) अविनाशम् (आ) (हुवे) आदद्मि (प्रियम्) कमनीयं प्रीतम् (चेतिष्ठम्) अतिशयेन संज्ञापकम् (अरतिम्) सुखप्रापकम् (स्वध्वरम्) शोभना अध्वरा अहिंसादयो व्यवहारा यस्य तम् (विश्वस्य) संसारस्य (दूतम्) बहुकार्यसाधकम् (अमृतम्) स्वरूपेण नाशरहितम्।

भावार्थः — अत्र वाचकलु०। यथा राजा सत्योपदेशकान्प्रचारयेत्तथोपदेष्टारः स्वकृत्यं प्रीत्या यथावत्कुर्य्युः।

पदार्थ— हे प्रजा जनो! जैसे मैं राजा (वः) तुमको (एना) इस (नमसा) अन्न वा सत्कारादि से (ऊर्जः) पराक्रम के (नपातम्) विनाश को प्राप्त न होने वाले (प्रियम्) चाहने योग्य (चेतिष्ठम्) अतिशय कर सम्यक् ज्ञापक (अरतिम्) सुख प्रापक (स्वध्वरम्) सुन्दर अहिंसादि व्यवहार वाले (अमृतम्) अपने स्वरूप से नाश रहित (विश्वस्य) संसार के (दूतम्) बहुत कार्य्यों के साधक (अग्निम्) अग्नि के तुल्य तेजस्वी उपदेशक को (आहुवे) स्वीकार करता वैसे तुम भी उसको स्वीकार करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलु०। जैसे राजा सत्योपदेशकों का प्रचार करे, वैसे उपदेशक अपने कर्त्तव्य को प्रीति से यथावत् पूरा करें।''

यहाँ 'एना' पद नमसा के लिए सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त है। इस प्रकार यह नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। अब हम 'एना' के पुल्लिङ्ग रूप के दिये हुए निगम को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ (ऋ.१०.८५.२७)

इस मन्त्र का ऋषि सावित्री सूर्या है, जिसके विषय में हम इसी खण्ड में वर्णित कर

चुके हैं। सभी भाष्यकारों ने इसका देवता नृणां विवाहमन्त्रा आशीः प्रायाः माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में इसका देवता पूषासंज्ञक सूर्य है। इसका ऋषि सावित्री सूर्या है और इस मन्त्र में गार्हपत्य अग्नि है, जो सूर्य में पाया जाता है। इसी कारण हमने इसका देवता सूर्य माना है। कोई इस मन्त्र का विनियोग विवाह संस्कार में कर ले, तो इससे मन्त्र का देवता नहीं बदल जाता। इसका छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों में तीव्र तेज और बल समृद्ध होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (इह, ते, प्रियम्) इस अन्तरिक्ष में निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों में विद्यमान सबको तृप्त करने वाला अग्नितत्त्व (प्रजया, सम्, समृध्यताम्) विभिन्न उत्पन्न सूक्ष्म पदार्थों के साथ समृद्ध होता है अर्थात् जैसे-२ अग्नितत्त्व की वृद्धि होती है, वैसे-२ अनेक पदार्थों की उत्पत्ति होकर सम्पूर्ण लोक समृद्ध होने लगता है। (अस्मिन्, गृहे) इस सूर्यलोक में (गार्हपत्याय) गार्हपत्य अग्नि अर्थात् सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग एवं सन्धिभाग के अतिरिक्त शेष विशाल भाग में विद्यमान ऋतु रश्मि आदि पदार्थ एवं उनसे उत्पन्न अग्नितत्त्व (जागृहि) जागरुक रहता है अर्थात् सदैव सक्रिय रहता है। (एना, पत्या) वह निर्माणाधीन सूर्यलोक अपने पालक और रक्षक सूत्रात्मा वायु एवं इन्द्र तत्त्व के साथ अथवा के द्वारा (तन्वम्, संसृजस्व) अपने सम्पूर्ण आयतन को संश्लिष्ट कर देता है अर्थात् उस निर्माणाधीन सूर्यलोक में इन्द्र तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु आदि प्राण रश्मियाँ अच्छी प्रकार व्याप्त रहती हैं अथवा इनके द्वारा वह सूर्यलोक अपने आकार का सृजन करता है। (अधा) तदनन्तर (जिव्री) [जिव्री = जिव्रयः जीर्णाः (निरु.३.२१)] वे दोनों अर्थात् सूर्यलोक एवं उसमें विद्यमान इन्द्र तत्त्व दीर्घकालोपरान्त भी (विदथम्) [विदथ = यज्ञनाम (निघं. ३.१७), विदथेषु यज्ञेषु (निरु.८.१२)] परस्पर संगत रहते हुए (आ, वदाथः) [वदति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] सब ओर गमन करते हैं अर्थात् सूर्यलोक अर्थात् तारा अतिजीर्ण होने पर वह फूलकर बिखर जाता है और इन्द्र तत्त्व भी सब ओर साथ ही बिखर जाता है।

यहाँ 'एना' पद पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त है।

सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य।

स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ [ऋ.१.१८.२]

स नः सेवतां यस्तुरः।

सचस्वा नः स्वस्तये॥ [ऋ.१.१.९]
सेवस्व नः स्वस्तये। स्वस्तीत्यविनाशनाम। अस्तिरभिपूजितः। सु अस्तीति।
भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्॥ [ऋ.२.१२.१]
रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ [ऋ.६.६६.९]
इत्यपि निगमौ भवतः।

'सिषक्तु' एवं 'सचते' दोनों ही पद सेवा करने वाले के वाचक हैं। यहाँ 'सिषक्तु' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ (ऋ.१.१८.२)

इसका ऋषि काण्वोमेधातिथिः है अर्थात् इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता ब्रह्मणस्पति और छन्द गायत्री है। [ब्रह्मणस्पतिः = एष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.२.१५)] इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों में प्रकाश की मात्रा में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (यः, रेवान्) विभिन्न प्रकार के पदार्थों का भण्डार और उनका उत्पत्तिकर्त्ता सूर्यलोक (यः, पुष्टिवर्धनः) [पुष्टिः = यह पद 'पुष पुष्टौ' एवं 'पुष धारणे' धातुओं से व्युत्पन्न होता है।] अपने पोषक और धारण गुणों को पुष्ट करता है। इसका अर्थ यह है कि यह अपने केन्द्र में निरन्तर नाना प्रकार के कणों एवं विकिरणों को उत्पन्न करके अपने अन्य लोकों को भी प्रकाश और ऊष्मा आदि के द्वारा पोषित करता तथा गुरुत्व बल के द्वारा उन्हें निरन्तर धारण करता है। (वसुवित्) जो नाना पदार्थों को प्राप्त करने वाला होता है अर्थात् अन्तरिक्ष लोक से अनेक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ इस लोक में निरन्तर आते रहते हैं, उन्हें यह अपने अन्दर व्याप्त करता रहता है। (अमीवहा) वह सूर्यलोक अपने प्रकाश द्वारा नाना प्रकार के रोगाणुओं को नष्ट करता है। इसके साथ ही वह अपने अन्दर विद्यमान अथवा बाहर से आने वाले असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करता है। (यः, तुरः) जो सूर्यलोक अपनी कक्षा में आकाशगंगा के केन्द्र का अतितीव्र वेग से परिक्रमण करता रहता है। वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में परिक्रमण की यह गति

लगभग आठ लाख प्रति घण्टा मानी जाती है। (सः, नः, सिषक्तु) वह ऐसा सूर्यलोक हम अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों का अच्छी प्रकार सेवन करता है अर्थात् वे रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त रहती हैं।

इस मन्त्र का **आध्यात्मिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (यः) जगदीश्वरः (रेवान्) विद्याद्यनन्तधनवान्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। रयेर्मतौ बहुलं सम्प्रसारणम्। अष्टा.६.१.३७ इति वार्त्तिकेन सम्प्रसारणम्। छन्दसीरः। अष्टा.८.२.१५ इति मकारस्य वकारः (यः) सर्वरोगरहितः (अमीवहा) अविद्यादिरोगाणां हन्ता (वसुवित्) यो वसूनि सर्वाणि वस्तूनि वेत्ति (पुष्टिवर्धनः) य शरीरात्मनोः पुष्टिं वर्धयतीति (सः) ईश्वरः (नः) अस्मान् (सिषक्तु) अतिशयेन सचयतु। अत्र 'सच' धातोः बहुलं छन्दसि इति शपः श्लुः। (यः) शीघ्रं सुखकारी (तुरः) तुरतीति। तुर त्वरणे इत्यस्मादृगुपधत्वात्कः।

भावार्थः — ये मनुष्याः सत्यभाषणादिलक्षणामीश्वराज्ञामनुतिष्ठन्ति तेऽविद्यादिरोगरहिताः शरीरात्मपुष्टिमन्तः सन्तश्चक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि सर्वरोगहराण्यौषधानि च प्राप्नुवन्तीति।

पदार्थ— (यः) जो जगदीश्वर (रेवान्) विद्या आदि अनन्त धनवाला, (यः) जो (पुष्टिवर्धनः) शरीर और आत्मा की पुष्टि बढ़ाने तथा (वसुवित्) सब पदार्थों का जानने (अमीवहा) अविद्या आदि रोगों का नाश करने तथा (यः) जो (तुरः) शीघ्र सुख करने वाला वेद का स्वामी जगदीश्वर है, (सः) सो (नः) हम लोगों को विद्या आदि धनों के साथ (सिषक्तु) अच्छी प्रकार संयुक्त करे।

भावार्थ— जो मनुष्य सत्यभाषण आदि नियमों से संयुक्त ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करते हैं, वे अविद्या आदि रोगों से रहित और शरीर वा आत्मा की पुष्टि वाले होकर चक्रवर्ति राज्य आदि धन तथा सब रोगों को हरने वाली ओषधियों को प्राप्त होते हैं।''

तदनन्तर 'सचते' पद के निगम को हम यहाँ पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ (ऋ.१.१.९)

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है।

[मधु = मन्यते प्राप्नुवन्ति येन तत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१९.९), विज्ञातो मार्गः (तु.म.द.ऋ.

भा.४.४५.३), मधु धमतेर्विपरीतस्य (निरु.१०.३१), धमति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), प्राणो वै मधु (श.ब्रा.१४.१.३.३०), गतिकर्मा (निघं.२.१४), वधकर्मा (निघं.२.१९), सौम्यं वै मधु (काठ.सं.११.२)]

इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राणतत्त्व के कारण गति और तेज प्राप्त करने वाला ऐसे ऋषि प्राण, जो सोम तत्त्व के अन्दर व्याप्त रहता है, से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द गायत्री होने के कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व विशेष तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (सः, नः, पिता, इव) हमारा अर्थात् मधुच्छन्दा नामक रश्मियों का पालक एवं संरक्षक वह प्राण नामक प्राणतत्त्व जिस प्रकार (सूनवे) प्राण नामक प्राणतत्त्व से उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म से स्थूल तक पदार्थों का पालक होता है, उनकी उत्पत्ति के साथ-२ अन्य सभी क्रियाओं में अनिवार्य भूमिका निभाता है, उसी प्रकार (अग्ने) अग्नितत्त्व अर्थात् विभिन्न विकिरण और वर्तमान कथित मूलकण (सूपायनः, भव) उत्तम स्थानों वा मार्गों को प्राप्त करने वाले होते हैं, (नः) वह प्राणतत्त्व मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों को (स्वस्तये) सम्यक् क्रियाओं से (सचस्वा) युक्त करता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में प्राण नामक प्राथमिक प्राण अपने से स्थूल सभी रश्मियों, विभिन्न कणों एवं विकिरणों को जिस स्तर पर उत्पन्न व संरक्षित करता है, उसी स्तर पर विभिन्न कथित मूलकण और सभी विकिरण ऊर्जा एवं मार्गों को प्राप्त करते हैं अर्थात् इस सम्पूर्ण सृष्टि में प्राणतत्त्व की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'स्वस्ति' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है—'स्वस्तीत्य-विनाशनाम अस्तिरभिपूजितः सु अस्तीति'। यह निर्वचन इस बात का संकेत करता है कि इस सृष्टि में अग्नितत्त्व की सृष्टिकाल तक नित्यता और उसके अस्तित्व की श्रेष्ठता एवं गति आदि गुणों की नित्यता का कारण प्राण नामक प्राणतत्त्व है।

इस मन्त्र का **आध्यात्मिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (सः) जगदीश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (पितेव) जनकवत् (सूनवे) स्वसन्तानाय (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (सूपायनः) सुष्ठु उपगतमयनं ज्ञानं सुखसाधनं पदार्थप्रापणं यस्मात्सः। (भव, सचस्व) समवेतान् कुरु। अन्येषामपि दृश्यते। अष्टा.६.३.१३७ इति दीर्घः। (नः)

अस्मान् (स्वस्तये) सुखाय कल्याणाय च।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। सर्वैरेवं प्रयत्नः कर्तव्य ईश्वरः प्रार्थनीयश्च- हे भगवन्! भवानस्मान् रक्षयित्वा शुभेषु गुणकर्मसु सदैव नियोजय। यथा पिता स्वसन्तानान्सम्यक् पालयित्वा सुशिक्ष्य शुभगुणकर्म्मयुक्तान् श्रेष्ठकर्मकर्तॄंश्च संपादयति, तथैव भवानपि स्वकृपयाऽस्मान्निष्पादयत्विति।

पदार्थ— हे (सः) उक्त गुणयुक्त (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (पितेव) जैसे पिता (सूनवे) अपने पुत्र के लिये उत्तम ज्ञान का देने वाला होता है, वैसे ही आप (नः) हम लोगों के लिये (सूपायनः) शोभन ज्ञान, जो कि सब सुखों का साधक और उत्तम-उत्तम पदार्थों का प्राप्त करने वाला है, उसके देने वाले होकर (नः) हम लोगों को (स्वस्तये) सब सुख के लिये (सचस्व) संयुक्त कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। सब मनुष्यों को उत्तम प्रयत्न और ईश्वर की प्रार्थना इस प्रकार से करनी चाहिये कि हे भगवन्! जैसे पिता अपने पुत्रों को अच्छी प्रकार पालन करके और उत्तम शिक्षा देकर उनको शुभ गुण और श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है, वैसे ही आप हम लोगों को शुभ गुण और शुभ कर्मों में युक्त सदैव कीजिये।''

यहाँ 'सचते' पद का सेवा करने के अर्थ में प्रयोग है।

तदनन्तर अन्तिम समानार्थक पदों 'भ्यसते' एवं 'रेजते' को भय एवं कम्पन करने अर्थ में प्रयुक्त माना है। सर्वप्रथम 'भ्यसते' पद का जो निगम प्रस्तुत किया गया है, उसे हम पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥ (ऋ.२.१२.१)

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद होने से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण और अपान के युग्म से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (यः, जातः, एव) जो उत्पन्न होते ही (प्रथमः) विस्तार को प्राप्त होता है एवं सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के प्राथमिक चरण में अर्थात् विभिन्न लोकों के निर्माण

के पूर्व ही उत्पन्न होता है (मनस्वान्) एवं जो पदार्थ सभी प्राण रश्मियों के कारण एवं उनके आधाररूप मनस्तत्त्व से युक्त होता है अथवा मनस्तत्त्व से निर्मित होता है। (देवः) ['देवः' पद 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वह इन्द्र तत्त्व नाना प्रकार के सूक्ष्म कण आदि पदार्थों को प्रकाशित करता, उनको नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ कराता और उनमें तीक्ष्ण बल उत्पन्न कराने में सहायक होता है। (देवान्) विभिन्न देव कणों को (क्रतुना) [क्रतुः = क्रतुं दधिक्रा कर्म वा प्रज्ञां वा (निरु.२.२८)] अपने कर्म और प्रकाश के द्वारा (पर्य्यभूषत्) सब ओर से अलंकृत करता है अर्थात् वह इन्द्र तत्त्व ही इन सभी देव पदार्थों को बनाता, प्रकाशित करता, स्थापित एवं सक्रिय करता है।

(यस्य, शुष्मात्) जिसके शोषक बलों से (रोदसी) प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोक एवं कण (अभ्यसेताम्) कम्पन करते हुए गमन करते हैं और इसी इन्द्र तत्त्व के द्वारा दूर-२ फेंके गये हैं। (नृम्णस्य) [नृम्णम् = बलनाम (निघं.२.९), धननाम (निघं.२.१०), अन्नं वै नृम्णम् (कौ.ब्रा.२७.४)] विभिन्न संयोज्य बलों वा कणों की (मह्ना) व्यापकता व महत्ता के द्वारा (सः, इन्द्रः) वह इन्द्र तत्त्व (जनासः) नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता है।

इस मन्त्र का अर्थ ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (यः) (जातः) उत्पन्नः (एव) (प्रथमः) आदिमो विस्तीर्णो वा (मनस्वान्) मनो विज्ञानं विद्यते यस्य सः (देवः) द्योतमानः (देवान्) प्रकाशितव्यान् दिव्यगुणान् पृथिव्यादीन् (क्रतुना) प्रकाशकर्मणा (पर्य्यभूषत्) सर्वतो भूषत्यलङ्करोति (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) प्रक्षिप्ते भवतः (नृम्णस्य) धनस्य (मह्ना) महत्त्वेन (सः) (जनासः) विद्वांसः (इन्द्रः) दारयिता सूर्य्यः।

भावार्थः — येनेश्वरेण सर्वप्रकाशकः सर्वस्य धर्त्ता स्वप्रकाशाकर्षणाद्व्यवस्थापकः सूर्यलोको निर्मितः स सूर्य्यस्य सूर्योऽस्तीति वेद्यम्।

पदार्थ— हे (जनासः) विद्वन् जनो! (यः) जो (प्रथमः) प्रथम वा विस्तारयुक्त (मनस्वान्) जिसमें विज्ञान वर्त्तमान (जातः) उत्पन्न हुआ (देवः) प्रकाशमान (क्रतुना) अपने प्रकाश कर्म से (देवान्) प्रकाशित करने योग्य दिव्यगुण वाले पृथिवी आदि लोकों को (पर्यभूषत्) सब ओर से विभूषित करता है जिसके बल से (नृम्णस्य) धन के (मह्ना)

महत्त्व से (रोदसी) आकाश और पृथिवी (अभ्यसेताम्) अलग होते हैं (सः) वह (इन्द्रः) अपने प्रताप से सब पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने वाला सूर्य है ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ— जिस ईश्वर ने सबका प्रकाश करने और सबका धारण करने वाला अपने प्रकाश से युक्त आकर्षण शक्तियुक्त लोकों की व्यवस्था करने वाला सूर्यलोक बनाया है, वह ईश्वर सूर्य का भी सूर्य है, यह जानना चाहिये।''

तदनन्तर 'रेजते' पद के निगम को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ (ऋ.६.६६.९)

इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाजो बार्हस्पत्य है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण विशेष से होती है। इसका देवता मरुतः और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुद्रश्मियाँ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (ये) अन्तरिक्ष में जो पदार्थ (सहसा) अपने प्रतिरोधी बलों के द्वारा (सहांसि) प्रतिरोधी बल उत्पन्न करने वाले अन्य पदार्थों के प्रतिरोधी बलों को (सहन्ते) सहन करते हैं अर्थात् उन बलों का सामना करते हैं, उन पदार्थों के लिए विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ (चित्रम्, अर्कम्) विचित्र [अर्कम् = अर्कैरर्चनीयैः स्तोमैः (निरु.६.२३), वज्रनाम (निघं.२.२०), अन्ननाम (निघं.२.७), अग्निर्वाऽअर्कः (श.ब्रा.२.५.१.४)] नाना प्रकार की तेजस्विनी एवं संयोजक वज्र रश्मियों को (प्र, भरध्वम्) अच्छे प्रकार से धारण वा उत्पन्न करती हैं अर्थात् मरुद् रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों से संयोग करके बाधक असुर पदार्थों को नष्ट करने वाली वज्र रश्मियाँ उत्पन्न करके पदार्थों के मध्य संयोग की क्रियाएँ समृद्ध करती हैं।

(मखेभ्यः) [मखः = मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति (गो.उ.२.५), एष वै मखो य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.३.५)] निरन्तर चलने वाली विभिन्न यजन प्रक्रियाओं से समृद्ध सूर्यलोक से अर्थात् उसके आकर्षण बल के द्वारा (पृथिवी, रेजते) पृथिव्यादि लोक कम्पन करते हुए

गमन करते हैं। (तुराय) अति शीघ्रकारी (मारुताय) विभिन्न मरुत् रश्मियों से उत्पन्न (स्वतवसे) अपने व्यापक बल से सम्पन्न (गृणते, अग्ने) प्रकाशित होते हुए अग्नि तत्त्व के लिए भी वे मरुत् रश्मियाँ नाना प्रकार की वज्र रश्मियों को उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ— जब इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाएँ हो रही होती हैं, तब संयोजक बलों को अनेक प्रतिरोधक बलों का सामना करना पड़ता है। उन प्रतिरोधक वा बाधक पदार्थों के प्रतिरोधक बल को नियन्त्रित करने के लिए भी अनेक प्रकार की वज्र रश्मियाँ उत्पन्न होकर यजन क्रियाओं में परोक्ष सहयोग करती हैं। ऐसी ही यजन प्रक्रियाओं से समृद्ध सूर्यलोक अपने आकर्षण बल के द्वारा पृथिव्यादि ग्रहों को नचाता हुआ अपना परिक्रमण कराता है। अति शीघ्रगामी एवं विभिन्न मरुत् रश्मियों से सम्पन्न अग्नितत्त्व को प्रकाशित करने के लिए भी मरुत् रश्मियों की भूमिका होती है। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि जब दो प्रतिरोधी बलों का सामना होता है, उस समय वहाँ उपस्थित मरुद् रश्मियों द्वारा वज्ररूप रश्मियाँ उत्पन्न करना एक अनिवार्य प्रक्रिया है, अन्यथा सृजन कर्म सम्भव नहीं हो सकता। उधर पृथिवी की गति के विषय में भी यह ज्ञातव्य है कि पृथिवी न केवल चन्द्रमा को अपने साथ बाँधे रखने के कारण कम्पन करते हुए सूर्य का परिक्रमण करती है, अपितु सूर्य का आकर्षण बल भी कुछ कम्पित होता हुआ ही कार्य करता है, इस कारण भी पृथिव्यादि लोक लहरदार गति करते हुए अपनी कक्षाओं में परिक्रमण करते हैं।

इस मन्त्र का **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (प्र) (चित्रम्) अद्भुतम् (अर्कम्) अन्नं वज्रं वा। अर्क इत्यन्ननाम। निघं.२.७। वज्रनाम च। निघं.२.२०। (गृणते) स्तुवते (तुराय) क्षिप्रकारिणे (मारुताय) मनुष्याणामस्मै (स्वतवसे) स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य तस्मै (भरध्वम्) (ये) (सहांसि) बलानि (सहसा) बलेनोत्साहेन वा (सहन्ते) (रेजते) कम्पते (अग्ने) विद्वन् (पृथिवी) भूमिः (मखेभ्यः) सङ्ग्रामादिभ्यः सङ्गन्तव्येभ्यः। मख इति यज्ञनाम। निघं.३.१७।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यथा चलन्ती भूमिर्यज्ञसामग्रीं जनयति तथैव महद्भ्यः शूरवीरेभ्यो विद्वद्भ्योऽन्नादिकं शस्त्रास्त्रसमूहं च तद्विद्यां च सततमुन्नयतैवं सत्यसह्यानपि शत्रून् सोढुं पराजेतुं वा सामर्थ्यं जायत इति वित्त।

पदार्थ— हे विद्वानो! (ये) जो (सहसा) बल वा उत्साह से (सहांसि) बलों को (सहन्ते)

सहते हैं उनके लिये तुम (चित्रम्) अद्भुत (अर्कम्) अन्न वा वज्र को (प्र, भरध्वम्) अच्छे प्रकार धारण करो हे (अग्ने) विद्वन्! जैसे (मखेभ्य:) सङ्ग्राम आदि जो सङ्ग करने योग्य हैं उनके लिये (पृथिवी) भूमि (रेजते) कम्पित होती है तथा (स्वतवसे) अपने बल से युक्त (तुराय) शीघ्रता करने और (मारुताय) मनुष्यों के सहयोगी (गृणते) स्तुति करने वाले विद्वान् के लिये अद्भुत अन्न वा वज्र को धारण करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जैसे चलती हुई भूमि यज्ञ-सामग्री को उत्पन्न करती है, वैसे ही बड़े-बड़े शूरवीर विद्वानों के लिये अन्नादि पदार्थ और अस्त्र शस्त्र समूह तथा उनकी विद्या की निरन्तर उन्नति करो। ऐसा होने से योग्य शत्रुओं को सहने और पराजय करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है, यह जानो।''

यहाँ 'रेजते' पद कम्पन अर्थ में प्रयुक्त है।

द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशति:। तयोरेषा भवति॥ २१॥

अन्त में निघण्टु ३.३० में द्यावापृथिवी के वाचक २४ पद दिये गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

स्वधे। पुरन्धी। धिषणे। रोदसी। क्षोणी। अम्भसी। नभसी। रजसी। सदसी। सद्मनी। घृतवती। बहुले। गभीरे। गम्भीरे। ओण्यौ। चम्वौ। पार्श्वौ। मही। उर्वी। पृथ्वी। अदिती। अही। दूरे अन्ते। अपारे अपारे।

द्युलोक एवं पृथ्वीलोक अर्थात् सूर्यादि लोक एवं पृथ्वी आदि लोक इन दोनों में कुछ ऐसी समानताएँ अवश्य होती हैं, जिनके कारण इन दोनों लोकों के वाचक समान होते हैं। निघण्टु १.३ में 'पृथिवी' पद को अन्तरिक्षवाची भी माना है। इस कारण यह स्पष्ट होता है कि पृथिवी और सूर्यलोक के साथ-२ आकाश तत्त्व भी ऐसा पदार्थ है, जो इनसे समानता रखता है। इन सभी पदों की हम यहाँ संक्षिप्त व्याख्या करते हैं—

१. स्वधे — [स्व: = देवा वै स्व: (श.ब्रा.१.९.३.१४), स्वरिति व्याहृति: (जै.ब्रा.३.८७), सुवरिति यजूंषि (तै.आ.७.५.२, तै.उ.१.५.३), स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स स्वर्गो लोकोऽभवत् (ष.ब्रा.१.५)] इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि प्रकाशित-अप्रकाशित लोक अथवा कण दोनों में न्यूनाधिक मात्रा में 'भू:', 'भुव:' एवं 'स्व:' व्याहृति रश्मियाँ विद्यमान

होती हैं। इसके साथ ही साम रश्मियाँ, जो तेजस्वी लोकों में प्रधानता के साथ विद्यमान होती हैं, वे अप्रकाशित लोकों वा कणों में भी अवश्य विद्यमान होती हैं, भले ही वे अल्प मात्रा में ही क्यों न हों। इसके अतिरिक्त याजुषी छन्द रश्मियाँ, जो आकाश तत्त्व का निर्माण करती हैं, इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों में भी विद्यमान होती हैं। इस प्रकार बिना आकाश तत्त्व के प्रकाशित व अप्रकाशित कणों वा लोकों की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

२. पुरन्धी — [पुरः = मन ऽएव पुरः (श.ब्रा.१०.३.५.७), आत्मा वै पूः (श.ब्रा. ७.५.१.२१)] प्रकाशित और अप्रकाशित लोक एवं कण दोनों ही मनस्तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों को निरन्तर धारण करते हुए सतत गतिशील भी रहते हैं। इस कारण इन दोनों को ही 'पुरन्धी' कहते हैं।

३. धिषणे — [धिषणाः = वाङ्नाम (निघं.१.११), धिषणा वाक् धिषेर्दधात्यर्थे धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा (निरु.८.३)] इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों में विभिन्न वाक् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। ये इन रश्मियों को धारण करते हैं और उनका उत्सर्जन और अवशोषण भी करते हैं।

४. रोदसी — [रोदसी = रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात् रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः (निरु.६.१)] सभी प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक रोदसी इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने अन्दर विभिन्न रश्मि रूप पदार्थ को रोके रखते हैं और इसी के कारण इनके निश्चित किनारे भी होते हैं, भले ही उन किनारों को हम न समझ पायें। ये दोनों ही पदार्थ मार्ग में आने वाले पदार्थों की गति में कुछ न कुछ अवरोध भी उत्पन्न करते हैं, इस कारण भी 'रोदसी' कहलाते हैं।

५. क्षोणी — यह पद 'टुक्षु शब्दे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.४९ की व्याख्या में लिखा है— 'क्षौति शब्दयतीति क्षोणिः, [स्त्रियाँ] ङीष् क्षोणी, भूमिर्वा'। इससे संकेत मिलता है कि ये पृथिवी और द्युलोक अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित लोक वा कण दोनों ही निरन्तर शब्द अर्थात् ध्वनि तरंगें उत्पन्न करते रहते हैं।

६. अम्भसी — [अम्भः = उदकनाम (निघं.१.१२)] इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.२११ की व्याख्या में लिखा है— 'आप्यते तत् अम्भः उदकम्'।

इसका आशय यह है कि ये दोनों ही प्रकार के पद उदकरूप भी होते हैं, जो अपनी कुछ सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा अपने निकट पदार्थों को सिंचित वा व्याप्त करते रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो किसी को भी इन पदार्थों के अस्तित्व की प्रतीति तक भी नहीं होती और किसी पदार्थ की अन्य किसी पदार्थ से कोई क्रिया भी नहीं होती ।

७. नभसी — यह पद 'णह बन्धने' अथवा 'नभते वधकर्मा' (निघं.२.१९) धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ अपने अन्दर विभिन्न प्रकार की रश्मियों को बाँधे रखते हैं। इसके साथ ही ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ बन्धन गुण भी न्यूनाधिक मात्रा में दर्शाते हैं। इसके साथ-२ ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ टकराने का गुण भी दर्शाते हैं।

८. रजसी — [रजः = रजति तत् रजः (उ.को.४.२१८)] ये दोनों ही पदार्थ परस्पर एक-दूसरे को अवश्य ही प्रभावित करते हैं और ऐसा करते हुए कोई पदार्थ किसी को अपना अनुरक्त बनाता है, तो कोई किसी का अनुरक्त होता है।

९. सदसी — [सदः = सदनम् (म.द.य.भा.१३.८), छेद्यम् वस्तु (म.द.ऋ.भा.५.६१.२), ऐन्द्रम् हि सदः (श.ब्रा.३.६.१.२२), उदरमेवा (यज्ञस्य) स्यसदः (श.ब्रा.३.५.३.५)] ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ विभिन्न रश्मियों के सदन होते हैं और ये विभाज्य भी होते हैं। इसके साथ ही इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों में विद्युत् अवश्य होती है। ये दोनों ही पदार्थ नाना प्रकार की यजन क्रियाओं के उदररूप होते हैं अर्थात् इनके भीतर नित्य ही नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ अवश्य चलती रहती हैं। यदि ऐसा न होता, तो ये पदार्थ बिखर कर समाप्त हो जाते।

१०. सद्मनी — [सद्म = गृहनाम (निघं.३.४), संग्रामनाम (निघं.२.१७)] यह पद 'सद्लृ विशरणगत्यावसादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ निरन्तर गतिशील रहते हैं व अन्य पदार्थों के प्रति आकर्षण आदि का भाव दर्शाते हैं। इनकी ऊर्जा में निरन्तर कुछ न कुछ न्यूनता भी आती है और ये समय विशेष पर नष्ट भी होते हैं। इसके साथ ही ये सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थों का आवास होते हैं तथा सदैव संयोग-वियोग आदि कर्मों में रत रहते हैं।

११. घृतवती — [घृतम् = घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३), तेजो वै घृतम्

(तै.सं.२.२.९.४), स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं.२४.७)] ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ अपने अन्दर आकाश तत्त्व को भी धारण किये हुए होते हैं। ये दोनों न्यूनाधिक मात्रा में 'घृम्' रश्मियों से युक्त होते हैं। इस कारण दोनों तेजयुक्त भी होते हैं। आकाश तत्त्व धारण करने का अर्थ यही है कि कोई भी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित कण पूर्णतः ठोस नहीं होता, बल्कि उसमें बड़ी मात्रा में रिक्त स्थान होता है, जिसमें आकाश तत्त्व भरा रहता है।

१२. बहुले — यह पद बहुपूर्वक 'ला आदाने' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका आशय यह है कि दोनों ही प्रकार के पदार्थ अनेक प्रकार के पदार्थों का आदान-प्रदान सतत करते रहते हैं। ये अनेक प्रकार के पदार्थ नाना प्रकार की प्राण एवं मरुदादि छन्द रश्मियाँ हैं।

१३. गभीरे — [गभीरः = महन्नाम (निघं.३.३), वाङ्नाम (निघं.१.११)] ये दोनों ही पदार्थ ऐसी वाक् रश्मियों से भरे रहते हैं, जिन्हें सुनना सम्भव नहीं होता। ये रश्मियाँ भी बड़ी मात्रा में इनमें विद्यमान होती हैं।

१४. गम्भीरे — इन पदार्थों में गम्भीरा नामक वाक् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो इन्हें आकार प्रदान करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इन रश्मियों के विषय में खण्ड २.२३ पठनीय है।

१५. ओण्यौ — यह पद 'ओणृ अपनयने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि दोनों ही प्रकार के कण इस अन्तरिक्ष में अपने स्रोत से स्वयं को दूर से दूरतर ले जाते हैं। इसी गुण के कारण सूर्यादि लोकों से उत्सर्जित हुई विभिन्न तरंगें इस अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करती रहती हैं।

१६. चम्वौ — [चमू = चमति भक्षयतीति चमू (उ.को.१.८०)] ये दोनों प्रकार के पदार्थ जब गमन करते हैं, तब उनके साथ ऐसी रश्मियों की सेना गमन करती हैं, जो अन्तरिक्षस्थ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों का भक्षण करती रहती हैं।

१७. पार्श्वौ — [पार्श्वः = स्पृशति येन स पार्श्वः (उ.को.५.२७)] ये दोनों प्रकार के पदार्थ सदैव ही अपने निकटस्थ पदार्थों के साथ बन्धन बल का अनुभव करते व कराते हैं अर्थात् ये पदार्थ कभी भी अन्य पदार्थों से अप्रभावित नहीं रह सकते हैं और न ही कोई अन्य पदार्थ इनसे अप्रभावित रह सकता है।

१८. मही — [मही = मही महती (निरु.४.२१), गोनाम (निघं.२.११), वाङ्नाम (निघं.१.११)] ये दोनों ही प्रकार के कण विभिन्न वाक् रश्मियों के भण्डार होते हैं तथा ये तरंगों के रूप में गमन करते हैं। उधर प्रकाशित और अप्रकाशित लोक भी वाक् रश्मि आदि अनेक पदार्थों के विशाल भण्डार होते हैं।

१९. उर्वी — [उर्वीः = ऊर्णोतेः। वृणोतेरित्यौर्णवाभः (निरु.२.२६)] ये दोनों प्रकार के पदार्थ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आच्छादित किए रहते हैं अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन्हीं के रूप में विद्यमान है और ये ही दोनों प्रकार के पदार्थ सभी प्रकार के प्राणियों के आश्रय स्थल हैं।

२०. पृथ्वी — ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में दूर-२ तक फैले रहते हैं। इनकी उत्पत्ति के समय भी ये अपने उत्पत्तिस्रोत से दूर और दूरतर फैलाए जाते हैं।

२१. अदिती — ये दोनों ही प्रकार के कण अदिति स्वरूप होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन कणों के खण्डित होने पर ये अपने पूर्व स्वरूप में नहीं रह पाते, बल्कि भिन्न स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् एक ही प्रकार के गुण व स्वरूप को बनाये रखने के लिए उनका अखण्डित रहना अनिवार्य है, इसलिए इनको 'अदिती' कहा है।

२२. अही — 'अहि' पद के विषय में खण्ड २.१७ पठनीय है।

२३. दूरे अन्ते — ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ हमारे अति निकट भी हैं और अति दूर भी। हमारा शरीर स्वयं इन्हीं से बना है और ब्रह्माण्ड में दूरस्थ होते हुए भी इनका अस्तित्व विद्यमान है। इसलिए इन्हें 'दूरे अन्ते' कहा गया है।

२४. अपारे — [अपारे = दूरपारे (निरु.६.१)] ब्रह्माण्ड में इन दोनों पदार्थों का इतना अधिक विस्तार है कि इनके विस्तार का कोई किनारा मानव की बौद्धिक दृष्टि से बहुत दूर है। इसलिए इनको 'अपारे' कहा गया है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद।

विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥

[ऋ.१.१८५.१]

कतरा पूर्वा कतरापरैनयोः। कथं जाते। कवयः क एने विजानाति। सर्वमात्मना बिभृतो यद्धैनयोः कर्म। विवर्तेते चैनयोः। अहनी अहोरात्रे। चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति। द्यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे॥ २२॥

यहाँ द्यावापृथिवी का निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥ [ऋ.१.१८५.१]

इस मन्त्र का ऋषि अगस्त्य है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी सूक्ष्म रश्मि, जो विभिन्न बाधक पदार्थों को पूर्णतः नष्ट करने में सक्षम होती है, से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता द्यावापृथिव्यौ तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित कण वा लोक विशेष तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— इसका आधिदैविक भाष्य, जो ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में प्रस्तुत किया है, महर्षि यास्क के द्वारा किये गये भाष्यों के अनुकूल ही है। ऋषि दयानन्द का भाष्य इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (कतरा) द्वयोर्द्वयोर्मध्ये कतरौ (पूर्वा) पूर्वौ (कतरा) कतरौ (अपरा) अपरौ (अयोः) अनयोर्द्यावापृथिव्योः कार्यकारणयोर्वा अत्र छान्दसो वर्णलोपः। (कथा) कथम् (जाते) उत्पन्ने (कवयः) विद्वांसः (कः) (वि) (वेद) जानाति (विश्वम्) सर्वम् (त्मना) आत्मना (बिभृतः) धरतः (यत्) ये (ह) किल (नाम) जलम् (वि) (वर्त्तेते) (अहनी) अहर्निशम् (चक्रियेव) यथा चक्रे भवः पदार्थः।

भावार्थः — हे विद्वांसा येऽस्मिञ्जगति द्यावापृथिव्यौ ये च पूर्वाः कारणाख्याः पराः कार्य्याख्याः पदार्थाः सन्ति। ये आधाराधेयसम्बन्धेनाहोरात्रवद्वर्त्तन्ते तान् यूयं विजानीत। अयं मन्त्रः निरुक्ते व्याख्यातः। निरु.३.२२।

पदार्थ— हे (कवयः) विद्वान् पुरुषो! (अयोः) द्यावापृथिवी में वा कार्य-कारणों में

(कतरा) कौन (पूर्वा) पूर्व (कतरा) कौन (अपरा) पीछे है, ये द्यावापृथिवी वा संसार के कारण और कार्यरूप पदार्थ (कथा) कैसे (जाते) उत्पन्न हुए इस विषय को (कः) कौन (वि, वेद) विविध प्रकार से जानता है, (त्मना) आप प्रत्येक (यत्) जो (ह) निश्चित (विश्वम्) समस्त जगत् (नाम) प्रसिद्ध है, उसको (बिभृतः) धारण करते वा पुष्ट करते हैं और वे (अहनी) दिन-रात्रि (चक्रियेव) चाक के समान घूमते वैसे (वि, वर्त्तेते) विविध प्रकार से वर्त्तमान हैं।

भावार्थ— हे विद्वानो! जो इस जगत् में द्यावापृथिवी और जो प्रथम कारण और परकार्य्यरूप पदार्थ हैं तथा जो आधाराधेय सम्बन्ध से दिन रात्रि के समान वर्त्तमान हैं, उन सबको तुम जानो।''

हम इस भाष्य से पूर्ण रूप से सहमत हैं, परन्तु पाठक अब तक अवगत हो चुके होंगे कि हमारा आधिदैविक भाष्य इस शैली में होता है, जिससे कि इस मन्त्र के सृष्टि प्रक्रिया पर पड़ रहे प्रभाव को भी यथावत् जाना जा सके, जबकि इस भाष्य से मन्त्र का प्रभाव नहीं जाना जा सकता। इस कारण हम अपनी शैली में इस मन्त्र का भाष्य करते हैं, जो महर्षि यास्क के भाष्य के अनुकूल ही होगा।

आधिदैविक भाष्य— (अयोः) 'एनयोः' द्युलोक एवं पृथिवीलोक अर्थात् प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोकों वा कणों की उत्पत्ति में (कतरा, पूर्वा) [कः = प्राणो वाव कः (जै.उ.४.२३.४), सुखं वै कम् (गो.उ.६.३), कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा (निरु.१०.२२)] प्रकाशित व अप्रकाशित कणों की उत्पत्ति के पूर्व प्राणतत्त्व अपेक्षाकृत अधिक सहज रूप में विद्यमान होता है अथवा प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति की पूर्वावस्था में प्राणतत्त्व अधिक बलवान् व समृद्ध होता है। (कतरा, अपरा) इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के नष्ट होने के पश्चात् प्राणतत्त्व सहज रूप में ही विद्यमान रहता है एवं इन प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के मेल से जब अन्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, उस समय प्राणतत्त्व अधिक बलवान् व सक्रिय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब प्राणतत्त्व से अग्रिम पदार्थों की उत्पत्ति हो रही होती है, उस समय प्राण रश्मियाँ अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय होती हैं। इसके साथ ही जब विभिन्न कणों व तरंगों के मेल से अन्य स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उस समय भी प्राण रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं।

(कथा, जाते) 'कथम् जाते' प्राण रश्मियों के कारण उत्पन्न हुए संसार के पदार्थों अथवा उत्पन्न होते हुए पदार्थों को (कवयः, कः, विवेद) 'कवयः क एने विजानाति' [कविः = एते वै कवयो यदृषयः (श.ब्रा.१.४.२.८)] प्राणरूपी रश्मियाँ एवं विभिन्न प्रकार की अन्य ऋषि रश्मियाँ नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके प्रकाशित करती हैं अर्थात् विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थ केवल प्राण रश्मियों से ही उत्पन्न व प्रकाशित नहीं होते हैं, अपितु इस कार्य में विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों की भी भूमिका होती है। (विश्वम्, त्मना, बिभृतः) 'सर्वात्मना बिभृतः' वे दोनों प्रकार के पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि को स्वयं धारण और पोषित करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं के रूप में विद्यमान है। (यत्, ह, नाम) 'यद्ध एनयोः कर्म' ये दोनों प्रकार के पदार्थ सृष्टि को क्यों धारण करते हैं? इस विषय में कहा है कि यह इनका कर्म ही है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आकाश तत्त्व और उससे सूक्ष्म पदार्थों के अतिरिक्त प्रकाशित एवं अप्रकाशित पदार्थ ही हैं, जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित है। ये दोनों प्रकार के पदार्थ एक-दूसरे में परिवर्तित भी होते रहते हैं।
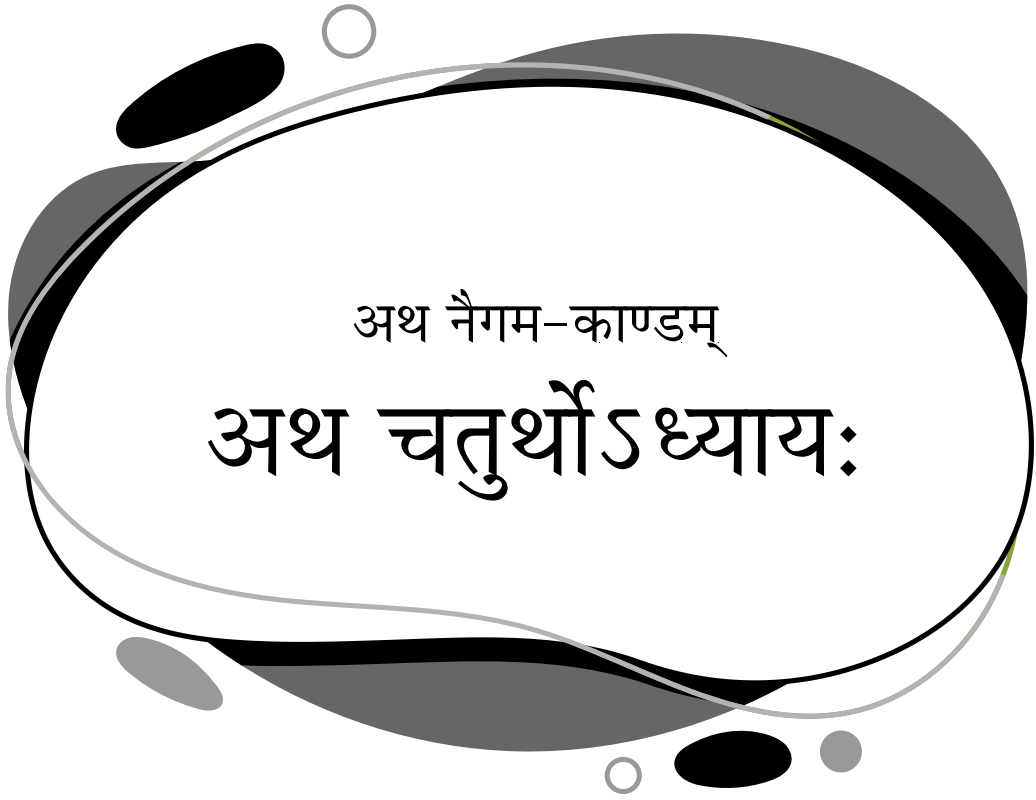
(अहनी, चक्रिय, इव, विवर्तेते) 'विवर्तेते चैनयोरहनी अहोरात्रे चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति' [अहोरात्रे = अहोरात्रौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्तारौ हरतः (जै.ब्रा.२.७९), अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै.सं.२.४.१०.१; मै.सं.१.५.१४), के अहोरात्रे इति बृहद्रथन्तरे इति (जै.ब्रा.२.४२४)] इन प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों वा लोकों के अन्दर मित्र संज्ञक प्राण एवं वरुण संज्ञक अपान वा उदान, बृहत् एवं रथन्तर साम रश्मियाँ तथा विद्युत् के दो रूप विविध प्रकार से निरन्तर चक्र के समान वर्तमान रहते हैं। यहाँ विद्युत् के दोनों रूपों से तात्पर्य विद्युत् धनावेश एवं ऋणावेश, जिसे वैदिक भाषा में आग्नेय एवं सोम्य रूप कहा जा सकता है तथा विद्युत् क्षेत्र एवं चुम्बकीय क्षेत्र, इन दोनों अर्थों का ग्रहण करना चाहिए। ये तीनों प्रकार के युग्म चक्रवत् निरन्तर स्पन्दित होते रहते हैं। इस कारण ही द्यु और पृथिवीलोकों का अस्तित्व बना रहता है।

इस प्रकार इस मन्त्र में द्यु एवं पृथिवी दोनों लोकों की महिमा का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार ने अन्त में 'आचष्टे' पद को दो बार आवृत्त किया है। ऐसा करना इस नैघण्टुक काण्ड की समाप्ति का सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
तृतीयोऽध्यायः समाप्यते।

इति नैघण्टुक-काण्डम्

अथ नैगम–काण्डम्
अथ चतुर्थोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्।
अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः।
अनवगतसंस्काराँश्च निगमान्। तदैकपदिकमित्याचक्षते।
जहा जघानेत्यर्थः ॥ १ ॥

पूर्व काण्ड नैघण्टुक में समान अर्थ वाले अनेक पदों का संग्रह दिया गया था, जिनमें से मात्र कुछ पदों की व्याख्या ही ग्रन्थकार ने की थी और इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पदों की व्याख्या हमने भी की थी। वे सभी पद इस प्रकार के समूहों में विभाजित थे कि पृथक्-२ समूहों में संग्रहित पद एक ही पदार्थ के वाचक थे। इसलिए यहाँ उन अनेक पदों को एकार्थवाची कहा है। यद्यपि हमारे मत में दो या दो से अधिक पदों का वाच्यरूप पदार्थ भले ही एक होवे, परन्तु वे सभी पद उस एक ही पदार्थ के दो या दो से अधिक गुणों को अवश्य दर्शाते हैं। सर्वथा समान गुणों के लिए अनेक पदों का होना हमारी दृष्टि में सम्भव और उचित नहीं है। इस कारण यहाँ 'एकार्थम्' का अर्थ समान अर्थ न होकर समान पदार्थ मानना चाहिए। उदाहरण के लिए पूर्व में पृथ्वीवाची २१ पद हैं, तब इन पदों का वाच्य पृथ्वीवाचक एक ही पदार्थ है, परन्तु उस पदार्थ के भिन्न-भिन्न २१ गुणों को ये २१ नाम दर्शाते हैं।

ऐसे पदों की पिछले तीन अध्यायों में व्याख्या करने के पश्चात् अब इस काण्ड में ऐसे पदों की व्याख्या की जाएगी, जहाँ एक ही शब्द अनेक अर्थों को दर्शाता है। ऐसे पदों की यहाँ से आगे क्रमबद्ध व्याख्या करेंगे। यहाँ आचार्य विश्वेश्वर ने व्याख्या करते हुए लिखा है—

''नैघण्टुककाण्ड' तथा 'नैगमकाण्ड' के इसी भेद को निरुक्तकार ने इस चतुर्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए निम्न प्रकार दिखलाया है— 'एकार्थम्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस 'नैगमकाण्ड' में दो प्रकार के शब्दों की व्याख्या की जाएगी। एक वे शब्द जिनमें प्रकृति-प्रत्ययादिरूप संस्कार का स्पष्ट बोध नहीं होता है और दूसरे जो एक शब्द अनेक अर्थों के वाचक हैं। पहिले प्रकार के 'अनवगत-संस्कार' वाले शब्दों में 'जहा', 'निधा', 'पाश्या' आदि शब्द हैं। इन शब्दों की सिद्धि व्याकरण के

किसी सामान्य नियम से नहीं होती है, अपितु 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा.३.३.१) 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अष्टा.६.३.१०८) आदि विशेष नियमों के द्वारा इनको सिद्ध किया जाता है। इसलिए इनमें कारकः, हारकः आदि के समान प्रकृति-प्रत्यय का विभाग विज्ञात नहीं होता है। जैसे 'जहा' शब्द हिंसार्थक 'हन' धातु से भी बन सकता है और त्यागार्थक 'हा' धातु से भी बन सकता है। कहाँ किस धातु से इसको सिद्ध किया जाए, इस बात का निर्णय प्रकरण के अनुसार करना पड़ता है। इनमें जैसे धातु या प्रकृति अनवगत है, इसी प्रकार प्रत्यय भी अनवगत है। प्रकृति-प्रत्यय के अतिरिक्त इसकी जाति अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में से यह क्या है, यह बात भी अनवगत है। इसलिए प्रकृति-प्रत्यय, जाति तथा कारक आदि के अनवगत-अज्ञात होने पर सभी शब्दों को 'अनवगतसंस्कार' शब्द कहा जाता है। इस प्रकार के वेद के शब्दों की व्याख्या इस नैगमकाण्ड में की गयी है। इस काण्ड के व्याख्यात पदों में दूसरे प्रकार के वे पद हैं, जो एक-एक पद के अर्थों के वाचक हैं। इस प्रकार के पदों में 'दयतिरनेककर्मा', 'नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः' (निरु.४.१७) इत्यादि पद आते हैं। इन दोनों प्रकार के पदों की व्याख्या इस 'नैगम-काण्ड' में की गयी है।''

इस प्रकरण को ऐकपदिक भी कहते हैं। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का कथन है-

''ऐकपदिक संज्ञा पूर्वाचार्यों के निघण्टुओं में भी इस प्रकरण की थी। एकपदानां व्याख्यानम् ऐकपदिकम्-इति (स्कन्द)। जहा आदि एक-एक पद का व्याख्यान यहाँ है।''

अब आगे ऐसे पदों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। 'जहा' पद जघान अर्थात् मारा, इस अर्थ में प्रयुक्त है। इसका उदाहरण अगले खण्ड में दिया गया है।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्।

जहा को अस्मदीषते॥ [ऋ.८.४५.३७]
मर्या इति मनुष्यनाम। मर्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्यादा मर्यैरादीयते। मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः। मेथतिराक्रोशकर्मा। अपापकं जघान कमहं जातु। कोऽस्मद्भीतः पलायते। निधा पाश्या भवति। यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः। पाशः पाशयतेः। विपाशनात्॥ २॥

यहाँ जो मन्त्र प्रस्तुत किया गया है, उसका ऋषि त्रिशोक काण्व है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीन प्रकार की ज्योतियों से युक्त पदार्थ में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व के तेज और बल में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य - (कः, अमिथितः, नु, सखा) 'मेथतिराक्रोशकर्मा' अविक्षुब्ध एवं अहिंसनीय प्राण तत्त्व, जो सबको प्रकाशित करता हुआ एवं सबको अपने साथ संयुक्त करता हुआ (मर्याः) 'मर्या इति मनुष्यनाम मर्यादाभिधानं वा स्यात् मर्यादा मर्यैरादीयते मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः' वे कण जो अल्पायु होते हैं तथा जिनकी गति भी अनियमित होती है, वे एक मर्यादित क्षेत्र में ही गति करते रहते हैं और इनके क्षेत्रों की सीमाएँ ये स्वयं ही बनाते हैं, ऐसे उन मनुष्य नामक कणों (सखायम्) जो अनुकूलतापूर्वक संदीप्त हो चुके हैं, उन्हें (अब्रवीत्) विभिन्न वाक् रश्मियों से युक्त करता है, जिससे वे और भी अधिक प्रकाशित व सक्रिय हो उठते हैं।

(जहा, कः) 'अपापकं जघान कमहं जातु' इस रश्मि की कारणभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ पतनकारी अर्थात् बाधक असुर रश्मियों के प्रहार से सर्वथा रहित प्राण तत्त्व को प्राप्त अथवा व्याप्त करती हैं। इसका दूसरा सम्भव अर्थ यह है कि वे सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ किस असुर तत्त्व से विमुक्त किस पदार्थ को नष्ट करती हैं? अर्थात् किसी को नहीं। (अस्मत्, ईषते) 'कोऽस्मद्भीतः पलायते' वह उपर्युक्त प्राण तत्त्व सूत्रात्मा वायु रश्मियों के आकर्षण से उनकी ओर लौट पड़ता है अर्थात् उनसे संयुक्त हो जाता है। [आप्टेकोषकार ने 'परा' पूर्वक 'अय गतौ' धातु का अर्थ भागने के साथ-साथ वापिस लौटना भी किया है।] इसका अन्य अर्थ इस प्रकार है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियों के कारण कम्पन करता हुआ कौनसा पदार्थ उनसे दूर भागता है? अर्थात् कोई नहीं।

विशेष वक्तव्य— आचार्य विश्वेश्वर ने 'जहा' पद को निरुक्तकार के विरुद्ध 'हन हिंसा-गत्योः' धातु से व्युत्पन्न न मानकर 'ओहाक् त्यागे' धातु से व्युत्पन्न माना है और इसी के अनुसार उन्होंने मन्त्र का भाष्य भी निरुक्तकार से भिन्न किया है। इसके साथ ही उन्होंने निरुक्तकार के अर्थ को अनुचित और अपने अर्थ को चमत्कारपूर्ण कहा है। आश्चर्य है कि आचार्य विश्वेश्वर ने इस प्रकार की धारणा अपने निरुक्त भाष्य में अनेकत्र प्रस्तुत की है, जो नितान्त अनुचित है। जब किसी विद्वान् को किसी ऋषि की अपेक्षा स्वयं पर अधिक विश्वास हो, तब उसे उस ऋषि के ग्रन्थ का भाष्य करने में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए, बल्कि अपना स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना चाहिए। इस मन्त्र का अर्थ करने में 'कम् अपापकम्' का अध्याहार करना पड़ा है, केवल इसी आधार पर आचार्य विश्वेश्वर निरुक्तकार के अर्थ को अनुचित मानते हैं, किन्तु उनका ऐसा मन्तव्य समीचीन नहीं है, क्योंकि वेद में अध्याहार करना तो अनेकत्र आवश्यक हो जाता है। वेद के अनेक मन्त्रों के भाष्य में अध्याहार करना ही पड़ता है। ग्रन्थकार के इस भाष्य से असहमत विद्वानों के लिए हम बिना अध्याहार किये भी इस मन्त्र के अन्तिम पाद का भाष्य करते हैं—

(अस्मत्, कः, जहा) सूत्रात्मा वायु से व्याप्त प्राण रश्मियाँ (ईषते) गमन करती हैं एवं बाधक पदार्थों को नष्ट करती हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'निधा पाश्या भवति यन्निधीयते पाश्या पाशसमूहः पाशः पाशयतेः विपाशनात्' अर्थात् 'निधा' पाश्या को कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि निधा और पाश्या एक ही अर्थ वाले दो पद हैं। अब 'निधा' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है कि जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को धारण करता है अथवा उसे कहीं स्थापित करता है, उसे निधा कहते हैं। यहाँ कहीं से तात्पर्य अपने ऊपर और अपने नीचे दोनों से है। अब 'पाश्या' का निर्वचन करते हुए लिखा है कि पाशों अर्थात् बन्धनों के समूह को पाश्या कहते हैं। यह पद 'पश बन्धने' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो विशेष रूप से बन्धन में डालता है, उसे पाश कहते हैं और ऐसे अनेक पाशों के समूह को पाश्या कहते हैं। इस प्रकार 'निधा' पद उस पदार्थ का बोधक है, जिसमें अनेक बन्धन-शक्ति से सम्पन्न पदार्थ समूह विद्यमान होते हैं। इस मन्त्र का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्॥

[ऋ.१०.७३.११]

वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः।
उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेर्वा। चष्टेर्वा।
पूर्धि पूरय देहीति वा। मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान्।

इस मन्त्र का ऋषि गौरिवीतिः है। [गौरिवीतिः = ब्रह्म यद्देवा व्यकुर्वत ततो यदत्यरिच्यत् तद् गौरीवितमभवत् (तां.ब्रा.९.२.३), वाचो वै रसोऽत्यक्षरत् तद् गौरिवीतम-भवत् (जै.ब्रा.३.१८)] इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि उन सूक्ष्म छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती है, जो बड़ी छन्द रश्मियों में से अन्तरिक्ष में रिसकर प्रवाहित होती रहती हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (वयः, सुपर्णाः) 'वयो वेर्बहुवचनं सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः' [वेः = वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु (अदा.) धातोः, वा गतिगन्धनयोः (अदा.) धातोर्वा वातेर्डिच्च (उ.को.४.१३४) सूत्रेण इण्। डित्वात् टेर्लोपः। सुपर्णाः = अश्वनाम (निघं. १.१४), हरणा आदित्यरश्मयः (निरु.७.२४)] विभिन्न सूक्ष्म कणों द्वारा हरणशील, शोभन एवं तीव्र गतियों से युक्त अन्तरिक्ष में व्याप्त सूर्यादि तेजस्वी लोकों की किरणें (प्रियमेधाः, ऋषयः) [मेधा = धननाम (निघं.२.१०), मेधः यज्ञनाम (निघं.३.१७)] प्रत्येक पदार्थ एवं उसकी क्रियाओं के प्रति संगमनीय होती हैं अर्थात् ये किन्हीं कणों से टकराकर उन कणों की क्रियाओं को अवश्य प्रभावित करती हैं। ये किरणें तीव्रगामिनी एवं प्राणवती होकर विभिन्न कणों को ऊर्जा प्रदान करती हैं और उनकी गतियों को भी परिवर्तित कर सकती हैं।

(उपसेदुः, इन्द्रम्, नाधमानाः) 'उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः' ये किरणें विद्युत् को आकर्षित करती हुई उसके निकट पहुँचती हैं एवं ये किरणें विद्युत् के साथ ही सदैव विद्यमान रहती

हैं अर्थात् ये विद्युत् युक्त होती हुई सदैव विद्युत् कणों के द्वारा आकृष्ट होती रहती हैं। ध्यान रहे कि विद्युत् हर पदार्थ के अन्दर विद्यमान है। इस कारण सूर्य की किरणें हर पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती हैं।

(अप, ध्वान्तम्, ऊर्णुहि) 'अपोर्णुह्याध्वस्तम्' ये किरणें अन्धकार के आवरण को हटाती हैं। (चक्षुः, पूर्धि) 'चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा पूर्धि पूरय देहीति वा' ये किरणें किसी भी पदार्थ के स्वरूप को दर्शाती एवं कहती हैं अर्थात् इन्हीं के द्वारा विभिन्न पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ दर्शन एवं बोध होता है। ये किरणें ऐसी दर्शन शक्ति को इस ब्रह्माण्ड में भर देती हैं।

(अस्मान्, निधया, इव, बद्धान्, मुमुग्धि) 'मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान्' जैसे ही वरुण पाश अर्थात प्राण, अपान और व्यान से बँधी हुई गौरिवीति नामक सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ मुक्त होती हैं, वैसे ही सूर्य की किरणें विभिन्न कणों को अन्धकार से मुक्त करके प्रकाश से युक्त कर देती हैं। वरुण पाश के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' का ३३ वाँ अध्याय पठनीय है, जहाँ वरुण पाश से मुक्त होने पर ही सूर्यलोक के नाभिकीय भाग में विभिन्न कणों के संलयन की क्रिया प्रारम्भ हो पाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशाणुओं (फोटोन्स) की सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) आदि के साथ जो भी क्रिया होती है, उस समय वरुण पाश के बन्धन से सभी कणों का मुक्त होना अनिवार्य होता है।

इसका **आधिभौतिक भाष्य** स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का प्रस्तुत कर रहे हैं-

संस्कृतान्वयार्थः — (वयः सुपर्णाः-प्रियमेधाः-ऋषयः-नाधमानाः) गन्तारो भ्रमणशीलाः शोभनपालनधर्माणः प्रियोमेधोऽश्वमेधो राष्ट्रप्रदेशो येषां ते हितद्रष्टारो ज्ञानिनः प्रार्थयमानाः (इन्द्रम्-उपसेदुः) राजानमुपगतवन्तः उपगच्छन्ति वा (ध्वान्तम्-अप-ऊर्णुहि) आध्वस्तम्-ध्वान्तम् प्रजायाः, अज्ञानान्धकारं दूरीकुरु (चक्षुःपूर्धि) ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र पूरय (अस्मान्-निधया-इव बद्धान् मुमुग्धि) अस्मान् ज्ञानदाने समर्थान् एकत्रनियुक्तान् पाशेन बद्धानिव ज्ञानप्रकाशनाय राष्ट्रेऽवसृज। निरुक्ते सूर्य इन्द्रोवयः सुपर्णा रश्मयः आधिदैविकदृष्ट्या व्याख्यातो मन्त्रः।

भाषान्वयार्थः — (वयः, सुपर्णाः) भ्रमणशील शोभनपालन धर्मवाले (प्रियमेधाः) प्रिय है राष्ट्र जिनको ऐसे राष्ट्र हितैषी (ऋषयः) ज्ञानीजन (नाधमानाः) प्रार्थना करते हुए (इन्द्रम्,

उपसेदुः) राजा या शासक के पास जाते हैं (ध्वान्तम्-अप-ऊर्णुहि) प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर कर (चक्षुः, पूर्धि) ज्ञानदृष्टि को सर्वत्र भर-फैला (अस्मान्) हमें (निधया, इव, बद्धान्) ज्ञान देने के निमित्त पाश में बँधे हुए जैसे एक स्थान पर पड़े हुओं को (मुमुग्धि) राष्ट्र के अन्दर छोड़ दे।

भावार्थः — राष्ट्रहितैषी विद्वान् जन शासक से प्रेरणा पाये हुए सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश करें, जिससे कि अज्ञानान्धकार दूर हो जावे।

पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः। [यजु.२१.४३]

पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः। संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः। संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनात्। अञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः। श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति। दोर्द्रवतेः। योनिः शितामेति शाकपूणिः। विषितो भवति। श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृद्यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। शितिः श्यतेः। मांसं माननं वा। मानसं वा। मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा। मेदो मेद्यतेः॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि स्वस्त्यात्रेय है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न एक ऐसे सूक्ष्म प्राण से होती है, जो विभिन्न पदार्थों की क्रियाओं को सुगमता प्रदान करता है। इसका देवता होत्रादय है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र को दो मन्त्रों का संयुक्त रूप माना है, जिसमें पहला लघु छन्द 'होता यक्षदश्विनौ छागस्य' है, जिसका छन्द याजुषी पंक्ति है। शेष भाग का छन्द उत्कृति है। ग्रन्थकार ने यहाँ अति संक्षिप्त अंश ही उद्धृत किया है। यह सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविषऽआत्तामद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या
गृभो घस्तां नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳩं सुमत्क्षराणाᳩं शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां
पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां
करतऽएवाश्विना जुषेताᳩं हविर्होतर्यज॥ (यजु.२१.४३)

[होत्रा = ऋतवो वाव होत्राः (गो.उ.६.६), रश्मयो वाव होत्रा (गो.उ.६.६), होत्रा वाङ्नाम

(निघं.१.११), होत्रा यज्ञनाम (निघं.३.१७)] इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न छन्द एवं ऋतु रश्मियों की यजन क्रिया में वृद्धि होती है एवं विभिन्न यजनशील रश्मियों के समूह बनने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (होता) [होता = होतारं ह्वातारम् (निरु.७.१५), आत्मा वै यज्ञस्य होता (कौ.ब्रा.९.६), अग्निर्वै देवानां होता (ऐ.ब्रा.१.२८)] अग्नि तत्त्व, जो विभिन्न यजन क्रियाओं में आत्मा रूप होकर विचरता है तथा जो यजनशील सूक्ष्म कणों को आकर्षित करता है। (अश्विनौ) [अश्विनौ = द्यावापृथिव्यावित्येके (निरु.१२.१), सयोनी वाऽअश्विनौ (श.ब्रा.५.३.१.८)] प्राण एवं छन्दादि रश्मि रूपी समान कारण से उत्पन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों को (यक्षत्) संगत करता है। (छागस्य) [छागः = बध्नन्निन्द्राग्निभ्यां छागम् (मै.सं.४.१३.९), बृहस्पतये छागमालभते (काठ.सं.१९.१३), यत्र बृहस्पतेश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि (काठ.सं.१८.२१)]

यहाँ प्रायः भाष्यकारों ने छाग का अर्थ बकरा व बकरी किया है, किन्तु आधिदैविक अर्थ में छाग ऐसे पदार्थों का नाम है, जो विद्युत् और ऊष्मा से पूर्णतः बँधे हुए अर्थात् उनसे परिपूर्ण होते हैं। ये पदार्थ बड़े-२ लोकों के पालक सूर्य आदि लोकों में व्याप्त रहते हैं। इसके साथ ही ये पदार्थ सूर्यादि लोकों के बाहरी भागों में भी विद्यमान रहकर उन लोकों को अपने अन्दर धारण किये रहते हैं। ये पदार्थ छेदक शक्तिसम्पन्न होते हैं। ऐसे पदार्थों के (मध्यतः) मध्य स्थित (अद्य, हविषः) [हविः = मासा हवींषि (श.ब्रा. ११.२.७.३), उदकनाम (निघं.१.१२)] भक्षण वा अवशोषण करने योग्य सेचक मास आदि रश्मियों के (मेदः) 'मेदो मेद्यतेः' विशेष आकर्षण आदि गुणों से युक्त पदार्थ को (उद्भृतम्, आत्ताम्) वह होता रूप अग्नि ऊपर उठाकर अर्थात् किसी अन्य आकर्षक बल का प्रतिरोध करके अपने साथ मिला लेता है।

(द्वेषोभ्यः) वह अग्नि तत्त्व प्रतिकर्षक असुरादि पदार्थों के मध्य से (पुरा, गृभः) पहले ग्रहण अर्थात् आकर्षित करने योग्य (पौरुषेय्या) [पुरुषः = पुरुषो वै संवत्सरः (श.ब्रा. १२.२.४.१), पुरुष एव सविता (जै.उ.४.२७.१७), पुरुषः प्रजापतिः (श.ब्रा.६.२.१.२३)] सूर्यादि लोकों, जिनमें नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण होता है, की उत्पत्ति के लिए आवश्यक संगमनीय पदार्थों को (पुरा, नूनम्, घस्ताम्) निश्चय करके पहले खाते हैं अर्थात् उन पदार्थों, जो असुरादि पदार्थों के मध्य विद्यमान होते हैं, को वहाँ से आकर्षित करके

अवशोषित कर लेता है।

(यवसप्रथमानाम्) [यवः = विड् वै यवः (श.ब्रा.१३.२.९.८), अथ ये फेनास्ते यवाः (श.ब्रा.१२.७.१.४), वरुण्यो यवः (श.ब्रा.४.२.१.११)] उन आकर्षणीय पदार्थों में भी पहले वे विट् संज्ञक रश्मियाँ, जिनकी चर्चा 'वेदविज्ञान-आलोकः' के अध्याय दस में की गई है तथा जो प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों से विशेष रूप से बँधी हुई होती हैं एवं उनके साथ वे संगमनीय कण, जिनकी मात्रा तीव्रता से बढ़ती हुई फेन के समान प्रतीत होती है (घासेऽअज्राणाम्) तथा वह पदार्थ, जो अवशोषणीय पदार्थों में अति शीघ्रता से निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों में प्रक्षिप्त किया जाता है (सुमत्क्षराणाम्) तथा जो पदार्थ अच्छी प्रकार अथवा सुगमतापूर्वक कम्पन करता हुआ आगे-२ रिसता व बहता हुआ गमन करता है।

(शतरुद्रियाणाम्) [रुद्रः = घोरो वै रुद्रः (कौ.ब्रा.१६.७), रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा संमृजन्तु (तां.ब्रा.१.२.७), रुद्रास्त्रिष्टुभं समभरन् (जै.उ.१.१८.५)] उन पदार्थों के साथ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के तीव्र और तीक्ष्ण तेज से युक्त पदार्थ की अनेक धाराएँ, जो विक्षुब्ध होती हुई अति तीव्र वेग से आगे बढ़ रही होती हैं।

(पीवोपवसनानाम्, अग्निष्वात्तानाम्) [अग्निष्वात्तः = अग्निः सुष्ठ्वात्तो गृहीतो येन सः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वे पदार्थ विद्युत् अग्नि के प्रबल आकर्षण बल से युक्त पदार्थों से व्यापक और दृढ़ रूप से आच्छादित होते हैं, ऐसे पदार्थ सूर्यादि लोकों के निर्माण हेतु आगे बढ़ रहे होते हैं, ऐसे उन पदार्थों से उस सूर्यादि लोक के विभिन्न भागों का निर्माण होता है।

(पार्श्वतः) 'पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति पर्शुः स्पृशतेः संस्पृष्टा पृष्ठदेशम् पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः अङ्गमङ्गनात् अञ्चनाद्वा' [पार्श्वः = स्पृश संस्पर्शने धातोः 'स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च' (उ.को.५.२७) सूत्रेण श्वण्प्रत्ययः 'पृ' आदेशश्च। स्पृशति येन स पार्श्वः (वै.को.)] बाहरी विशाल भाग, जो सम्पूर्ण लोक को बाँधे रखता है, उस भाग में अनेक क्षेत्र होते हैं, जिनके पृथक्-२ लक्षण विद्यमान होते हैं। इसके साथ ही वे सभी क्षेत्र भी पृथक्-२ गतियाँ करते रहते हैं। पूर्व में हम जिन सौर कूपों की चर्चा कर चुके हैं, वे भी ऐसे ही क्षेत्रों के उदाहरण हैं। (श्रोणितः) 'श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः' [श्रोणिः = जगती छन्द ऽआदित्यो देवता श्रोणी (श.ब्रा.१०.३.२.६)] सूर्यलोक का वह भाग, जिस पर सम्पूर्ण लोक शरीर में कूल्हे की भाँति सदैव घूमता रहता है और जिसमें जगती छन्द

रश्मियों की प्रधानता रहती है। वह सन्धि क्षेत्र, जो सूर्य के नाभिक और शेष भाग के मध्य स्थित होता है।

(शितामत:) 'दो: शिताम भवति दोर्द्रवते: योनि: शितामेति शाकपूणि: विषितो भवति श्यामतो यकृत्त इति तैटीकि: श्यामं श्यायते: यकृद्यथा कथा च कृत्यते शितिमांसतो मेदस्त इति गालव: शिति: श्यते: मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा' भिन्न-२ ऋषियों ने 'शिताम' पद की भिन्न-२ व्याख्या करके सूर्यादि लोकों के भिन्न-२ भागों को 'शिताम' कहा है। ग्रन्थकार ने शिताम का अर्थ 'दो:' किया है, जिसका अर्थ ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद ५.६१.५ के भाष्य में 'भुजस्य बलम्' किया है। यह इन लोकों का वह भाग है, जो शरीर में भुजाओं के समान तीव्रता से कार्य करने वाले दोनों ध्रुवों के रूप में विद्यमान होता है अर्थात् उत्तरी और दक्षिणी दोनों ध्रुव 'शिताम' कहलाते हैं। ऋषि दयानन्द ने 'शित:' का अर्थ तीक्ष्ण किया है। इस प्रकार तीक्ष्ण बलों से युक्त ही शिताम कहलाते हैं, जिनमें से सूर्य के ध्रुव प्रदेश प्रथम भाग हैं।

महर्षि शाकपूणि के मत को उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि योनि ही शिताम है। [योनि: = गृहनाम (निघं.३.४), योनिर्वै गार्हपत्या (श.ब्रा.७.१.१.८)] अर्थात् इन लोकों का वह भाग, जिसमें गार्हपत्य अग्नि प्रधानता से विद्यमान होता है और समस्त पदार्थ का यह आवास रूप होता है। इस भाग को महर्षि शाकपूणि ने विषित कहा है अर्थात् यह भाग इन लोकों का सबसे विशाल अर्थात् व्यापक होता है। महर्षि तैटीकि के मत को उद्धृत करते हुए 'शिताम' का अर्थ 'श्याम यकृत' कहा है और 'श्याम' का अर्थ किया है— गति करने वाला एवं 'यकृत' का अर्थ किया है— जैसे कैसे अर्थात् कठिनाई से छेदन करने योग्य। इसका अर्थ यह हुआ कि सूर्यलोकों का वह भाग, जो निरन्तर गति करता तथा अन्य भागों की अपेक्षा सघन होता है। हमारी दृष्टि में ऐसा भाग केन्द्रीय भाग ही होता है। अब ग्रन्थकार महर्षि गालव का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शिति-मांस एवं मेद को 'शिताम' कहा गया है। यहाँ महर्षि गालव के मत में शिति का अर्थ है— तीक्ष्ण वा सूक्ष्म होने वाला एवं मांस शब्द का अर्थ है—

[मांसम् = मांसं वै पुरीषम् (श.ब्रा.८.६.२.१४)। पुरीषम् = पुरीषं पृणाते: पूरयतेर्वा (निरु. २.२२), ऐन्द्रम् हि पुरीषम् (श.ब्रा.८.७.३.७)। मन: = मन एव यजु: (जै.ब्रा.२.३९), मनो वै गायत्रम् (जै.ब्रा.३.३०५), यन्मन: स इन्द्र: (गो.उ.४.११)]

सूर्यादि लोकों के वे क्षेत्र, जिनमें इन्द्र तत्त्व प्रबल होता है तथा जिनमें गायत्री एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की भी प्रधानता होती है। इस कारण यह भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक चमकीला होता है। हमारी दृष्टि में आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य के जिस भाग को कोरोना कहते हैं, वह यही भाग हो सकता है। ऐसे सभी भाग (उत्सादत:, अङ्गात्, अङ्गात्) जो अपने लक्षणों से क्षीण होने लगते हैं, उन (अवत्तानाम्) [अवत्तानाम् = नम्रीभूताना-मुत्कृष्टानामङ्गानाम् (ऋषि दयानन्द भाष्य), अव+डुदाञ् दाने (जु.) धातो: क्त:। 'अच उपसर्गात्त:' इति तकारादेशे 'खरि च' इति चर्त्वे षष्ठीबहुवचने रूपम्] झुके हुए एवं शब्द करते हुए भागों [ध्यातव्य है कि यहाँ 'अवत्तानाम्' का अर्थ सूर्य के पूर्वोक्त भाग है, जो क्षीण होते हुए खिंचे हुए से होने लगते हैं तथा उस समय उनमें कुछ विशेष प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं] के (एव) ही व्यवहार को (अश्विना) प्रकाशित व अप्रकाशित कण (करत:) उत्पन्न करते वा धारण करते हैं अर्थात् वे कण उन भागों को शक्ति प्रदान करते हैं। इसके साथ ही वे कण (हवि:, जुषेताम्) विभिन्न मास रश्मियों की हवियों का सेवन करके विशेष यजनशील हो उठते हैं। जब ऐसा होता है, उस समय (होत:) होता संज्ञक अग्नि तत्त्व (यज) सम्पूर्ण लोक, विशेषकर उन पूर्वोक्त भागों को संगत करने लगता है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकाशित वा अप्रकाशित कणों को विद्युत् ही संगत करती है और यह विद्युत् उन यजन क्रियाओं में व्याप्त रहती है। विद्युत् एवं ऊष्मा से परिपूर्ण कण सभी सूर्यादि लोकों में व्याप्त रहते हैं। विद्युत् व ऊष्मा सभी लोकों के बाहर भी विद्यमान रहकर उन लोकों को अपने अन्दर धारण किये रहते हैं। ये दोनों पदार्थ शक्तिसम्पन्न होते हैं। विद्युत् व ऊष्मा मास रश्मियों के साथ संगत होकर विभिन्न कणों को उठाने व परस्पर संगत करने में समर्थ होती हैं। विद्युत् व ऊष्मा असुर पदार्थों के मध्य विद्यमान संगमनीय पदार्थों को आकर्षित करके असुर पदार्थ से पृथक् कर देती हैं। इन पदार्थों में भी प्राणापानव्यान रश्मियों से विशेष सम्पन्न कणों को पहले आकर्षित किया जाता है। यह पदार्थ अति शीघ्रता से निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों में प्रक्षिप्त किया जाता है। वह पदार्थ सुगमतापूर्वक कम्पन करता हुआ और बहता व रिसता हुआ तीव्र वेग से आगे बढ़ता जाता है। ऐसी तीव्र बलयुक्त धाराओं से सूर्य के अनेक भागों का निर्माण होता है। सूर्य के ऊपरी तल पर अनेक कूपनुमा गहरे विशाल छिद्र (विवर) होते हैं, जो जल में भँवर की भाँति

तेजी से घूर्णन करते रहते हैं। सूर्य का ऊपरी विशाल भाग सन्धिभाग पर सदैव घूमता रहता है। सूर्य के दोनों ध्रुवीय भाग तीक्ष्ण बल से युक्त होते हैं। सूर्य का नाभिक अत्यन्त सघन होता है, जिसमें किसी पदार्थ का प्रवेश करना सम्भव नहीं है। सूर्य के बाहरी भाग में स्थित कोरोना नामक क्षेत्र गायत्री व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से विशेष समृद्ध होने के कारण अति चमकीला व गर्म होता है। इन सभी क्षेत्रों में विद्युत् व ऊष्मा ही सभी पदार्थों को संगत व सक्रिय रखती हैं।

* * * * *

चतुर्थः खण्डः

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ [ऋ.५.३९.१]
यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा।
त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया नस्तद् दातव्यम्। अद्रिवन् अद्रिरादृणात्येनेन।
अपि वात्तेः स्यात्। ते सोमादो। इति ह विज्ञायते। राध इति धननाम।
राध्नुवन्त्येनेन। तन्नस्त्वं वित्तधनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर। उभौ समुब्धौ भवतः।
दमूना दममना वा। दानमना वा। दान्तमना वा। अपि वा दम इति गृहनाम।
तन्मना स्यात्। मनो मनोतेः॥ ४॥

नैगमकाण्ड के पूर्वोक्त तीन पदों- निधा, पाश्या एवं शिताम पदों के निर्वचन के पश्चात् चौथे पद 'मेहना' का निगम यहाँ प्रस्तुत किया गया है। जो इस प्रकार है—

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ [ऋ.५.३९.१]

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सभी के अन्दर व्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द

विराड् अनुष्टुप् होने के कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अधिक तेजस्वी होता है।

आधिदैविक भाष्य - (यत्, इन्द्र) 'यदिन्द्र' इन्द्र तत्त्व के जो (चित्र) 'चित्रं चायनीयं' श्रेष्ठ (मेहना, अस्ति) 'मंहनीयं धनमस्ति यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि' महनीय धन अर्थात् वे पदार्थ जो महनीय होते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने महनीय पद का सन्धि-विच्छेद इस प्रकार किया है— मे+इह+न, यहाँ 'मे' के 'ए' का लोप हुआ है अर्थात् वे पदार्थ, जो सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा विशेष रूप से बँधे हुए नहीं होते हैं। (त्वादातम्, अद्रिवः) 'त्वया नस्तद् दातव्यम् अद्रिवन् अद्रिरादृणात्येनेन अपि वात्तेः स्यात्' [अद्रिः = मेघनाम (निघं.१.१०), ग्रावाणो वा अद्रयः (तै.सं.६.१.११.४), पशवो वै ग्रावाणः (तां.ब्रा. ९.९.१३), वज्रो वै ग्रावा (श.ब्रा.११.५.९.७)] वह इन्द्रतत्त्व वज्र एवं प्राणादि रश्मियों से समृद्ध होने के कारण भेदक और अवशोषक शक्तियों से युक्त होता है। वह ऐसा इन्द्रतत्त्व उन मेहना संज्ञक सूक्ष्म पदार्थों को सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा व्याप्त करने में सहयोग करता है अर्थात् विद्युत् की उपस्थिति में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ पदार्थ को संघनित करने में समर्थ होती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अद्रि' पद का दो प्रकार से निर्वचन किया है, जिनमें प्रथम निर्वचन में 'अद्रि' को फाड़ने वाला बताया है और दूसरे निर्वचन में इसे 'अद भक्षणे' धातु से निष्पन्न बताया है और इसके लिए 'सोमादः' पद को उद्धृत किया है। ऋग्वेद १०.९४.९ में 'ग्रावा' को 'सोमादः' कहा है और यहाँ ग्रन्थकार ने 'इति ह विज्ञायते' कहकर 'ते सोमादः' को ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन कहा है। इसी कारण ग्रन्थकार ने 'अद भक्षणे' धातु से भी 'अद्रिः' पद का निर्वचन किया है। इससे स्पष्ट है कि वज्र रश्मियों के द्वारा इन्द्र तत्त्व न केवल मेघरूप पदार्थों को छिन्न-भिन्न करता है, अपितु अनेक सूक्ष्म पदार्थों को स्थूल पदार्थों द्वारा अवशोषित वा संयुक्त करने में भी अनिवार्यतः सहयोग करता है।

(राधः) 'राध इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन' धन अर्थात् वे सभी पदार्थ, जिनके द्वारा इस सृष्टि में नाना प्रकार की क्रियाएँ सिद्ध होती हैं, [धनम् = धनं धिनोतीति सतः (निरु.३.९)] इस सृष्टि में नाना प्रकार की क्रियाएँ करके विभिन्न लोकादि पदार्थों को तृप्त वा संतुलित रखते हैं। (तत्, नः) 'तन्नः' वह इन्द्र तत्त्व हम अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों को (विदद्वसो) 'त्वम् वित्तधन' विभिन्न सूक्ष्म अणु आदि पदार्थों में व्याप्त इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् (उभया,

हस्ति) 'उभाभ्यां हस्ताभ्याम्' दोनों हरणशील शक्तियों के द्वारा अर्थात् प्राण एवं मरुद् रश्मियों अथवा धन एवं ऋणावेश के द्वारा (आ, भर) 'आहर उभौ समुब्धौ भवतः' जब विभिन्न सूक्ष्म अणु परिपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों की प्रचुरता हो जाती है, तब वे सभी पदार्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा संघनित वा संयुक्त होने लगते हैं।

यहाँ 'मेहना' पद अनवगत संस्कार है अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के आधार पर इसकी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस कारण इसका निर्वचन यहाँ किया गया है। यह नैगम काण्ड का चौथा पद है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द कृत **आधिभौतिक भाष्य** इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (यत्) (इन्द्र) विद्यैश्वर्य्ययुक्त (चित्र) अद्भुतगुणकर्मस्वभाव (मेहना) वृष्टिः (अस्ति) (त्वादातम्) त्वया शोधितम् (अद्रिवः) सूर्य्य इव विद्याप्रकाशक (राधः) द्रव्यम् (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (विदद्वसो) लब्धधन (उभयाहस्ति) उभये हस्ता प्रवर्त्तन्ते यस्मिँस्तत् (आ, भर)।

भावार्थः — स एव राजा धनाढ्यो वा सुकृती स्याद्यो वृष्टिवदन्येषां कामान् वर्षेत्।

पदार्थ— हे (अद्रिवः) सूर्य के सदृश विद्या के प्रकाश करने वाले (विदद्वसो) धन को प्राप्त हुए (चित्र) अद्‌भुत गुण, कर्म और स्वभाव वाले (इन्द्र) विद्या और ऐश्वर्य्य से युक्त (यत्) जो (त्वादातम्) आप से शुद्ध किया (राधः) द्रव्य (मेहना) वृष्टि के सदृश (अस्ति) है (तत्, उभयाहस्ति) उस उभयाहस्ति अर्थात् दो प्रकार के हाथ प्रवृत्त होते हैं जिसमें, ऐसे को (नः) हम लोगों के लिये (आ, भर) सब प्रकार धारण कीजिये।

भावार्थ— वही राजा धन से युक्त वा कुशली होवे, जो वृष्टि के सदृश अन्यों के मनोरथों को वर्षावे।"

तदुपरान्त अगला अर्थात् पाँचवाँ अनवगत संस्कार पद प्रस्तुत करते हैं। वह पद है— 'दमूना', जिसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा अपि वा दम इति गृहनाम तन्मना स्यात् मनो मनोतेः' अर्थात् यहाँ 'मन' पद 'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) धातु से व्युत्पन्न होता है। 'दम' पद को गृहवाची माना है अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों का आवास एवं उनका ग्रहण वा आकर्षण करने वाला होता है, वह दम कहलाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'दमूनाः' पद का तीन प्रकार से निर्वचन

किया है—

१. दममना अर्थात् दीप्तियुक्त पदार्थों को आकर्षित करने वाला। उनको अपने अन्दर बसाने वाला और साथ ही उनको नियन्त्रित अवस्था में रखने वाला।
२. दानमना अर्थात् दीप्तियुक्त पदार्थों को प्रदान करने वाला अथवा उन्हें उत्सर्जित करने वाला।
३. दान्तमना अर्थात् दीप्ति-उत्पादिका रश्मियों को पूर्णतः नियन्त्रित करने वाला अथवा दीप्तियुक्त पदार्थों को वश में करने वाला।

इस प्रकार ये तीन प्रकार के पदार्थ 'दमूना' कहलाते हैं। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चमः खण्डः

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥

[ऋ.५.४.५]

अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा।
पर गृहाणीति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः।
इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्।
सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि।
विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा। धनानीति वा।
मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः। मूषोऽप्येतस्मादेव॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि वसुश्रुत आत्रेय है। इसका अर्थ यह है कि [वसु = वसुरन्तरिक्षसत् (यजु.१२.१४), गायत्री वसूनां पत्नी (गो.उ.२.९), वसूनां वै प्रातः सवनम्

(कौ.ब्रा.१६.१)] आकाश में विद्यमान गायत्री छन्द रश्मियों में प्रवाहित होने वाली एवं सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सूक्ष्म प्राण विशेष से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द भुरिक् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व वेगपूर्वक फैलता हुआ यजन क्रियाओं को समृद्ध करता है।

आधिदैविक भाष्य— (जुष्टः, दमूनाः) पूर्वोक्त दमूना संज्ञक पदार्थों का सेवन करने वाले अथवा उन पदार्थों के द्वारा तृप्त वा सक्रिय (अतिथिः, दुरोणे) 'अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा परगृहाणीति वा दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः' अतिथिरूप अग्नि अर्थात् ऐसा अग्नि, जो सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भाग एवं कुछ अन्य भागों में सतत गमन करता रहता है अथवा उत्पन्न होता रहता है। यह सततगन्ता अतिथिरूप अग्नि जिस भाग में उत्पन्न होता है, उससे अन्य क्षेत्रों और पदार्थ समूह में सतत गमन करता रहता है। यहाँ अतिथि वह अग्नि है, जो तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है और यह अग्नि दुरोण संज्ञक ऐसे क्षेत्रों में भी गमन करता है, जो कठिनाई से तृप्त वा पूर्ण होने वाले होते हैं, क्योंकि ये क्षेत्र उस अग्नि को तारों के बाहरी भाग की ओर निरन्तर प्रवाहित करते रहते हैं, इस कारण उनके तापमान में कभी वृद्धि नहीं होती।

(अग्ने, विद्वान्) ऐसा वह व्याप्त अग्नि अथवा [विद्वान् = विद्वाँसो हि देवाः (श.ब्रा. ३.७.३.१०)] देदीप्यमान अग्नि (नः, इमम्, यज्ञम्, उप, याहि) 'इमं नो यज्ञमुपयाहि' इस मन्त्र की ऋषि रूप प्राण एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों के संगमन की क्रिया में निकटता से व्याप्त हो जाता है अर्थात् उस केन्द्रीय भाग में बढ़ते हुए तापमान और विद्युत् बलों के द्वारा विभिन्न कण परस्पर संगत होने लगते हैं।

(शत्रूयताम्, विश्वाः, विहत्या, अभियुजः) 'सर्वा अभियुजो विहत्य शत्रूयताम्' वह अग्नि संगमन कार्यों में बाधा पहुँचाने वाले असुरादि रूप शत्रुओं के समान व्यवहार करने वाले सभी पदार्थों, जो सम्मुख आते रहते हैं, को नष्ट करके (भोजनानि, आ, भरा) 'आभर भोजनानि विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा धनानीति वा' भोजन अर्थात् भक्षण वा संयुक्त होने योग्य सूक्ष्म कणों को सब ओर से संरक्षित करता है। वह अग्नि अन्य बाधक व अनिष्ट पदार्थों के बलों का नाश करके और बाधक पदार्थों के क्षेत्र से संगमनीय भोजन रूप सूक्ष्म कणों का सब ओर से हरण करके ले जाता रहता है और

उन्हें सब ओर से धारण करके उनका यजन करता है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द कृत **आधिभौतिक भाष्य** इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (जुष्टः) सेवितः प्रीतो वा (दमूनाः) शमदमादियुक्तः (अतिथिः) अकस्मादागतः (दुरोणे) गृहे (इमम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) अन्नाद्युत्तमपदार्थदानम् (उप) (याहि) (विद्वान्) (विश्वाः) समग्राः (अग्ने) विद्युदिव शुभगुणाढ्य राजन् (अभियुजः) या आभिमुख्यं युञ्जते ताः शत्रुसेनाः (विहत्या) विविधवधैर्हत्वा। अत्र संहितायामिति दीर्घः। (शत्रूयताम्) शत्रूणामिवाचरताम् (आ) (भरा) धर। अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः। (भोजनानि) प्रजापालनानि भोक्तव्यान्यन्नानि वा।

भावार्थः — यो राजा दुष्टान् हत्वा न्यायेन प्रजाः पालयति सोऽत्यन्तं प्रजाप्रियो भवति।

पदार्थ— हे (अग्ने) बिजुली के सदृश श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न राजन्! (जुष्टः) सेवित वा प्रसन्न किये गये (दमूनाः) शम, दम आदि से युक्त (अतिथिः) अकस्मात् आये (दुरोणे) गृह में प्राप्त हुए से (विद्वान्) विद्वान् आप (नः) हम लोगों के (इमम्) इस प्रत्यक्ष (यज्ञम्) अन्न आदि उत्तम पदार्थों के दान को (उप, याहि) प्राप्त हूजिये और (शत्रूयताम्) शत्रुओं के सदृश आचरण करते हुओं की (विश्वाः) सम्पूर्ण (अभियुजः) सम्मुख प्राप्त हुई शत्रुसेनाओं का (विहत्या) अनेक प्रकार के वधों से नाश करके (भोजनानि) प्रजापालन वा खाने योग्य अन्नों को (आ, भरा) धारण कीजिये।

भावार्थ— जो राजा दुष्टों का नाश करके न्याय से प्रजाओं का पालन करता है, वह बहुत ही प्रजा का प्रिय होता है।''

इसके पश्चात् ग्रन्थकार अगले अनवगत संस्कार वाले 'मूषः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मूषो मूषिका इत्यर्थः मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः मूषोऽप्येतस्मादेव' अर्थात् मूष एवं मूषिका दोनों ही पद समान अर्थ में प्रयुक्त हैं। वस्तुतः यहाँ 'मूषः' पद का अर्थ 'मूषिका' किया है। इन दोनों का निर्वचन 'मुष स्तेये' धातु से किया गया है। इस धातु के आप्टेकोष में अनेक अर्थ निम्नानुसार दिये हैं— चुराना, अपहरण करना, ढकना, छिपाना, बंदी बनाना आदि।

इस प्रकार 'मूष' एवं 'मूषिका' ऐसे पदार्थ का नाम है, जो किसी पदार्थ का हरण कर लेता है, उसे अपने जाल में बाँध लेता है, उसे आच्छादित भी कर सकता है। हमें यह

पदार्थ असुर पदार्थ से भिन्न प्रतीत होता है। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ [ऋ.१.१०५.८]

सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवः।
मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति। स्वाङ्गाभिधानं वा स्यात्।
शिश्नानि व्यदन्तीति वा। सन्तपन्ति माध्यः कामाः। स्तोतारं ते शतक्रतो।
वित्तं मे अस्य रोदसी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति।
त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।
त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्।
एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि आप्त्यस्त्रित ऋषिराङ्गिरसः कुत्सो वा है। ग्रन्थकार ने इसके ऋषि के विषय में मन्त्र के भाष्य के पश्चात् स्वयं चर्चा की है। इस कारण हम भी इसकी चर्चा वहीं करेंगे। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द स्वराट् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ देदीप्यमान होते हुए विस्तार एवं संगमन को प्राप्त होते हैं अर्थात् उन पदार्थों में जहाँ प्रकाश की मात्रा बढ़ती है, वहाँ उनका यजन क्षेत्र भी विस्तृत होता चला जाता है।

आधिदैविक भाष्य— (सम्, तपन्ति) 'सन्तपन्ति' ज्वलनशीलता में सम्यक् रूप से वृद्धि होती है अर्थात् विभिन्न प्रकार के देव पदार्थों में ऊष्मा एवं प्रकाश की वृद्धि करते हैं, ऐसा

कौन करता है, यह इसी मन्त्र में आगे बताया है। (मा, अभितः) 'मामभितः' मुझ अर्थात् त्रित संज्ञक ऋषि रश्मियों, जो इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत हैं, के चारों ओर अर्थात् इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऋषि रश्मियाँ जहाँ-२ विद्यमान होती हैं, उस-उसके चारों ओर विद्यमान पदार्थ में ताप और प्रकाश की मात्रा बढ़ती चली जाती है। (सपत्नीः, इव, पर्शवः) 'सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवः' [पर्शुः = स्पृशतेः (निरु. ४.३)। सपत्नी = गार्हपत्यभाजो वै पत्न्यः (कौ.ब्रा.३.९)] सूर्यादि लोकों का वह बाहरी भाग, जो सम्पूर्ण लोक को बाँधे रखता है और जिसकी चर्चा हम खण्ड ४.३ में कर चुके हैं। वह भाग अपने द्वारा आच्छादित मुख्य विशाल भाग, जो गार्हपत्य अग्नि अर्थात् ऋतु रश्मियों से सम्पन्न होता है और उस सम्पूर्ण भाग में इसी प्रकार के अनेक क्षेत्र विद्यमान होते हैं, उन सब भागों को ही वह पर्शु संज्ञक भाग तपाता है और इसी भाग में इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऋषि रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। मन्त्र के पूर्व भाग में इन्हीं को तपाने की चर्चा की गई है। यहाँ 'कूपपर्शवः' पद यह दर्शाता है कि उस पर्शु संज्ञक भाग में जो सौर कूप विद्यमान होते हैं, उनकी पदार्थ को तपाने में भूमिका होती है, सम्पूर्ण पर्शु संज्ञक क्षेत्र की नहीं। यह कैसे तपाया जाता है? इसकी चर्चा करते हुए मन्त्र में कहा गया है—

(मूषः, न, शिश्ना, वि, अदन्ति, मा, आध्यः) 'मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति स्वाङ्गाभिधानं वा स्यात् शिश्नानि व्यदन्तीति वा सन्तपन्ति माध्यः कामाः' [सूत्रम् = सीव्यति येन यदर्थं बध्नाति वा तत् सूत्रम् (उ.को.४.१६४), शिश्न वयसाम् (आदित्य आदत्त) (जै.ब्रा.२.२६), शिश्नं वै शोचिष्केशः (श.ब्रा.१.४.३.९)। शोचिष्केशः = शोचन्तीव ह्येतस्य (अग्नेः) केशाः (श.ब्रा.१.४.१.३८)। वयः = प्राणो वै वयः (ऐ.ब्रा.१.२८)] पूर्वोक्त मूष एवं मूषिका नामक रश्मि आदि पदार्थ ऐसी रश्मियों, जो सूर्यादि लोकों के आभ्यन्तर भाग की ओर जाने वाली पदार्थ की धाराओं और उन धाराओं के अन्दर प्रवाहित होने वाले पदार्थ को बाँधती हैं, वे जब अशुद्ध हो जाती हैं अर्थात् उनमें किसी कारण विकृति आ जाती है, को नष्ट कर देते हैं अर्थात् अवशोषित कर लेते हैं। इसके साथ ही वे मूष वा मूषिका संज्ञक पदार्थ अपनी ही अंगभूत रश्मियों को अवशोषित कर लेते हैं। उनकी वे अंगभूत रश्मियाँ अग्नि के तेजस्वी विकिरणों के रूप में होती हैं, जिन्हें सूर्यलोक का केन्द्रीय भाग ग्रहण करता रहता है। यहाँ इस भेद को अवश्य समझ लेना चाहिए। ध्यान रहे

कि मूष वा मूषिका संज्ञक रश्मियाँ सूर्यलोकों के केन्द्रीय भाग तक नहीं जाती हैं, परन्तु उनकी अंगभूत रश्मियाँ, जो तीव्र तेजस्विनी और कुछ हिंसक होती हैं, वे ही अन्य पदार्थ को साथ लेकर केन्द्रीय भाग तक पहुँचती हैं। वे रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत ऋषि रश्मियों की कामना अर्थात् आकर्षण शक्ति को तीव्र बनाती हैं, जिससे उस क्षेत्र में ऊष्मा की वृद्धि होती रहती है।

(स्तोतारम्, ते, शतक्रतो) 'स्तोतारं ते शतक्रतो' अनेक कर्म करने वाला एवं सम्पूर्ण सूर्यलोक को प्रकाशित करने वाला वह इन्द्र तत्त्व (वित्तम्, मे, अस्य, रोदसी) 'वित्तं मे अस्य रोदसी जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति' इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों के क्षेत्र में विद्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को जानता है अर्थात् वह इन सभी पदार्थों को तीव्रता प्रदान करके अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित करने लगता है। इस कारण उस क्षेत्र में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र और भी अधिक प्रकाशित होते हैं, जिससे तापमान में वृद्धि होने लगती है।

मन्त्र के व्याख्यान के पश्चात् ग्रन्थकार इस मन्त्र के ऋषि के विषय में चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्। एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः।"

इसका अर्थ यह है कि त्रित नामक ऋषि रश्मियाँ जब पूर्वोक्त सौर कूपों के अन्दर स्पन्दित हो रही होती हैं, उस समय उन ऋषि रश्मियों से ऋ.१.१०५ यह सम्पूर्ण सूक्त रूप छन्द रश्मि समूह उत्पन्न वा प्रकाशित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ यदि त्रित नामक ऋषि रश्मियाँ सौर कूपों के बाहर सूर्य अथवा ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं भी विद्यमान हों, तब ये छन्द रश्मियाँ उनसे उत्पन्न नहीं होती।

[गाथा-नाराशꣳसी = अनृतँ हि गाथानृतं नाराशँसी (काठ.सं.१४.५), यद्ब्रह्मणः शमलमा-सीत् सा गाथानाराशꣳस्यभवत् (तै.ब्रा.१.३.२.६)। शमलः = शाम्यतीति शमलः (उ.को. १.११२)। इतिहासः = यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशꣳसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाघ्नन् (तै.आ.२.९.१)]

यहाँ तैत्तिरीय आरण्यक के प्रमाण से यह संकेत मिलता है कि इतिहास, गाथा आदि जहाँ कुछ ग्रन्थ विशेषों अथवा ज्ञान की शाखा विशेषों का नाम है, वहीं ये पद पदार्थ विशेषों के भी नाम हैं। इन पदार्थों के द्वारा विभिन्न देव पदार्थ असुर पदार्थों को पृथक्-२ परिस्थितियों में नष्ट करते हैं। इस कारण हमें ग्रन्थकार के इस प्रकरण को इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए। इसी दृष्टि से अब हम ग्रन्थकार के अग्रिम वचनों पर विचार करते हैं। ग्रन्थकार का कथन है कि ब्रह्म अर्थात् इस सूक्त की सभी छन्द रश्मियों की प्रधानता वाले क्षेत्र में इतिहास, ऋक् एवं गाथा संज्ञक पदार्थ मिश्रित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सूक्त रूप छन्द रश्मि समूह में कुछ छन्द रश्मियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे उस क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति का इतिहास विदित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये छन्द रश्मियाँ इस सूक्तरूप छन्द रश्मि समूह की अन्य छन्द रश्मियों की अपेक्षा उन सौर कूपों के अन्दर पहले उत्पन्न होकर सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति करने लगती हैं। ऐसी रश्मियाँ ही इतिहास नामक पदार्थ कहलाती हैं। वेदों में जिन मन्त्रों के भाष्य से सृष्टि की किसी घटना का बोध होता है, वे मन्त्र सृष्टि की किसी प्रक्रिया के अन्तर्गत लम्बे काल तक सक्रिय रहते हैं और उन्हें ही इतिहास नामक पदार्थ कहा जाता है। उधर ऋक् संज्ञक वे छन्द रश्मियाँ होती हैं, जो विशेष रूप से दीप्ति को उत्पन्न करने वाली होती हैं। इसके साथ ही इनके कारण ऊर्जा भी अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध होने लगती है। गाथा उन छन्द रश्मियों को कहते हैं, जो प्रकाश को विशेष रूप से उत्पन्न तो करती हैं, परन्तु उनकी गति अनियमित होती है। साथ ही उनमें कुछ अन्य रश्मियाँ मिश्रित होती हैं। इस प्रकार इतिहास, ऋक् एवं गाथा ये तीनों ही नाम पृथक्-२ स्वभाव वाले छन्द रश्मि समूह के होते हैं। इन्हीं की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि इस सूक्त में तीनों ही प्रकार की छन्द रश्मियाँ मिश्रित होती हैं।

[मेधा = धननाम (निघं.२.१०)] अब त्रित ऋषि के बारे में लिखते हैं कि ये ऋषि रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों में सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा विस्तार को प्राप्त होती हैं तथा ये विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के द्वारा नाना प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित कराने में सहयोग करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार 'त्रित' पद को संख्यावाची मानने का भी विकल्प प्रस्तुत करते हैं। इसे समझाते हुए लिखते हैं कि एकतः, द्वितः एवं त्रितः इससे संकेत मिलता है कि 'त्रित' नामक ऋषि रश्मियाँ तीन चरणों में चरणबद्ध रीति से उत्पन्न होती हैं, ये तीन

प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों का रूप हैं। हमारी दृष्टि में प्राण-अपान व व्यान का त्रिक ही यहाँ त्रित नामक ऋषि कहा गया है। इसी त्रित से इस छन्द रश्मि व सम्पूर्ण सूक्त की उत्पत्ति होती है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोमराजन्प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥ [ऋ.८.४८.७]
ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य।
प्रवर्द्धय च न आयूंषि सोमराजन्। अहानीव सूर्यो वासराणि।
वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा।
कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति। कर्त्तन हन्तन यातनेति।
जठरमुदरं भवति। जग्धमस्मिन्ध्रियते धीयते वा॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रगाथ काण्व है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेष तेजस्विनी छन्द रश्मियों में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता सोम और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सोम रश्मियाँ प्रकाशित एवं तीव्र बल से सम्पन्न होने लगती हैं।

आधिदैविक भाष्य—

(इषिरेण) 'ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा' [ईष गतिकर्मा (निघं.२.१४), इषु इच्छायाम् एवं ऋष गतौ] तीव्र गतिशील, आकर्षण बलयुक्त एवं किसी अन्य पदार्थ को गति देने वाले (ते, मनसा) 'ते मनसा' मनस्तत्त्व के द्वारा (सुतस्य) 'सुतस्य' प्रेरित वा उत्पन्न सोम रश्मियों का (भक्षीमहि, पित्र्यस्य, इव, रायः) 'भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य' [पितरः = अनपहतपाप्मानः पितरः (श.ब्रा.२.१.३.४)] भक्षण करते हैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की उपादानभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उन सोम रश्मियों का अवशोषण करती हैं। इसकी उपमा

देते हुए कहा कि अवशोषण की यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार असुर तत्त्व से आक्रान्त सूक्ष्म पदार्थों को प्राणादि रश्मियाँ आकर्षित करके अपने साथ युक्त कर लेती हैं। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि वेद के आधिदैविक भाष्य में एवं तदनुसार सृष्टि प्रक्रिया में उपमा अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं होता। इस कारण इस उपमा का वास्तविक आशय यह है कि जब प्राणादि रश्मियों के द्वारा असुर तत्त्व से आक्रान्त पदार्थ को मुक्त किया जाता है, उसी समय सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सोम रश्मियों का अवशोषण करती हैं।

(सोमराजन्) 'सोमराजन्' वे देदीप्यमान सोम रश्मियाँ (नः, आयूंषि) 'न आयूंषि' [आयुः = आयुर्वा उष्णिक् (ऐ.ब्रा.१.५), अग्निरायुः (श.ब्रा.६.७.३.७), प्राणो वा आयुः (ऐ.ब्रा. २.३८)] हमारे अर्थात् पूर्वोक्त सूत्रात्मा वायुरूप ऋषि रश्मियों के साथ विद्यमान प्राण रश्मियों, अग्नितत्त्व एवं छन्द रश्मियों को (प्र, तारीः) 'प्रवर्द्धय' अच्छी प्रकार बढ़ाती हैं अर्थात् उनकी सोम रश्मियों के साथ यजन क्रिया समृद्ध होती है, जिससे अग्रिम चरण के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (अहानि, इव, सूर्यः, वासराणि) 'अहानीव सूर्यो वासराणि वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा' यहाँ भी उपमा देते हुए लिखा है कि प्राण एवं सोमादि रश्मियों के मध्य यजन क्रिया वैसे ही समृद्ध होती है, जैसे सबको बसाने वाले दिनों को सूर्य समृद्ध करता है। यहाँ 'वासर' का निर्वचन करते हुए कहा है कि वे निरन्तर गति करते रहते हैं एवं [विवासति परिचरणकर्मा (निघं.३.५)] वे सभी पदार्थों के निकट व्याप्त रहकर उनकी सेवा करते हैं अर्थात् उन्हें अपने कार्यों को करने में सक्षम बनाते हैं अथवा जो अन्धकार को विशेष रूप से बाहर निकालते हैं। यहाँ इस उपमा का तात्पर्य यही है कि जब सूर्यादि लोकों से दिन की उत्पत्ति होती है अथवा इन लोकों से प्रकाश उत्पन्न होकर निरन्तर गमन करने लगता है, उसी समय सोम राजा अर्थात् देदीप्यमान सोम रश्मियाँ प्राणादि रश्मियों के साथ यजन कार्य करती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि सूर्यादि लोकों के अन्दर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति और उनका बहिर्गमन होने पर प्राण एवं मरुत् रश्मियों के पारस्परिक मेल से कुछ छन्द रश्मियों एवं सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति भी होती रहती है। यह उत्पत्ति सूर्य के बाहरी तल पर होती है अथवा सूर्य के आभ्यन्तर भाग में, यह बात अन्वेषणीय है।

मन्त्र के भाष्य के पश्चात् ग्रन्थकार अगले अर्थात् आठवें पद 'कुरुतन' का निर्वचन

करते हुए लिखते हैं— 'कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति कर्त्तन हन्तन यातनेति' अर्थात् इसमें उपजन अर्थात् अन्तिम वर्ण अनर्थक आगम के रूप में विद्यमान होता है, इस कारण वस्तुतः यह पद 'कुरुत' है। इसी प्रकार 'कर्त्तन', 'हन्तन' एवं 'यातन' ये पद भी अनर्थक उपजन वाले हैं अर्थात् ये भी क्रमशः कर्त्त, हन्त और यात के ही रूप हैं। यहाँ 'कर्त्त' एवं 'कुरुत' दोनों ही समान अर्थ वाले हैं। ग्रन्थकार ने इन पदों के कोई निगम प्रस्तुत नहीं किए हैं।

अन्त में 'जठरम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'जठरमुदरं भवति जग्धमस्मिन्ध्रियते धीयते वा' अर्थात् जठर उदर को कहते हैं, जिसके द्वारा खाया हुआ अन्न धारण किया जाता है अथवा वह खाया हुआ अन्न जिसमें रखा जाता है, उसे जठर कहते हैं। यह पद भी अनवगत संस्कार वाला है। इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्॥ (ऋ.३.४७.१)
मरुत्वानिन्द्र। मरुद्भिः तद्वान्। वृषभो वर्षितापाम्।
रणाय रमणीयाय संग्रामाय।
पिब सोमम्। अनुष्वधमन्वन्नम्। मदाय मदनीयाय जैत्राय।
आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम्। मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः।
इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव। त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहस्सु सुतानाम्॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द की उत्पत्ति 'ओम्' रश्मियों से होती है अथवा अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता में उन्हीं अनुष्टुप् रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप्

है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों में इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण तेज और बलों से युक्त होता है और सूर्यादि लोकों के बाहर भी विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में भी ऐसा होता है।

आधिदैविक भाष्य— (मरुत्वान्, इन्द्र, वृषभः) 'मरुत्वानिन्द्र मरुद्भिस्तद्वान् वृषभो वर्षितापाम्' विभिन्न मरुत् रश्मियों से युक्त वा समृद्ध नाना प्रकार के आपः अर्थात् प्राण रश्मियों की वर्षा करने वाला महाबलवान् एवं अति सक्रिय इन्द्रतत्त्व (रणाय) 'रणाय रमणीयाय संग्रामाय' रमणीय संग्राम के लिए अर्थात् सूर्यादि लोकों के अन्दर अथवा बाहर अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की सुन्दर यजन प्रक्रियाओं को सहज बनाने के लिए (पिबा, सोमम्) 'पिब सोमम्' सोम रश्मियों अर्थात् विभिन्न मरुत् रश्मियों का पान करता है अर्थात् उन्हें अवशोषित करता रहता है। इन्द्र और सोम के विषय में ऋषियों का कथन है— इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो.उ.१.२३), मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः (श.ब्रा.२.५.३.२०), ते (मरुतः) एनम् (इन्द्रम्) अध्यक्रीडन् (तै.ब्रा.१.६.७.५)। इन वचनों का तात्पर्य है कि विभिन्न मरुद्रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व के निकट स्पन्दित होती रहती हैं, जिनको अवशोषित करके बलवान् होता हुआ इन्द्र तत्त्व असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट करता है।

(मदाय, अनुष्वधम्) 'अनुष्वधमन्वन्नम् मदाय मदनीयाय जैत्राय' [स्वधा = अन्ननाम (निघं.२.७), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] विभिन्न सूक्ष्म प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों को विशेष सक्रिय करने के लिए एवं बाधक रश्मि आदि पदार्थों को नियन्त्रित करने के लिए (आ, सिञ्चस्व, जठरे, मध्वः, ऊर्मिम्) 'आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम् मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव' [जठरम् = जठरमुदरं भवति जग्धम-स्मिन्ध्रियते धीयते वा (निरु.४.७)। मधु = एतद्वै प्रत्यक्षात् सोमरूपं यन्मधु (श.ब्रा.१२.८.२.१५)] इन्द्रतत्त्व प्रधान विशाल क्षेत्र में सोम रश्मियों का सब ओर से सिंचन किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यलोक रूपी इन्द्र का केन्द्रीय भाग ही इसका जठर अर्थात् उदर है, जहाँ संलयनीय पदार्थ स्थित होता है अथवा जिसमें पहुँचाया जाता है। उस भाग में सोम रश्मियों एवं उनकी प्रधानता वाले सूक्ष्म कणों एवं सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) का भी केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाह होता रहता है और इनसे आकर्षित होकर ही धनावेशित कणों का केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाह होता है। सोम पदार्थ मधु के समान मदकारी अर्थात्

प्रसन्नतादायक होता है। जैसे मधु पीने से व्यक्ति तुरन्त ऊर्जा प्राप्त करके सक्रिय हो उठता है, वैसे ही सोम रश्मियों के अवशोषण से इन्द्र तत्त्व सक्रिय हो उठता है एवं इलेक्ट्रॉन्स के प्रवाह के साथ ही धनावेशित कणों का भी प्रवाह केन्द्रीय भाग की ओर होने लगता है। (त्वम्, राजा, असि, प्रदिवः, सुतानाम्) 'त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहस्सु सुतानाम्' तुम अर्थात् इन्द्र तत्त्व भी [अहन् = अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४), अहरेव सविता (गो.पू.१.३३)] पूर्व में उत्पन्न विभिन्न तारों के अन्दर उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों, विशेषकर सोम रश्मियों का राजा भी इन्द्रतत्त्व ही होता है अर्थात् सभी प्रकार के लोकों में इन्द्र तत्त्व ही सभी प्रकार के यजनीय कणों को प्रकाशित एवं नियन्त्रित करने वाला होता है।

इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (मरुत्वान्) मरुतः प्रशस्ता मनुष्या विद्यन्ते यस्य सः (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त! (वृषभः) बलिष्ठः (रणाय) संग्रामाय (पिब)। अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः। (सोमम्) महौषधिरसम् (अनुष्वधम्) अनुकूलं स्वधान्नं विद्यते यस्मिँस्तम् (मदाय) आनन्दाय (आ) (सिञ्चस्व) (जठरे) उदरे (मध्वः) मधुरस्य (ऊर्मिम्) तरङ्गम् (त्वम्) (राजा) प्रकाशमानः (असि) (प्रदिवः) प्रकर्षेण विद्याविनयप्रकाशस्य (सुतानाम्) उत्पन्नानामैश्व-र्यादीनाम्।

भावार्थः — हे राजन्! भवान् यदि विजयमारोग्यं बलं दीर्घमायुश्चेच्छेत्तर्हि ब्रह्मचर्य्यं धनुर्वेदविद्यां जितेन्द्रियत्वं युक्ताऽऽहारविहारञ्च करोतु।

पदार्थ— हे (इन्द्र) अत्यन्त ऐश्वर्य से युक्त (मरुत्वान्) श्रेष्ठ मनुष्यों से युक्त (वृषभः) बलवान्! आप (रणाय) संग्राम के और (मदाय) आनन्द के लिये (अनुष्वधम्) अनुकूल स्वधा अन्न वर्त्तमान जिस में ऐसे (सोमम्) श्रेष्ठ औषधि के रस का (पिब) पान करो और (जठरे) पेट में (मध्वः) मधुर की (ऊर्मिम्) लहर को (आ, सिञ्चस्व) सेचन करो (त्वम्) आप (प्रदिवः) अत्यन्त विद्या और विनय से प्रकाशित के (सुतानाम्) उत्पन्न हुए ऐश्वर्य आदिकों के (राजा) प्रकाशकर्त्ता (असि) हैं इससे ऐसा आचरण करो।

भावार्थ - हे राजन्! आप जो विजय, आरोग्य, बल और अधिक अवस्था की इच्छा करें, तो ब्रह्मचर्य, धनुर्वेदविद्या, जितेन्द्रियत्व और नियमित आहार विहार को करिये।"

* * * * *

= नवमः खण्डः =

तितउ परिपवनं भवति। ततवद्वा। तुन्नवद्वा। तिलमात्रतुन्नमिति वा॥ ९॥

[तितउ = तनोति विस्तृणोति येन तत् तितउः (उ.को.५.५२)] 'तितउ' उस पदार्थ का नाम है, जो सब ओर से पदार्थों को शुद्ध करता है तथा जिसमें सभी पदार्थ इधर-उधर गति करते हैं। इसके साथ ही इसके अन्दर पदार्थ इधर-उधर फैलते रहते हैं। तितउ नामक पदार्थ में अनेक छिद्र होते हैं, जो छिद्र तिलमात्र अर्थात् बहुत सूक्ष्म होते हैं। इन छिद्रों में से सूक्ष्म पदार्थ रिसता व छनता रहता है। आधिभौतिक अर्थ में तितउ छलनी को कहते हैं, क्योंकि यह पदार्थों को छानकर शुद्ध करती है और पदार्थों को छानते समय पदार्थ उस छलनी में इधर-उधर गति करते रहते हैं और गति करते हुए वे पदार्थ शुद्ध होते रहते हैं तथा कुछ पदार्थ छलनी के छिद्रों से रिसते वा गिरते रहते हैं। आधिदैविक अर्थ में तितउ कुछ ऐसी रश्मियों का जाल है, जो सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं के होते समय सूक्ष्म कणों वा रश्मियों को छानने का कार्य करता है। लौकिक छलनी के समान उस रश्मि जाल में भी गमन, शोधन और स्रवण आदि क्रियाएँ होती रहती हैं। यह रश्मि जाल सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार पृथक्-२ रूप में होता है। यह पद भी अनवगत संस्कारों वाला है, इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

[ऋ.१०.७१.२]

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति।
कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। विकसितो भवति।
यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः।

तत्र सखाय: सख्यानि सञ्जानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि इति। भद्रं भगेन व्याख्यातम्। भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम्। भवद्रमयतीति वा। भाजनवद्वा। लक्ष्मीर्लाभाद्वा। लक्षणाद्वा। लप्स्यनाद्वा। लाञ्छनाद्वा। लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण:। लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मण:। लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मण:।
शिप्रे इत्युपरिष्टाद् [६.१७] व्याख्यास्याम:॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि बृहस्पति है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [बृहस्पति: = एष (प्राण:) उ एव बृहस्पति: (श.ब्रा.१४.४.१.२२)] प्राण एवं अपान के युग्म से होती है। इसका देवता ज्ञानम् और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियों में अन्य उपयुक्त छन्द रश्मियों के साथ आकर्षण करने व उन्हें ढूँढने की प्रक्रिया तीव्र बल से युक्त होती है।

आधिदैविक भाष्य— (सक्तुम्, इव) 'सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्त: सक्तु: सचते: दुर्धावो भवति कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति' [सक्तु: = देवानां वाऽएतद् रूपं यत्सक्तव: (श.ब्रा.१३.२.१.३)] यहाँ सक्तु देव पदार्थों का ही एक रूप है, जो अन्य पदार्थों के साथ ऐसा मिश्रित हो जाता है कि उसे शुद्ध करना अर्थात् मिश्रित पदार्थों से पृथक् करना कठिन होता है। ये पदार्थ निरन्तर कम्पन करने वाले और मन्द गति से चलने वाले होते हैं। ये सक्तु संज्ञक पदार्थ उस स्थान पर (तितउना, पुनन्त:) पूर्वोक्त तितउ नामक रश्मि जाल के द्वारा शुद्ध होते हैं अर्थात् उनके साथ मिश्रित अन्य पदार्थ पृथक् हो जाते हैं। (यत्र, धीरा, मनसा, वाचम्, अक्रत) 'यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम् धीरा: प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्त:' [धीर: = मेधाविनाम (निघं.३.१५)] जहाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ मनस्तत्त्व के द्वारा अथवा मनस्तत्त्व के सहयोग से उपयुक्त वाक् रश्मियों को खोजते हुए धारण करती हैं अथवा वे उपयुक्त छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। (अत्रा, सखाय:, सख्यानि, जानते) 'तत्र सखाय: सख्यानि सञ्जानते' वैसी स्थिति में सम्यक् वा उपयुक्त रूप से संदीप्त देव कण ऐसे ही उपयुक्त देव कणों को खोजकर उनके साथ यजन आदि क्रियाएँ करते हैं अर्थात् जब तक सूत्रात्मा वायु वाक् रश्मियों को धारण नहीं करता, तब तक देव कणों के मध्य कोई भी क्रिया नहीं होती।

(भद्रा, एषाम्, लक्ष्मी:, निहिता, अधि, वाचि) 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि इति भद्रं भगेन व्याख्यातम् भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यनाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण: लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मण: लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मण:' [भग: = यज्ञो भग: (श.ब्रा.६.३.१.१९)] इन देव कणों के अन्दर एवं बाहर व्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियों से सम्बद्ध अथवा उनके द्वारा आच्छादित विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों के अन्दर भद्रा अर्थात् संगमनीय, जिसकी ओर विभिन्न रश्मि एवं कण आदि पदार्थ तीव्र गति से गमन करते हैं और जिनमें व्याप्त होकर नाना प्रकार की क्रियाएँ सहजता से करते हुए अन्य पदार्थों को भी आधार प्रदान करते हैं, ऐसी भद्रा लक्ष्मी उन वाक् रश्मियों में विद्यमान होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'लक्ष्मी:' का निर्वचन करते हुए इस पदार्थ के स्वरूप का वर्णन किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने इसके निम्न गुणों की चर्चा की है—

१. जो विभिन्न पदार्थों को नाना क्रीड़ाएँ कराता है।
२. जिससे रूप गुण उत्पन्न होता है तथा जो पदार्थों को चिह्नित करने का गुण प्रदान करता है।
३. जिसके कारण विभिन्न छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे को प्राप्त करने की इच्छा करती हैं।
४. जिसके कारण छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे पर अपना प्रभाव छोड़ने में समर्थ होती हैं।
५. जिसके कारण विभिन्न छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे को आकर्षित करती हुई दीप्ति उत्पन्न करती हैं।
६. जिसके कारण विभिन्न छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे से मिली हुई रहती हैं एवं परस्पर मिलकर नाना प्रकार के कणों एवं विकिरणों को उत्पन्न करती हैं।
७. यहाँ लक्ष्मी नामक पदार्थ को लज्जायुक्त कहा गया है और लज् धातु को श्लाघाविहीनता अर्थ में प्रयुक्त माना है। 'श्लाघा' पद श्लाघृ कत्थने। कत्थनमुत्कर्षाख्यानम् (क्षीरस्वामी-विरचिता क्षीरतरङ्गिणी) इससे यह प्रतीत होता है कि आधिदैविक पक्ष में उत्कर्ष अर्थात् किसी वस्तु को ऊपर की ओर खींचने के गुण के प्रकट न होने को ही 'अश्लाघा' कहा जाएगा अर्थात् पदार्थ के संकुचन की प्रवृत्ति को ही यहाँ लज्जा अथवा अश्लाघा मानना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्मी नामक पदार्थ ही विभिन्न छन्द रश्मियों को संकुचन का गुण प्रदान करता है।

एक तत्त्ववेत्ता ने लक्ष्मी के विषय में लिखा है—

श्रीश्च ते (पुरुषस्य = आदित्यस्य) लक्ष्मीश्च ते पत्न्या अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ (द्यावापृथिव्यौ) व्यात्तम् (विकासितमुखम्)। (काठ.संक.१०३.९)

इस वचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि लक्ष्मी एक ऐसे पदार्थ का नाम है, जो सूर्यादि तेजस्वी लोकों और प्रकाशाणुओं की पत्नी अर्थात् उनके स्वरूप की रक्षा करने वाले पदार्थों में से एक पदार्थ है। हमारी दृष्टि में भूरादि कुछ व्याहृति रश्मियाँ एवं 'हिम्' तथा 'घृम्' जैसी सूक्ष्म रश्मियाँ ही लक्ष्मी नामक पदार्थ का रूप हैं। इनके कारण ही उपर्युक्त सभी गुण प्रकट होते हैं।

यहाँ हम आर्य विद्वान् स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक द्वारा कृत भाष्य को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

संस्कृतान्वयार्थः — (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः) सक्तुं यथा परिपवनेन शोधयन्ति तद्वच्छोधयन्तः (धीरा मनसा यत्र वाचम्-अक्रत) 'धीः-प्रज्ञानम्' धीः प्रज्ञानाम [निघं.३.९] तद्वन्तः, यद्वा धी ध्यानं तद्वन्तो ध्यानावस्थां गतवन्तः परमर्षयः मनसाऽन्तः-करणेन प्रकटी-कुर्वन्ति (अत्र) तत्र (वाचि) वाग्विषये (सखायः) समानख्यानाः वाग्विज्ञानेन सह सख्यमानुभविकं ज्ञानं प्राप्ताः (सख्यानि) यथार्थं तद्भाव्यं सञ्जानते (एषाम्-अधि वाचि भद्रा लक्ष्मीः-निहिता) एषां परमर्षीणां वाण्यां कल्याणकरी खल्वन्यैर्लक्षणीया वाञ्छनीया ज्ञानसम्पत्तिर्निहिता भवति। अर्थोऽयं निरुक्तानुसारी।

भाषान्वयार्थः — (सक्तुम्-इव) सक्तु को (तितउना पुनन्तः) छालनी से शोधते हुए के समान (धीराः-मनसा) बुद्धिमान् या ध्यानशील मन से (यत्र वाचम्-अक्रत) जहाँ वाणी को प्रकट करते हैं (अत्र) वहाँ वाग्विषय में (सखायः) वाग्विज्ञान के साथ समान ख्यान-आनुभविक ज्ञान को प्राप्त होते हैं (सख्यानि) यथार्थ ताद्भाव्य को अनुभव करते हैं (एषाम्-अधिवाचि) इन परम ऋषियों की वाणी में (भद्रा लक्ष्मीः-निहिता) कल्याणकरी अन्यों से लक्षणीय ज्ञानसम्पत्ति निहित होती है।

भावार्थः — परम ऋषि महानुभाव वाग्विषय को भली भाँति शोधकर अपने अन्दर धारण करते हैं। वाणी के यथार्थ ज्ञान के साथ उनकी तन्मयता हो जाती है। ज्ञानसम्पत्ति की वे रक्षा करते हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि का यह भाष्य सन्तोषजनक है। समयाभाव के कारण हम यहाँ स्वयं इसका भाष्य नहीं कर रहे हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि के भाष्य से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सृष्टि के आदि में अग्नि आदि ऋषि ब्रह्माण्ड में स्पन्दित हो रही वेदमन्त्र रूपी छन्द रश्मियों को उसी प्रकार ग्रहण करते हैं, जैसे छलनी में सत्तू छाना जाता है। छलनी से उपयोगी सत्तू अनुपयोगी छिलके आदि पदार्थों से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार ये ऋषि आकाश में व्याप्त छन्द रश्मियों में से अपने सामर्थ्य और मानव जीवन की आवश्यकता के अनुसार छन्द रश्मियों को समाधिस्थ अवस्था में मन के द्वारा छान-छानकर ग्रहण कर लेते हैं। जैसे चलभाष (मोबाइल) नामक यन्त्र कुछ विशेष तरंगों को ही ग्रहण करता है, इसी प्रकार चारों ऋषियों ने जिन मन्त्रों को ग्रहण किया था अथवा प्रत्येक सृष्टि में इसी प्रकार ग्रहण करते हैं, वे मन्त्र ही वेद संहिताओं के रूप में संकलित किए जाते हैं। अनेक छन्द रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनका ग्रहण वे ऋषि नहीं करते हैं। वे मन्त्र भी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहते हुए अपनी भूमिका निभाते हैं। ऐसे ही कुछ मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्रों में मिलते हैं। इन मन्त्रों को प्रक्षिप्त, अनावश्यक एवं महत्त्वहीन समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

मन्त्र के भाष्य के पश्चात् ग्रन्थकार ने 'शिप्रे' पद की व्याख्या न करते हुए इतना ही कहा है कि इसकी व्याख्या खण्ड ६.१७ में की जाएगी।

प्रश्न— जो मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों व श्रौत सूत्रों में विद्यमान हैं, परन्तु वेद संहिताओं में नहीं हैं, उन्हें उन चार ऋषियों ने ग्रहण क्यों नहीं किया?

उत्तर— उन चार ऋषियों ने हजारों मन्त्रों का ग्रहण किया और कुछ मन्त्र ही ऐसे रहे, जिन्हें बाद में अन्य ऋषियों ने ग्रहण किया। इससे उन चार ऋषियों की कोई न्यूनता सिद्ध नहीं होती। ऋषि भी तो जीव ही हैं या मनुष्य ही हैं, वे परमात्मा नहीं हैं। सभी की अपनी-२ सीमा और परिस्थिति होती है। इस कारण जिनसे जितना हो सका और जितना उन्हें उस समय आवश्यक प्रतीत हुआ, उन्होंने ग्रहण कर लिया। ये मन्त्र ही मानव जाति के लिए सम्पूर्ण ज्ञान (जो मनुष्य के लिए आवश्यक है) के प्रतिपादक हैं।

प्रश्न— ब्रह्माण्ड में अन्य लोकों में जो भी मनुष्य के समान मननशील प्राणी रहते हैं, उनके लिए क्या यही वेद है अथवा कुछ अन्य है?

उत्तर— सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए वैदिक छन्द रश्मियाँ एक ही हैं, परन्तु उन-उन लोकों में आदिकाल में ऋषियों ने जिन-जिन मन्त्रों का ग्रहण किया था, उनकी संख्या में कुछ भेद हो सकता है, परन्तु वह भेद भी बहुत अधिक नहीं होगा।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

[ऋ.१.११५.४]

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते।
यदासावयुक्तं हरणानादित्यरश्मीन्। हरितोऽश्वानिति वा।
अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात्।
अपि वोपमार्थे स्यात्। रात्रीव वासस्तनुत इति। तथापि निगमो भवति।
पुनः समव्यद्विततं वयन्ती॥ (ऋ.२.३८.४) समनात्सीत्॥ ११ ॥

इस मन्त्र का ऋषि आंगिरस कुत्स है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्यलोक में उत्पन्न ज्वालाओं में विद्यमान वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता सूर्य और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक के अन्दर तीक्ष्ण तेज और बल की उत्पत्ति होती है।

आधिदैविक भाष्य— (सूर्यस्य) 'सूर्यस्य' सूर्यादि तेजस्वी लोकों का (तत्, देवत्वम्) 'तत् देवत्वम्' यहाँ 'देवत्वम्' पद 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि वह देवत्व कहलाता है, जब सूर्यलोक अति सक्रिय होकर तीव्रता से प्रकाशित होता हुआ (तत्, महित्वम्) 'तन्महित्वम्' उस विशालता को प्राप्त कर लेता है, जब उसका आकार, बल एवं प्रकाश

उपयुक्त सीमा से अधिक हो जाते हैं, उस समय (मध्या) 'मध्ये' उस सूर्यलोक के मध्य में एवं उसके सम्पूर्ण प्रभाव क्षेत्र के मध्य में (कर्त्तोः) 'यत्कर्मणां क्रियमाणानाम्' जो भी क्रियाएँ होती हैं या हो रही होती हैं, जैसे विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं कुछ सूक्ष्म कणों के उत्सर्जन एवं अन्तरिक्ष में दूर-२ तक गमन आदि क्रियाएँ एवं उनके (विततम्, सम्, जभार) 'विततं संह्रियते' [यहाँ 'जभार' पद 'जहार' का छान्दस रूप है।] फैलाव को अच्छी प्रकार से समेटने लगता है। इसका अर्थ यह है कि जब किसी तारे के तेज, आकार एवं द्रव्यमान की विशालता एक सीमा से बाहर बढ़ने लगती है एवं उसके केन्द्रीय भाग में कणों के संलयन की प्रक्रिया रुक जाती है अर्थात् उसका ईन्धन समाप्त हो जाता है, उस समय वह लोक तेजी से संकुचित होने लगता है तथा उसका गुरुत्वाकर्षण बल इतना तीव्र हो उठता है कि वह अपने चारों ओर दूर-२ तक फैले हुए रश्मि जाल को भी समेटने लग जाता है।

(यदा, इत्) 'यदासौ' जब वह सूर्यलोक (हरितः, अयुक्त, सधस्थात्) 'अयुक्तं हरणानादित्यरश्मीन् हरितोऽश्वानिति वा' [सधस्थम् = सहस्थानम् (म.द.य.भा.११.१८), अन्तरिक्षम् (तु.म.द.य.भा.१३.५३), स्वर्गो वै लोकः सधस्थः (श.ब्रा.९.५.१.४६), सधस्थे सहस्थाने (निरु.३.१५)। हरितः = हरितः दिङ्नाम (निघं.१.६), दिशो वै हरितः (श.ब्रा. २.५.१.५)] अपनी प्रकाश आदि रश्मियों, दिक् रूप रश्मियों एवं उनकी कक्षा में उसका मार्ग बनाते हुए साथ-२ गमन करने वाली रश्मियों को परस्पर संयुक्त करता है अर्थात् सूर्यलोक के उपर्युक्त सीमा के अतिक्रमण करने पर उसके संकुचन के समय ये सभी रश्मियाँ अपने उत्पत्तिस्रोत केन्द्रीय भाग से संयुक्त होने लगती हैं अर्थात् उसकी दिशा में आकृष्ट होने लगती हैं। (आत्, रात्री, वासः, तनुते, सिमस्मै) 'अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै' इसके अनन्तर अर्थात् जब इन पूर्वोक्त रश्मियों एवं तरंगों का आकर्षण केन्द्रीय भाग की ओर होने लगता है, उस समय अन्धकार रूप रात्रि अपने आच्छादन को सभी लोकों के लिए फैलाने लगती है अर्थात् जो लोक सूर्यलोक के कारण प्रकाशित होते हैं, वे अंधकारमय हो जाते हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात् अपि वोपमार्थे स्यात् रात्रीव वासस्तनुत इति तथापि निगमो भवति'। यहाँ अनेक भाष्यकारों ने 'वासरम्' पद के स्थान पर 'वेसरम्' पाठ स्वीकार किया

है, परन्तु स्कन्दस्वामी और आचार्य विश्वेश्वर ने 'वासरम्' पद स्वीकार किया है, जो हमें भी उचित प्रतीत हुआ है, क्योंकि ग्रन्थकार ने 'वासरम्' पद को निघण्टु १.९ में अहर्वाची पदों के अन्तर्गत पढ़ा है और इसकी यहाँ उचित संगति भी लगती है। जिन्होंने भी यहाँ 'वेसरम्' पद को स्वीकार किया है, उन्होंने भी उसका अर्थ 'अहः' ही किया है। इस कारण ग्रन्थकार की भावना के अनुसार 'वासरम्' पद ही उचित है, 'वेसरम्' नहीं।

अब हम ग्रन्थकार के वचनों पर विचार करते हैं और मन्त्र के भाष्य के विषय को आगे बढ़ाते हैं— पूर्वोक्त रात्रि रूप अन्धकार सब लोकों को प्रकाश के द्वारा आच्छादित करने वाले 'वासर' अर्थात् दिनों से पृथक् करता है अर्थात् जो सूर्यलोक सबको प्रकाश दे रहा था, उसका प्रकाश उन लोकों को प्राप्त होना बन्द हो जाता है, जिसके कारण वे रात्रिरूप अन्धकार से आच्छादित हो जाते हैं अथवा इसे उपमार्थ में ग्रहण करें, तो जैसे रात्रि में लोक अन्धकार से आच्छादित हो जाते हैं, वैसे ही इस परिस्थिति में भी लोक अन्धकार से आच्छादित हो जाते हैं। इसका एक और निगम प्रस्तुत किया गया है, जिसे प्रस्तुत करने से पूर्व हम इस मन्त्र का भावार्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

भावार्थ— जब किसी सूर्यलोक में स्थित केन्द्रीय भाग का ईन्धन समाप्त हो जाता है अर्थात् संलयनीय कणों का अभाव हो जाता है, तब वह सूर्यलोक अपने ही गुरुत्वाकर्षण बल के कारण तेजी से सिकुड़ने लगता है और अत्यन्त सघन लोक में परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी कोई निर्माणाधीन तारा पदार्थ की मात्रा की अधिकता के कारण भी इसी रूप को प्राप्त हो जाता है, उस समय उसके चारों ओर विद्यमान आकाश तत्त्व में भी खिंचाव उत्पन्न होता है और इस खिंचाव के कारण उस लोक से निकलने वाली सभी प्रकार की अधिकांश रश्मियाँ आकाश तत्त्व के साथ ही खिंचकर उसी सीमित क्षेत्र में गमन करने लगती हैं। इसके कारण उस सूर्यलोक के द्वारा पूर्व में प्रकाशित लोक अन्धकार में ढक जाते हैं और वह लोक स्वयं भी अप्रकाशित जैसा रूप प्राप्त कर लेता है। इस प्रक्रिया के अन्तराल में आकाश और दिशावाची रश्मियों के संकुचन एवं पुनर्व्यवस्थापन के कारण उस लोक की अपने अक्ष पर घूर्णन की प्रक्रिया और गति में भी कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है, ऐसा हमारा मत है। ध्यातव्य है कि यह प्रक्रिया प्रकाशित लोकों में ही होती है वा हो सकती है, अप्रकाशित लोकों में नहीं। इसीलिए इसे सूर्यलोक की महिमा व देवत्व बताया है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने निरुक्तकार के भाष्य से कुछ पृथक् रीति से भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (तत्) यत् प्रथममन्त्रोक्तं ब्रह्म (सूर्यस्य) सूर्यमण्डलस्य (देवत्वम्) देवस्य प्रकाशमयस्य भावः (तत्) (महित्वम्) (मध्या) मध्ये। अत्र सप्तम्येकवचनस्याकारः। (कर्त्तोः) कर्म (विततम्) व्याप्तम् (सम्) (जभार) हरति (यदा) (इत्) (अयुक्त) युनक्ति (हरितः) दिशः (सधस्थात्) समानस्थानात् (आत्) अनन्तरम् (रात्री) (वासः) वसनम् (तनुते) (सिमस्मै) सर्वस्मै लोकाय।

भावार्थः — हे सज्जना यद्यपि सूर्य आकर्षणेन पृथिव्यादिपदार्थान् धरति पृथिव्यादिभ्यो महानपि वर्त्तते विश्वं प्रकाश्य व्यवहारयति च तदप्ययं परमेश्वरस्योत्पादनधारणाकर्षणैर्विनो-त्पत्तुं स्थातुमाकर्षितुं च न शक्नोति नैतमीश्वरमन्तरेणेदृशानां लोकानां रचनं धारणं प्रलयं च कर्त्तुं कश्चित् समर्थो भवति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (यदा) जब (तत्) वह पहिले मन्त्र में कहा हुआ (सूर्य्यस्य) सूर्यमण्डल के (मध्या) बीच में (विततम्) व्याप्त ब्रह्म इस सूर्य्य के (देवत्वम्) प्रकाश (महित्वम्) बड़प्पन (कर्त्तोः) और काम का (संजभार) संहार करता अर्थात् प्रलय समय सूर्य्य के समस्त व्यवहार को हर लेता (आत्) और फिर जब सृष्टि को उत्पन्न करता है तब सूर्य्य को (अयुक्त) युक्त अर्थात् उत्पन्न करता और नियत कक्षा में स्थापन करता है। सूर्य्य (सधस्थात्) एक स्थान से (हरितः) दिशाओं को अपनी किरणों से व्याप्त हो कर (सिमस्मै) समस्त लोक के लिये (वासः) अपने निवास का (तनुते) विस्तार करता तथा जिस ब्रह्म के तत्त्व से (रात्री) रात्री होती है (तत्, इत्) उसी ब्रह्म की उपासना तुम लोग करो तथा उसी को जगत् का कर्त्ता जानो।

भावार्थ— हे सज्जनो! यद्यपि सूर्य्य आकर्षण से पृथिवी आदि पदार्थों का धारण करता है, पृथिवी आदि लोकों से बड़ा भी वर्त्तमान है। संसार का प्रकाश कर व्यवहार भी कराता है, तो भी यह सूर्य्य परमेश्वर के उत्पादन, धारण और आकर्षण आदि गुणों के बिना उत्पन्न होने, स्थिर रहने और पदार्थों का आकर्षण करने को समर्थ नहीं हो सकता। न इस ईश्वर के बिना ऐसे-ऐसे लोक-लोकान्तरों की रचना, धारणा और इनके प्रलय करने को कोई समर्थ होता है।''

अब हम अगले मन्त्र को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं-

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।
उत्संहायास्थाद् व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात्॥ (ऋ.२.३८.४)

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है अर्थात् इस छन्द की उत्पत्ति प्राण और अपान से होती है। इसका देवता सविता एवं छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यादि तेजस्वी लोक विशेष तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (धीरः) सूर्यादि तेजस्वी लोकों से उत्पन्न विभिन्न लोकों के धारक गुरुत्वादि बल (मध्या) आकाश तत्त्व, विशेषकर सूर्यलोक को आच्छादित करने वाले आकाश तत्त्व के मध्य में (वयन्ती, विततम्) नाना प्रकार के रश्मि जाल को बुनते हुए एवं सूर्यलोक के चारों ओर फैली हुई विभिन्न रश्मियों के जाल को (सम्, अव्यत्) 'समनात्सीत्' बाँध लेते हैं, जिससे वह रश्मि जाल संकुचित होने लगता है। (कर्तोः, शक्म) इस कारण वह रश्मि जाल अपने बल के द्वारा जो भी कर्म कर रहा होता है, जैसे सूर्यलोक से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं कुछ सूक्ष्म कणों का उत्सर्जन आदि कर्म, (नि, अधात्) निश्चित रूप से सूर्य का प्रबल हुआ गुरुत्व बल उन क्रियाओं को धारण कर लेता है अर्थात् उन्हें रोक देता है। (पुनः, संहाय) तदुपरान्त उस रश्मि जाल को अच्छी प्रकार समेटकर अर्थात् संकुचित करके (उत्, स्थात्) उत्कृष्टता से सूर्यलोक के ऊपर स्थित होता है अर्थात् गुरुत्व बल के कारण वह रश्मि जाल और उसके साथ स्थित प्रकाश आदि तरंगें सूर्य के चारों ओर स्थित हो जाती हैं अर्थात् उसी क्षेत्र में गमन करती रहती हैं और कुछ तरंगें ही अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो पाती हैं।

(अरमतिः, सविता, देव) वह सूर्यलोक विभिन्न उन लोकों, जिनको वह उत्पन्न व प्रेरित करता है अथवा जो उसी कॉस्मिक मेघ से उत्पन्न होते हैं, जिनसे सूर्यलोक उत्पन्न होता है, के सापेक्ष गमन नहीं करता है। वह भले ही किसी अन्य विशाल लोक के चारों ओर परिक्रमा करता है, अपने अक्ष पर भी घूर्णन करता है, परन्तु अपने परिवार के किसी भी लोक का परिक्रमण कभी नहीं करता है। यही कारण है कि यहाँ 'अरमतिः' विशेषण 'सविता' विशेष्य के साथ प्रयोग किया गया है। वह सूर्यलोक परिवर्तन से पूर्व सब लोकों का प्रकाशक भी होता है और उनका धारक भी होता है। इस स्वरूप को प्राप्त होने के पश्चात् भी वह उन लोकों का नियन्त्रक व धारक तो बना ही रहता है।

(ऋतून्, वि, अव्यदर्धः, आ, अगात्) [वसन्तादीन् भृशं विदारयति अत्र वर्णव्यत्ययेन दस्य स्थाने धः आगच्छति (म.द.ऋ.भा.)] वह सूर्यलोक सामान्य अवस्था में अपने ग्रहों पर वसन्त आदि ऋतुओं का पृथक्-२ व्यवहार करता हुआ अपने प्रकाश आदि तरंगों और गुरुत्वीय बल के द्वारा सभी लोकों को प्राप्त करता है। वही सूर्यलोक परिवर्तन के पश्चात् अपने अन्दर पूर्व से विद्यमान ऋतु रश्मियों की पूर्व क्रियाओं को छिन्न-भिन्न करते हुए अपने निकटस्थ पदार्थों को अपने प्रबल आकर्षण बल के द्वारा अपने अन्दर मिला लेता है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने भी सूर्यपरक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (पुनः) (सम्) (अव्यत्) व्याप्नोति। अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुक्। (विततम्) व्याप्तम् (वयन्ती) गच्छन्ती (मध्या) आकाशस्य मध्ये भवा (कर्त्तोः) कर्त्तव्यं गमनाद्यगन्तव्यं कर्म (नि) (अधात्) दधाति (शक्म) शक्यं कर्म (धीरः) धीमान् (उत्) (संहाय) सम्यक् त्यक्त्वा (अस्थात्) तिष्ठति (वि) (ऋतून्) वसन्तादीन् (अदर्धः) भृशं विदारयति। अत्र वर्णव्यत्ययेन दस्य स्थाने धः। (अरमतिः) न रमती रमणं विद्यते यस्य सः (सविता) सूर्यलोकः (देवः) प्रकाशमानः (आ) (अगात्) आगच्छति।

भावार्थः — हे मनुष्या इमे सर्वे लोका अन्तरिक्षस्था भ्रमणशीला ईश्वरेण नियमं प्रापिताः सन्ति तेषु सूर्यसन्निध्या भ्रमणेन च षडृतवो जायन्त इति वेद्यम्।

पदार्थ— जो (धीरः) धीर बुद्धिमान् (मध्या) आकाश के बीच (वयन्ती) चलती हुई पृथिवी (विततम्) जो पदार्थ अपने में व्याप्त उसको (सम्, अव्यत्) सम्यक् व्याप्त होती (कर्त्तोः) और करने योग्य जाने-आने के काम को तथा (शक्म) शक्ति के अनुकूल जो कर्म है उसको (नि, अधात्) निरन्तर धारण करती है (पुनः) फिर पूर्व देश को (संहाय) अच्छे प्रकार छोड़ उत्तर अर्थात् दूसरे देश को प्राप्त होती हुई (उत्, अस्थात्) स्थित होती उसको जानता है। जो (अरमतिः) बिना रमण विद्यमान है वह (सविता) सूर्य्यलोक (देवः) प्रकाशमान होता हुआ (ऋतून्) ऋतुओं को (व्यदर्धः) निरन्तर अलग करता तथा निकट के पदार्थों को (आ, अगात्) प्राप्त होता उसको जो जानता है, वह भूगोल और खगोल विद्या का जानने वाला होता है।

भावार्थ— हे मनुष्यो! ये सब लोक अन्तरिक्ष में ठहरे हुए भ्रमणशील ईश्वर ने नियम को

पहुँचाये हुए हैं, उनमें सूर्य के सन्निकट और भ्रमण से छः ऋतु होते हैं, यह जानना चाहिये।''

इन उपर्युक्त दोनों ही मन्त्रों में 'मध्या' पद आया है, जो मध्ये अर्थ में प्रयुक्त है।

* * * * *

द्वादशः खण्डः

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा॥ [ऋ.१.६.७]

इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे सङ्गच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन। मन्दू मदिष्णू। युवां स्थः। अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्। समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्॥ १२॥

यहाँ ग्रन्थकार ने तेरहवें पद 'मन्दू' के निगम को प्रस्तुत किया है। इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता मरुत् इन्द्र है तथा छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से मरुत् रश्मियाँ एवं इन्द्र तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अबिभ्युषा, इन्द्रेण, हि) 'इन्द्रेण हि अबिभ्युषा गणेन' किसी अन्य बल के द्वारा कम्पित वा विचलित न होने वाले इन्द्र तत्त्व के साथ ही (सञ्जग्मानः, सम्, दृक्षसे) 'सङ्गच्छमानः सन्दृश्यसे' समूह में गमन करती हुई मरुद्रश्मियाँ, जो परस्पर तथा इन्द्र तत्त्व के साथ संगतिपूर्वक गमन करती हैं, वे सुन्दर प्रकाश से युक्त होती हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्राणादि रश्मियों को सम्यक् रूप से आकृष्ट करके नाना प्रकार के कर्मों को सम्पादित करने में सक्षम होती हैं। (मन्दू, समानवर्चसा) 'मन्दू मदिष्णू युवां स्थः अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्' वे इन्द्र तत्त्व और मरुत् रश्मियाँ अति सक्रिय होकर अपने कार्यों में स्थित होती हैं अथवा मरुत् रश्मियों के किसी अति सक्रिय समूह के साथ इन्द्र तत्त्व अपने कार्यों में संलग्न रहता है।

इस बात का संकेत अन्य कुछ तत्त्वदर्शियों ने भी किया है— मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः (श.ब्रा.२.५.३.२०), ते (मरुतः) एनम् (इन्द्रम्) अध्यक्रीडन् (तै.ब्रा.१.६.७.५), इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो.उ.१.२३)। इन वचनों से भी इन्द्र तत्त्व के साथ क्रीडा करती हुई मरुत्-रश्मियों की ही भूमिका रेखांकित हो रही है। 'समानवर्चसा' पद की व्याख्या 'मन्दू' पद की भाँति समझनी चाहिए अर्थात् जैसे 'मन्दू' पद को प्रथमा का द्विवचन एवं तृतीया का एकवचन मानकर व्याख्या की गई है, वैसे ही 'समानवर्चसा' पद को प्रथमा का द्विवचन और तृतीया का एकवचन मानकर व्याख्या करनी चाहिए। इस कारण जब 'समानवर्चसा' पद को प्रथमा का द्विवचन मानें, तब अर्थ होगा— इन्द्र तत्त्व एवं मरुद्गण दोनों समान रूप से तेजस्वी और शक्तिशाली होते हैं। जब 'समानवर्चसा' पद को तृतीया का एकवचन मानें, तब यह इन्द्र तत्त्व का विशेषण होगा और जिसका अर्थ यह होगा कि वह इन्द्र तत्त्व मरुद्रश्मियों के समान वा अनुरूप शक्तिशाली एवं तेजस्वी होता है।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः॥ [ऋ.१.१६३.१०]
ईर्मान्ताः समीरितान्ताः। सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा।
सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा वा।
अपि वा शिर आदित्यो भवति। यदनुशेते सर्वाणि भूतानि।
मध्ये चैषां तिष्ठति। इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव।
समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
शूरः शवतेर्गतिकर्मणः। दिव्या दिविजाः। अत्या अतनाः।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते। हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्। श्रेणिश इति।

श्रेणिः श्रयतेः। समाश्रिता भवन्ति। यदाक्षिषुर्यदापन्। दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः। अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य। आदित्यादश्वो निरतष्ट इति।

सूरादश्वं वसवो निरतष्ट। [ऋ.१.१६३.२] इत्यपि निगमो भवति॥ १३॥

यहाँ इस काण्ड के चौदहवें पद 'ईर्मान्तासः' का निगम प्रस्तुत किया गया है। इसका ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अश्व-अग्नि है एवं छन्द भुरिक् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से आशुगामी अग्नितत्त्व की वारक शक्तियों का विस्तार होता है।

आधिदैविक भाष्य— (ईर्मान्तासः) 'ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा' [ईर्म = ईर्म इति बाहुनाम समीरिततरो भवति (निरु.५.२५), ईर गतौ कम्पने च (अदा.)। अन्तः = अन्तर् = अभ्यन्तरम् (निरु.१०.१९)] जो उपयुक्त रूप से कम्पन व गति वाले होते हैं अर्थात् जिनमें उचित मात्रा में गति व कम्पन की क्रिया हो रही होती है अथवा जिनमें कम्पन व गति की सुन्दर विद्यमानता होती है अथवा जो फैले हुए से गमन व कम्पन करते हैं। इसका अर्थ यह है कि आशुगामी अग्नि की तरंगें सुन्दर कम्पन करते हुए फैली हुई सी गमन करती हैं।

(सिलिकमध्यमासः) 'सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा वा अपि वा शिर आदित्यो भवति यदनुशेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चैषां तिष्ठति इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति' [सम्+सृ गतौ = फैलना, मिलकर जाना, घूमना, ऊपर फैलना आदि] वे तरंगें मध्य भाग में कुछ फैली हुई चक्रवत् घूमती हुई एक-दूसरे के साथ मिलकर गमन करती हैं। इसके साथ ही [शिरः = गायत्रं हि शिरः (श.ब्रा.८.६.२.६), शिरो वै प्राणानां योनिः (श.ब्रा.७.५.१.२२)] उन तरंगों के मध्य भाग में विभिन्न प्राण एवं गायत्री छन्द रश्मियों का निवास विशेष रूप से होता है। इसके साथ ही वे प्राण व गायत्री रश्मियाँ उस आग्नेय तरंग का उसी प्रकार केन्द्र होती हैं, जैसे किसी सौरमण्डल में आदित्य लोक केन्द्र के रूप में स्थित होता है। तरंगों का यही केन्द्रीय भाग सभी भागों में विद्यमान रश्मियों के साथ बँधा हुआ विद्यमान वा स्थित रहता है। यह भी उसी प्रकार होता है, जैसे सूर्य अन्य ग्रहादि लोकों के साथ स्थित होता है। जिस प्रकार सूर्यलोक सभी लोकों के

मध्य में स्थित होता है और वहाँ से सबको नियन्त्रित व बाँधे रखता है, उसी प्रकार तरंगों का केन्द्र भी समस्त तरंग तथा प्रकाशाणु (फोटोन) का रूप धारण करने पर सम्पूर्ण प्रकाशाणु को अपने साथ बाँधे रखता है।

यहाँ प्राणियों के सिर से भी तरंग के केन्द्रीय भाग रूपी सिर की तुलना ग्रन्थकार ने की है अर्थात् जिस प्रकार सिर में विद्यमान मन एवं इन्द्रियाँ सम्पूर्ण शरीर को प्रेरित और नियन्त्रित करती हैं, उसी प्रकार किसी तरंग वा उसके प्रकाशाणु रूप कण के केन्द्रीय भाग में विद्यमान प्राणादि रश्मियाँ सम्पूर्ण तरंग वा प्रकाशाणु को केन्द्रित करती हैं। (सम्, शूरणासः, दिव्यासः, अत्याः) 'सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः शूरः शवतेर्गतिकर्मणः दिव्या दिविजाः अत्या अतनाः' [शूः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)] वे तरंगें अच्छी प्रकार से अर्थात् उपयुक्त गति से निरन्तर गमन करती रहती हैं। वे तरंगें देव अर्थात् विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती हैं और वे प्राण और छन्द रश्मियाँ ही उन तरंगों के अवयव के रूप में सदैव विद्यमान रहती हैं।

(हंसा, इव, श्रेणिशः, यतन्ते) 'हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् श्रेणिश इति श्रेणिः श्रयतेः समाश्रिता भवन्ति' वे तरंगें आकाश मार्ग को प्राप्त वा व्याप्त करती हुई एक-दूसरे पर आश्रित होकर अर्थात् एक-दूसरे से जुड़कर गमन करती हैं। इसके साथ ही उनके सभी व्यवहार भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं, (यत्, आक्षिषुः, दिव्यम्, अज्मम्, अश्वाः) 'यदाक्षिषुर्यदापन् दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः' जिससे आशुगामी अग्नि की तरंगें आकाश में अथवा विभिन्न प्राण व छन्द आदि रश्मियों के मिश्रण रूप वायु तत्त्व में विद्यमान मार्गों को व्याप्त करती हुई गमन करती हैं अर्थात् ये तरंगें परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित होने के कारण ही मार्ग को ऐसे व्याप्त करती हैं, जैसे ऊर्जा का एक सतत प्रवाह हो रहा हो।

इस मन्त्र का भाष्य ऋषि दयानन्द ने दूसरी प्रकार से किया है। हम पाठकों के लाभ के लिए उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (ईर्मान्तासः) कम्पनान्ताः (सिलिकमध्यमासः) सिलिकानां मध्ये भवाः (सम्) (शूरणासः) हिंसका कलायन्त्रताडनेन प्रकाशमानाः (दिव्यासः) दिव्यगुणकर्म-स्वभावाः (अत्याः) अतितुं शीलाः (हंसा इव) हंसपक्षिवत् (श्रेणिशः) पङ्क्तिवद्वर्त्तमानाः (यतन्ते) यातयन्ति। अन्तर्भावितण्यर्थः। (यत्) ये (आक्षिषुः) व्याप्नुवन्ति (दिव्यम्) दिवि भवम् (अज्मम्) गमनाधिकरणं मार्गम् (अश्वाः) आशुगन्तारः।

भावार्थः — ये शिलिकादि यन्त्रैस्संघर्षितेभ्यः पदार्थेभ्यो विद्युदादीनुत्पाद्य यानादिषु संप्रयोज्य कार्यसिद्धिं कुर्वन्ति ते मनुष्या महतीं श्रियं लभन्ते।

पदार्थ— हे विद्वानो! (तत्) जो (सिलिकमध्यमासः) स्थान में प्रसिद्ध हुए (ईर्मान्तासः) कम्पन जिनका अन्त (शूरणासः) हिंसक अर्थात् कलायन्त्र को प्रबलता से ताड़ना देते हुए प्रकाशमान (दिव्यासः) दिव्यगुण, कर्म, स्वभाव वाले (अत्याः) निरन्तर जाने वाले (अश्वाः) शीघ्र जाने वाले अग्न्यादि रूप घोड़े (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः) पङ्क्ति सी किये हुए वर्त्तमान (सम्, यतन्ते) अच्छा प्रयत्न कराते हैं और (दिव्यम्) अन्तरिक्ष में हुए (अज्मम्) मार्ग को (आक्षिषुः) व्याप्त होते हैं, उन वायु, अग्नि और जलादिकों को कार्यों में अच्छे प्रकार लगाओ।

भावार्थ— जो शिलिकादि यन्त्रों से अर्थात् जिनमें कोठे-दरकोठे कलाओं के होते हैं, उन यन्त्रों से बिजुली आदि उत्पन्न कर और विमान आदि यानों में उनका संप्रयोग कर कार्यसिद्धि को करते हैं, वे मनुष्य बड़ी भारी लक्ष्मी को पाते हैं।''

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य आदित्यादश्वो निरतष्ट इति'। इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य के अश्वों अर्थात् किरणों की स्तुति की गई है अर्थात् उनके स्वरूप के विज्ञान को उद्घाटित किया गया है। सूर्य की किरणों के स्वरूप के उद्घाटन से ही सूर्य की स्तुति समझनी चाहिए, क्योंकि सूर्य की किरणें सूर्य से ही उसके अवयवों की भाँति उससे उत्सर्जित होती रहती हैं अर्थात् वे सूर्य रूप ही होती हैं। इसलिए इसके उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने एक निगम उद्धृत किया है, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ [ऋ.१.१६३.२]

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् दीर्घतमा ही है और देवता भी पूर्ववत् ही अश्व-अग्नि है तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य की किरणें तीक्ष्ण बल व तेज से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (वसवः) [वसवः = वसुरन्तरिक्षसत् (श.ब्रा.५.४.३.२२), गायत्री वसूनां पत्नी (गो.उ.२.९)] आकाश तत्त्व में विद्यमान गायत्री छन्द एवं प्राणादि रश्मियाँ

(यमेन, दत्तम्) सबके नियामक वायु तत्त्व के द्वारा दिए गए अर्थात् उत्पन्न हुए (एनम्) इस अग्नि तत्त्व की तरंगों को (आयुनक्) सब ओर से विभिन्न क्रियाओं में नियुक्त करती हैं अर्थात् वायु तत्त्व के द्वारा ही अग्नि तरंगों की सभी क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। (त्रितः, इन्द्रः) विभिन्न क्रियाओं का तारक इन्द्र तत्त्व (एनम्, प्रथमः, अध्यतिष्ठत्) इस अग्नि तत्त्व को विस्तृत और प्रमुख रूप से अधिष्ठातृत्व प्रदान करता है अर्थात् इन्द्र तत्त्व ही अग्नि तत्त्व का अधिष्ठाता होता है और इसके कारण ही अग्नि तत्त्व भी सृष्टि के पदार्थों का अधिष्ठाता होता है।

(गन्धर्वः) विभिन्न वाक् रश्मियों, किरणों वा विभिन्न लोकों को धारण करने वाला वायु तत्त्व (अस्य, रशनाम्) [रशनाः = अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), ऊर्ग्वै रशना (तै.सं. ६.३.४.५)] इन अग्नि की तरंगों की ऊर्जा वा बल को (सूरात्) [सूर्यात् (म.द.ऋ.भा.)] सूर्यलोक से (अश्वम्) आशुगामी अग्नि की तरंगों के रूप में (अगृभ्णात्) ग्रहण वा आकर्षित करके (निरतष्ट) उसे खण्ड-२ में सूर्यलोक से पृथक् करके सुदूर अन्तरिक्ष में भेजता रहता है। अग्नि की वे ही तरंगें सूर्यलोक से पृथक् वा उत्सर्जित होकर सभी लोकों को प्रकाशित करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (यमेन) नियामकेन (दत्तम्) (त्रितः) संप्लावकः। अत्रौणादिकस्तॄधातोः कितच् प्रत्ययः। (एनम्) पूर्वोक्तमुपस्तुत्यम् (आयुनक्) शिल्पकार्ये नियुञ्जीत (इन्द्रः) विद्युत् (एनम्) अत्र वा छन्दसीत्यप्राप्तं णत्वम्। (प्रथमः) प्रख्यातिमान् (अधि) (अतिष्ठत्) तिष्ठेत् (गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं धरति स वायुः (अस्य) (रशनाम्) स्नेहिकां क्रियाम् (अगृभ्णात्) गृह्णीयात् (सूरात्) सूर्यात् (अश्वम्) आशु गमयितारम् (वसवः) चतुर्विंशतिवार्षिकब्रह्मचर्येण कृतविद्याः (निः) (अतष्ट) तक्षेरन्।

भावार्थः — ये मनुष्या विद्वदुपदेशप्राप्तां तां विद्यां गृहीत्वा विद्युज्जनितकारणाद्विस्तृतं वायुना धृतं सूर्योद्धावितमाशुगामिनमग्निं प्रयोजयन्ति ते दारिद्र्यच्छेत्तारो जायन्ते।

पदार्थ— हे (वसवः) चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त हुए सज्जनो! तुम जिस (यमेन) नियमकर्त्ता वायु से (दत्तम्) दिये हुए (एनम्) इस पूर्वोक्त प्रशंसित अग्नि

को (त्रित:) अनेक पदार्थ वा अनेक व्यवहारों को तरने वाला (इन्द्र:) बिजुलीरूप अग्नि (आयुनक्) शिल्प कामों में नियुक्त करे (प्रथम:) वा प्रख्यातिमान् पुरुष (एनम्) इस उक्त प्रशंसित अग्नि का (अध्यतिष्ठत्) अधिष्ठाता हो वा (गन्धर्व:) पृथिवी को धारण करने वाला वायु (अस्य) इसकी (रशनाम्) स्नेह क्रिया को और (सूरात्) सूर्य से (अश्वम्) शीघ्रगमन कराने वाले अग्नि को (अगृभ्णात्) ग्रहण करे उसको (निरतष्ट) निरन्तर काम में लाओ।

भावार्थ— जो मनुष्य विद्वानों के उपदेश से पाई हुई विद्या को ग्रहण कर बिजुली से उत्पन्न हुए कारण से फैले वायु से धारण किये सूर्य से प्रकट हुए शीघ्रगामी अग्नि को प्रयोजन में लाते हैं, वे दरिद्रपन के नाश करने वाले होते हैं।''

* * * * *

= चतुर्दश: खण्ड: =

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नप:।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभव: ॥ [ऋ.३.९.२]
कायमानश्चायमान:। कामयमान इति वा। वनानि।
त्वं यन्मातॄरपोऽगम उपशाम्यन्। न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्त्तनम्।
दूरे यत्सन्निह भवसि जायमान:।
लोधं नयन्ति पशु मन्यमाना: ॥ [ऋ.३.५३.२३]
लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमाना:।
शीरं पावकशोचिषम् ॥ [ऋ.३.९.८]
पावकदीप्तिम्। अनुशायिनमिति वा। आशिनमिति वा ॥ १४ ॥

अब ग्रन्थकार इस काण्ड के पन्द्रहवें अनवगत संस्कार पद 'कायमान:' का निगम प्रस्तुत करते हैं—

कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः॥ (ऋ.३.९.२)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति 'ओम्' छन्द रश्मि अथवा विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृत् बृहती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व संघनित होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (कायमानः) 'कायमानश्चायमानः कामयमान इति वा' सभी पदार्थों को देखता अर्थात् आकर्षित करता व चमकता हुआ (वना, त्वम्) 'वनानि त्वम्' [वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५), उदकनाम (निघं.१.१२)] वह अग्नि आकाश में स्थित विभिन्न तरंगों एवं आपः परमाणुओं अर्थात् जल तत्त्व को (यत्, मातृः, अजगन्, अपः) 'यन्मातृपोऽगम उपशाम्यन्' जो अपने मातृरूप प्राण रश्मियों में व्याप्त होकर नियन्त्रित करता है। इसका अर्थ यह है कि प्राणादि रश्मियों से उत्पन्न विद्युत् अग्नि उन्हीं रश्मियों से व्याप्त होकर आपः परमाणुओं की सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करता है।

(न, तत्, ते, अग्ने, प्रमृषे, निवर्तनम्) 'न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते' वह अग्नि अति तीक्ष्ण बलयुक्त होने के कारण किसी भी प्रकार के अनिष्ट बल द्वारा दबाया नहीं जा सकता अर्थात् अग्नि की तरंगें अन्तरिक्ष में असुरादि बाधक पदार्थों के द्वारा बाधित नहीं हो सकतीं। वे अग्नि-तरंगें विनाशक पदार्थों द्वारा विनष्ट भी नहीं होतीं अर्थात् उनको नष्ट भी नहीं किया जा सकता। (यत्, दूरे, सन्, इह, अभवः) 'निवर्त्तनम् दूरे यत्सन्निह भवसि जायमानः' वे अग्नि की तरंगें दूर रहकर भी अर्थात् अदृश्य होकर भी यहीं प्रकट हो जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब इन तरंगों को कोई जल आदि पदार्थ अवशोषित कर लेता है, तब अग्नि अदृश्य अवश्य हो जाता है, परन्तु वह उस पदार्थ से कभी पुनः प्रकट भी हो सकता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (कायमानः) अध्यापयन्नुपदिशन् वा (वना) वनानि याचनीयानि (त्वम्) (यत्) यतः (मातृः) मातर इव पालिकाः (अजगन्) प्राप्नुयाः (अपः) प्राणान् (न) (तत्) तस्मात् (ते) तव (अग्ने) शुभगुणैः प्रकाशमान (प्रमृषे) सुखैः संयोजयेः

(निवर्त्तनम्) अन्यायाचर-णात्पृथग्भवनम् (यत्) यस्मात् (दूरे) (सन्) (इह) (अभवः) भवेः।

भावार्थः — यथा तृषातुरो जलं प्राप्य तृप्यति तथैवाप्तमध्यापकमुपदेशकं वा लब्ध्वा विद्याभिलाषी सर्वतः सुखी भवति।

पदार्थ— हे (अग्ने) शुभगुणों से प्रकाशमान सज्जन! (कायमानः) पढ़ाते वा उपदेश करते (सन्) हुए (त्वम्) आप (यत्) जिस से (मातृः) माताओं के तुल्य रक्षक वा प्रिय (अपः) प्राणों को (अजगन्) प्राप्त होवें और (यत्) जिस से (निवर्त्तनम्) अन्यायाचरण से पृथक् होने को (दूरे) दूर फेंकिये और मङ्गल के अर्थ (इह) यहाँ (अभवः) हूजिये (तत्) इस से (ते) आप से मैं (वना) माँगने योग्य पदार्थों को (प्रमृषे) सुखों से संयुक्त करूँ और मुझ से आप दूर न हूजिये।

भावार्थ— जैसे प्यासा जन जल को पा के तृप्त होता वैसे ही आप्त अध्यापक और उपदेशक को विद्यार्थी जन प्राप्त होके सब ओर से सुखी होता है।''

तदनन्तर इस काण्ड के १६वें पद 'लोधम्' का निगम प्रस्तुत करते हैं, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति॥ (ऋ.३.५३.२३)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझें। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्र तेज एवं बलों से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (जनासः, सायकस्य, चिकिते) [जनासः = योद्धारः (म.द.ऋ.भा. २.१२.९)। सायकम् = वज्रनाम (निघं.२.२०)] इस सृष्टि में असुरादि बाधक पदार्थों से संघर्षरत विभिन्न देव पदार्थ वज्र रश्मियों को जानने अर्थात् प्राप्त करने के लिए (न, लोधम्, नयन्ति, पशु, मन्यमानाः) 'लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः' आकाश में स्थित विभिन्न ऋषि रश्मियों, विशेषकर इस छन्द रश्मि की कारणभूत अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को प्राप्त करते हैं, जो इधर-उधर भ्रान्त हुई स्पन्दित होती रहती हैं। इन रश्मियों के कारण ही वे देव पदार्थ वज्र रश्मियों को प्राप्त कर पाते हैं। वे देव पदार्थ इन ऋषि रश्मियों को पशु

अर्थात् छन्द रश्मियों के रूप में प्राप्त नहीं करते हैं। इसका आशय यह है कि वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन देव पदार्थों का आच्छादन व प्रकाशन करने वाली नहीं होती हैं, बल्कि उनकी भूमिका मात्र यह होती है कि वे वज्र रश्मियों को आकृष्ट करके देव पदार्थों के साथ संगत करें। इसी बात को यहाँ उन्हें पशु न मानते हुए प्राप्त करना कहा गया है।

(न, अवाजिनम्, वाजिना, हासयन्ति) [हासयन्ति हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा (निरु.९.३९)। वाजी = वाजिनम् = अन्नवन्तम् (निरु.१०.२८), अश्वनाम (निघं.१.१४), वाजी वेजनवान् (निरु.२.२८), छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.१.२०)] वे देव पदार्थ संयोज्य छन्द रश्मियों के द्वारा असंयोज्य एवं शिथिल छन्द आदि पदार्थों के साथ स्पर्धा अथवा क्रियाशीलता नहीं दर्शाते हैं अर्थात् सक्रिय पदार्थ ही सक्रिय पदार्थों के साथ क्रियाएँ करते हैं, निष्क्रिय के साथ नहीं।

(न, गर्दभम्, पुरः, अश्वान्, नयन्ति) [गर्दभः = भस्मन एव गर्दभोऽसृज्यत, तस्मात्स भस्मनः प्रतिरूपम् (जै.ब्रा.३.२६४), गर्दयति शब्दं करोतीति गर्दभः (उ.को.३.१२२)। भस्म = प्रदीपकं तेजः (म.द.य.भा.१२.३५)। अश्वः = वज्रो वाऽअश्वः (श.ब्रा.४.३.४.२७)] वे देव पदार्थ अर्थात् संयोज्य पदार्थ विशेष आशुगामी एवं बलवती वज्र रश्मियों को ग्रहण करने से पूर्व तेजस्वी पदार्थों से उत्पन्न एवं ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करने वाले पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं। गर्दभ नामक पदार्थ के विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है— पापीयान् ह्यश्वाद् गर्दभः (तै.सं.५.१.२.२-३), अश्वाद् गर्दभोऽसत्तरः (तै.सं. ५.१.२.१)। इन वचनों से संकेत मिलता है कि गर्दभ उन कणों का नाम है, जो अश्वनामक विशेष आशुगामी तरंगों वा कणों की अपेक्षा अल्पायु होते हैं तथा पाप्मा संज्ञक पदार्थों के अधिक सम्पर्क में रहने से बार-२ अपनी गति व स्थिति से पतित होते रहते हैं। इस कारण कोई देव पदार्थ ऐसे गर्दभ संज्ञक कणों से संयोग करना चाहे, तो वह पहले वज्र रूप अश्व रश्मियों से संयोग करने के उपरान्त ही करता है, जिससे वे गर्दभ संज्ञक कणों को पतनकारी पाप्मा रूपी असुर तत्त्व के प्रभाव से हटाकर अपने साथ संयुक्त कर सकें।

भावार्थ— इस सृष्टि में देव व असुर पदार्थों का संघर्ष चलता रहता है। जब कोई संयोजक पदार्थ किसी संयोज्य पदार्थ से संयुक्त होने का प्रयास करता है, उस समय बाधक असुरादि पदार्थों से देव (संयोजक व संयोज्य) पदार्थ का संघर्ष होता है। इसके लिए देव पदार्थ आकाशस्थ वज्र रश्मियों को अपने साथ संगत करने का प्रयास करता है

और इसके लिए वह अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को खोजता है। वह देव पदार्थ उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को अपना आच्छादन नहीं बनाता है, बल्कि वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ केवल वज्र रश्मियों को उस देव पदार्थ के साथ संगत मात्र करने में सहयोग करती हैं। इस सृष्टि में सक्रिय व बलशाली पदार्थ ही सक्रिय व बलशाली कणों से संयोग करते हैं, निष्क्रिय व बलहीन से नहीं। किसी भी संयोग के पूर्व वज्र रश्मियों के साथ संगति अनिवार्य होती है, जिससे बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित किया जा सके।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (न) निषेधे (सायकस्य) शस्त्रसमूहस्य (चिकिते) जानातु (जनासः) वीराः (लोधम्) लोब्धारम्। अत्र वर्णव्यत्ययेन भस्य धः। (नयन्ति) प्राप्नुवन्ति (पशु) पशुमिव। अत्र सुपां सुलुगिति विभक्तेर्लुक्। (मन्यमानाः) विजानन्तः (न) निषेधे (अवाजिनम्) अविद्यमाना वाजिनो यत्र संग्रामे तम् (वाजिना) अश्वेन (हासयन्ति) (न) (गर्दभम्) लम्बकरणं खरम् (पुरः) (अश्वात्) (नयन्ति)।

भावार्थः — त एव राज्ञो वीरा वराः स्युर्ये युद्धविद्यां विज्ञाय सेनाङ्गानि यथावद्रक्षितुं संस्थापयितुं योधयितुं जानन्ति।

पदार्थ— हे राजन्! जो वे (जनासः) वीरपुरुष (लोधम्) प्राप्त होने वाले को (न) नहीं (नयन्ति) प्राप्त होते हैं (पशु) पशु के सदृश (मन्यमानाः) जानते हुए (वाजिना) घोड़े से (अवाजिनम्) घोड़े जिसमें नहीं ऐसे संग्राम को (न) नहीं (हासयन्ति) हराते हैं और (अश्वात्) घोड़े से (पुरः) प्रथम (गर्दभम्) लम्बे कान वाले गदहे को (न) नहीं (नयन्ति) प्राप्त कराते हैं उनको (सायकस्य) शस्त्र समूह के दान से युक्त करने को आप (चिकिते) जानिये।

भावार्थ— वे ही राजा के वीर श्रेष्ठ होवें कि जो युद्धविद्या को जान के सेनाओं के अङ्गों की यथावत् रक्षा स्थिर करने और युद्ध कराने को जानते हैं।''

अन्त में ग्रन्थकार ने सत्रहवें पद 'शीरम्' का निगम प्रस्तुत किया है, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम्।

आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत॥ (ऋ.३.९.८)

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त विश्वामित्र है एवं देवता अग्नि और छन्द विराट् बृहती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व प्रकाशमान होता हुआ पदार्थ के संघनन की प्रक्रियाओं को तीव्र करता है।

आधिदैविक भाष्य— (स्वध्वरम्) अच्छी प्रकार संयोजक वा संयोज्य विद्युत् अग्नि, जिसकी क्रियाएँ अहिंसनीय होती हैं, (शीरम्) 'अनुशायिनमिति वा आशिनमिति वा' सब पदार्थों में व्याप्त एवं अनुगत होता है। यहाँ अनुगत का तात्पर्य यह है कि विद्युदावेशित कणों के गमन करते समय उनके साथ विद्युत् क्षेत्र भी उत्पन्न होता हुआ गमन करता है और विद्युत् उन कणों के मध्य भी निवास करती है। (पावकशोचिषम्) 'पावकदीप्तिम्' वह विद्युत् शुद्ध प्रकाश से युक्त होती है। 'पावक' के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— यद्वै शिवं शान्तं तत्पावकम् (श.ब्रा.९.१.२.३०), अन्नं वै पावकम् (श.ब्रा. २.२.१.७)। इन वचनों से यह संकेत मिलता है कि यह विद्युत् अग्नि नियन्त्रित एवं सम्यक्तया संयोजक क्रियाओं से युक्त होती है।

(आशुम्) अति तीव्रगामी और शीघ्रकारी (दूतम्) [दूतः = दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा (निरु.५.१)] वह विद्युत् फिसलती हुई एवं अपने अवरोधकों को दूर करती हुई, इसके साथ ही अन्य विद्युत् युक्त पदार्थों को रोकती वा आकृष्ट करती हुई अति वेग से गमन करती है। यह विद्युत् सूक्ष्म पदार्थों को दूर-दूर ढोकर ले जाती है। (अजिरम्) यह विद्युत् प्रक्षेपण गुणयुक्त भी होती है। (प्रत्नम्) [प्रत्नम् = प्रत्नः पुराणः (निरु.१२.३२)] यह विद्युत् सृष्टि के आरम्भिक काल में उत्पन्न हो जाती है, जिसका सृष्टि काल में नाश नहीं होता है। (ईड्यम्) यह विद्युत् विभिन्न पदार्थों द्वारा आकर्षित होने के स्वभाव वाली होती है। (आ, जुहोत) ऐसी विद्युत् और उससे युक्त सूक्ष्म पदार्थ जब इस सृष्टि में सब ओर उत्पन्न और संगत होने लगते हैं, उस समय (देवम्) विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् दृश्य पदार्थों की ओर (श्रुष्टी, सपर्यत) [सपर्यति = परिचरणकर्मा (निघं.३.५)] विद्युत् रश्मियाँ सब ओर से गमन करने लगती हैं, जिससे सभी देव पदार्थ परस्पर संगत और संघनित होने लगते हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (आ) समन्तात् (जुहोत) गृह्णीत। अत्र संहितायामिति दीर्घः। (स्वध्वरम्) सुष्ठ्वहिंसनीयम् (शीरम्) विद्युद्रूपेण सर्वत्र शयानम् (पावकशोचिषम्) पवित्रकरदीप्तिम् (आशुम्) सद्योगामिनम् (दूतम्) दूतवद्देशान्तरे समाचारप्रापकम् (अजिरम्) गन्तारं प्रक्षेप्तारम् (प्रत्नम्) प्राक्तनम् (ईड्यम्) अध्यन्वेषणीयम् (श्रुष्टी) सद्यः (देवम्) दिव्यगुणकर्मस्वभावं सर्वानन्दप्रदम् (सपर्य्यत) परिचरत।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यो विद्युद्वद् व्यापकः स्वप्रकाशोऽवि-द्यादिदोषहन्ता सनातनोऽनादिः प्रशंसनीयः परमात्माऽस्ति तमेव ध्यायत।

पदार्थ— हे विद्वानो! तुम लोग जैसे (स्वध्वरम्) हिंसा न करने योग्य (शीरम्) विद्युत् रूप से सब जगह भरे हुए (पावकशोचिषम्) शुद्ध प्रकाश वाले (आशुम्) शीघ्रगामी (दूतम्) दूत के तुल्य देशान्तर में समाचार पहुँचाने वाले (अजिरम्) फेंकने हारे (प्रत्नम्) प्राचीन (ईड्यम्) खोजने योग्य विद्युत् रूप अग्नि का (आ, जुहोत) अच्छे प्रकार ग्रहण करो, वैसे ही स्वयं प्रकाशरूप सर्वत्र व्यापक (देवम्) उत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त सब आनन्द देने वाले परमात्मा की (श्रुष्टी) शीघ्र (सपर्यत) सेवा करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जो बिजुली के तुल्य व्यापक, स्वयं प्रकाशरूप, अविद्यादि दोषों का नाश करने वाला, सनातन, अनादि काल से प्रशंसा करने योग्य परमात्मा है, उसी का नित्य ध्यान करो।''

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।
बभ्रू यामेषु शोभेते॥ [ऋ.४.३२.२३]
कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्वेयं नेतव्येति वा।
कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः।
कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः।

विद्धयोर्दारु पाद्वोः। दारु दृणातेर्वा। द्रूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते। अर्भके। अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते। बभ्र्वोरश्वयोः संस्तवः। इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसङ्ख्यायाह।
सुवास्त्वा अधि तुग्वनि॥ [ऋ.८.१९.३७]
सुवास्तुर्नदी। तुग्व तीर्थं भवति। तूर्णमेतदायन्ति।

यहाँ ग्रन्थकार ने इस नैगम काण्ड के अठारहवें एवं उन्नीसवें पद 'विद्रधे' एवं 'द्रुपदे' का निगम प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते। [ऋ.४.३२.२३]

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण रश्मियों में श्रेष्ठ प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्र-अश्व एवं छन्द गायत्री है। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र के अश्व अर्थात् दोनों प्रकार की विद्युत् तेजस्विनी और बलवती होती है।

आधिदैविक भाष्य - (कनीनका, इव) 'कनीनके कन्यके कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः' मैत्रायणी संहिता ४.६.३ में कहा गया है— 'तस्य (प्रजापतेः) या कनीनिका परापतत् स यवोऽभवत्'। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— वरुण्यो यवः (श.ब्रा.४.२.१.११) और काठक संहिता १२.४ में लिखा— 'शुक्ला इव यवाश्शुक्लमिवान्तरिक्षम्'। इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कनीनका सृष्टि में एक ऐसे पदार्थ का नाम है, जो प्राण, अपान एवं उदान रश्मियों से समृद्ध होने के कारण सदैव संयोज्यता का गुण दर्शाता है और यह पदार्थ दो प्रकार का होने से यहाँ द्विवचनान्त पद का प्रयोग है। ग्रन्थकार कनीनका को कन्यका वा कन्या भी कह रहे हैं और यह पदार्थ कमनीयता अर्थात् आकर्षण बल और दीप्ति से युक्त होने के कारण ही कन्या कहलाता है। ये तरंगें किसी कण से उत्सर्जित होने के पश्चात् किस दिशा में जायेंगी, इसको सम्यक् रूप से नहीं जाना जा सकता अर्थात् ये अनिश्चित दिशाओं में गमन करने वाली होती हैं।

यह पद 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार प्राण एवं

मरुत् प्रधान अर्थात् अग्नि एवं सोम प्रधान किंवा विद्युत् धनावेशित एवं ऋणावेशित कणों से उत्सर्जित होने वाली तरंगों को ही कनीनका अथवा कन्या कहा गया है। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ एक-दूसरे से आकर्षित होकर चमकते हुए एक-दूसरे की ओर गमन करते हैं।

(विद्रधे, नवे, द्रुपदे, अर्भके) 'कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः विद्धयोर्दारु पाद्वोः दारु दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा तस्मादेव द्रु नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे' प्राचीन आचार्य महर्षि शाकपूणि के अनुसार ये चारों पद उपर्युक्त कनीनका अर्थात् कन्या संज्ञक रश्मियों वा तरंगों के अधिष्ठानवाची हैं, जो यहाँ सप्तमी विभक्ति एकवचन में प्रयुक्त हैं। यहाँ 'विद्रधे', 'नवे', 'द्रुपदे' एवं 'अर्भके' चारों सप्तमी एकवचनान्त पद दोनों प्रकार की रश्मियों के अधिष्ठान के वाचक हैं, जो उन अधिष्ठान संज्ञक रश्मियों के स्वरूप का बोध कराते हैं, जो इस प्रकार है—

यहाँ 'विद्रधे' पद 'व्यध ताडने' धातु से निष्पन्न होता है। इससे बोध होता है कि सौम्य व आग्नेय कणों से निकलने वाली क्रमशः मरुद् एवं प्राण प्रधान रश्मियाँ ऐसी सूक्ष्म रश्मियों के ऊपर गमन करती हैं, जो इन्द्र के अश्वों को ताड़ती अर्थात् उन्हें प्रेरित करने में सक्षम होती हैं तथा दूसरी विशेषता यह है कि वे अधिष्ठान रूपी रश्मियाँ सद्य उत्पन्न वा प्रकट होती हैं। इसी कारण यहाँ सप्तम्यन्त 'नवे' पद प्रयुक्त है। अगली विशेषता है— उस आधार रश्मि समूह का द्रुपद होना। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक बाधक रश्मियों को खण्ड-२ करने में सक्षम होती हैं। अन्तिम विशेषता है— अर्भक होना अर्थात् वे रश्मियाँ बहुत सूक्ष्म होती हैं।

हमारी दृष्टि में ये चारों विशेषताएँ 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' नामक व्याहृति रश्मियों में ही होती हैं, इस कारण ये ही कनीनका वा कन्या संज्ञक रश्मियों (इन्द्र के अश्वों) की अधिष्ठान रूप हैं। ध्यातव्य है कि इस प्रक्रिया में कुछ गायत्री छन्द रश्मियाँ भी अपनी भूमिका निभाती हैं, इस कारण इन्द्र के अश्वों के अधिष्ठान के रूप में व्याहृति रश्मियों के स्थान पर उन गायत्री रश्मियों का भी ग्रहण कर सकते हैं। इन अधिष्ठान रूपी रश्मियों के ऊपर इन्द्र की अश्वरूपी कनीनका संज्ञक रश्मियाँ जिस प्रकार शोभित होती हैं अर्थात् जैसे प्रकाशित होती हैं अथवा जब प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार अथवा तभी (बभ्रूः, यामेषु, शोभेते) 'ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते' [बभ्रूः= बभ्रुः

= बभ्रुः सौम्यः (मै.सं.४.७.८, काठ.सं.८.१), ये (पशवः) ऽभितप्तादसृज्यन्त ते बभ्रवः (जै.ब्रा.३.२६३)] सन्तप्त सौम्य कण अर्थात् ऋणावेशित कण अपने मार्ग पर प्रकाशित होने लगते हैं। इस प्रकार वे कनीनका संज्ञक रश्मियाँ एवं कण दोनों ही प्रकाशित हो उठते हैं।

भावार्थ— जब विपरीत विद्युत् आवेशयुक्त दो कण परस्पर निकट आते हैं, उस समय धनावेशित कणों से प्राण रश्मियों की प्रधानता वाली तथा ऋणावेशित कणों से मरुत् रश्मियों की प्रधानता वाली धाराएँ एक-दूसरे की ओर गमन करने लगती हैं। वे दोनों प्रकार की धाराएँ व्याहृति रूप 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' रश्मियों और एक विशेष गायत्री रश्मि के ऊपर अधिष्ठित होकर गमन करती हैं। इसके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है। इनके कारण दोनों प्रकार की धाराओं का मार्ग निरापद हो जाता है। ये दोनों धाराएँ अपने मार्ग पर जैसे ही एवं जिस प्रकार गमन करने लगती हैं, वैसे ही तथा उसी प्रकार ऋणावेशित कण भी धनावेशित कण की ओर गमन करने लगता है। यह मन्त्र इस कण की गति और प्राण व मरुत् रश्मियों की धाराओं की गति में समानता भी दर्शाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ ऋणावेशित कण में ही गति होती है, धनावेशित सर्वथा गतिहीन तो नहीं, परन्तु ऋणावेशित कण के सापेक्ष न्यून गति वाला होता है अर्थात् उसमें हलचल अपेक्षाकृत कम होती है।

इस प्रकार इस मन्त्र में 'बभ्रू' एवं इन्द्र के अश्वों की स्तुति है अर्थात् इनका विज्ञान है।

तदुपरान्त इस काण्ड के बीसवें पद 'तुग्वनि' का निगम प्रस्तुत करते हुए कहा— 'इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसङ्ख्यायाह' अर्थात् 'इदं च मे अदात्' इस याजुषी गायत्री छन्द रश्मि के युग्मों को उत्पन्न करते हुए 'तुग्वनि' के निगम की ऋषि रश्मियाँ उस निगम को उत्पन्न करती हैं। यहाँ इससे पूर्व इस याजुषी रश्मि की उत्पत्ति अनिवार्य है, इसके कारण यजन प्रक्रिया समृद्ध होती है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।
तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः॥ [ऋ.८.१९.३७]

इस मन्त्र का ऋषि सोभरि काण्व है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की

उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विशेष धारक गुण वाली प्राण रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता त्रसदस्यु तथा छन्द विराट् पंक्ति है अर्थात् इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से बाधक तत्त्वों को नष्ट वा नियन्त्रित करने की प्रक्रिया विस्तृत होती है।

आधिदैविक भाष्य — (सप्ततीनाम्) [सप्ततीनाम् = 'सर्पन्तीनाम्' -आचार्य विश्वेश्वर] सदैव गतिशील रहने वाले (तिसृणाम्) आदित्यलोक, भूलोक एवं आकाश इन तीनों लोकों तथा (दियानाम्) [दियानाम् = दाताओं का आर्य्यमुनि भाष्य] इन लोकों को उत्पन्न करने वाली नाना तरंगों वा रश्मियों की (पतिः, श्यावः) रक्षिका सर्वतोव्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ (उत, मे) मेरी अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ऋषि रश्मियों की (सुवास्त्वाः) 'सुवास्तुर्नदी' [नदी = नद्यः कस्मात् नदना इमा भवन्ति शब्द-वत्यः (निरु. २.२४)] इन ऋषि रश्मियों से उत्पन्न अन्य छन्द रश्मियों की धाराओं के (अधि, तुग्वनि) 'तुग्व तीर्थं भवति तूर्णमेतदायन्ति' किनारों, जहाँ अन्य रश्मियाँ भी त्वरित गति से आकर संयुक्त होती रहती हैं, उन किनारों पर (प्रणेता, वसुः, भुवत्) वह सूत्रात्मा वायु उन सभी छन्द रश्मियों का प्रेरक और नियन्त्रक भी होता है और सभी रश्मियों को अपने अन्दर बसाने वाला भी होता है अर्थात् वे सभी छन्द रश्मियाँ सदैव सूत्रात्मा वायु से ही व्याप्त रहती हैं। (प्रयियोः, वयियोः) छन्द रश्मियों की वे धाराएँ प्रकृष्ट वेग से गति करते हुए अन्य रश्मियों को अपने साथ बाँधती और सम्पीडित करती हुई चलती हैं। इसके कारण यह छन्द रश्मि बाधक पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करते हुए यजन क्रियाओं को निरापद और विस्तृत करती है।

इसके पश्चात् 'नंसन्ते' इस इक्कीसवें पद का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः॥ [ऋ.७.५८.५]

पुनर्नो नमन्ते मरुतः। नसन्त इत्युपरिष्टाद् [७.१७] व्याख्यास्यामः।

ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्॥

[ऋ.९.७५.५]

ये ते मदा आहननवन्तो वञ्चनवन्तस्तैरिन्द्रं चोदय दानाय मघम्॥ १५॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ होने से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता मरुतः तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके

दैवत एवं छान्दस प्रभाव से मरुत् रश्मियाँ तीव्र तेज और बल से युक्त होती हैं। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

ताँ आ रुद्रस्य मीळहुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।
यत्सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम्॥ (ऋ.७.५८.५)

आधिदैविक भाष्य— (यत्, सस्वर्ता) [सस्वर्ता = उपतापकेन शब्देन- ऋषि दयानन्द भाष्य] विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ विभिन्न सन्तप्त छन्द रश्मियों, जिनसे वैखरी ध्वनि भी उत्पन्न हो रही होती है, के द्वारा (नः, जिहीळिरे) [हेळते क्रुध्यतिकर्मा (निघं.२.१२)] इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण रश्मियों को उत्तेजित व विक्षुब्ध करने लगती हैं। (तुराणाम्, मरुतः) मरुत् व प्राण रश्मियाँ त्वरित गति से कार्य करने वाली मरुत् रश्मियों के मध्य (यत्, एनः, तत्) जो भी पतनकारी रश्मि आदि पदार्थ होते हैं, उनका (अव, ईमहे) [ईमहे = याच्ञाकर्मा (निघं.३.१९), दूरीकुर्महे- ऋषि दयानन्द भाष्य] विरोध करके दूर करती हैं तथा त्वरित कर्म करने वाली मरुत् रश्मि आदि पदार्थों को आकृष्ट करके उनकी रक्षा करती हैं। (रुद्रस्य, मीळहुषः) उन आशुकारी रश्मियों को [रुद्रः = घोरो वै रुद्रः (कौ.ब्रा.१६.७), रुद्रास्त्रिष्टुभं समभरन् (जै.उ.१.१८.५), रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा संमृजन्तु (तां.ब्रा.१.२.७)] तीव्र बलों से युक्त तथा अपने बल से विभिन्न क्रियाओं को सिंचित वा प्रभावित करने वाली अन्य त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की ओर (नंसन्ते) 'पुनर्नो नमन्ते मरुतः' झुकाते वा प्रेरित करते हैं। (पुनः, तान्) फिर उन मरुदादि पदार्थों को बार-२ (कुवित्, आविः, आ, विवासे) उन्हीं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों [कुवित् = बहुनाम (निघं.३.१)] के अन्दर प्रकट करके उनमें सब ओर बसाते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में जहाँ कहीं तीव्र ताप के साथ घोष उत्पन्न हो रहे हों, वहाँ प्राण रश्मियाँ अति विक्षुब्ध एवं सक्रिय रहती हैं। उस तप्त अवस्था में जो भी मरुद् रश्मियाँ तीव्रतापूर्वक क्रियाएँ कर रही होती हैं, ये प्राण रश्मियाँ उनके मार्ग में आए बाधक पदार्थों को दूर करती हैं। इसके साथ ही उन क्रियाशील मरुदादि पदार्थों को तीव्र बलयुक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की ओर बार-२ प्रेषित व प्रेरित करती हैं और वे प्राण रश्मियाँ उन्हें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में ही व्याप्त कर देती हैं। इसके कारण वे पदार्थ बाधक व पतनकारी पदार्थों से मुक्त होकर अभीष्ट क्रियाओं को सम्पादित करते हैं। यहाँ प्राण व मरुत् रश्मियों की इस माया से विद्युत् धनावेशित व ऋणावेशित कणों का खेल भी स्पष्ट हो रहा है। तीव्र ताप

युक्त अवस्था में धनावेशित पदार्थ की धाराएँ ऋणावेशित कणों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त करके उनकी ऊर्जा को बढ़ाती हैं। इससे वे ऋणावेशित कण नाना प्रकार की अभिक्रियाओं को जन्म देते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (तान्) (आ) समन्तात् (रुद्रस्य) प्राणस्येव विदुषः (मीळहुषः) सेचकस्य (विवासे) वासयामि (कुवित्) महत् (नंसन्ते) नमन्ति (मरुतः) मनुष्याः (पुनः) (नः) अस्मान् (यत्) येन (सस्वर्ता) उपतापकेन शब्देन (जिहीळिरे) क्रोधयेयुः (यत्) (आविः) प्राकट्ये (अव) विरोधे (तत्) (एनः) पापमपराधम् (ईमहे) दूरीकुर्महे (तुराणाम्) क्षिप्रं कारिणाम्।

भावार्थः — हे मनुष्या ये पापिनो धार्मिकाणामनादरकर्तारः स्युस्ते दूरे निवासनीयाः ये च नम्रत्वादिगुणयुक्ता धार्मिकाः स्युस्तान्निकटे निवासयेयुर्यतः सर्वेषां सत्कीर्तिः प्रकटा स्यात्।

पदार्थ— जो मनुष्य (यत्) जिस (सस्वर्ता) तपाने वाले शब्द से (नः) हम लोगों को (जिहीळिरे) क्रुद्धित करावैं उन (तुराणाम्) शीघ्र कार्य्य करने वालों का (यत्) जो (एनः) पाप अपराध (तत्) उस को (अव) विरोध में (ईमहे) दूर करैं उनको (रुद्रस्य) प्राण के सदृश विद्वान् (मीळहुषः) सींचने वाले विद्वान् के सम्बन्ध में (नंसन्ते) नम्र होते हैं (पुनः) फिर (तान्) उनको (रुद्रस्य) प्राण के सदृश विद्वान् के (कुवित्) बड़ा करते हुए को मैं (आविः) प्रकटता में (आ) सब प्रकार से (विवासे) बसाता हूँ।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जो पापी जन धार्मिक जनों के अनादर करने वाले होवें, उनको दूर बसाना चाहिये और जो नम्रता आदि से युक्त धार्मिक होवें, उनको समीप बसावें, जिससे सबका श्रेष्ठ यश प्रकट होवै।''

अगले २२वें अनवगत संस्कार पद 'नसन्त' की व्याख्या इसी ग्रन्थ में खण्ड ७.१७ में की गयी है। अन्त में २३वें पद 'आहनसः' का निगम प्रस्तुत किया गया है, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वासयाशिरम्।
ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्॥ (ऋ.९.७५.५)

इस मन्त्र का ऋषि कवि है। [कविः = क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु. १२.१३), मेधाविनाम (निघं.३.१५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय होती है, जब ध्वनि का वैखरी रूप भी उत्पन्न हो चुका होता है तथा इसकी उत्पत्ति अन्य बलों का अतिक्रमण करने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता सोम तथा छन्द विराट् जगती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सोम तत्त्व दूर-२ तक गमन करता है।

आधिदैविक भाष्य— (सोम) [सोमः = प्राणः सोमः (श.ब्रा.७.३.१.२), द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सोमो राजा (ऐ.ब्रा.१.२६)] सूर्यादि लोकों के गर्भ में विद्यमान प्राण रश्मियाँ (नृभिः) [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), मनुष्या वै नरः (श.ब्रा.७.५.२.३९), मनुष्यनाम (निघं.२.३)] आशुगामी मनुष्य नामक पूर्वोक्त सूक्ष्म कणों के द्वारा अथवा मरुत् रश्मियों के द्वारा (परि, पुनानः) इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों की क्रियाओं को सब ओर से शुद्धता एवं गति प्रदान करते हुए (स्वस्तये) उन क्रियाओं को उपयुक्त रूप प्रदान करने के लिए (प्र, धन्वा) [धन्व = धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः (निरु.५.५)] अन्तरिक्ष में प्रकृष्ट गति प्राप्त कराती हैं। इसके साथ ही (आशिरम्) [आशिः = अश्विना आशिरा (प्रीणामि) (मै.सं.१.९.२, काठ.सं.९.१०), प्रजा वै पशव आशीः (जै.ब्रा.१.१७४)] विभिन्न उत्पन्न कणों की (अभिवासय) सब ओर से रक्षा करती हैं और उन्हें द्युलोकों के गर्भ में सब ओर बसाती हैं। (ये, ते, मदा, आहनसः) 'ये ते मदा आहननवन्तो वञ्चनवन्तः' [नवते गतिकर्मा (निघं.२.१४)] उन उत्तेजित प्राण रश्मियों की जो गति होती है, वह उन सभी सूक्ष्म कणों एवं मरुदादि रश्मियों को व्याप्त करने वाली, उनको अपने साथ आकृष्ट करके बाँधने वाली और उनके निकटवर्ती बाधक रश्मि आदि पदार्थों को सब ओर से नष्ट करने वाली होती है। (तेभिः, विहायसः) 'तैः' वे प्राण रश्मियाँ मनुष्य नामक कणों वा मरुदादि रश्मियों के द्वारा [विहायाः = महन्नाम (निघं.३.३), व्याप्ता (निरु. १०.२६)] व्यापक रूप से आच्छादित वा व्याप्त होती हैं। (इन्द्रम्, मघम्, दातवे, चोदय) 'इन्द्रं चोदय दानाय मघम्' इसके साथ ही वे प्राण रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म कणों रूपी धन को सूर्यादि लोकों के गर्भ में स्थापित करने के लिए एवं दूर जाते हुए कुछ कणों को वापिस केन्द्रीय भाग की ओर लौटाने के लिए इन्द्र तत्त्व को प्रेरित करती हैं अर्थात् उस क्षेत्र में तीव्र विद्युत् तरंगें विशेष सक्रिय हो उठती हैं।

* ❋ ❋ ❋ *

= षोडशः खण्डः =

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥

[ऋ.१.१२४.४]

उपादर्शि शुन्ध्युवः। शुन्ध्युरादित्यो भवति। शोधनात्।
तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेव। अध्यूढं काये।
शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते। शोधनादेव। उदकचरो भवति।
आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते। शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति। नवनं दधाति।
स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसत्।
अद्मान्नं भवति। अद्मसादिनीति वा। अन्नसानिनीति वा। ससतो बोधयन्ती।
शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्। स्वपतो बोधयन्ती।
शाश्वतिकतमागात् पुनरागामिनीनाम्।

यहाँ २४वें पद 'अद्मसत्' का निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥ [ऋ.१.१२४.४]

इस मन्त्र का ऋषि दैर्घतमसः कक्षीवान् है। [कक्षीवान् = कक्ष्यावान् (निरु.६.१०), कक्ष्या = कक्ष्या इत्यङ्गुलीनाम (निघं.२.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त दैर्घतमा ऋषि से उत्पन्न विशेष बलयुक्त प्राण विशेष से होती है। इसका देवता उषा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसका आशय यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से लालिमायुक्त प्रकाश तीव्र तेज एवं बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (उपो, अदर्शि, शुन्ध्युवः, न) 'उपादर्शि शुन्ध्युवः शुन्ध्युरादित्यो

भवति शोधनात् शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते शोधनादेव उदकचरो भवति आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते शोधनादेव' [शकुनिः = शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शक्नोति नदितुम् इति वा शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शंकरो-ऽस्त्विवति वा शक्नोतेर्वा (निरु.९.३)] यहाँ सूर्यलोक को 'शुन्ध्यु' कहा गया है, क्योंकि इसकी किरणें विभिन्न पदार्थों को तप्त करके शुद्ध करती हैं। 'शुन्ध्यु' पद से ग्रन्थकार ने 'शकुनि' नामक पदार्थ का भी ग्रहण किया है। हमारी दृष्टि में शकुनि आदि उन विद्युदावेशित कणों का नाम है, जो एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होकर तेजी से दौड़ते हुए संयुक्त होने का प्रयास करते हैं और परस्पर संयुक्त होकर अन्य उपयोगी स्थूल कणों का निर्माण करते हैं। ये कण उदकचर इस कारण कहे जाते हैं, क्योंकि ये एक-दूसरे से निकलने वाली सूक्ष्म सेचक रश्मियों का भक्षण करते हैं और उन रश्मियों में ही गमन भी करते हैं। ये कण शुद्ध रूप में एक-दूसरे से संयोग करते हैं अर्थात् उस संयोग की प्रक्रिया में कोई अवांछित पदार्थ भाग नहीं लेता। 'शुन्ध्यु' पद का तीसरा अर्थ 'आपः' किया गया है अर्थात् इस सृष्टि में प्रायः सर्वत्र व्याप्त प्राण रश्मियाँ भी शुन्ध्यु कहलाती हैं, क्योंकि ये भी परस्पर एक-दूसरे से संयुक्त होने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं तथा अन्य उपयोगी रश्मि वा कणों को उत्पन्न करती हैं। इनकी पारस्परिक संयोग प्रक्रिया में भी कोई भी अवांछित रश्मि आदि पदार्थ मिश्रित नहीं हो सकता।

इन तीनों प्रकार के शुन्ध्यु रूप पदार्थों के समीप उषा अर्थात् ऊष्मा एवं प्रकाश की विद्यमानता दिखाई देती है। सूर्य के निकट इसकी विद्यमानता सर्वविदित है और इससे अति दूर तक भी यह विद्यमानता देखी जाती है। इसी प्रकार दो विपरीत आवेशित कणों के परस्पर संयोग करने पर भी ऊष्मा एवं प्रकाश की उत्पत्ति का यहाँ संकेत मिलता है। उधर विभिन्न प्राण रश्मियों के परस्पर संयोग के समय भी ऐसा होता है, यह भी यहाँ स्पष्ट हो रहा है। यदि ऐसा नहीं होता, तब ग्रन्थकार 'शुन्ध्यु' पद का तीन प्रकार से निर्वचन नहीं करते। (वक्षः, नोधा, इव) 'तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम् इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेव अध्यूढं काये नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति' उस आदित्य लोक का ऊपरी भाग, जो ऊपर की ओर उठा हुआ होता है, वह नोधा संज्ञक ऋषि रश्मियों के समान (आविरकृत, प्रियाणि) 'स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते' अनेक कमनीय तरंगों को उत्पन्न करता है। नोधा संज्ञक ऋषि रश्मियाँ नाना छन्द रश्मियों को प्रकट करके नाना रूपों वाली प्रकाश तरंगों को जिस प्रकार प्रकट करती हैं, उसी प्रकार अथवा उसी समय सूर्यलोक का

ऊपरी भाग उषा अर्थात् प्रकाश व ऊष्मा की तरंगों को प्रकट करता है। इससे यह संकेत मिलता है कि सूर्य के तल पर नोधा संज्ञक ऋषि रश्मियों की विद्यमानता होती है और उनसे उत्पन्न छन्द रश्मियाँ ही ऊष्मा व प्रकाश की विभिन्न तरंगों को अन्तरिक्ष में प्रकट व प्रक्षिप्त करने में सहयोग करती हैं। इसके साथ ही वे छन्द रश्मियाँ स्वयं भी ऐसा ही प्रकाश उत्पन्न करती हैं।

(अद्मसत्, न) 'अद्मसत् अद्मान्नं भवति अद्मसादिनीति वा अन्नसानिनीति वा' अन्न अर्थात् विभिन्न प्रकार के संयोजी कणों को वे उषा रश्मियाँ प्राप्त करती एवं उनका विभाजन करती रहती हैं अर्थात् सूर्य की किरणों के द्वारा अन्तरिक्ष आदि लोकों में विद्यमान विभिन्न प्रकार के संयोजी कण व्याप्त होते और उनमें नाना प्रकार की संयोग-वियोग की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, इसी प्रकार (ससतः, बोधयन्ती) 'ससतो बोधयन्ती स्वपतो बोधयन्ती' सोते हुए अर्थात् निष्क्रिय वा शिथिल कणों को सक्रिय करती हुई (शश्वत्तमा, आ, अगात्, पुनः, एयुषीणाम्) 'शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् शाश्वतिकतमागात् पुनरागामिनीनाम्' सूर्य की वे किरणें अति निरन्तर अथवा सबसे निरन्तर गति से गमन करती हैं। यहाँ यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि सूर्य की किरणें ऊर्जा के सतत प्रवाह के रूप में ही अन्तरिक्ष में गमन करती हैं। हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में यह बात समझा चुके हैं कि सूर्य की सतत प्रवहमान किरणें प्रकाशाणु रूपी कण का रूप तभी धारण करती हैं, जब वे किसी कण से टकरा रही हों। यहाँ यह भी कहा गया है कि सूर्य से बार-बार आने वाली अन्य किरणों की अपेक्षा ये उषारूपी किरणें अर्थात् प्रकाश, ऊष्मा आदि की तरंगें ही सतत प्रवहमान होती हैं, जबकि सूर्य से आने वाले आवेशित कण वा न्यूट्रिनो आदि कण तरंगों के रूप में ही गमन करते हैं, परन्तु वे प्रकाश आदि तरंगों की भाँति सतत प्रवहमान नहीं होते हैं। यह दोनों प्रकार की तरंगों में भेद है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (उपो) सामीप्ये (अदर्शि) दृश्यते (शुन्ध्युवः) आदित्यकिरणाः। शुन्ध्युरादित्यो भवति। निरु.४.१६॥ (न) उपमायाम्। निरु.१.४॥ (वक्षः) प्राप्तं वस्तु। वक्ष इति पदनामसु। निघं.४.२॥ (नोधा, इव) यो नौति सर्वाणि शास्त्राणि तद्वत्। नुवो धुट् च। उणा.४.२२७॥ अनेन नुधातोरसिप्रत्ययो धुडागमश्च (आविः) प्राकट्ये (अकृत) करोति (प्रियाणि) वचनानि (अद्मसत्) योऽद्मानि सादयति परिपचति सः (न) इव (ससतः)

स्वपतः प्राणिनः (बोधयन्ती) जागारयन्ती (शश्वत्तमा) यातिशयेन सनातनी (आ) (अगात्) प्राप्नोति (पुनः) (एयुषीणाम्) समन्तादतीतानामुषसाम्।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारा:। या स्त्र्युषर्वत्सूर्यवद्विद्वद्वच्च स्वापत्यानि सुशिक्षया विदुषः करोति सा सर्वैः सत्कर्त्तव्येति।

पदार्थ— जैसे प्रभात वेला (वक्षः) पाये पदार्थ को (शुन्ध्युवः) सूर्य की किरणों के (न) समान वा (प्रियाणि) प्रिय वचनों की (नोधा इव) सब शास्त्रों की स्तुति प्रशंसा करने वाले विद्वान् के समान वा (अद्मसत्) भोजन के पदार्थों को पकाने वाले के (न) समान (ससतः) सोते हुए प्राणियों को (बोधयन्ती) निरन्तर जगाती हुई और (एयुषीणाम्) सब ओर से व्यतीत हो गई प्रभात वेलाओं की (शश्वत्तमा) अतीव सनातन होती हुई (पुनः) फिर (आ, अगात्) आती और (आविरकृत) संसार को प्रकाशित करती वह हम लोगों ने (उपो) समीप में (अदर्शि) देखी वैसी स्त्री उत्तम होती है।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार हैं। जो स्त्री प्रभात वेला वा सूर्य वा विद्वान् के समान अपने सन्तानों को उत्तम शिक्षा से विद्वान् करती है, वह सबको सत्कार करने योग्य है।''

ते वाशीमन्त इष्मिणः। [ऋ.१.८७.६]
ईषणिन इति वैषणिन इति वार्षणिन इति वा।
वाशीति वाङ्नाम। वाश्यत इति सत्याः।
शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्॥
[ऋ.३.५३.३]
अभिवहनस्तुतिमभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते। ऐन्द्री त्वेव शस्यते। परितक्म्येत्युपरिष्टाद् [११.२५] व्याख्यास्यामः॥ १६॥

यहाँ ग्रन्थकार ने २५वें पद 'इष्मिण' का निगम निम्नानुसार प्रस्तुत किया है— 'ते वाशीमन्त इष्मिणः'। हम अब तक किसी भी निगम को पूरे मन्त्र के रूप में प्रस्तुत करते आए हैं, भले ही ग्रन्थकार ने उस मन्त्र का एक अंश ही क्यों न प्रस्तुत किया हो, इससे ग्रन्थ का आकार भी बढ़ता है एवं निरुक्त की व्याख्या में ऐसा करना अपेक्षित भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या से पाठकों को वेद के अनेक गम्भीर

वैज्ञानिक रहस्य अवश्य विदित हो जाते, परन्तु इससे निरुक्त भाष्य में समय भी अपेक्षा से अधिक व्यय होता हुआ अनुभव करके हमने यह निश्चय किया है कि हम किसी भी वेदमन्त्र के उतने भाग का ही भाष्य करेंगे, जितना कि ग्रन्थकार को अभीष्ट है। पाठकों को हम निवेदन करना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ निरुक्त का भाष्य है, न कि वेद का। हाँ, जहाँ कहीं भी किसी भी मन्त्रांश के भाष्य से कोई तर्कसंगत अर्थ प्रकट न होवे अथवा अन्य भाष्यकारों ने किसी मन्त्रांश का असंगत एवं अभद्र अर्थ किया हो अथवा ऐसा अर्थ प्रत्येक विज्ञ पाठक को प्रतीत हो रहा हो, तब हम ऐसे मन्त्रों को पूर्ण रूप में उद्धृत करके सम्पूर्ण भाष्य करेंगे।

अब हम इस मन्त्रांश पर विचार करते हैं—

आधिदैविक भाष्य — (ते) इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' होने से यहाँ 'ते' का अभिप्राय 'मरुद् रश्मियाँ' ही ग्रहण करना चाहिए। वे मरुद् रश्मियाँ (इष्मिणः) 'ईषणिन इति वैषणिन इति वार्षणिन इति वा' यहाँ ईषणिनः 'ईष गतौ' धातु से, एषणिनः 'इषु इच्छायाम्' धातु से तथा अर्षणिनः 'ऋष दर्शने' धातु से क्रमशः व्युत्पन्न होते हैं एवं 'इष्मिणः' पद मरुद् रश्मियों का विशेषण है। इससे स्पष्ट है कि मरुद् रश्मियाँ निरन्तर गमनशील, परस्पर एवं अन्य प्राण रश्मियों के साथ आकर्षणशील तथा विभिन्न प्राणादि रश्मियों को देखने अर्थात् पहचानने वाली होती हैं। इस कारण वे अपने अनुकूल प्राणादि रश्मियों से ही क्रिया करने में समर्थ होती हैं, वे मरुद् रश्मियाँ (वाशीमन्तः) 'वाशीति वाङ्नाम वाश्यत इति सत्याः' सूक्ष्म वाक् रश्मियों से युक्त होती हैं किंवा उन्हीं का रूप होती हैं। इसके साथ ही छन्द रश्मियों को 'वाशी' इस कारण कहा जाता है, क्योंकि वे ध्वनि तरंगों का ही रूप होती हैं। इस कारण मरुद् रश्मियाँ भी मन्द ध्वनियों से युक्त होती हैं, भले ही हम उन ध्वनियों को कभी न सुन पाएँ।

तत्पश्चात् २६वें पद 'वाहः' का निगम निम्नानुसार उद्धृत किया गया है—

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्॥ (ऋ.३.५३.३)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति 'ओम्' रश्मि अथवा कुछ विशेष अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्रता से प्रकाशित

और विशेष बलयुक्त होता है।

इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'अभिवहनस्तुतिमभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते ऐन्द्री त्वेव शस्यते' अर्थात् इस छन्द रश्मि के द्वारा सोम रश्मियों का अभिवहन अर्थात् उनका इधर-उधर प्रवहन एवं उन सोम रश्मियों के सम्पीडन की प्रक्रिया को कहा गया है और यह ऋचा इन्द्र देवता वाली होने से तथा इन्द्र तत्त्व को तीव्रता से प्रकाशित करने वाली होने से ऐन्द्री कही गयी है। यहाँ ग्रन्थकार ने इस ऋचा के पूर्वार्ध को ही उद्धृत किया है, परन्तु उसकी भी व्याख्या नहीं की है। हम यहाँ इसकी आधिदैविक व्याख्या कर रहे हैं।

आधिदैविक भाष्य — (शंसाव, अध्वर्यो) [अध्वर्यू: = प्राणापानावेवाध्वर्य्यू (गो.पू.२. ११)] अहिंसनीय प्राण एवं अपान रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करती हैं। (मे, प्रति, गृणीहि) वे प्राणापान रश्मियाँ विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को भी बल प्रदान करती हैं, जिससे (इन्द्राय, वाहः, कृणवाव, जुष्टम्) सूर्यादि लोकों में इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करने के लिए उसके सेवन योग्य विभिन्न प्रकार की मरुत् रश्मियों के प्रवाह को उपयुक्त रूप से उत्पन्न वा धारण करती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार का अनुकरण करते हुए हमने भी आधे मन्त्र का ही भाष्य किया है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (शंसाव) प्रशंसेव (अध्वर्यो) अहिंसक (प्रति) (मे) मह्यम् (गृणीहि) स्तुहि (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्ताय (वाहः) प्राप्तान् (कृणवाव) (जुष्टम्) सेवितम् (आ) (इदम्) (बर्हिः) उत्तमं स्थानम् (यजमानस्य) सङ्गन्तुः (सीद) (अथ) आनन्तर्ये (च) (भूत्) भवेत् (उक्थम्) वक्तुमर्हम् (इन्द्राय) ऐश्वर्य्याय (शस्तम्) प्रशंसितम्।

भावार्थः — सर्वैः राजप्रजाजनैर्यैः कर्मभिरैश्वर्य्यवृद्धिः स्यात्तानि सेवनीयानि राजाज्ञायां वर्त्तित्वा प्रशंसा च प्रापणीया।

पदार्थ— हे (अध्वर्यो) नहीं हिंसा करने वाले! आप (इन्द्राय) अत्यन्त ऐश्वर्य्य से युक्त पुरुष के लिये जो (उक्थम्) कहने योग्य (शस्तम्) प्रशंसा किये गये और (जुष्टम्) सेवित (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम स्थान को (यजमानस्य) प्राप्त हुए आपको (भूत्) प्रशंसित होवे उसके ऊपर (आ, सीद) विराजो। (अथ) अनन्तर (च) और अन्यों को प्राप्त होइये

और मैं भी प्राप्त होऊं ऐश्वर्य्य से युक्त पुरुष के लिये जो (वाहः) प्राप्त हुओं की (शंसाव) प्रशंसा करें और सिद्धि (कृणवाव) करें उनकी आप (मे) मेरे लिये (प्रति, गृणीहि) स्तुति करिये।

भावार्थ— सब राजा और प्रजा के जनों को चाहिये कि जिन कर्मों से ऐश्वर्य की वृद्धि हो, उन कर्मों का सेवन करें और राजा की आज्ञा में वर्त्तमान होकर प्रशंसा को प्राप्त होवें।''

अन्त में २७वें अनवगत संस्कार पद 'परितक्म्या' के विषय में केवल इतना ही संकेत किया है कि इसकी व्याख्या ११.२५ में की जायेगी।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

सुविते सु इते। सूते। सुगते। प्रजायामिति वा।
सुविते मा धाः। [मै.सं.१.२.७] इत्यपि निगमो भवति।

यहाँ २८वें पद 'सुविते' का निर्वचन किया गया है— 'सुविते सु इते सूते सुगते प्रजायामिति वा'। इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''इस निर्वचन में 'सु' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय और उवङ् आदेश करके 'सुविते' पद बनाया गया है। दूसरे निर्वचन में 'षुञ् अभिषवे' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके उवङ् तथा छान्दस इडागम द्वारा 'सुविते' पद बनाया गया है। इसका अर्थ 'सन्ताने' या 'प्रजायाम्' होता है।''

इसका एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सुविते मा धाः'। मैत्रायणी संहिता में इस पाठ के साथ कुछ पूर्व पदों को मिलाकर पाठ इस प्रकार है— 'सत्यमुपागाः३ सुविते मा धाः'। उधर यजुर्वेद में कुछ पाठभेद के साथ यह वचन इस प्रकार है— 'सत्यमुपगेषः३ स्विते मा धाः'।

यजुर्वेद में इस मन्त्र का ऋषि गोतम अर्थात् सर्वाधिक तीव्र गति वाला धनञ्जय

प्राण है तथा देवता विद्युत् है। इस कारण हम मैत्रायणी संहिता के वचन को भी इसी दृष्टि से ग्रहण कर रहे हैं, तब मैत्रायणी संहिता के वचन का आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(सत्यम्, उप, अगाम्) [सत्यम् = असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), तद्यत्तत्सत्यम् असौ स ऽआदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२)] सूर्यादि लोकों के अन्दर विद्यमान विभिन्न पदार्थों में विद्युत् अग्नि निकटता से व्याप्त होती है। इसके लिए (सुविते, मा, धाः) अनुष्टुप् छन्द रूपी ऋषि रश्मियाँ उन सभी पदार्थ कणों को सम्यक् गति प्राप्त कराती हैं और उनको सम्पीडित करने में भी सहयोग करके नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में भी अपनी भूमिका निभाती हैं।

दयतिरनेककर्मा।
नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम। [मै.सं.४.१३.८]
इत्युपदयाकर्मा।
य एक इद्विदयते वसु। [ऋ.१.८४.७]
इति दानकर्मा वा। विभागकर्मा वा।
दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि। [ऋ.६.६.५]
इति दहतिकर्मा। दुर्वर्तुर्दुर्वारः।
विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्। [ऋ.३.३४.१]
इति हिंसाकर्मा।
इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्॥
दयमान इति।

२९वें पद 'दयते', जो अनेककर्मा तथा अनवगत संस्कार है, के निगमों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है, जिनमें प्रथम निगम इस प्रकार है— 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम'।

यहाँ 'दयते' पद उपदया अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा ग्रन्थकार का मत है। 'दयते' पद 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् यह पद दान, गमन,

रक्षण, पालन, हिंसा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में इसे रक्षा, दान, विभाग, दहन, हिंसा एवं उड़ना अर्थों में प्रयुक्त माना है। इन सभी अर्थों के निगमों को यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उपदया अर्थ का उपर्युक्त निगम प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त निगम मैत्रायणी संहिता में ४.१३.८ में उपलब्ध है, न कि ४.१३.७ में। यहाँ 'दयमानाः' का अर्थ है— रक्षा करते हुए। इसका निगम है— 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं' अर्थात् सूर्यादि लोकों में नवीन उत्पन्न ऊर्जा के द्वारा पूर्व में वर्तमान ऊष्मा आदि की रक्षा होती है तथा पूर्व वर्तमान ऊष्मा आदि के द्वारा नवीन ऊर्जा उत्पत्ति प्रक्रिया की रक्षा होती है। यहाँ लोट् लकार का प्रयोग है, जिसे हमने लट् लकार में प्रयुक्त माना है। 'दयते' पद का अगला अर्थ है— दान करना या विभाग करना, जिसका निगम इस प्रकार दिया हुआ है— 'य एक इद्विदयते वसु' (ऋ .१.८४.७)। यह मन्त्रांश उष्णिक् छन्द का अंश है, इसका देवता इन्द्र है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः) जो इन्द्र तत्त्व (इत्, एकः) अकेला ही अर्थात् बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता के (विदयते, वसु) विभिन्न पदार्थों का विभाग करता रहता है तथा उन पदार्थों को विभक्त वा छिन्न-भिन्न करके अन्य पदार्थों को आवश्यकतानुसार देता रहता है। बिना विद्युत् बल के कणों का संयोग-वियोग एवं आवागमन सम्भव नहीं है।

'दयते' पद का तीसरा अर्थ है— दहन करना अर्थात् जलाना। इसका निगम इस प्रकार है— 'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि' (ऋ .६.६.५)। इसका देवता अग्नि है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दुर्वर्तुः) 'दुर्वर्तुर्दुर्वारः' कठिनाई से रोकने योग्य अर्थात् तीक्ष्ण अग्नि तत्त्व (भीमः) विभिन्न पदार्थों को कँपाने वाला अर्थात् विभिन्न पदार्थों की ऊर्जा को बढ़ाकर क्षुब्ध करने वाला अग्नि (वनानि, दयते) वनों को जलाता है। [वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५)] यहाँ 'अग्नि' का अर्थ प्राण रश्मियाँ तथा 'वनम्' का अर्थ सूर्य की किरणें ग्रहण करने पर अर्थ होगा— प्राण रश्मियों का तीक्ष्ण रूप सूर्य की किरणों में दहन करने का गुण उत्पन्न करता है।

अब 'दयते' पद का हिंसा अर्थ में प्रयोग निम्नलिखित निगम द्वारा दर्शाते हैं—

विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् (ऋ.३.३४.१)।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(विदत्, वसु) वह इन्द्र तत्त्व जब विभिन्न सूक्ष्म कणों के अन्दर व्याप्त होता है [वसुः = प्राणा वै वसवः (तै.ब्रा.३.२.३.३), वसवो गायत्रीं समभरन् (जै.उ.१.१८.४)] और वह इन्द्र तत्त्व प्राण रश्मियों एवं गायत्री छन्द रश्मियों में विशेष रूप से व्याप्त होने के कारण मरुद् रश्मियों से अधिक समृद्ध होता है, उस समय (शत्रून्) बाधक असुरादि पदार्थों को (वि, दयमानः) विशेष रूप से नष्ट कर रहा होता है अर्थात् उस समय इन्द्र तत्त्व विशेष तीक्ष्ण होता हुआ बाधक पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करके विभिन्न यजन क्रियाओं को निरापद बनाता है।

यहाँ स्कन्दस्वामी एवं आचार्य दुर्ग ने 'दयते' को गति अर्थ, विशेषकर उड़ने अर्थ में प्रयुक्त माना है। 'दयते' पद के 'उड़ने' अर्थ का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्॥

यह मन्त्र कहाँ से लिया गया है, यह अज्ञात है। स्कन्दस्वामी ने भी ऐसा ही माना है।

आधिदैविक भाष्य— (इमे, सुता, इन्दवः) [इन्दुः = इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (निरु.१०.४१), सोमो वाऽइन्दुः (श.ब्रा.२.२.३.२३)] ये सोम रश्मियाँ, जो सम्पीडित होकर तेजस्वी एवं ऊष्मायुक्त हो जाती हैं, (स, जोषसा, अश्विना, प्रातः, इत्वना) [प्रातः = प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः] परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करने वाली एवं तीव्र वेग से गमन करने वाली प्राण-अपान एवं प्राण-उदान रश्मियों के युग्मों के द्वारा (तान्, पिबतम्) अवषोशित होती हैं अर्थात् उनके साथ संगत होती हैं। यहाँ 'अश्विना' पद का अर्थ द्यावापृथिवी ग्रहण करने पर यह संकेत मिलता है कि विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं धनावेशित कण ऊर्जा से विशेष सन्तप्त ऋणावेशित कणों के साथ विशेष रूप से संगत होते हैं, (हि, अयम्) क्योंकि यह सोम तत्त्व (वाम्) धनावेशित कणों एवं प्रकाशाणु दोनों के (ऊतये) रक्षण के लिए अथवा उनके साथ मिलकर सृष्टि प्रक्रिया के रक्षण व व्यापन आदि के लिए

(वन्दनाय) एवं इन्हें तथा प्राणापान व प्राणोदान युग्मों को तेजस्वी बनाने के लिए अनिवार्य होता है। [ध्यातव्य है कि जब 'अश्विना' का अर्थ धनावेशित कण व प्रकाशाणु ग्रहण करें, तब 'सोम' का अर्थ ऋणावेशित कण ग्रहण करना चाहिए।] प्राणापान एवं प्राणोदान आदि रश्मियाँ तब तक कोई भी निर्माण नहीं कर सकतीं, जब तक कि उनका मेल मरुद् वा छन्द रश्मियों से नहीं होता। उधर कोई भी धनावेशित कण तब तक कोई निर्माण नहीं कर सकता, जब तक कि उसका मेल किसी ऋणात्मक कण के साथ नहीं हो जाता। इधर कोई भी प्रकाशाणु तब तक स्वयं के प्रकाश की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, जब तक कि वह इलेक्ट्रॉन्स आदि कणों के साथ क्रिया नहीं करता। इस कारण ही यहाँ 'ऊतये' एवं 'वन्दनाय' पदों का प्रयोग किया गया है।

(माम्, वायसः, दयमानः) [वायसः = वयते गच्छतीति वायसः] इस मन्त्र की ऋषि रश्मियों, जो यहाँ अज्ञात हैं, को तीव्र वेग से गमन कराने वाली सुपर्णरूपधारी कुछ गायत्री छन्द रश्मियाँ (दोषा, अबूबुधत्) [दोषा = दुष्यतीति दोषा, रात्रिर्वा] विकृत अवस्था में अर्थात् उपर्युक्त पदार्थों के परस्पर संयुक्त न होने और इस कारण सृजन कार्य के प्रारम्भ न होने अथवा बन्द होने पर जगाती हैं अर्थात् सक्रिय करती हैं, जिसके पश्चात् वे ऋषि रश्मियाँ उपर्युक्त पदार्थों को परस्पर संयुक्त होने के लिए प्रेरित करती हैं।

भावार्थ— सोम रश्मियाँ अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करती हैं। वे प्राण रश्मियों के साथ मिलकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करती हैं। उधर धनावेशित और ऋणावेशित कण परस्पर मिलकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रकाश की तरंगें किन्हीं कणों से टकराकर ही अपने गुणों को अभिव्यक्त कर पाती हैं। कुछ गायत्री छन्द रश्मियाँ नाना प्रकार की क्रियाओं के विकारों को दूर करने में सहायक होती हैं। इस सृष्टि में समान प्रकार के पदार्थों से कभी भी सृष्टि की रचना नहीं हो सकती।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'वेदविज्ञान-आलोकः' के तेरहवें अध्याय में सोम रश्मियों को लाने के लिए विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य स्पर्धा का प्रकरण है। वहाँ गायत्री छन्द रश्मियाँ ही सुपर्णरूप धारण कर सोम को लाती हैं और इस प्रक्रिया में बड़ा संघर्ष होता है, यह चर्चा भी वहाँ की गई है। हमने उस प्रकरण से ही उड़ने वाले वायस का अर्थ गायत्री छन्द रश्मियाँ किया है।

नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः।
नू चेति च।
अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम्॥ [ऋ.६.३०.३]
अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्।
नू च पुरा च सदनं रयीणाम्॥ [ऋ.१.९६.७]
अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिरिति धननाम। रातेर्दानकर्मणः॥ १७॥

यहाँ ३०वें और ३१वें पद क्रमशः 'नूचित्' एवं नू च' की चर्चा की गई है— 'नूचित्' यह एक निपात पद है। यह निपात पुराने एवं नए अर्थ में प्रयुक्त होता है एवं 'नू च' पद भी निपात संज्ञक है तथा यह भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'नूचित्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम्' (ऋ.६.३०.३)। इसका देवता इन्द्र है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अद्य, चित्) 'अद्य च' वर्तमान में भी (नूचित्) 'पुरा च' और पहले भी (नदीनाम्, अपः) 'तदेव कर्म नदीनाम्' सूर्यादि लोकों के अन्दर बहने वाली विभिन्न धाराओं के कर्म इसी प्रकार के होते हैं। इसका अर्थ यह है कि निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों के अन्दर पदार्थ की धाराएँ जिस प्रकार से ध्वनियाँ उत्पन्न करते हुए वेगपूर्वक आगे बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार निर्मित सूर्यादि लोकों में भी पदार्थ की वैसी ही धाराएँ घोषपूर्वक प्रवाहित होती रहती हैं।

इसके पश्चात् 'नू च' का निगम इस प्रकार है— 'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्' (ऋ.१.९६.७)। इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम् रयिरिति धननाम रातेर्दानकर्मणः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि है, जिसे महर्षि दयानन्द ने दो रूपों वाला बताया है— 'द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा'। [द्रविणम् = धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु.८.१), द्रविणं धननाम (निघं.२.१०), बलनाम (निघं.२.९)। सदनम् = सदनात् सहस्थानात् (निरु.७.२४)]

इस मन्त्रांश का आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है— सृष्टि की उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल में, जबकि अग्नि तत्त्व उत्पन्न हो चुका होता है, वह शुद्ध अग्नि तत्त्व अथवा विभिन्न

सूक्ष्म कणों की संयोग एवं वियोगादि प्रक्रियाओं में भाग लेने वाला अग्नि तत्त्व विभिन्न सूक्ष्म कण आदि पदार्थों के साथ विद्यमान रहता है तथा वर्तमान में भी अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया पूर्ण होने पर वह अग्नि इन्हीं पदार्थों के साथ विद्यमान रहता है। यहाँ [रयिः = वीर्यं वै रयिः (श.ब्रा.१३.४.२.१३), पशवो वै रयिः (तै.ब्रा.१.४.४.९)] रयि पद का अर्थ प्राण, मरुत्, छन्द अथवा बल-तेज ग्रहण करें, तब इस निगम का अर्थ होगा कि अग्नि की उत्पत्ति के समय एवं सभी पञ्चमहाभूतों तथा विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण होने पर अग्नि तत्त्व एवं प्राण, छन्द एवं बल आदि पदार्थों की साथ-२ विद्यमानता होती है अर्थात् जहाँ भी अग्नि तत्त्व है, वहाँ-वहाँ ये सभी पदार्थ अवश्य विद्यमान होते हैं।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने। [ऋ.५.३९.२]
विद्याम तस्य ते वयमकूपरणस्य दानस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यते।
अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते।
अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते।
अकूपारो न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति।
कच्छेन पातीति वा। कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः खच्छदः।
अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव। कमुदकम्। तेन छाद्यते।

यहाँ ३२वें पद 'दावने' एवं ३३वें पद 'अकूपारः' का निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है— 'विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र है तथा ऋषि अत्रि है। इसका छन्द निचृत् अनुष्टुप् है। यहाँ इसका उत्तरार्ध ही उद्धृत किया गया है, इस कारण हम भी यहाँ उत्तरार्ध पर ही चर्चा करेंगे। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'विद्याम तस्य ते वयमकूपरणस्य दानस्य'।

यहाँ स्कन्दस्वामी ने 'अकूपारणस्य' पाठ ग्रहण किया है। इसका अर्थ यह है कि इस मन्त्र की सूत्रात्मा वायु रूप ऋषि रश्मियाँ इसके देवता रूप इन्द्र तत्त्व के दानादि कर्मों अर्थात् संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओं और उन प्रक्रियाओं में कार्यरत विभिन्न बल रश्मियों, जो सभी प्रकार की क्रियाओं का अच्छी प्रकार पालन करते हुए उन्हें पूर्णता प्रदान करती हैं, को पूर्णतः व्याप्त करती हैं। इस सृष्टि में ऐसा कोई बल नहीं एवं ऐसी कोई क्रिया नहीं, जिनमें भाग लेने वाली प्राणादि रश्मियों को सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ व्याप्त न कर सकें। यहाँ हमने 'वयम्' पद को ऋषि रश्मि सूत्रात्मा वायु के लिए प्रयुक्त सर्वनाम पद माना है तथा 'ते' सर्वनाम को इस मन्त्र के देवता इन्द्र के लिए प्रयुक्त माना है। यहाँ 'दावने' पद का अर्थ 'दानस्य' ग्रहण किया है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने 'अकूपारः' पद के कई निर्वचन किए हैं, जिनको हम क्रमशः उद्धृत करते हुए उस सन्दर्भ में मन्त्र का भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं—
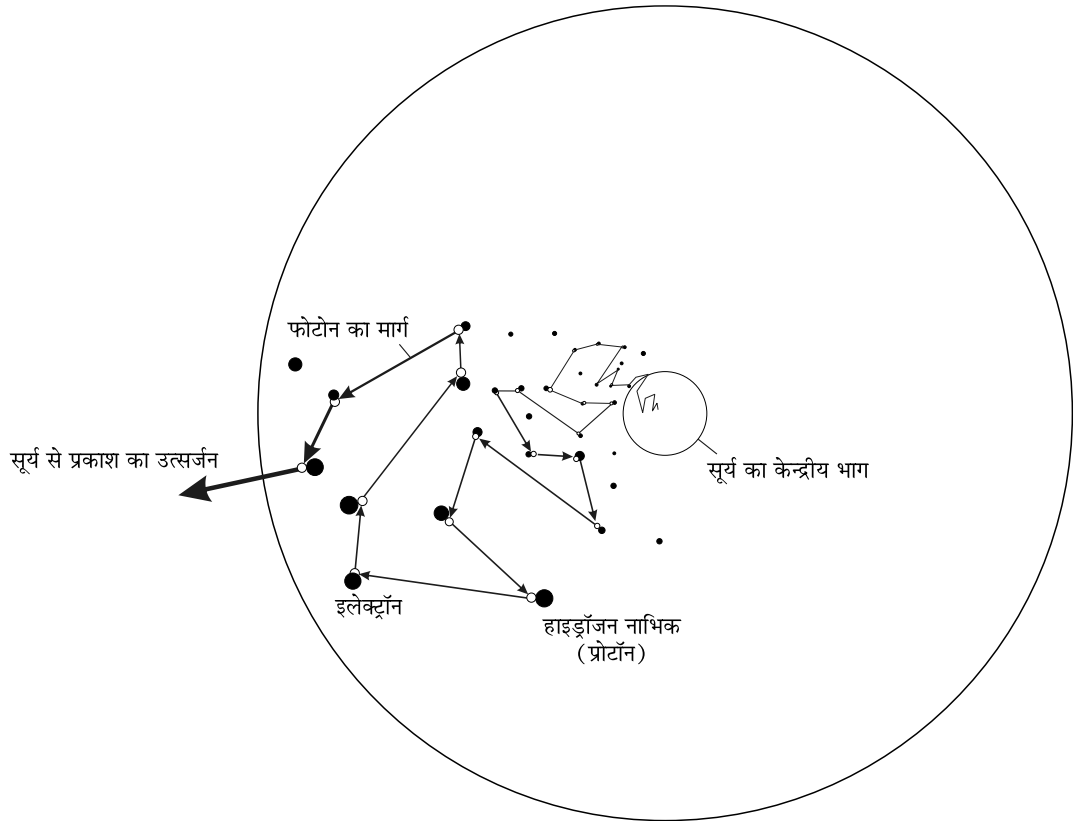
१. आदित्योऽप्यकूपार उच्यते अकूपारो भवति दूरपार: अर्थात् सूर्यलोक को भी अकूपार कहा जाता है, क्योंकि वह हमसे बहुत दूर होता है, इस कारण उसको पार करना असम्भव सा होता है। इसके साथ ही सूर्यलोक का किनारा, वस्तुत: पृष्ठ अत्यन्त विस्तृत होता है तथा उसका आकार भी बहुत विशाल होता है। अकूपार का यह अर्थ ग्रहण करने पर इस मन्त्रांश का आधिदैविक अर्थ यह है कि सूर्यलोक में होने वाली विभिन्न संयोगादि एवं उसके अन्दर होने वाली प्रकाश आदि के उत्सर्जन की क्रियाओं को सम्पादित करने वाली विभिन्न वाक् अथवा प्राण रश्मियों के अन्दर भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अवश्यमेव व्याप्त रहती हैं। इनके अभाव में ये कोई भी क्रियाएँ नहीं हो सकती। इसके साथ ही सूर्य को अकूपार कहने का कारण यह भी है कि सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न कणों वा तरंगों का जो आवागमन होता है, वह भी अति जटिल प्रक्रिया के अन्दर होता है। वे पदार्थ सूर्य के केन्द्र से बाहरी किनारे तक तथा बाहरी किनारे से केन्द्रीय भाग तक बहुत कठिनाई से जा पाते हैं।

२. समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते अकूपारो भवति महापार: अर्थात् समुद्र भी अकूपार कहलाता है। [समुद्र: = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्ष रूपी समुद्र को भी अकूपार कहते हैं, क्योंकि उसका पार अर्थात् सीमा अत्यन्त विशाल होती है। वस्तुत: मानव की दृष्टि से यह सीमा अनन्त होती है। अकूपार का यह अर्थ ग्रहण करने पर निगम का अर्थ यह है कि अतिविशाल आकाश तत्त्व के अन्दर विभिन्न तरंगों, कणों वा रश्मियों के गमनागमन की क्रियाओं में आकाश तत्त्व की अवयवभूत जिन रश्मियों की भूमिका होती है, उनके अन्दर भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ व्याप्त होकर अपनी भूमिका निभाती हैं।

यहाँ यदि समुद्र का अर्थ पृथ्वी आदि लोकों पर स्थित समुद्र ग्रहण करें, तब इसका अर्थ यह होगा कि इन समुद्रों में जो-जो भी क्रियाएँ होती रहती हैं अथवा हो सकती हैं, उनमें जो-जो भी बल कार्य करते हैं, उनके अन्दर भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ व्याप्त होकर अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। ध्यातव्य है कि ग्रन्थकार ने खण्ड १४.१६ में 'समुद्र: आदित्य:' आदित्य को भी समुद्र कहा है। इस कारण ये दोनों निर्वचन एक ही पदार्थ सूर्य के लिए भी प्रयुक्त माने जा सकते हैं। वस्तुत: यही अधिक उचित प्रतीत होता है कि यहाँ समुद्र का अर्थ अन्तरिक्ष के अतिरिक्त आदित्य किया जाये।

३. कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते अकूपारो न कूपमृच्छतीति कच्छपः कच्छं पाति कच्छेन पातीति वा कच्छेन पिबतीति वा। ऋषि दयानन्द ने 'कच्छः' पद को 'कच बन्धने' धातु से व्युत्पन्न मानकर लिखा है— 'कच्यते बध्यतेऽसौ कच्छः' (उ.को.४.१०६)। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इस धातु के अर्थ 'संस्कृत-धातु-कोष' में इस प्रकार दिए हैं— बाँधना, चमकाना, प्रकाशित होना तथा शब्द करना।

इन सब बिन्दुओं पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'कच्छपः' पद भी आदित्य एवं समुद्र की भाँति सूर्यलोक है। कच्छ सूर्यलोक का वह बाहरी भाग है, जो बृहती आदि छन्द रश्मियों एवं अन्य प्राणादि रश्मियों से समृद्ध होकर अपने आकार में बँधा हुआ भी रहता है और उसी बाहरी तल के द्वारा वह प्रकाशित भी दिखाई देता है। इसके साथ ही उस बाहरी तल में ही गम्भीर घोष निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। यद्यपि प्रकाश का मूल स्रोत सूर्य का केन्द्रीय भाग ही है, परन्तु वास्तव में केन्द्रीय भाग में प्रकाश तरंगें नहीं, बल्कि गामा किरणें उत्पन्न होती हैं, जो बाहरी तल तक आते-२ प्रकाश तरंगों में परिवर्तित हो जाती हैं, ऐसा वर्तमान वैज्ञानिकों का मत है, जो हमारे उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है कि सूर्य का बाहरी क्षेत्र उसे प्रकाशित होता हुआ प्रतीत कराता है। इस कारण इस कच्छ संज्ञक बाहरी क्षेत्र के बन्धक बल एवं प्रकाशन कर्म के द्वारा सम्पूर्ण सूर्यलोक और उसके स्वरूप की रक्षा होती है।

इसके पूर्व जो ग्रन्थकार ने कहा है— 'अकूपारो न कूपमृच्छतीति', इससे यह संकेत मिलता है कि अकूपार अर्थात् सूर्य के बाहरी चमकीले बन्धक आवरण से रक्षित सूर्यलोक अर्थात् उसमें विद्यमान पदार्थ सौर कूपों को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् सौर कूप इस बाहरी बन्धक एवं प्रकाशक क्षेत्र से जुड़े नहीं होते हैं। इस कारण सौर कूपों के क्षेत्र ['ऋच्छति' पद 'ऋछ गतीन्द्रियमूर्तिप्रलयभावेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में इस धातु के अर्थ इस प्रकार दिए हैं— जाना, कठिन होना, सख्त होना, दृढ़ होना तथा इन्द्रिय का बल घट जाना।] इस बाहरी कच्छ संज्ञक आवरण के कारण न तो उत्पन्न होते हैं, न बलवान् होते हैं, न गमन करते हैं और न स्थिर ही होते हैं अर्थात् इन सौर कूपों की रक्षा में बाहरी क्षेत्र की भूमिका नहीं होती।

इसके साथ 'कच्छपः कच्छं पाति' इसका अर्थ यह है कि कच्छ के द्वारा रक्षित

कच्छप संज्ञक सूर्यलोक कच्छ संज्ञक बाहरी क्षेत्र की रक्षा भी करता है अर्थात् सूर्यलोक का भीतरी विशाल पदार्थ और बाहरी आवरण दोनों ही परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। भीतरी विशाल भाग में विद्यमान पदार्थ अपने प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल के कारण बाहरी क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ को बाँधे रखते हैं। इसके साथ ही भीतरी पदार्थ केन्द्रीय भाग में उत्पन्न गामा किरणों को बाहरी क्षेत्र में निरन्तर लाते रहकर उसे प्रकाश उत्पन्न करने योग्य बनाए रखते हैं। उधर बाहरी क्षेत्र सम्पूर्ण पदार्थ को इस प्रकार बाँधे रखता है, जैसे कोई किसी जाल अथवा वस्त्र में किसी पदार्थ को बाँधकर पिण्डाकार प्रदान करता है।

अब 'कच्छः' पद का निर्वचन करते हुआ लिखा है— 'कच्छः खच्छः खच्छदः'। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक का बाहरी कच्छ संज्ञक भाग 'खम्' अर्थात् आकाश तत्त्व के द्वारा आच्छादित होता है तथा स्वयं भी सूर्य के पृष्ठ भाग के आच्छादक आकाश तत्त्व को आच्छादित करता है अर्थात् आकाश तत्त्व एवं कच्छ संज्ञक बाहरी क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न रश्मियाँ परस्पर मिश्रित अवस्था में रहती हैं और यही सूर्यलोक की परिधि है।

अन्त में लिखा है— 'अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कमुदकम् तेन छाद्यते' अर्थात् सूर्यलोक के अन्दर बहने वाली पदार्थ की नदीरूप धाराओं के किनारे भी इसी कारण कच्छ कहलाते हैं, क्योंकि वे किनारे अर्थात् उन धाराओं के सिरों के रूप में विद्यमान विभिन्न कण, रश्मि वा तरंग आदि पदार्थ उन धाराओं में प्रवाहित होने वाले 'कम्' अर्थात् सम्पूर्ण क्षेत्र को सिंचित करने वाले विशाल पदार्थ समूह, जो नदी में जल की भाँति निरन्तर बहता हुआ उन सौर कूपों में गिरकर सूर्य के भीतरी भागों तक निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, को आच्छादित किए रहते हैं। इसके साथ ही ये किनारे अपेक्षाकृत चमकीले भी होते हैं। यहाँ 'अयमपि इतरः' पदों का प्रयोग यह दर्शाता है कि 'कच्छ' पार्थिव नदियों के किनारों को भी कहते हैं। ये किनारे नदियों के जल को आच्छादित करके रोके रहते हैं। सौर नदियों का ग्रहण तो हमने प्रसंगवश किया है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सभी प्रकार के बलों व क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु रश्मियों की भूमिका होती है। सूर्य के अन्दर होने वाली सभी प्रकार की क्रियाओं में इन रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। ये सभी क्रियाएँ अत्यन्त जटिल होती हैं, इस कारण केन्द्रीय भाग से प्रकाश को बाहर तक आने में बहुत समय लगता है। सूर्यलोक की बाहरी परिधि मुख्यतः सूत्रात्मा एवं बृहती छन्द रश्मियों से बँधी रहती है। इस क्षेत्र में गम्भीर घोष

निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। बाहरी परिधि अपने बन्धन बल के द्वारा सम्पूर्ण सूर्यलोक को बाँधे रखती है। सूर्यलोक के अन्दर जो विभिन्न प्रकार के कूपनुमा क्षेत्र होते हैं, वे बाहरी परिधि से कुछ नीचे होते हैं, इससे बाहरी परिधि को कोई क्षति नहीं पहुँचती और न यह परिधि सौर कूपों को कोई बल प्रदान करती है। सूर्यादि लोकों के बाहरी परिधि भाग में आकाशतत्त्व भी इन लोकों को आच्छादित किये रहता है।

'अकूपार' का अर्थ कच्छपरूपी सूर्य ग्रहण करने पर मन्त्रांश का अर्थ यह होगा— सूर्यलोक के अन्दर कच्छरूपी बाहरी भाग तथा उससे सम्बन्धित भीतरी पदार्थ के अन्दर उपर्युक्त सम्बन्धित निर्वचनों में जिन-जिन भी क्रियाओं का वर्णन किया गया है, उन सभी क्रियाओं में संलग्न कण, तरंग व रश्मि आदि पदार्थों में भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों की व्याप्ति अनिवार्यतः होती है।

शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे। [ऋ.५.२.९]
निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणाय। रक्षो रक्षितव्यमस्मात्।
रहसि क्षणोतीति वा। रात्रौ नक्षत इति वा।
अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः। [ऋ.१०.३.७]
सुतुकनः सुतुकनैरिति वा। सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा।
सुप्रायणाऽअस्मिन्यज्ञे वि श्रयन्ताम्॥ [यजु.२८.५]
सुप्रगमनाः॥ १८॥

अब ३४वें पद 'शिशीते' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे'। इस मन्त्र का देवता अग्नि है तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इस मन्त्रांश, जो पूरे मन्त्र के अन्तिम पाद के रूप में है, का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रक्षसे, विनिक्षे) 'रक्षसो विनिक्षणाय रक्षो रक्षितव्यमस्मात् रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वा' जो रश्मि आदि पदार्थ अप्रकाशित होते हुए गमन करते हैं अर्थात् गमन करते हुए भी अप्रकाशित ही रहते हैं तथा देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थों के दुर्बल एवं असहाय रहने पर उन्हें नष्ट कर देते हैं। इसके साथ ही देव पदार्थों को अपनी सृजन क्रियाएँ करने के

लिए जिनसे अपनी रक्षा करना अनिवार्य होता है, वे रक्षस् अथवा राक्षस कहलाते हैं, ऐसे बाधक वा घातक पदार्थों को विनष्ट करने के लिए (शृङ्गे, शिशीते) 'निश्यति शृङ्गे' [शृङ्गम् = शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं.१.१७)] विद्युत् अग्नि अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं को और भी तीक्ष्ण बनाता है अर्थात् तीक्ष्ण बलयुक्त एवं तीक्ष्ण ज्वालाओं से सम्पन्न विद्युत् तरंगें घातक असुरादि पदार्थों को नष्ट कर देती हैं।

तत्पश्चात् ३५वें पद 'सुतुकः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'अग्निः सुतुकः सुतकेभिरश्वैः'। इसका देवता अग्नि एवं छन्द त्रिष्टुप् है। यहाँ उद्धृत अंश इस मन्त्र का तृतीय पाद है। इसके कारण अग्नि तत्त्व तीव्र बल एवं तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्निः) वह अग्नि तत्त्व (सुतुकः) 'सुतुकनः सुतुकनैरिति वा सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा' सुन्दर गति से युक्त होता है। यहाँ 'तुक्' धातु छान्दस है, जो गति अर्थ में प्रयुक्त है। इसके साथ ही वह अग्नि तत्त्व सुन्दर प्रजाओं को उत्पन्न करने वाला भी होता है अर्थात् वह अग्नि नाना प्रकार के सुन्दर रूपों वाले कण आदि पदार्थों को उत्पन्न करने वाला होता है। (सुतुकेभिः, अश्वैः) वह अग्नि रूप तत्त्व आशुगामी धनञ्जय एवं प्राणादि रश्मियों के साथ-२ कुछ छन्द रश्मियों के अश्वों अर्थात् वहनकर्त्ताओं को अपना वाहन बनाकर तीव्र गति से गमन करता है अर्थात् अग्नि तत्त्व के वाहक रूपी पदार्थ भी सुन्दर गतियों से युक्त होते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ सुप्रजावान भी होते हैं। इसका अर्थ यह है कि अग्नि की तरंगों को वहन करने वाली विभिन्न रश्मियाँ गमन करते-२ नाना प्रकार के रश्मि रूप प्रजाओं को भी उत्पन्न करती रहती हैं, विशेषकर अग्नि की सतत प्रवहमान तरंगों के किसी कण के साथ संयुक्त होते समय।

अन्त में ३६वें अनवगत संस्कार पद 'सुप्रायणाः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सुप्रायणाऽअस्मिन् यज्ञे वि श्रयन्ताम्'। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् अतिजगती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्रतापूर्वक दूर-२ तक फैलने लगता है। यहाँ प्रस्तुत निगम इस सम्पूर्ण मन्त्र का एक भाग है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुप्रायणाः) 'सुप्रगमनाः' सुन्दर गति करने वाली विभिन्न मरुद् रश्मियाँ (अस्मिन्, यज्ञे) इस इन्द्र तत्त्व की नाना प्रकार की यजन क्रियाओं में (विश्रयन्ताम्) विशेष रूप से भाग

लेती हैं। बिना मरुद् रश्मियों के इन्द्र तत्त्व अपने किसी भी कर्म को सम्पन्न नहीं कर सकता। इस कारण ये मरुद् रश्मियाँ विद्युत् तरंगों रूपी इन्द्र के ऊपर अथवा उसके साथ-२ सदैव क्रीड़ा करती रहती हैं। इसी बात को एक वेदवेत्ता ने इस प्रकार कहा है— इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो.उ.१.२३)।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥

[ऋ.१.८९.१]

देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युः। अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः। रक्षितारश्च। अहन्यहनि।

इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द भुरिक् जगती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ दूर-२ तक गमन करते हुए विस्तृत होते हैं। ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के उत्तरार्ध को ३७वें पद 'अप्रायुवः' के निगम के रूप में उद्धृत किया है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवाः) 'देवाः' विभिन्न प्रकार के देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थ, विशेषकर प्राणादि रश्मियाँ (नः, यथा, सदम्, इत्, वृधे) 'नो यथा सदा वर्धनाय' जिस प्रकार हम अर्थात् धनञ्जय रश्मियों पर आरूढ़ होकर गमन करने वाले अग्नि अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सतत रूप से वृद्धि को प्राप्त होवें, वैसा व्यवहार करती हैं।

(दिवे, दिवे) 'अहन्यहनि' [अहन् = अग्निर्वाऽहः सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५), अहरेव सविता (गो.पू.१.३३)] सभी सूर्यलोकों में एवं अग्नि की सभी तरंगों में (अप्रायुवः, रक्षितारः) 'अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः रक्षितारश्च' वे देव पदार्थ अर्थात् प्राणादि रश्मियाँ अविराम रूप से उनकी रक्षा करती हुई उनके साथ संगत रहते हुए गमन करती रहती हैं। (असन्) 'स्युः' वे प्राणादि रश्मियाँ सदैव इसी प्रकार के व्यवहार से युक्त होती

हैं।

च्यवन ऋषिर्भवति। च्यावयिता स्तोमानाम्।
च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति।
युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः॥
[ऋ.१०.३९.४]
युवां च्यवनम्। सनयं पुराणम्। यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय ततक्षथुः।
युवा प्रयौति कर्माणि। तक्षतिः करोतिकर्मा।

अब अगले ३८वें पद 'च्यवनः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम् च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति'। च्यवन ऋषि को कहते हैं अर्थात् च्यवन एक प्रकार की ऋषि रश्मि का नाम है। ये ऋषि रश्मियाँ विभिन्न स्तोमों को इस प्रकार उत्पन्न करती हैं, जैसे किसी सूक्ष्म छिद्र वाले जल से भरे पात्र से जल रिसता रहता है अर्थात् च्यवन रश्मियों से निरन्तर छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होकर रिसती हुई सी रहती हैं और इसके साथ ही वे छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से प्रकाश को उत्पन्न करने वाली तथा समूहों में उत्पन्न होने वाली होती हैं। वेद में 'च्यवनः' के निगम 'च्यवानः' नाम से भी होते हैं। इसके लिए ग्रन्थकार ने मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार उद्धृत किया है—

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः॥

इसका देवता अश्विनौ है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(युवम्, च्यवानम्, सनयम्) 'युवां च्यवनम् सनयं पुराणम्' वे दोनों अश्विनौ अर्थात् प्राण एवं अपान तथा प्राण एवं उदान रश्मियों के युग्म च्यवन संज्ञक ऋषि रश्मियों, जो पुरानी हो चुकी होती हैं अर्थात् जो पूर्व में उत्पन्न हुई होने से तथा अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते रहने से कुछ जीर्ण वा शिथिल हो चुकी होती हैं अर्थात् उनकी शक्ति में न्यूनता आ जाती है, (यथा, रथम्, पुनर्युवानम्, चरथाय, तक्षथुः) 'यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय ततक्षथुः युवा प्रयौति कर्माणि तक्षतिः करोतिकर्मा' [रथम् = वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२), तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते (गो.पू.२.२१), रसः = वाङ्नाम (निघं.१.११), अन्ननाम (निघं.२.७)] वे प्राण-अपान एवं प्राण-उदान रश्मियुग्म जिस

प्रकार विभिन्न प्रकार की संयोजी तीक्ष्ण वाक् रश्मियों, जो शिथिल हो चुकी होती हैं, को पुनः तीक्ष्ण करके संयोजक बलों से युक्त करते हैं, वैसे ही प्राणापान आदि रश्मि युग्म च्यवन रूपी रश्मियों को तीक्ष्ण बनाकर उनको अपने कर्मों में युक्त करते हैं। यहाँ इससे यह भी संकेत मिलता है कि जब च्यवन ऋषि रश्मियाँ दुर्बल वा शिथिल हो जाती हैं, उस समय प्राणापान आदि युग्म रश्मियाँ विभिन्न वाक् रश्मियों, जो च्यवन ऋषि रश्मियों के समान दुर्बल हो चुकी होती हैं, को तीक्ष्ण बनाती हैं और वैसे ही तथा उसी समय ही च्यवन ऋषि रश्मियाँ भी तीक्ष्ण वा सामर्थ्यवती हो उठती हैं। यहाँ आधिदैविक पक्ष में उपमासूचक 'वैसे ही' की अपेक्षा 'उसी समय' अर्थ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है।

रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते।

रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवः। [ऋ.५.६३.५]

इत्यपि निगमो भवति।

तदनन्तर ३९वें पद 'रजः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रजो रजतः ज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्ते असृगहनी रजसी उच्येते'। यह पद 'रञ्ज रागे' धातु से व्युत्पन्न होता है। आप्टेकोष में इस धातु के कुछ अर्थ इस प्रकार हैं— रंगना, चमकना, अनुरक्त होना, जीत लेना, मेल करना आदि। इस प्रकार जो पदार्थ अन्य पदार्थों को अपने समान रंग में रंग देता है, उन्हें अपना अनुरक्त बना लेता है, उन्हें नियन्त्रित करता अथवा अपने साथ संयुक्त रखता है, उसे 'रजः' कहते हैं। यहाँ 'रजः' के पाँच उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं—

१. ज्योतीः — विद्युत् एवं प्रकाश भी रजः कहलाते हैं, क्योंकि प्रकाश जिस पदार्थ पर गिरता है, उसे अपने समान वर्णयुक्त दीप्ति से प्रकाशित कर देता है। उधर विद्युत् जिस पदार्थ के अन्दर विद्यमान होती है, उसे अपना अनुरक्त बनाकर उसके साथ पूर्ण रूप से मिश्रित हो जाती है तथा वह विद्युत् उस पदार्थ की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को नियन्त्रित भी करती है।

२. उदकम् — जल एवं ऐसे सूक्ष्म पदार्थ, जो अपनी वृष्टि के द्वारा विभिन्न पदार्थों को सिंचित करते हैं, भी रजः कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ इस सृष्टि में अनेक प्रकार के होते हैं,

जो सभी गुणों की समानता के कारण रजः व उदक कहलाते हैं। ये पदार्थ उन पदार्थों को अपना अनुरक्त बनाकर उनके साथ पूर्णतः मिल भी जाते हैं।

३. लोकाः — इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोक एवं कण भी रजः कहलाते हैं, क्योंकि ये सभी लोक वा कण अपने गुरुत्व बल अथवा अपने से छोटे लोकों अथवा कणों को अपने बलों के द्वारा बाँधे रखते हैं। इसके साथ ही उन्हें अपना अनुगामी बनाकर अपने साथ गमन कराते रहते हैं। ये लोक वा कण अपनी बल रश्मियों के द्वारा अपने अनुरक्त लोकों वा कणों के साथ सदैव बँधे वा मिले हुए रहते हैं।

४. असृक् — [असृक् = प्रजापतिः पशूनसृजत, स वा असृगेव नासृजताऽसृष्टꣳ वा एतत्, तदस्नोऽसृक्त्वम् (मै.सं.४.२.९), रक्षसां भागोऽसीति रक्षसाꣳ ह्येष भागो यदसृक् (श.ब्रा. ३.८.२.१४)] राक्षस संज्ञक बाधक वा हिंसक रश्मि आदि पदार्थ भी असृक् कहलाते हैं और इन्हें भी रजः इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये पदार्थ अन्य पदार्थों को अपने प्रभाव से प्रभावित करके सृजन प्रक्रिया से पृथक् करने में समर्थ होते हैं।

५. अहन् — सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भाग को भी रजः कहते हैं, क्योंकि यह भाग सम्पूर्ण सूर्यलोक को अपने बल व ऊर्जा से अपना अनुरक्त बनाए रखता है। इसके साथ ही यह भाग अपने साथ सम्पूर्ण लोक को बाँधे रखता है।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवः'। इस मन्त्र का देवता मित्रावरुणौ तथा छन्द जगती है। इससे यह छन्द रश्मि प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही लोकों वा कणों को दूर-दूर तक विस्तृत करने में अपनी भूमिका निभाती है। यह निगम इस मन्त्र का तृतीय पाद है, जिसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रजांसि) उपर्युक्त नाना प्रकार के लोक, कण, प्रकाशाणु, सूर्यलोकों के केन्द्रीय भाग एवं बाधक व घातक राक्षस संज्ञक पदार्थ, (तन्यवः) [तन्यवः = विद्युतः (ऋ.द.भा.)] विद्युत् चुम्बकीय बल की तरंगें (चित्राः, विचरन्ति) अद्भुत व विचित्र ढंग से विविध मार्गों पर विचरण करती हैं। इस कारण इनकी गतियों को सम्यक् प्रकार से जानना कठिन होता है।

हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोका हरांस्युच्यन्ते। असृगहनी हरसी उच्येते।

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि। [ऋ.१०.८७.२५]
इत्यपि निगमो भवति।

अब ४०वें पद 'हर:' का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'हरो हरतेः ज्योतिर्हर उच्यते उदकं हर उच्यते लोका हरांस्युच्यन्ते असृगहनी हरसी उच्येते' अर्थात् 'हर:' पद 'हृञ् हरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ भी ग्रन्थकार ने पाँच पदार्थों को हर: अर्थात् हरणशील कहा है। वे पदार्थ निम्नानुसार हैं—

१. ज्योतिः **२.** उदक **३.** लोक **४.** असृक् **५.** अहन्

इन सभी पदार्थों के विषय में हम ऊपर चर्चा कर ही चुके हैं। ये सभी पदार्थ कैसे हरणशील होते हैं, यह पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। यहाँ 'हर:' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि'। इस मन्त्र का देवता रक्षोऽग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इस छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से बाधक व घातक राक्षस संज्ञक विद्युत् तीक्ष्ण बल से युक्त होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्ने) तीक्ष्ण विद्युत् अग्नि तरंगें (हर:) राक्षस संज्ञक घातक तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के विध्वंसक वा प्रक्षेपक बलों की तीक्ष्णता को (हरसा) अपने तीक्ष्ण तेज के द्वारा (प्रति, शृणीहि) उन घातक राक्षस संज्ञक विद्युत् तरंगों पर सम्मुख प्रहार करके नष्ट करती हैं अर्थात् जब सृजन क्रिया में भाग लेने वाली विद्युत् वा कणों पर घातक राक्षस संज्ञक विद्युत् प्रहार करती है, तब दैव विद्युत् उस घातक विद्युत् की ओर लौटकर तीक्ष्ण प्रहार करती है, जिससे राक्षस संज्ञक विद्युत् नष्ट हो जाती है और यजन कर्म समुचित रूप से चलने लगते हैं।

जुहुरे वि चितयन्तः। [ऋ.५.१९.२]
जुह्विरे विचेतयमानाः।

अब ४१वें पद 'जुहुरे' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'जुहुरे वि चितयन्त:'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् गायत्री होने से इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेज एवं बल से युक्त होता है। इस मन्त्रांश का आधिदैविक

भाष्य इस प्रकार है—

(जुहुरे, वि, चितयन्तः) 'जुह्विरे विचेतयमानाः' इस सृष्टि में विभिन्न कण वा रश्मि आदि पदार्थ परस्पर एक-दूसरे के साथ विज्ञानपूर्वक संगत होते रहते हैं। ध्यातव्य है कि कण व तरंग वा रश्मि आदि सभी पदार्थ अचेतन होने से उनमें विज्ञान का होना सम्भव नहीं, परन्तु सम्पूर्ण सृष्टि पर सूक्ष्म दृष्टिपात तो क्या, बल्कि स्थूल दृष्टिपात ही यह स्पष्ट कर देता है कि सम्पूर्ण सृष्टि न तो यदृच्छया बनी व चल रही है और न यह अनियन्त्रित है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि किसी सर्वोच्च बल व बुद्धि के द्वारा रची गई व नियन्त्रित भी है। यह 'चेतना' ईश्वरीय है। इसी ईश्वरीय चेतन्य से चेतनवत् व्यवहार करते हुए कण, तरंगादि पदार्थ उसी परम चेतना के विज्ञानपूर्वक परस्पर संयोग व वियोगादि क्रियाओं को सम्पादित करते हैं। इस कर्म में 'ओम्' रश्मियाँ माध्यम (साधन) की भूमिका निभाती हैं।

व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा।

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः। [ऋ.६.१.४]

इति पश्यतिकर्मा।

वीहि शूर पुरोळाशम्। [ऋ.३.४१.३]

इति खादतिकर्मा।

वीतं पातं पयस उस्त्रियायाः। [ऋ.१.१५३.४]

अश्नीतं पिबतं पयस उस्त्रियायाः। उस्त्रियेति गोनाम।

उत्स्त्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्त्रेति च।

यहाँ ४२वें पद 'व्यन्तः', जो अनेकार्थवाची है, की चर्चा करते हैं। यह पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इस अनेकार्थक धातु से व्युत्पन्न होने से अनेकार्थवाची है। इसके भिन्न-२ अर्थों में भिन्न-२ निगम प्रस्तुत किए गये हैं। सर्वप्रथम पश्यतिकर्मा 'वी' धातु से व्युत्पन्न 'व्यन्तः' पद का निगम प्रस्तुत किया गया है। ध्यातव्य है कि धातुपाठ में इस धातु का अर्थ देखना नहीं है, परन्तु ग्रन्थकार ने इसे पश्यतिकर्मा कहा है और इसी अर्थ में निगम इस प्रकार है— 'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण बल एवं तेज से

समृद्ध होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवस्य, पदम्) [पदम् = पशवः पदम् (मै.सं.३.७.७)] विभिन्न सूक्ष्म पदार्थ देव पदार्थों अर्थात् दृश्य कणों वा विकिरणों के मार्गों तथा उनके साथ संगत होकर गमन करने वाली प्राण व छन्दादि रश्मियों को (नमसा, व्यन्तः) [नमः = यज्ञो वै नमः (श.ब्रा.२.४.२.२४), वज्रनाम (निघं.२.२०)] अपनी वारक व संयोजक शक्तियों वा इन शक्तियों वाली सूक्ष्म रश्मियों से देखते हुए गमन करते हैं। यहाँ वाक्य अपूर्ण होने से हमने 'देखते हुए' के स्थान पर 'देखते हुए गमन करते हैं', ऐसा लिख दिया है। यहाँ जड़ पदार्थों में देखने का अर्थ अपने साथ संगत होने योग्य कणों वा विकिरणों को खोजना समझना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने ऋ.१.२४.१ के भाष्य में 'दृशेयम्' पद का अर्थ 'इच्छां कुर्याम्' किया है, यह भी हमारे मत की पुष्टि करता है। इसी प्रक्रिया के चलते कणों वा विकिरणों में आकर्षण होता है।

अब अगला निगम प्रस्तुत करते हैं— 'वीहि शूर पुरोळाशम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री होने से इस छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी होता है। यह निगम इस मन्त्र का अन्तिम पाद है। इसमें 'वी' धातु खाने के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शूर) [शूरः = शवतेर्गतिकर्मणः (निरु.४.१३)] अतितीव्र गति वाले अथवा हिंसक गति वाले कण आदि पदार्थ (पुरोळाशम्) [पुरोडाशः = यजमानो वै पुरोडाशः (तै.सं.१.५.२.३), आग्नेयः पुरोडाशो भवति (श.ब्रा.२.४.४.१२), ब्रह्मवर्चसं पुरोडाशः (काठ.सं.२२.१३)] विद्युद् युक्त संयोज्य कणों को (वीहि) खा जाते हैं अर्थात् नष्ट कर देते हैं। यहाँ नष्ट करने का तात्पर्य विखण्डन करना है। परमाणुओं (एटम्स) का विखण्डन इसका एक उदाहरण है। सूर्य की अनेक किरणें भी अनेक प्रकार के अणुओं (मोलिक्यूल्स) का विखण्डन करती हैं। गामा व एक्स किरणें विखण्डन का तीव्र गुण रखती हैं।

अन्त में 'वी' धातु का तीसरा निगम प्रस्तुत किया है— 'वीतं पातं पयस उस्रियायाः'। इसका देवता मित्रावरुण तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से प्राण-अपान तथा प्रकाशित व अप्रकाशित कणों की संगमनीयता व विस्तार में वृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

वे मित्रावरुण अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक (उस्त्रियायाः) 'उस्त्रियायाः उस्त्रियेति गोनाम उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः उस्रेति च' ब्रह्माण्ड में गमन करती हुई नाना प्रकार की वाक् रश्मियों, कणों वा विकिरणों से उत्सर्जित होने वाले (पयसः) 'पयसः' [पयसः = पयः ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), प्राणः पयः (श.ब्रा.६.५.४.१५), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), अन्ननाम (निघं.२.७)] तीव्र ऊर्जा वाले संयोज्य कणों वा प्राण रश्मियों का (वीतम्, पातम्) 'अश्नीतं पिबतम्' भक्षण वा पान करते हैं। यहाँ भक्षण करना एवं पान करना प्रायः समानार्थक है, इस कारण यहाँ 'पा' धातु का अर्थ पीने के स्थान पर संरक्षण करना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार वे इनका भक्षण वा संरक्षण करते हैं।

ध्यातव्य है कि जब मित्रावरुण से लोकों का ग्रहण हो, तब उनके द्वारा कणों व तरंगों का भक्षण व संरक्षण करना माना जाए एवं जब मित्रावरुण से कणों वा किरणों का ग्रहण हो, तब उनके द्वारा प्राणादि सूक्ष्म रश्मियों का भक्षण वा संरक्षण करना ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'उस्त्रिया' व 'उस्रा' दोनों ही पदों से गौ का ग्रहण होता है, जिससे वाक् रश्मियों, कणों वा विकिरणों का ग्रहण होता है। यहाँ भक्षण करने का अर्थ यह है कि वे कण, विकिरण वा प्राणादि रश्मियाँ खण्ड-२ होकर अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ में परिवर्तित हो जाएँ तथा संरक्षण का अर्थ यह है कि ये पदार्थ अपने इसी रूप में अपने संरक्षक लोक वा कण में संरक्षित रहकर उनकी ऊर्जा आदि में वृद्धिमात्र करें।

त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः।
गोभिः क्राणा अनूषत॥
गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत।

यहाँ ४३वें पद 'क्राणः' का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः गोभिः क्राणा अनूषत'। यह मन्त्र कहाँ से उद्धृत किया है, यह अज्ञात है। वेद संहिताओं में यह मन्त्र उपलब्ध नहीं है। किसी शाखा में यह मन्त्र विद्यमान हो, ऐसा भी कुछ निश्चय नहीं है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री प्रतीत होता है, इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मतिभिः, सुते) विभिन्न सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा सम्पीडित विभिन्न सूक्ष्म वा स्थूल

पदार्थों के अन्दर (सुनीथासः, वसूयवः) [सुनीथासः = सुनीतिप्रदाः (म.द.ऋ.भा.५.६७.४)। वसूयवः = वसुकामाः (निरु.६.६)] विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म प्राण आदि पदार्थों को आकर्षित करने वाले तथा उन प्राणादि पदार्थों को सहज भाव से वहन करने अथवा उनके द्वारा सम्यक् गति प्राप्त करने वाले कण वा विकिरण (गोभिः) 'गोभिः' विभिन्न वाक् रश्मियों के द्वारा (त्वाम्, इन्द्र) तुझ को अर्थात् इन्द्र तत्त्व को (क्राणाः) 'कुर्वाणाः' धारण करते हुए (अनूषत) 'अस्तोषत' प्रकाशित करते हैं। इसका तात्पर्य है कि जैसे-२ कोई पदार्थ सम्पीडित वा सघन होता चला जाता है, वैसे-२ उसके अन्दर विद्युत् आदि बलों में वृद्धि होती जाती है।

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।

[ऋ.१०.१०१.१०]

आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य। हरिः सोमो हरितवर्णः।
अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव। वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा। वाग्भिरिति वा।

यहाँ ४४वें पद 'वाशी' का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः'। इसका देवता विश्वेदेवा वा ऋत्विज् तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ विशेष प्रकाशित होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्रोः, उपस्थे) 'द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य' [द्रुः = वनस्पतयो वै द्रुः (तै.ब्रा.१.३.९.१)। वनस्पतिः = अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ.ब्रा.१०.६)। उपस्थः = उपस्थे उपस्थाने (निरु.७.२६)] वे सभी देव पदार्थ अग्नि के अन्दर विद्यमान रहते हुए अथवा आग्नेय पदार्थों के अन्दर विद्यमान रहकर (हरिम्, ईम्, आ, तु, सिञ्च) 'आसिञ्च हरिं हरिः सोमो हरितवर्णः अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव' हरितवर्ण सोम पदार्थ को सिंचित करते हैं। यहाँ सोम पदार्थ को हरितवर्ण कहा है, यह प्रेक्षितव्य है। यद्यपि सोम रश्मियों को किसी भी तकनीक के द्वारा देखना सम्भव नहीं है, पुनरपि इनका रंग हरा होता है, भले ही वह हमारे ज्ञान की दृष्टि में अव्यक्त हो। हमारी दृष्टि में यहाँ हरितवर्ण का अर्थ यह है कि सोम पदार्थ देव पदार्थों के द्वारा सदैव आकर्षित होने के स्वभाव वाला होता है।

[हरिः = इमे (द्यावापृथिवी) वै हरी (तै.ब्रा. ३.९.४.२)] इसके साथ 'हरिः' पद का दूसरा अर्थ द्यावापृथिवी अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक होता है। इनको भी देव पदार्थ निरन्तर सिंचित करते रहते हैं। स्मर्तव्य है कि जब 'हरिः' का अर्थ विकिरण व कण होवे, तब देव पदार्थ का अर्थ प्राण रश्मियाँ ग्रहण करना चाहिए, इसके साथ ही अन्य कण व विकिरण भी ग्रहण करना चाहिए।

(अश्मन्मयीभिः, वाशीभिः, तक्षत) 'वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा' [अश्मन् = अश्मा मेघनाम (निघं.१.१०), यह पद 'अशूङ् व्याप्तौ संघाते च' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वे देव पदार्थ व्यापक संघात को प्राप्त मेघरूप वाक् रश्मियों के द्वारा कणों, विकिरणों वा लोकों को तीक्ष्ण बनाते हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा में वृद्धि करते हैं अथवा उन्हें खण्डित भी करते रहते हैं। लोकों के विखण्डन वा कणों के विखण्डन में ऐसी ही स्थिति निर्मित होती है।

भावार्थ— सोम रश्मियाँ अव्यक्त हरित वर्ण की होती हैं, जो आग्नेय पदार्थों को सदैव सिंचित करती रहती हैं तथा सदैव उनकी ओर आकृष्ट होती रहती हैं। विभिन्न प्राण रश्मियाँ भी विभिन्न प्रकार के कणों को सदैव सिंचित करती रहती हैं। विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियाँ अपनी वृष्टि करके कणों की ऊर्जा को बढ़ाती हैं एवं उनका विखण्डन भी करती हैं।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः।

[ऋ.७.२१.५]

स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य। मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः। शिश्नं श्नथतेः। अपि गुर्ऋतं नः। सत्यं वा यज्ञं वा॥ १९॥

यहाँ ४५वें पद 'विषुणस्य' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द स्वराट् पंक्ति है, इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व प्रकाशित व विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, अर्यः) [अर्यः = अर्य ईश्वरः (निरु.१३.४)] सूर्यलोक के अन्दर इन्द्र तत्त्व, जो सब

पदार्थों का नियन्त्रक होता है, अति बलयुक्त होता है, वह (विषुणस्य, जन्तोः) 'यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य' जो इन्द्र तत्त्व [जन्तुः = मनुष्यनाम (निघं.२.३), मनुष्या वै जन्तवः (श.ब्रा.७.३.१.३२)] विषम वा विकट मार्ग पर अनिष्ट गति से गमन करने वाले पूर्वोक्त मनुष्य नामक कणों को नियन्त्रित करके (शर्धत्) 'उत्सहताम्' उत्साहित करता है अर्थात् उन्हें सम्यक् गति व ऊर्जा प्रदान करता है।

(शिश्नदेवाः) 'शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः शिश्नं श्नथतेः' [शिश्नम् = श्नथति वधकर्मा (निघं.२.१९), वृत्तमिव हि शिश्नम् (श.ब्रा.७.५.१.३८), शिश्नं वै शोचिष्केशम् (श.ब्रा. १.४.३.९)। शिश्ना = अस्नातानि सूत्राणि (निरु.४.६), इस विषय में खण्ड ४.६ द्रष्टव्य है। 'देवः' पद 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है।] सूर्यलोक के अन्दर पदार्थ की धाराएँ, जो कभी विकृत हो जाती हैं, वे कभी-२ शिथिल वा अति उत्तेजित होकर सौर कूपों के पदार्थ को ताड़ित व विखण्डित करने वाली होने से अनिष्टकारिणी हो जाती हैं।

(मा, नः, अपि, गुः, ऋतम्) 'मा अपि गुर्ऋतं नः सत्यं वा यज्ञं वा' [सत्यम् = तद्यत्तत्सत्यम् असौ स आदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२), असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)] यहाँ 'नः' सर्वनाम पद इस छन्द रश्मि की कारणभूत वसिष्ठ [वसिष्ठः = अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)] नामक प्राण रश्मियों तथा उनकी प्रधानता वाले पदार्थ अर्थात् आग्नेय अर्थात् धनावेशित कणों के लिए प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट किया गया है कि वे शिश्नरूप अनिष्ट धाराएँ आग्नेय अर्थात् धनावेशित कणों को व्याप्त नहीं कर पाती हैं और न वे सूर्यलोक के अन्दर गर्भ में इन कणों के यजनकर्म में पहुँचकर यजन कार्य को बाधित ही कर पाती हैं। वस्तुतः वे धाराएँ सूर्यलोक के गर्भ तक पहुँच ही नहीं पाती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (न) (यातवः) सङ्ग्रामं ये यान्ति ते (इन्द्र) दुष्टशत्रुविदारक (जूजुवुः) सद्यो गच्छन्ति (नः) अस्मान् (न) निषेधे (वन्दना) वन्दनानि स्तुत्यानि कर्माणि (शविष्ठ) अतिशयेन बलयुक्त (वेद्याभिः) ज्ञातव्याभिर्नीतिभिः (स) (शर्धत्) उत्सहेत् (अर्यः) स्वामी (विषुणस्य) शरीरे व्याप्तस्य (जन्तोः) जीवस्य (मा) (शिश्नदेवाः) अब्रह्मचर्या कामिनो ये शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति ते (अपि) (गुः) प्राप्नुयुः (ऋतम्) सत्यं धर्मम् (नः) अस्मान्।

भावार्थः — हे मनुष्या ये कामिनो लम्पटा स्युस्ते युष्माभिः कदापि न वन्दनीयास्तेऽस्मा-न्कदाचिन्माप्नुवन्त्विति मन्यध्वम्। ये च धर्मात्मानस्ते वन्दनीयाः सेवनीयाः सन्ति कामातु-राणां धर्मज्ञानं सत्यविद्या च कदाचिन्न जायते।

पदार्थ— हे (शविष्ठ) अत्यन्त बलयुक्त (इन्द्र) दुष्ट शत्रुजनों के विदीर्ण करने वाले जन जैसे (यातवः) संग्राम को जाने वाले (नः) हम लोगों को (न) न (जूजुवुः) प्राप्त होते हैं और जो (शिश्नदेवाः) शिश्न अर्थात् उपस्थ इन्द्रिय से विहार करने वाले ब्रह्मचर्य्य रहित कामी जन हैं वे (ऋतम्) सत्यधर्म को (मा, गुः) मत पहुँचे (अपि) और (नः) हम लोगों को (न) न प्राप्त हों वे ही (विषुणस्य) शरीर में व्याप्त (जन्तोः) जीव को (वेद्याभिः) जानने योग्य नीतियों से (वन्दनाः) स्तुति करने योग्य कर्मों को न पहुँचे और (यः) जो (अर्यः) स्वामी जन शरीर में व्याप्त जीव को (शर्द्धत्) उत्साहित करे (सः) वह हम को प्राप्त हो।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जो कामी लम्पट जन हों, वे तुम लोगों को कदापि वन्दना करने योग्य नहीं, वे हम लोगों को कभी न प्राप्त हों, इसको तुम लोग जानो और जो धर्मात्मा जन हैं, वे वन्दना करने तथा सेवा करने योग्य हैं, कामातुरों को धर्मज्ञान और सत्य विद्या कभी नहीं होती है।''

* * * * *

विंशः खण्डः

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ [ऋ.१०.१०.१०]

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि। यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि।
जाम्यतिरेकनाम। बालिशस्य वा। समानजातीयस्य वा।
उपजनः। उपधेहि वृषभाय बाहुम्।
अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम्॥ २०॥

यहाँ अगले ४६वें पद 'जामिः' का यह निगम प्रस्तुत किया गया है—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥

इस मन्त्र का ऋषि यमो वैवस्वतः तथा देवता यमी वैवस्वती है एवं छन्द त्रिष्टुप् है। [यमः = अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१४.२.२.११), एष वै यमो यऽएष (सूर्य्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.३.४)। विवस्वान् = विवस्वान् विवासनवान् (निरु.७.२६)] इस कारण इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु एवं धनञ्जय रश्मियों की मिश्रण रूप विशेष नियन्त्रक वायु रश्मियों से होती है तथा इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी पदार्थों को आच्छादित करने वाली सूर्य की किरणें तीव्र तेज व बल से युक्त होती हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (ता) 'तानि' सूर्य की वे किरणें (घा) [घ = एवार्थे निपातः, ऋचि तुनुघ. (अष्टा.६.३.१३३) अनेन दीर्घादेशः (म.द.ऋ.भा.१.५.३)] ही (उत्तरा, युगानि) 'आगमिष्यन्ति उत्तराणि युगानि' उत्तर काल में नाना प्रकार के संयोगों को (आ, गच्छात्) सब ओर से प्राप्त होती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के गर्भ से जब वे किरणें उत्पन्न होकर निकलती हैं, तब वे सूर्यलोक के अन्दर तथा बाहर सुदूर अन्तरिक्ष वा किसी अन्य लोक में प्रविष्ट होने पर सदैव नाना प्रकार के कणों से संयुक्त व वियुक्त होती ही रहती हैं। कभी भी वे मार्ग में आए उन कणों से कोई क्रिया किए बिना गमन नहीं करती हैं।

(यत्र, जामयः) 'यत्र जामयः' जहाँ जामि संज्ञक सूक्ष्म पदार्थों की विशेष ऊर्जा से युक्त धाराएँ, जिनकी चर्चा हम खण्ड ३.४ में कर चुके हैं, (अजामि, कृणवन्) 'करिष्यन्त्य-जामिकर्माणि जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्य वोपजनः' अपनी मर्य्यादाओं का अतिक्रमण करके [बलिम् = संवरणम् (म.द.ऋ.भा.१.७०.५)] अपनी बाहरी परिधियों को छिन्न-भिन्न वा विरल करके अपने से भिन्न प्रकार की धाराओं को धारण करती हैं। (सुभगे) 'सुभगे' [भगः = धननाम (निघं.२.१०)] वहाँ वे किरणें जो विभिन्न कण आदि पदार्थों से युक्त हो जाती हैं अर्थात् उन कणों के साथ क्रियाएँ करती हैं, (वृषभाय, बाहुम्, उप, बर्बृहि) 'उपधेहि वृषभाय बाहुम्' वे नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए अर्थात् नवीन-२ पदार्थों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए मार्ग में आये आकर्षणादि बलों से युक्त कणों के निकट आकर उनका आश्रय ले

लेती हैं अर्थात् उनके द्वारा अवशोषित हो जाती हैं। (मत्) परन्तु शीघ्र ही इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मि रूप सूत्रात्मा व धनञ्जय रश्मियुग्म उस किरण को अपने से दूर (अन्यम्, पतिम्, इच्छस्व) 'अन्यमिच्छस्व पतिम्' अन्य ऐसे कणों, जो उन किरणों को संरक्षित कर सकते हैं, की ओर ले जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूत्रात्मा व धनञ्जय रश्मियुग्म में से धनञ्जय रश्मि पृथक् होकर उस किरण के प्रकाशाणु को अवशोषक कण से पृथक् करके अन्य अवशोषक कण की ओर ले जाती है और वह किरण भी उस कण की ओर आकृष्ट होकर उसके साथ संयुक्त हो जाती है।

भावार्थ— सूर्यलोक के गर्भ में उत्पन्न गामा किरणें केन्द्रीय भाग रूपी गर्भ से बाहर आकर सन्धि क्षेत्र में से गुजरती हुई बाहरी विशाल क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। उस समय वे तरंगें अनेक कणों से टकराती, उनके द्वारा अवशोषित व उत्सर्जित होती हुई सूर्य के बाहरी तल पर अति दीर्घ कालावधि में आ पाती हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इस अवधि को लगभग एक लाख वर्ष मानते हैं। इस प्रक्रिया में वे किरणें अपनी ऊर्जा को भी कुछ मात्रा में खोती रहती हैं। इस प्रक्रिया में कुछ कण उन्हें अवशोषित करके आवश्यक ऊर्जा व ताप भी प्राप्त करते हैं। इसी कारण सूर्य में आवश्यक ताप सदैव बना रहता है। वह कभी भी सम्पूर्ण ऊर्जा को उत्सर्जित करके शीतल नहीं हो पाता। सूर्यलोक से बाहर अन्तरिक्ष व पृथिव्यादि लोकों को भी ये किरणें सतत ऊष्मादि ऊर्जा प्रदान करती रहती हैं। कुछ ऊर्जा को तो ये पदार्थ उत्सर्जित, परावर्तित वा अपवर्तित भी कर देते हैं, परन्तु कुछ ऊर्जा इन पदार्थों में भी संचित रहती है, अन्यथा ये सभी पदार्थ अति शीतल हो जायें और उनमें प्राणी आदि का जीवन नष्ट हो जाए। ऐसे अवशोषक पदार्थ ही यहाँ अन्य पति के रूप में माने गये हैं। ये किरणें ही अन्य लोकों व उनमें विद्यमान पदार्थों की ऊर्जा का विशाल व अनवरत स्रोत हैं।

यह सम्पूर्ण सूक्त यम-यमी नाम से विवादित है, जिसमें कुछ भाष्यकारों ने यम-यमी को भाई-बहिन बताकर उनके विवाह जैसा दूषित वर्णन किया है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इस मन्त्र के अन्तिम पाद की नियोगपरक व्याख्या की है, जो इसका आधिभौतिक अर्थ है। भाई-बहिन का विवाह भी आधिभौतिक अर्थ है, परन्तु वेद से सर्वथा अपरिचित कोई मूर्ख व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। वस्तुतः वेद के आधिदैविक अर्थ एवं वेद के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना वेद के नाम पर संसार में भारी अनर्थ हुआ है और अब भी हो रहा है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में

कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों को रेखांकित किया है, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं-

"अब प्रश्न होता है कि ये यम और यमी कौन हैं।

१. तैत्तिरीय संहिता में प्रवचन है— 'अग्निर्वाव यमः इयं यमी' (३.३.८), शतपथ ब्राह्मण में यजुः (१२.६३) के व्याख्यान में प्रवचन है— 'अग्निर्वै यमः इयं [पृथिवी] यमी आभ्यां हीदं सर्वं यतम्' (७.२.१.१०) और यास्क निरुक्त १०.२० में लिखता है— 'अग्निरपि यम उच्यते'।

२. पुनः यजुः ३७.११ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है— 'एष वै यमो य एष [आदित्यः] तपति। एष हीदं सर्वं यमयति। एतेनेदं सर्वं यतम्' (१४.१.३.४) निरुक्त १२.२९ में ऋ.१०.१३५.१ के द्वितीय पाद— देवैः संपिबते यमः, का व्याख्यान यास्क ने किया— देवैः संगच्छते यमः। रश्मिभिरादित्यः अर्थात् देवों = रश्मियों के साथ संगत होता है यम = आदित्य। इस महान् विज्ञानाविष्ट अर्थ के विपरीत पक्षपाती ईसाई मैक्डानल ने इस मन्त्र का भ्रष्ट, अभिप्राय-शून्य और स्पष्ट को अस्पष्ट बनाने वाला अर्थ अंग्रेजी में किया है—

Yama drinks together (in the note- drinks Soma) with the gods.

आदित्य का रश्मियों के साथ जुड़ना एक वैज्ञानिक घटना है। निरुक्तस्थ इस यथार्थ विज्ञान की अवहेलना करके इस मन्त्र का भद्दा अर्थ करना ईसाई-यहूदी गुट का घृणित काम है।

यम शब्द का एक अन्य अर्थ, यजुः ३८.९ के व्याख्यान में शतपथ में ही है— 'अयं वै यमो योऽयं [वायुः] पवते' (१४.२.२.११)।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अग्निः, आदित्य और वायु आदि देवों का नाम यम होता है और यमी देवी पृथिवी ही है। अतः अग्निः और पृथिवी अथवा आदित्य और पृथिवी आदि विषयक ही वेद का यह आलङ्कारिक आख्यानमय सूक्त है।

वेदगत यम और यमी के आधिभौतिक आख्यान को अत्यन्त स्पष्ट करने वाला मैत्रायणी संहिता का अगला प्रवचन है—

यमो वा अम्रियत। ते देवा यम्या यममपाब्रुवन्। तां यदपृच्छन्। साब्रवीत्।

अद्यामृतेति। तेऽब्रुवन्। न वा इयम् इमम् इत्थं मृष्यते। रात्रीं सृजावहा इति। अहर्वाव तर्हि आसीन् न रात्रिः। ते देवा रात्रिमसृजन्त। ततः श्वस्तनमभवत्। ततः सा तममृष्यत। (१.५.१२)

यम और यमी की यह सारी माया उस काल की है, जब पृथिवी पर मानव जन्मा भी न था। जब पृथिवी और आदित्य दूर हो रहे थे, पर अभी राशि परिभ्रमण में स्थिर न हुए थे। इसी अभिप्राय से ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है— एतेन वै यमी यमं स्वर्गं लोकम् अगमयत्। (११.१०.२२) यमी = पृथिवी ने ही यम = आदित्य को स्वर्ग लोक में पहुँचाया था।

अपरञ्च, निरुक्त ११.२२ से 'अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः' का प्रकरण आरम्भ होता है। उन देवियों का निघण्टु ५.५ के अन्तर्गत संख्या १६ की अदितिः से नामकीर्तन है। यमी संख्या २४ पर गिनी गई है। वह मध्यस्थानी है। वह मानुष जाति की स्त्री हो ही नहीं सकती। इस २४ संख्यागत यमी के व्याख्यान में यास्क ने निरुक्त ११.३४ में जो ऋक् उद्धृत की है, वह यम-यमी संवाद सूक्त की १४ वीं ऋक् है। अतः ऋग्वेद १०.१० सूक्त पृथिवी पर जन्मे देहधारी यम-यमी परक कदापि नहीं है। अतः वेदार्थ करते हुए केवल मूढ़ लेखक ही इस सूक्त को मानुष इतिहास में घटाते हैं। मैक्डानल वैदिक रीडर में लिखता है—

As the first father of mankind and the first of those that died, Yama appears to have originally been regarded as a mortal who became the chief of the souls of the departed. P.212

अर्थात् मानव का आदि पिता यम था और वही सबसे पहले मरा। यम मूल में मरणधर्मा मनुष्य था।

ऐसा लेख इतिहास से अनभिज्ञता का परिणाम है। मानुष इतिहास में त्रेता युग के आरम्भ में विवस्वान् के पुत्र और पुत्री यम और यमी थे। इनका पिता विवस्वान् कश्यप और अदिति का पुत्र था। अतः यम मानव का पिता नहीं था। मैक्डानल आदि का ज्ञान सर्वथा कलुषित है। देव यम और इस ऐतिहासिक मानुष यम के पार्थक्य बताने के लिए ही शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है—

इह प्रजा प्रयच्छन्स संगृहीत्वा प्रयाति च।

ऋषिर्विवस्वतः पुत्रं तेनाह यमो यमम्॥ (२.४८)

अर्थात् [मानुष] ऋषि यम उस विवस्वान् के पुत्र [देव] यम को कहता है।

दोनों का भेद यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है। कहाँ केवल त्रेता के आरम्भ का यम और कहाँ उसे मानव का आदि पिता मानना। ऐसे पुरुषों के लिए ही व्यास ने लिखा था—'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः'।

ऐसे अल्पश्रुत लोग अज्ञानियों के लिए ही पण्डित बने बैठे हैं। निस्सन्देह देव यम का मानुष यम से ऐक्य नहीं माना जा सकता। मानुष यम ने देव यम के नाम के अनुकरण पर अपना नाम यम रखा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस आलङ्कारिक आख्यान से नियोग का वैदिक सिद्धान्त आकृष्ट किया है। वह अर्थ भी स्पष्ट ही है। यदि कोई ईसाई-यहूदी अथवा उनका उच्छिष्टभोजी कहे कि यास्क और ब्राह्मण-प्रवचनकर्त्ता वेदार्थ नहीं जानते थे और वह स्वयं बहुत अधिक जानता है, तो ऐसे वृथाभिमानी मूढ़ पर विद्वान् धिक्कार करते हैं।''

* * * * *

एकविंशः खण्डः

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

[ऋ.१.१६४.३३]

द्यौर्मे पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता।
नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम्।
बन्धुः संबन्धनात्। नाभिः संनहनात्। नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते। इत्याहुः। एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते। सबन्धव इति च। ज्ञातिः संज्ञानात्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः। उत्तान उत्ततानः। ऊर्ध्वतानो वा।

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः।

यहाँ इस काण्ड के ४७वें पद 'पिता' का निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझें। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्यौः, मे, पिता, जनिता) 'द्यौर्मे पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता' सूर्यादि तेजस्वी लोक इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों के क्षेत्र में विद्यमान सभी प्रकार के देव पदार्थों के पिता के रूप में विद्यमान होता है। इन लोकों में ये देव पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और संरक्षित भी। (नाभिः, अत्र, बन्धुः, मे, माता, पृथिवी, मही, इयम्) 'नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् बन्धुः संबन्धनात् नाभिः संनहनात् नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते इत्याहुः एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च ज्ञातिः संज्ञानात्' [नाभिः = मध्यम् वै नाभिर्मध्यमभयम् (श.ब्रा.१.१.२.२३), नाभिर्वै हिङ्कारः (जै.ब्रा.१.३०६), अथ त्रिष्टुप्। नाभिरेव सा (तु.जै.ब्रा.१.१२७)]

इन लोकों के मध्य भाग, जिनमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ एवं 'हिम्' रश्मियाँ विशेष रूप से प्रतिष्ठित होती हैं, यहाँ अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में बन्धु रूप होते हैं। यहाँ बन्धु रूप होने का तात्पर्य यह है कि वे केन्द्रीय भाग ही सम्पूर्ण लोक के साथ अन्य अधीनस्थ लोकों को भी अपने आकर्षण से बाँधे रखते हैं। उन मध्य भागों को नाभि भी इसी कारण कहा जाता है, क्योंकि नाभि केन्द्र रूप होती है और सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने साथ सम्यक् रूप से बाँधे रखने में समर्थ होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने किसी अज्ञात आर्ष ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखा है— 'नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते'। इसी तथ्य को महर्षि जैमिनी ने इस प्रकार लिखा— 'नाभ्यो ह वै धृता गर्भाः' (जै.ब्रा.१.३०६)। [गर्भः = एष वै गर्भो देवानां यऽएष (सूर्यः) तपत्येष हीदꣳ...सर्वं गृभीतम्। (श.ब्रा.१४.१.४.२), वायव्या गर्भाः (तै.ब्रा. ३.९.१७.५), गर्भा जायमानाः पर्यावर्तन्ते (जै.ब्रा.२.३८१)] इस केन्द्रीय भाग रूपी नाभि से

सभी लोकों को अपने वायव्य बल अर्थात् वायु तत्त्व द्वारा उत्पन्न बल से बाँधे रखते हैं। इसके साथ ही ये लोक निरन्तर घूर्णन एवं परिक्रमण करते रहते हैं, इस कारण ये लोक गर्भ कहलाते हैं और वे गर्भ केन्द्रीय भाग से सदैव बँधे रहते हैं। इन्हें गर्भ इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि ये नवीन-नवीन पदार्थों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसके साथ ही ये लोक पृथिवी आदि लोकों के समान ही एक ही कॉस्मिक मेघ से उत्पन्न होते हैं, इसलिए सूर्यादि लोक एवं पृथ्वी आदि ग्रह ज्ञाति एवं सनाभि कहलाते हैं। ये लोक एक ही मेघ से उत्पन्न होने के कारण परस्पर सम्बन्धी अर्थात् एक ही परिवार के सदस्य होते हैं। यहाँ इन्हें 'ज्ञातिः' इस कारण कहा जाता है, क्योंकि इन लोकों का परस्पर निकट सम्बन्ध बना रहता है। लोक में एक ही गर्भ से उत्पन्न सन्तान ज्ञाति कहलाते हैं, क्योंकि वे सन्तानें एक-दूसरे को निकटता से जानती हैं।

(उत्तानयोः, चम्वोः, योनिः, अन्तः) 'उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः उत्तान उत्ततानः ऊर्ध्वतानो वा' [चमू = चम्वौ द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] आकाश में उत्कृष्ट रूप से फैले हुए तथा ऊपर की ओर उठे हुए सूर्यादि लोक एवं पृथ्वी आदि लोकों के मध्य [योनिः = गृहनाम (निघं.३.४), योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना (निरु.२.८)] वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी) से व्याप्त आकाश तत्त्व विद्यमान होता है। यह ऐसा आकाश तत्त्व ही इन दोनों ही प्रकार के लोकों का आवास होता है। यहाँ फैले हुए एवं उठे हुए से तात्पर्य है कि ये सभी लोक पहले एक ही कॉस्मिक मेघ में समाए हुए होते हैं। जब यह कॉस्मिक मेघ विखण्डित होता है, तब उसके मध्य विशाल भाग से सूर्यलोक की उत्पत्ति होती है एवं बाहरी भागों से पृथ्वी आदि लोकों का निर्माण होता है। इस कारण ही इनको उत्तान कहा गया है।

(अत्रा, पिता, दुहितुः, गर्भम्, अधात्) 'तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः' वहाँ विद्यमान अर्थात् आकाश तत्त्व में व्याप्त पर्जन्य अर्थात् मेघ रूप पदार्थ दुहिता रूप अर्थात् दूर गए हुए पृथ्वी आदि लोकों में सूक्ष्म पदार्थों की वृष्टि करके गर्भ धारण कराते हैं अर्थात् प्राणियों और वनस्पतियों की उत्पत्ति का मूल कारण बनते हैं। यहाँ पर्जन्य अर्थात् उन मेघों, जो पृथिव्यादि लोकों में जीवन के पालक व संरक्षक होते हैं, को 'पिता' कहा गया है। [पर्जन्यः = पर्जन्यः तृपेः आद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (निरु.१०.१०)] ये पर्जन्य ही पृथिव्यादि लोकों को वृष्टि द्वारा तृप्त

करते हैं। वे मेघ इन लोकों में जीवों के अस्तित्व के नियन्त्रक व विभिन्न जीवनीय रसों के उत्पादक होते हैं।

भावार्थ— सूर्यादि सभी लोक विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कणों के उत्पादक होते हैं। इन लोकों को उनके केन्द्रीय भाग ही अपने आकर्षण बल से बाँधे रखते हैं और ये सभी लोक और उनके केन्द्रीय भाग निरन्तर अपने अक्ष पर घूर्णन करते रहते हैं। इनके परिवार के विभिन्न ग्रहादि लोक एक ही खगोलीय मेघ से उत्पन्न होते हैं। इन सभी लोकों के मध्य वायुतत्त्व से भरा अन्तरिक्ष विद्यमान होता है। खगोलीय मेघ के विखण्डन से केन्द्रीय भाग सूर्य का रूप ले लेता है, शेष भाग ग्रह-उपग्रह के रूप में परिणत हो जाता है और ये लोक धीरे-२ सूर्य से दूर हटने लगते हैं। दूर गये हुए लोकों के ऊपर धीरे-२ जलवृष्टि होकर प्राणियों और वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है।

शंयुः सुखंयुः।
अथा नः शं योररपो दधात। [ऋ.१०.१५.४]
रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्।
अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते।
तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये। [तै.सं.२.६.१०.२]
इत्यपि निगमो भवति। गमनं यज्ञाय। गमनं यज्ञपतये॥ २१ ॥

यहाँ ४८वें पद 'शंयोः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शंयुः सुखंयुः'। 'शंयोः' पद शम्+योः इन दो पदों का संयुक्त रूप है। यहाँ 'योः' का अर्थ भाष्यकारों ने प्रायः रोग एवं भय किया है। यहाँ 'शंयोः' पद 'शंयुः' का षष्ठी रूप है। इसका ग्रन्थकार ने तीन प्रकार से निर्वचन किया है— 'शंयुः सुखंयुः' अर्थात् सुख को मिलाने वाला 'शंयुः' कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार उद्धृत किया है— 'अथा नः शं योररपो दधात'। इस मन्त्र का देवता पितरः और छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् होने से इस छन्द रश्मि के प्रभाव से पितर संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण बल से युक्त होते हैं। इस मन्त्रांश का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अथा, नः) और हमारे अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों शंखयामायन

[शंखः = शाम्यतीति शङ्खः (उ.को.१.१०२)] अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं धनञ्जय के योग से उत्पन्न शंख नामक विशेष रश्मियों में (शंयोः) 'शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्' किसी भी प्रकार की विकृतियों को शान्त करने तथा उनमें अनिष्ट कम्पनों को दूर करने एवं (अरपः) 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' उनमें बार-२ पतित होने की प्रवृत्ति को दूर करने अर्थात् इन ऋषि रश्मियों के इन छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने के सामर्थ्य से विहीन होने की प्रवृत्ति को दूर करने का सामर्थ्य (दधात) धारण कराइये अर्थात् धारण किया जाता है वा उत्पन्न होने लगता है। यहाँ शंयोः का निर्वचन रोग एवं भय को दूर करना किया गया है, यह दूसरा निर्वचन है।

अब तीसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते'। इसका अर्थ यह है— बृहस्पति [बृहस्पतिः = एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.ब्रा. १४.४.१.२२), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.२.५), बृहतां पालकः सूत्रात्मा (म.द.य.भा.३९.६)] अर्थात् प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु के मिश्रित रूप से उत्पन्न रश्मि विशेष को 'शंयोः' कहते हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये'। इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति है। [प्रजापतिः = सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः (श.ब्रा.६.२.१.३०)]। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तत्, शंयोः) उस शंयु संज्ञक ऋषि रश्मियों से (आवृणीमहे) विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियाँ आच्छादित होने लगती हैं। ऐसा क्यों होता है, यह स्पष्ट करते हुए कहा— (गातुम्, यज्ञाय, गातुम्, यज्ञपतये) 'गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये' यजन प्रक्रिया को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उसे प्रारम्भ करने के लिए तथा उस यजन प्रक्रिया के पालन और संरक्षण के लिए ही ये ऋषि रश्मियाँ सभी छन्द रश्मियों को आच्छादित करती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब विभिन्न छन्द रश्मियाँ यजन कर्म करके नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों और विकिरणों को उत्पन्न करती हैं, उस समय वे छन्द रश्मियाँ प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों से आच्छादित होती हैं।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

अदितिरदीना देवमाता॥ २२॥

[दीना = दीङ् क्षये (दिवा.) धातोः 'इण् सिञ्...' (उ.को.३.२) - वै.को.] विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् सभी प्रकार की छन्द एवं प्राण रश्मियों को उत्पन्न करने वाली अदिति प्रकृति उन देवों की माता कहलाती है, क्योंकि सभी देव पदार्थ उसी प्रकृति के गर्भ में उत्पन्न होते हैं। यहाँ अदिति को अदीना कहा है। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति कभी दीनता को प्राप्त नहीं होती अर्थात् उसका कभी भी किंचिदपि क्षय नहीं होता। ध्यातव्य है कि प्रकरणभेद से 'अदिति' पद के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ इस काण्ड के ४९वें पद 'अदितिः' की व्याख्या की गई है, जिसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

[ऋ.१.८९.१०]

इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे। एनान्यदीनानीति वा।
यमेरिरे भृगवः। [ऋ.१.१४३.४]
एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः॥ २३॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगणपुत्र गोतम है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सभी प्राण रश्मियों में तीव्रतम गति वाली धनञ्जय रश्मियों से होती है। इसका देवता अदिति तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अदिति संज्ञक विभिन्न पदार्थ तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्यौः, अदितिः) द्यौ लोक अर्थात् सूर्यलोक अदिति रूप होता है, क्योंकि सृष्टि काल में

उसका प्रायः नाश नहीं होता। [द्यौः = वागिति द्यौः (जै.उ.४.२२.११)] विभिन्न छन्द रश्मियाँ भी अदिति रूप होती हैं, क्योंकि सृष्टि काल में प्रायः इनका भी नाश नहीं होता। इसके साथ ही ये दोनों ही पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में प्रायः स्वच्छन्द विचरण करते हैं। इस कारण भी अदिति कहलाते हैं। यहाँ स्वच्छन्द का तात्पर्य है— मनुष्यादि प्राणियों के द्वारा नियन्त्रित न होने योग्य। (अन्तरिक्षम्, अदितिः) आकाश तत्त्व भी अदिति रूप होता है, क्योंकि सृष्टि काल में इसका भी प्रायः विनाश वा क्षय नहीं होता। यह तत्त्व भी प्रायः मानव तकनीक से नियन्त्रित होने योग्य नहीं होता।

(माता, अदितिः) [माता = इयं वै माता (श.ब्रा.१३.१.६.१; तै.ब्रा.३.८.९.१)] यह पृथ्वी भी अदिति कहलाती है, क्योंकि यह भी अपनी कक्षा में स्वच्छन्द परिक्रमण करती है। यहाँ स्वच्छन्द का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि यह किसी भी प्राणी द्वारा नियन्त्रित नहीं होती है तथा इस पर बसने वाले प्राणियों के सापेक्ष यह नश्वर होती है। अथर्ववेद में भी भूमि को माता कहा है— 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्व.१२.१.१२)। यह माता इसलिए कहलाती है, क्योंकि हम सभी प्राणी इसी में उत्पन्न होते और पलते हैं। (सः, पिता) [पिता = प्राणो वै पिता (ऐ.ब्रा.२.३८)] वह प्राण तत्त्व, जो सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का पालक व संरक्षक है, भी अदिति कहाता है अर्थात् यह तत्त्व भी सृष्टि काल में क्षय को प्राप्त नहीं होता तथा किसी भी प्राणी से इसका नियन्त्रण सम्भव नहीं है। (सः, पुत्रः) विभिन्न प्राण रश्मियों से उत्पन्न सूक्ष्म मूलकण व प्रकाशाणु आदि भी अदिति रूप होते हैं, क्योंकि सृष्टि काल में प्रायः ये भी अविनाशी रूप से नाना क्रियाएँ करते रहते हैं।

(विश्वेदेवाः, अदितिः) सृष्टि का सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ अदिति ही कहाता है, क्योंकि यह पदार्थ भी सम्पूर्ण सृष्टि काल में अक्षय ही रहता है अर्थात् यह पदार्थ कभी डार्क पदार्थ में परिवर्तित नहीं होता है। हाँ, अपवाद तो कहीं भी हो सकता है। (पञ्चजनाः, अदितिः) 'पञ्चजन' पदार्थों के विषय में हम खण्ड ३.८ की व्याख्या में लिख चुके हैं। ये सभी पदार्थ भी सृष्टि काल में प्रायः अक्षीण बने रहने से अदिति का ही रूप होते हैं। (जातम्, अदितिः, जनित्वम्) इस सृष्टि में जो भी उत्पन्न हुआ है अथवा जो उत्पन्न होने वाला है, वह सब अदिति रूप ही है। इसका कारण यह है कि जो भी पदार्थ इस सृष्टि में अब तक उत्पन्न हो चुके, हो रहे वा होंगे, वे सभी अपने मूल कारणरूप में सदैव अक्षीण ही होते हैं। जिसे हम पदार्थ का नाश कहते हैं, वह वस्तुतः नाश नहीं, बल्कि अपने कारण में लीन हो

जाना मात्र है। इसी बात को महर्षि कपिल ने कहा—

'नाशः कारणलयः' (सां.द.१.१२१)।

भावार्थ— सूर्यलोक अपने परिवार के सदस्य लोकों के सापेक्ष अविनाशी होता है। छन्द एवं प्राण रश्मियाँ भी सृष्टिकाल में अविनाशी होती हैं तथा इनको किसी भौतिक तकनीक से नियन्त्रित भी नहीं किया जा सकता। पृथिवी आदि लोक भी प्राणियों की अपेक्षा अविनाशी होते हैं एवं निश्चित गति से युक्त होते हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलकण एवं फोटॉन भी इस सृष्टि में अतिदीर्घ काल तक बने रहने के कारण अदिति कहलाते हैं। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ प्रायः सृष्टिकाल तक संरक्षित ही रहता है। कोई भी पदार्थ नष्ट हुआ दिखने पर भी वह नितान्त नष्ट नहीं होता, बल्कि अपने कारण में ही लीन रहता है।

इस मन्त्र की व्याख्या ग्रन्थकार ने नहीं की है, केवल इस विषय में इतना कहा है कि यह मन्त्र अदिति के ऐश्वर्य को बतलाता है और मन्त्र में वर्णित सभी पदार्थ अदिति अर्थात् अक्षीण ही हैं।

'अदितिः' पद के पश्चात् ५०वें पद 'एरिरे' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— यमेरिरे भृगवः (ऋ.१.१४३.४)। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द विराड् जगती है। इस कारण इस छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व विशेष प्रकाशमान व विस्तृत होता है। इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यम्) जिस अग्नि तत्त्व को (भृगवः) [भृगुः = अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुः भृज्यमानो न देहे (निरु.३.१७), तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत् तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणिः (ऐ.ब्रा.३.३४)] मनस्तत्त्व से उत्पन्न मासादि रश्मियों के अग्रिम चरण की रश्मियाँ अर्थात् प्राण, अपान, उदान आदि रश्मियाँ उत्पन्न व प्रेरित तो करती हैं, परन्तु वे स्वयं जलती नहीं हैं, ऐसी वे भृगु रश्मियाँ (एरिरे) 'एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः' [यह पद 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'ईर् गतौ कम्पने च' धातु से व्युत्पन्न होता है।] उसे सब ओर से प्रेरित करती हैं एवं उसे गति प्रदान करती हैं।

* * ❋ * *

= चतुर्विंशः खण्डः =

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ [ऋ.४.३८.५]

अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम्। वस्त्रं वस्तेः। तायुरिति स्तेननाम। संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। तस्यतेर्वा स्यात्।

अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु। भर इति संग्रामनाम। भरतेर्वा। हरतेर्वा। नीचायमानं नीचैरयमानम्। नीचैर्निचितं भवति। उच्चैरुच्चितं भवति। जस्तमिव श्येनम्। श्येनः शंसनीयं गच्छति। श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। श्रवश्चाऽपि पशुमच्च यूथम्। प्रशंसां च यूथं च। धनं च यूथं चेति वा। यूथं यौतेः। समायुतं भवति।

इन्धान एनं जरते स्वाधीः। [ऋ.१०.४५.१] गृणाति।

मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः।

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः। [ऋ.१.१०१.१]

प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः।

गौर्व्याख्यातः (२.५-७)॥ २४॥

यहाँ ५१वें पद 'जसुरिः' का निगम प्रस्तुत किया गया है—

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके बारे में पूर्ववत् समझें। इसका देवता दधिक्रा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। [दधिक्रा = अश्वनाम (निघं.१.१४), इसके विषय में हम

खण्ड २.२८ में लिख चुके हैं।] इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से दधिक्रा संज्ञक आशुगामी रश्मियाँ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, स्म) 'अपि स्म' ये दोनों पद पूरणार्थक हैं। (एनम्, वस्त्रमथिम्) 'वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम् वस्त्रं वस्तेः' [वस्त्रम् = वस्त आच्छाद्यत इति वस्त्रम्।] इस सृष्टि में दो पदार्थों के मध्य जब कोई क्रिया होती है, तब उन पदार्थों के आच्छादक रश्मि समूह में भारी विलोडन की क्रिया होने लगती है। यह क्रिया कैसे होने लगती है, यह बताते हुए लिखा है—

(न, तायुम्) 'तायुरिति स्तेननाम संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः तस्यतेर्वा स्यात्' जिस प्रकार पतनकारी अर्थात् क्रियाशील पदार्थों को बाधित करने वाले असुर रश्मि आदि पदार्थ विचलित वा बाधित कर देते हैं और अपने प्रहार से उन पदार्थों के बाहरी आवरण में विद्यमान रश्मि आदि पदार्थों को विक्षुब्ध करने वा मथने लगते हैं। यहाँ यह भी तात्पर्य है कि जैसे ही असुरादि पदार्थों का प्रहार होता है अथवा किसी तीव्र ऊर्जा वाले पदार्थ से किसी पदार्थ की टक्कर होती है, तब बाहरी रश्मि समूह ही विक्षुब्ध होता अथवा क्षीण होता है। यह क्रिया कब होती है, यह बात हम लिख चुके हैं। इसे यहाँ भी इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

(क्षितयः, भरेषु, अनु, क्रोशन्ति) 'अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु भर इति संग्रामनाम भरतेर्वा हरतेर्वा' जब विभिन्न पदार्थों के मध्य संग्राम अर्थात् अन्योन्य क्रियाएँ होती हैं। वे क्रियाएँ परस्पर एक-दूसरे को धारण वा संयुक्त करने वाली भी हो सकती हैं अथवा एक-दूसरे को नष्ट करने, उठाकर ले जाने की भी हो सकती हैं। उस समय उपर्युक्त विक्षोभकारी घटनाएँ घटती हैं। इस समय वे क्षिति संज्ञक कण, जिनकी चर्चा पूर्व में खण्ड ३.७ में की गई है, दधिक्रा संज्ञक रश्मियों को बुलाने लगते हैं अर्थात् आकाश तत्त्व में व्याप्त उन रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगते हैं और वे रश्मियाँ संयोज्य कण आदि पदार्थों को धारण करके उनकी संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सहयोग करती हैं।

(श्रवः, च, पशुमत्, च, अच्छा, यूथम्) 'श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् श्रवश्चाऽपि पशुमच्च यूथम् प्रशंसां च यूथं च धनं च यूथं चेति वा यूथं यौतेः समायुतं भवति' [श्रवः = अन्ननाम (निघं.२.७), धननाम (निघं.२.१०)] वे कण विभिन्न संयोज्य एवं तेजस्विनी प्राण एवं

छन्द आदि रश्मियों के समूह को एवं विभिन्न कणों वा तरंगों को प्राप्त करने के लिए (नीचायमानम्, जसुरिम्, न, श्येनम्) 'नीचायमानं नीचैरयमानम् नीचैर्निचितं भवति उच्चैरुच्चितं भवति जस्तमिव श्येनम् श्येनः शंसनीयं गच्छति' [श्येनः = श्येनासः अश्वनाम (निघं.१.१४)] उसी प्रकार उनकी ओर गमन करते हैं अर्थात् उनके आकर्षण से उनकी ओर उन्मुख होने लगते हैं, जिस प्रकार बाज पक्षी अपने शिकार पर आक्रमण करने के लिए नीचे की ओर बड़े वेग से उड़ता हुआ उन्मुख भाव से टूट पड़ता है। यदि यहाँ आधिदैविक अर्थ में उपमा की उपेक्षा करें, तब अर्थ इस प्रकार होगा— जब आशुगामी तेजस्विनी दधिक्रा संज्ञक रश्मियाँ मुक्त रूप से अपने को आकर्षित करने वाले पदार्थों की ओर गमन करने लगती हैं। सारांशतः किन्हीं पदार्थों के संयोग आदि की प्रक्रिया में दधिक्रा नामक वेगवती एवं बलवती रश्मि समूह विशेष की अनिवार्य भूमिका होती है और ये रश्मियाँ तभी इस क्रिया में भाग लेती हैं, जब संयोज्य पदार्थ इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

भावार्थ— जब दो कणों अथवा लोकों के मध्य कोई आकर्षण वा प्रतिकर्षण क्रिया होती है, तब सर्वप्रथम उन दोनों ही पदार्थों के मध्य विद्यमान आच्छादक आकाशादि रश्मियों में भारी विक्षोभ उत्पन्न होने लगता है। इसी प्रकार जब कोई असुर पदार्थ किसी देव पदार्थ

पर आक्रमण करता है, तब भी ऐसा ही होता है। ये क्रियाएँ दोनों ही पदार्थों को धारण वा संयुक्त करने वाली भी हो सकती हैं एवं उन दोनों पदार्थों को प्रतिकर्षित वा नष्ट करने वाली भी हो सकती हैं। किसी भी प्रकार की आकर्षण प्रक्रिया में पदार्थ एक-दूसरे की ओर अति तीव्र वेग से गमन करते हैं। जैसे एक बाज पक्षी अपने शिकार पर आक्रमण करता है।

तदुपरान्त ५२वें पद 'जरते' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्धान एनं जरते स्वाधीः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एनम्, इन्धान, स्वाधीः) [स्वाधीः = सुष्ठु समन्ताद्धीयते येन सः।] जिसके कारण विभिन्न पदार्थ एक-दूसरे को धारण करने में समर्थ होते हैं, ऐसा जलता हुआ वह तेजस्वी अग्नि तत्त्व (जरते) 'गृणाति' प्रकाशमान होता है तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशमान करता है।

अब ५३वें पद 'मन्दिने' का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् जगती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक विस्तृत होता जाता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, मन्दिने) 'मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः' इन्द्र तत्त्व को प्रकृष्टता से तेजस्वी बनाने के लिए (पितुमत्, वचः, अर्चता) [पितुः = अन्नं वै पितुः (श.ब्रा. १.९.२.२०), पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (निरु.९.२४)] विभिन्न संयोज्य विद्युत् आवेशित कणों से सम्पन्न होकर अर्थात् उनमें व्याप्त होकर विभिन्न छन्द रश्मियाँ प्रकाशित होने लगती हैं अर्थात् जब विद्युत् आवेशित कणों के अन्दर नाना प्रकार की छन्द रश्मियाँ विशेष तेजस्विनी होती हैं, तब वे तेजस्वी और तीक्ष्ण बलयुक्त विद्युत् का रूप धारण करती हैं।

अन्त में ५४वें पद 'गौः' के विषय में कहते हैं कि इसकी व्याख्या पूर्व में द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। इसलिए इसका निर्वचन यहाँ नहीं किया गया है।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ [ऋ.१.८४.१५]
अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नाम। अपीच्यम्।
अपगतम्। अपचितम्। अपिहितम्। अन्तर्हितं वा।
अमुत्र चन्द्रमसो गृहे। गातुर्व्याख्यातः।
गातुं कृणवन्नुषसो जनाय। [ऋ.४.५१.१] इत्यपि निगमो भवति।

अब 'गौः' पद का निगम प्रस्तुत किया गया है—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगण गोतम है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति धनञ्जय प्राण रश्मि से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृद् गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण रूप से तेजस्वी होता है। पूर्व में खण्ड २.६ में इस मन्त्र तथा सूर्य की सुषुम्णा नामक रश्मियों की चर्चा की गई है। इस कारण पाठक पहले उस प्रकरण को अवश्य पढ़ लेवें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अत्र, अह) 'अत्र ह' इस चन्द्रमा में निश्चित ही (गोः, अमन्वत, नाम, त्वष्टुः) 'गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नाम' [नाम = नमन वा परावर्तित होना (पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर), नमनं प्रह्वीभावमनुप्रवेशमित्यर्थः (स्कन्दस्वामी भाष्य)] खण्ड २.६ में वर्णित सुषुम्णा संज्ञक सुखद प्रकाश रश्मियाँ, जो सूर्यलोक की अनेक रश्मियों का ही एक भाग होती हैं, स्वयं ही मुड़कर अर्थात् चन्द्रमा के तल से परावर्तित होकर उस चन्द्रमा को अच्छी प्रकार प्रकाशित करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार के कथन से यह संकेत भी मिलता है कि चन्द्रमा से सुषुम्णा नामक सूर्य रश्मियों के परावर्तन की प्रक्रिया में अन्य सूर्य रश्मियों, जो

चन्द्रमा के तल द्वारा अवशोषित हो जाती हैं, की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। चन्द्रमा तथा सूर्य की किरणों पर अनुसन्धान करने वालों को इस विषय पर अनुसन्धान करना चाहिए।

(अपीच्यम्) 'अपीच्यम् अपगतम् अपचितम् अपहितम् अन्तर्हितं वा' यह परावर्तन की प्रक्रिया 'अपीच्यम्' पद के चार प्रकार के निर्वचनों से स्पष्ट होती है—

१. **अपगतम्** — अन्य रश्मियों, जो चन्द्र तल द्वारा अवशोषित हो जाती हैं, से भिन्न ये सुषुम्णा रश्मियाँ वापिस लौट जाती हैं।

२. **अपचितम्** — परावर्तन प्रक्रिया के दौरान वे रश्मियाँ पृथक् कर दी जाती हैं अथवा उनकी अवशोषण की प्रक्रिया को अन्य रश्मियों के सहयोग से चन्द्र तल के कण नष्ट कर देते हैं।

३. **अपिहितम्** — इस प्रक्रिया में [अपि+धाञ् = ढकना, रोकना, भेजना, बन्द करना, छिपाना, बाधा डालना आदि (आ.को.)] अन्य सूर्य रश्मियाँ सुषुम्णा रश्मियों को अवशोषण प्रक्रिया से छिपाकर दूर करके वापिस भेज देती हैं। हम नहीं जानते कि वर्तमान भौतिकी इस विषय में स्पष्टतः क्या कहती है, पुनरपि इस वैदिक सिद्धान्त पर उन्हें अवश्य विचार करना चाहिए।

४. **अन्तर्हितम्** — वे सुषुम्णा किरणें परावर्तित होते हुए ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो चन्द्रमा में वे किरणें ही रखी हुई हैं, अन्य रश्मियाँ वहाँ लुप्त अर्थात् अवशोषित होकर अदृश्य हो जाती हैं। इसका यह अर्थ भी सम्भव है कि अन्य किरणें इन किरणों को अपने मध्य धारण करके वा छिपाकर अवशोषक कणों के निकट जाने ही नहीं देती हैं।

(इत्था, चन्द्रमसः, गृहे) 'अमुत्र चन्द्रमसो गृहे' यह परावर्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया [गृहम् = गृहा वै प्रतिष्ठा (श.ब्रा.१.१.१.१९)] चन्द्रमा के बाहरी तल पर होती है।

तदनन्तर ५५वें पद 'गातुः' के विषय में लिखते हैं कि इसकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है। पाठक इसे ४.२१ में ४८वें पद 'शंयोः' की व्याख्या में पढ़ सकते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'गातुं कृणवन्नुषसो जनाय'। इस मन्त्र का देवता उषा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में लालिमायुक्त प्रकाश तीव्र तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(जनाय, गातुम्) विभिन्न सूक्ष्म कणों एवं लोकों को उत्पन्न करने, उनके गमन करने और उन्हें दूर-दूर फैलाने के लिए (उषसः, कृणवन्) लालिमायुक्त प्रकाश रश्मियाँ अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। यहाँ यह संकेत मिलता है कि सूक्ष्म कण तथा लोकों के निर्माण के समय आकाश में लालिमायुक्त प्रकाश की विद्यमानता होती है।

दंसयः कर्माणि। दंसयन्त्येनानि।

कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः। [ऋ.१०.१३८.१] इत्यपि निगमो भवति।

स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः। [ऋ.१.९४.२]

स तुताव। नैनमंहतिरश्नोति। अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेः। निरूढोपधाद्विपरीतात्।

अब ५६वें पद 'दंसयः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'दंसयः कर्माणि दंसयन्त्येनानि' अर्थात् 'दंसयः' कर्मों को कहते हैं, क्योंकि इन्हें देखा वा अनुभव किया जा सकता है। [दंसयः = यह पद 'दस, दसि (दंस्) दंशनदर्शनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है।] इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द पाद निचृत् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व वेगपूर्वक फैलता जाता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कुत्साय, मन्मन्) [मन्मन् = मन्म मनः (निरु.६.२२), मन्म मननानि (निरु.१०.४२)। अहिः = द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)। कुत्सः = कुत्स इत्येतत्कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति (निरु.३.११)] मनस्तत्त्व अथवा दृश्य वायु के अन्दर नाना प्रकार की रश्मियों वा विकिरणों को उत्पन्न करने एवं नाना प्रकार के अनिष्ट पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए (अह्यः, च) प्रकाशित एवं अप्रकाशित वायु अथवा प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण वा विकिरण (दंसयः) अपने कर्मों को प्रदर्शित करते हैं अर्थात् वे अधिक सक्रिय हो उठते हैं।

तदुपरान्त ५७वें पद 'तूताव' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः' इसका देवता अग्नि तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और बलवान होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, तूताव) 'स तुताव' [तुताव = यह पद 'तु गतिवृद्धिहिंसासु' धातु से व्युत्पन्न होता

है।] वह अग्नि तत्त्व निरन्तर बढ़ता हुआ तीक्ष्ण होकर अनिष्ट पदार्थों को नष्ट करता है। (नैनम्, अंहतिः, अश्नोति) 'नैनमंहतिरश्नोति अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेः निरूढोपधाद्विपरीतात्' यहाँ ग्रन्थकार के अनुसार 'अंहति, अंहस् एवं अंहु' ये तीनों पद समानार्थक हैं, जो 'हन्' धातु की उपधा 'अन्' को निकालकर और उलटकर 'अन्+ह', 'अंहति' आदि पद बनते हैं। यहाँ 'हन्तेरंह च' (उ.को.४.६३) से 'अति' प्रत्यय होकर 'अंहति' पद व्युत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्य पदों को भी समझें। यहाँ अग्नि तत्त्व विनाश को प्राप्त नहीं होता अथवा असुरादि पतनकारी वा बाधक पदार्थों को प्राप्त नहीं होता अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें कथित डार्क एनर्जी एवं डार्क मैटर से अप्रभावित रहकर सतत गमन करती रहती हैं।

बृहस्पते चयस इत्पियारुम्। [ऋ.१.१९०.५]
बृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम्। पीयतिर्हिंसाकर्मा।
वियुते द्यावापृथिव्यौ। वियवनात्।
समान्या वियुते दूरेअन्ते। [ऋ.३.५४.७]
समानं सम्मानमात्रं भवति। मात्रा मानात्।
दूरं व्याख्यातम् (३.१९)। अन्तोऽततेः।

तदुपरान्त ५८वें पद 'चयसे' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'बृहस्पते चयस इत्पियारुम्'। इस मन्त्र का देवता बृहस्पति एवं छन्द स्वराट् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [बृहस्पतिः = अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.२.५), एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.ब्रा.१४.४.१.२२)] प्राण एवं अपान रश्मियाँ अधिक सक्रियता से संयुक्त होने लगती हैं, जिससे बड़े-२ लोक-लोकान्तरों में यजन प्रक्रिया विस्तृत होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बृहस्पते) 'बृहस्पते' प्राण एवं अपान रश्मियाँ अथवा बड़े-२ लोक-लोकान्तर (पियारुम्) 'देवपीयुम् पीयतिर्हिंसाकर्मा' प्रकाशित पदार्थों को नष्ट वा बाधित करने वाले सूक्ष्म पदार्थों को (चयसे, इत्) 'यच्चातयसि' [चातयतिर्नाशने (निरु.६.३०)] नष्ट करते हैं। यहाँ लोक-लोकान्तरों द्वारा हिंसक व बाधक असुरादि पदार्थ को प्राणापान रश्मियों वा वज्र रश्मियों के द्वारा ही नष्ट किया जाता है। यहाँ 'पीयति' धातु हिंसा अर्थ में प्रयुक्त होती मानी गई है।

तदनन्तर ५९वें पद 'वियुते' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वियुते द्यावापृथिव्यौ वियवनात्'। यहाँ 'वियुते' पद से द्युलोक एवं पृथिवीलोक का ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि ये दोनों लोक पहले मिले हुए होते हैं, जो बाद में पृथक्-२ हो जाते हैं। इसी कारण इन्हें 'वियुते' कहा जाता है अर्थात् अमिश्रीभाव को प्राप्त होने वाले पदार्थ। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'समान्या वियुते दूरेअन्ते'। इस सूक्त का देवता विश्वेदेवा होने से इस मन्त्र का देवता द्यावापृथिवी मानना चाहिए। इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित लोक तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समान्या) 'समानं सम्मानमात्रं भवति मात्रा मानात्' यहाँ 'समानम्' का अर्थ किया गया है कि जो पृथक्-पृथक् रहने पर भी समान कर्म में प्रवृत्त होते हैं और मात्रा पद परिमाणवाची है अर्थात् वे द्यौ लोक एवं पृथिवी लोक दूर-दूर रहकर भी अनेक प्रकार के समान कर्मों एवं गुणों से युक्त होते हैं। जैसे दोनों में द्रव्यमान एवं गुरुत्वाकर्षण बल होता है। दोनों सूक्ष्म कणों एवं ऊर्जा के भण्डार होते हैं। दोनों में विद्युत् तत्त्व होता है। दोनों ही गमन करने वाले और साथ-साथ एक-दूसरे को आकर्षित करने वाले होते हैं। वे दोनों (वियुते) द्यौ लोक एवं पृथ्वी लोक (दूरे, अन्ते) 'दूरं व्याख्यातम् अन्तोऽततेः' परस्पर दूर-दूर रहते हुए सतत गमन करते रहते हैं, पुनरपि वे अपने आकर्षण बल के द्वारा परस्पर एक-दूसरे के निकट ही बने रहते हैं।

इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में लिखा है—

"वियुते, पृथक् होते हैं। द्यावापृथिवी के पृथक् और शनैः शनैः दूर होने की घटना असीम महत्त्व की है। यह वैदिक विज्ञान की पराकाष्ठा है। इसका वर्णन हमने वेदविद्यानिदर्शन, पृ.३१०, ३११ पर किया है। वहाँ पर दिये गए प्रमाणों के अतिरिक्त अगला वचन भी द्रष्टव्य है— 'द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम् ते वियती अब्रूताम् अस्त्वेव नौ सह यज्ञियम् इति' (तै.सं.५.२.३.३)। इन द्यावापृथिवी के पृथक् होने की माया विचित्र और परम आश्चर्यकरी है। तैत्तिरीय संहिता ५.१.५.८ में भी प्रवचन है— अग्नऽआयाहि वीतयऽइति वा इमौ लोकौ व्यैताम्। अग्न आ याहि वीतय इति यदाह अनयोर्लोकयोर्वीत्यै॥

शतपथ १.४.१.२२ में भी प्रवचन है— अग्न आयाहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतये इति। समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका: आसु: इति। उन्मृश्या हैव द्यौरास॥ निरुक्तस्थ ऋक् में इसी माया का संकेत है। ऐसे महान् और अतीन्द्रिय ज्ञान के बताने वाले वेद को जो मूढ़ साधारण ग्रन्थ कहता है, उसकी मतान्धता का क्या कहना। इन सब प्रमाणों में वियती, वीतये, व्यैताम् आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं।''

ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः ॥ [यजु.८.२०]
ऋध्नुवन्नयाक्षीः। ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च।
अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे। अनुदात्तमन्वादेशे।
तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।
अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व।
[श्रवस्यतामजाश्व ॥] [ऋ.१.१३८.४]
अस्यै नः सातय उपभव। अवहेळमानोऽक्रुध्यन्। ररिवान्। रातिरभ्यस्तः।
अजाश्वेति पूषणमाह। अजाश्व। अजा अजनाः। अथानुदात्तम्।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्। [ऋ.१०.८५.३९]
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः शतम्।
शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति। शीर्णा आप इति वा।
अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम्॥ २५ ॥

यहाँ ६०वें पद 'ऋधक्' के विषय में लिखते हैं— 'ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते' अर्थात् यह पद पृथक् भाव को कहने के लिए प्रयुक्त होता है, यह प्रथम अर्थ हुआ और यह पद समृद्धि के लिए भी प्रयुक्त होता है, यह दूसरा अर्थ हुआ। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठा:'। इस मन्त्र का देवता गृहपति और छन्द स्वराडार्षी त्रिष्टुप् होने से [गृहपति: = अथ यदग्निं गृहपतिमन्ततो यजति (कौ.ब्रा.३.९), अग्निर्गृहपतिरिति हैक आहु: (ऐ.ब्रा.५.२५)] इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्रता से प्रकाशित होता है। इसका आधिदैविक

भाष्य इस प्रकार है—

(ऋधक्, अयाः) 'ऋध्नुवन्नयाक्षीः' [अयाः = यजेः सङ्गच्छस्व (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वह अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व से उत्पन्न होकर समृद्ध होता हुआ उससे पृथक् होता है और पृथक् होकर नाना प्रकार के यजन कर्मों को सम्पादित करता है। यद्यपि अग्नि तत्त्व के अन्दर वायु तत्त्व सदैव विद्यमान होता है, परन्तु यहाँ पृथक् होने का तात्पर्य यह है कि आकाश द्वारा वायु के सम्पीडन से अग्नि तत्त्व अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, यही उसका उत्पन्न होना है। जब इस उत्पन्न अग्नि के अणु वायु तत्त्व के मेल से अधिक समृद्धि को प्राप्त होते हैं, तब वे अणु संयोग आदि प्रक्रियाओं को प्रारम्भ करने में समर्थ होते हैं। (ऋधक्, उत, अशमिष्ठाः) 'ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च' इसके पश्चात् अग्नि के वे अणु समृद्धि को प्राप्त होकर असुरादि बाधक पदार्थों का शमन करके उन्हें देव पदार्थों से पृथक् करते हैं।

तदनन्तर 'अस्याः' एवं 'अस्य' क्रमशः ६१वें और ६२वें पदों के विषय में लिखते हैं— 'अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे अनुदात्तमन्वादेशे तीव्रार्थतरमुदात्तम् अल्पीयो-ऽर्थतरमनुदात्तम्' अर्थात् 'अस्याः' एवं 'अस्य' ये दोनों पद प्रथम आदेश में उदात्त होते हैं एवं अन्वादेश में अनुदात्त होते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने प्रथम आदेश का अर्थ किया है— 'नाम के पहले सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होने पर' एवं अन्वादेश का अर्थ किया है— 'नाम के बाद में प्रयुक्त होने पर'। तदुपरान्त कहा कि उदात्त होने पर ये दोनों पद तीव्र अर्थ वाले होते हैं और अनुदात्त होने पर ये अल्प अर्थ वाले होते हैं। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने तीव्र अर्थ वाले का अभिप्राय दिया है— 'स्पष्ट रूप से पूर्ण अर्थ कहने वाला' और अल्प अर्थ का अभिप्राय दिया है— 'बहुत थोड़ा अस्पष्ट अर्थ कहने वाला'। उधर आचार्य भगीरथ शास्त्री आदि विद्वानों ने प्रथम आदेश का अर्थ किया है— 'प्रधान' एवं अन्वादेश का अर्थ किया है— 'गौण'। इसके साथ ही तीव्र अर्थ वाले का अर्थ किया है— 'उत्कृष्ट गुणयुक्त' एवं अल्प अर्थ वाले का अर्थ किया है— 'हीन गुणयुक्त'।

हमें ये सभी अर्थ उचित प्रतीत होते हैं, जो प्रकरणों के अनुसार ग्रहण किए जा सकते हैं। इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने अपने निरुक्त भाष्य में स्कन्दस्वामी के मत के साथ जो मीमांसा की है, उसे हम महत्त्वपूर्ण समझकर पाठकों के लाभ के लिए यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

"प्रथमादेश और अन्वादेश की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। कुछ लोग प्रथम पाद में अथवा मन्त्र के पूर्वार्द्ध में प्रयोग को 'प्रथमादेश' और उत्तरार्द्ध भाग में प्रयोग को 'अन्वादेश' कहते हैं। यहाँ निरुक्तकार ने जो 'अस्या ऊ षु णः' प्रथमादेश का उदाहरण दिया है, उसमें 'अस्याः' पद मन्त्र के प्रथम चरण में और पूर्वार्द्ध भाग में प्रयुक्त होने से प्रथमादेश कहा जाता है और अन्वादेश का जो 'दीर्घायुरस्याः पतिः' आदि उदाहरण दिया, उसमें 'अस्याः' पद मन्त्र के उत्तरार्द्ध भाग में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसे 'अन्वादेश' कहा जाता है। किन्तु स्कन्दस्वामी इस मत को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि इन उदाहरणों में तो प्रथमादेश और अन्वादेश के ये लक्षण घट जाते हैं, किन्तु अन्यत्र प्रथम चरण अथवा मन्त्र के पूर्व में प्रयुक्त 'अस्याः' पद अनुदात्त रूप में पाया जाता है। इसके उदाहरण रूप में उन्होंने निम्न मन्त्र दिये हैं—

१. सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तः। (ऋ.६.७५.११)
२. हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः। (ऋ.१.१६३.९)

इन दोनों मन्त्रांशों में 'अस्याः' तथा 'अस्य' पद अनुदात्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों मन्त्र भाग प्रथम चरण तथा पूर्वार्द्ध से लिये गये हैं। जब उनमें अनुदात्तरूप में 'अस्याः' और 'अस्य' पदों का प्रयोग पाया जाता है, तब प्रथम चरण अथवा पूर्वार्द्ध भाग में स्थिति को 'प्रथमादेश' नहीं कहा जा सकता है, यह स्कन्दस्वामी का मत है।

दूसरे लोगों ने प्रथम का अर्थ प्रधान किया है। इसलिए प्रधान के लिए जब 'अस्याः' या 'अस्य' पदों का प्रयोग हो, उसको प्रथमादेश तथा अप्रधान के लिए इन शब्दों के प्रयोग को 'अन्वादेश' कहते हैं, परन्तु स्कन्दस्वामी ने इसका भी खण्डन कर दिया है। उनका कहना है कि यद्यपि निरुक्तकार द्वारा दिये गये प्रकृत दोनों उदाहरणों में तो प्रथमादेश तथा अन्वादेश का यह लक्षण घट जाता है, किन्तु अन्यत्र इसका व्यभिचार भी पाया जाता है। 'मृगो अस्या दन्तः' में प्राधान्य होने पर भी अनुदात्तत्व है। 'त्वं नो अस्य वचसः' आदि स्थलों में अप्राधान्य होने पर भी उदात्तत्व पाया जाता है, इसलिए स्कन्दस्वामी के मत में प्रथमादेश तथा अन्वादेश के लक्षण भी ठीक नहीं हैं। इसलिए 'शब्दान्तरेण आदिष्टस्य प्रथममेव य आदेश उच्चारणं स प्रथमादेशः' अर्थात् दूसरे संज्ञाशब्द के द्वारा कहे गये अर्थ का संज्ञा शब्द के प्रयोग के पहिले ही जो 'अस्याः' या 'अस्य' इन सर्वनाम पदों से कथन करना है, उसको प्रथमादेश कहते हैं। यह प्रथमादेश का लक्षण

स्कन्दस्वामी ने किया है। जैसे 'अस्या ऊ षु ण उप सातये' में 'अस्याः' यह सर्वनाम पद 'सातये' इस संज्ञा शब्द द्वारा निर्दिष्ट किये जाने वाले अर्थ के लिए संज्ञा शब्द के पहिले ही प्रयुक्त हुआ है। इसलिये इसको प्रथमादेश कहा जाता है और 'दीर्घायुरस्याः यः पतिः' (ऋ.१०.८५.३९) वाले उदाहरण में 'अस्याः' पद मन्त्र के पूर्वार्द्ध में आये हुए 'पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा' में प्रयुक्त पत्नी से सम्बन्ध रखता है, इसलिए वह अन्वादेश कहलाता है। यह स्कन्दस्वामी का मत है।''

अब 'अस्याः' पद का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व' (ऋ.१.१३८.४)। इस मन्त्र का देवता 'पूषा' तथा इसका छन्द भुरिक् अष्टि है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [पूषा = असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२)] सूर्यलोक के निर्माण के समय इसके आकार में वृद्धि होने लगती है अर्थात् इसकी वृद्धि में इस छन्द रश्मि की भी भूमिका होती है।

आधिदैविक भाष्य— (अजाश्व) 'अजाश्वेति पूषणमाह अजाश्व अजा अजनाः' अविनाशी अश्वों वाले अर्थात् जिस सूर्यलोक को वहन करने वाली प्राणादि रश्मियाँ इस सृष्टि काल में अथवा विभिन्न कणों एवं विकिरणों के सापेक्ष नित्य होती हैं, ऐसी उन आशुगामी रश्मियों वाला सूर्यलोक (नः, अस्याः, सातये) 'अस्यै नः सातये' हमारे अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत परुच्छेप संज्ञक ऋषि रश्मियों, जो विशेष शक्ति से युक्त होती हैं तथा सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में होने वाली विभिन्न क्रियाओं में जिनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, ऐसी इन रश्मियों के सम्यक् विभाजन और उपयोग के लिए [विशेष— परुच्छेप संज्ञक ऋषि रश्मियों के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का ३३ वाँ अध्याय अवश्य पठनीय है।]

(ररिवान्, अहेळमानः) 'अवहेळमानोऽक्रुध्यन् ररिवान् रातिरभ्यस्तः' वे अजाश्व संज्ञक प्राणादि रश्मियाँ अविक्षुब्ध भाव से विभिन्न छन्दादि रश्मियों को अनुकूल बल एवं गति आदि गुणों को प्रदान करती हैं। (ऊ, षु, उप, भुवः) 'उपभव' [भुवः = भव। अत्र लुङ्विकरणव्यत्ययेन शः प्रत्ययोऽऽभावश्च] यहाँ 'ऊ' और 'सु' दोनों पदपूरक हैं। वे अजाश्व संज्ञक प्राणादि रश्मियाँ परुच्छेप संज्ञक ऋषि रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों के निकट ही उस केन्द्रीय भाग में विद्यमान रहती हैं। (अजाश्व, श्रवस्यताम्) वे

अजाश्व संज्ञक प्राणादि रश्मियाँ उस अजाश्व संज्ञक सूर्यलोक में स्वयं नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों को अपने साथ संगत करने का प्रयत्न करती हैं अथवा संगत करने का प्रयत्न करने वाली वे प्राणादि रश्मियाँ उन कणों के निकट ही विद्यमान रहती हैं।

भावार्थ— किसी भी पदार्थ के कारणभूत अवयव उस पदार्थ के सापेक्ष नित्य होते हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान कुछ विशेष प्रकार की छन्द रश्मियाँ नाना प्रकार के कणों के मध्य बलों के सम्यक् विभाजन में अपनी भूमिका निभाती हैं। विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ भी इन सब क्रियाओं में अपनी आधारभूत भूमिका निभाती हैं।

यहाँ 'अस्याः' पद अन्तोदात्त है। तदनन्तर 'अस्याः' पद के अनुदात्त का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इस निगम को उद्धृत किया है— 'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'। इस मन्त्र का देवता सूर्या और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [सूर्या = वाङ्नाम (निघं.१.११), सूर्यस्य पत्नी (निरु.१२.७)] सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान रक्षिका एवं पालिका विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ अपनी नाना प्रकार की क्रियाओं को अनुकूलतापूर्वक सम्पादित करने में समर्थ होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्याः, यः, पतिः, दीर्घायुः, जीवाति) 'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु' उपर्युक्त सूर्या अर्थात् सूर्य में व्याप्त नाना छन्दादि रश्मियों का पति रूप सूर्यलोक, विशेषकर उसका केन्द्रीय भाग दीर्घकाल तक अपना कार्य करता रहता है। (शरदः, शतम्) 'स शरदः शतम् शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति शीर्णा आप इति वा' [ओषधयः = ओषधयो बर्हिः (ऐ.ब्रा.५.२८), ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.७.१), सौम्याऽओषधयः (श.ब्रा.१२.१.१.२), औषधो वै सोमो राजा (ऐ.ब्रा.३.४०)। बर्हिः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)। शतम् = एषा वाव यज्ञस्य मात्रा यच्छतम् (तां.ब्रा.२०.१५.१२), बहुनाम (निघं.३.१)] इस दीर्घकाल में उस सूर्यलोक के विशाल भाग, जिनमें निरन्तर ऐसी यजन प्रक्रिया चलती रहती हैं, में विभिन्न आपः अर्थात् सूक्ष्म कण सम्पीडित, संलयित एवं विखण्डित होते रहते हैं। इस भाग में विभिन्न संदीप्त सोम रश्मियाँ, सोम रश्मियों से उत्पन्न अन्य रश्मि वा कण आदि पदार्थ, वाजः संज्ञक विभिन्न संयोजी छन्दादि रश्मियाँ वा कण एवं आकाश तत्त्व सभी कुछ पक्व अवस्था में होते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये पदार्थ अत्यन्त गर्म अवस्था में होते हैं। उधर आकाश तत्त्व के पक्व अवस्था में होने का तात्पर्य इतना ही है कि वहाँ आकाश तत्त्व अति

सघन होने के साथ-२ विभिन्न पदार्थों के संयोजन की क्रिया में अति सक्रिय बना रहता है।

यहाँ 'अस्याः' इस स्त्रीलिंगवाची सर्वनाम की व्याख्या की गई है। पाठक इसी से 'अस्य' इस पुल्लिंगवाची सर्वनाम की व्याख्या भी समझ सकते हैं, जिसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ [ऋ.१.१६४.१]

अस्य वामस्य वननीयस्य। पलितस्य पालयितुः। होतुर्ह्वातव्यस्य। तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः। भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः। हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा। विश्पतिम्। सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रम्। सर्पणपुत्रमिति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति॥ २६॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अनेक देव पदार्थ तीव्र तेजस्वी होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वामस्य, पलितस्य, होतुः) 'वामस्य वननीयस्य पलितस्य पालयितुः होतुर्ह्वातव्यस्य' [वामः = प्रशस्यनाम (निघं.३.८)] जो सूर्यादि लोक इस ब्रह्माण्ड में सबसे श्रेष्ठ लोक होते हैं, जो सबसे अधिक प्रकाशित तथा सभी प्राणियों के सेवन योग्य होते हैं, जो विभिन्न पदार्थों के संयोजक और वियोजक की भूमिका निभाने में भी श्रेष्ठ होते हैं एवं जो अन्य लोकों, प्राणियों एवं वनस्पतियों के भी सर्वश्रेष्ठ पालक होते हैं। वे सूर्यादि लोक इस सृष्टि यज्ञ के महान् होता के रूप में होते हैं, जो अन्तरिक्ष से अनेक प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों का

ग्रहण निरन्तर करते रहते हैं और अन्तरिक्ष लोक में ही नाना प्रकार के विकिरणों एवं कणों को उत्सर्जित भी करते रहते हैं। (तस्य) 'तस्य' ऐसे उन सूर्यादि लोकों के (भ्राता) 'भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा' भ्राता के समान तीन पदार्थ विद्यमान होते हैं। यद्यपि यहाँ तीन संख्यावाची कोई पद विद्यमान नहीं है, परन्तु हमने इस मन्त्र के तीसरे पाद में विद्यमान 'तृतीयः' पद के आधार पर ही तीन भ्राता नामक पदार्थों की चर्चा यहाँ की है। [भ्राता = भ्राजते दीप्यतेऽसौ भ्राता, सोदर्यो वा। [धातोर्] जकारलोपः (उ.को.२.९७)] यहाँ ग्रन्थकार ने भ्राता नामक पदार्थ के विषय में कहा है कि जो पदार्थ किसी पदार्थ का भरण-पोषण करता है, उसके भाग का भागीदार होता है, वह भ्राता कहलाता है। ऋषि दयानन्द के मत में जो पदार्थ किसी पदार्थ से प्रकाशित होता व किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है, वह भ्राता कहलाता है। मन्त्र में मध्यम अर्थात् द्वितीय एवं तृतीय भ्राता की चर्चा तो है, परन्तु प्रथम पदार्थ की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं है। इस कारण हम 'अस्य' पद से प्रथम अग्नि का ग्रहण करेंगे। (अस्य) इस लोक के अर्थात् पृथिव्यादि के समान अप्रकाशित लोकों के अन्दर व्याप्त अग्नि तत्त्व सूर्यादि लोकों के प्रथम भ्राता के समान है। इसका कारण यह है कि इन लोकों में विद्यमान अग्नि सूर्य्यादि लोकों के अग्नि का ही भाग होता है अर्थात् इस अग्नि का मूल स्रोत सौर अग्नि ही है।

(मध्यमः, अस्ति, अश्नः) 'मध्यमोऽस्त्यशनः' इन सूर्य्यादि लोकों का मध्यम भ्राता मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी व्यापक वायु है। इसका कारण यह है कि वायु तत्त्व, जो आकाश तत्त्व में वर्तमान कथित वैक्यूम एनर्जी के रूप में सर्वत्र व्याप्त रहता है, ही सूर्य्यादि लोकों का भरण-पोषण करता तथा उससे उत्सर्जित किरणों को आकाश में वहन करता हुआ सूर्य्यादि लोकों को प्रकाशित करता व दर्शाता है। बिना वायु तत्त्व के सूर्य्यादि लोकों के लिए विभिन्न प्राणादि वा छन्दादि रश्मियों की आवश्यक आपूर्ति सम्भव नहीं और न सूर्य किरणों का आकाश में गमन ही सम्भव है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होना सम्भव है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के गमन करने के लिए क्या वायु तत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है? इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि हाँ, अवश्य होती है। वायु तत्त्व में विद्यमान प्राण, अपान, धनञ्जय सूक्ष्म रश्मियों के साथ-२ कुछ छन्द रश्मियों का भी सतत योगदान रहता है। इस कारण ही मध्यम स्थानीय वायु को सूर्यादि लोकों का भ्राता कहा गया है। यहाँ 'अश्नः' पद यह दर्शाता है कि वायु तत्त्व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त है। अन्तरिक्ष का कोई

भी भाग वायु तत्त्व से रहित नहीं है।

(तृतीयः, भ्राता, घृतपृष्ठः, अस्य) 'तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः' [घृतम् = तेजो वै घृतम् (तै.सं.२.२.९.४, मै.सं.१.६.८), स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं. २४.७), घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३)] इन सूर्यादि लोकों का तीसरा भ्राता है— घृत अर्थात् आकाश रूपी आधार वाला अग्नि। इस अग्नि का आधार तेज अर्थात् तीक्ष्णता भी होता है और सूक्ष्म 'घृम्' रश्मियाँ भी आधार होती हैं। यह अग्नि इन लोकों में नाभिकीय संलयन आदि क्रियाओं को प्रारम्भ करने के लिए अनिवार्य होता है अर्थात् नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होने से पहले तारों के अन्दर जो अग्नि होता है, वह तीसरा भ्राता कहलाता है। इसके साथ विद्युत् तत्त्व भी आकाश को स्पर्श वा उसे बाँधने वा उसके साथ अन्योन्य क्रिया करने वाला होने से सूर्यलोकों का तीसरा भ्राता कहलाता है। ये दोनों पदार्थ इस कारण भ्राता कहलाते हैं, क्योंकि सूर्य्यादि लोकों में जो भी ऊर्जा उत्पन्न वा संचित होती है, उसमें इन दोनों का ही भाग विद्यमान होता है। इसके साथ ही ये दोनों पदार्थ सूर्य्यादि लोकों का पालन-पोषण करते हैं। इनके अभाव में सूर्य का जीवन ही प्रारम्भ नहीं हो सकता। साथ ही सूर्य में संलयनादि से उत्पन्न ऊर्जा भी इन दोनों पदार्थों अर्थात् पूर्व में विद्यमान ताप व विद्युदावेशित कणों की सम्यक् मात्रा वा सन्तुलन को बनाए रखने में सहायक होती है।

(अत्र, सप्तपुत्रम्, विश्पतिम्, अपश्यम्) 'तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिम् सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रम् सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता संख्या सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति' इन तीनों प्रकार के भ्राता रूप पदार्थों में विश्पति अर्थात् सम्पूर्ण जीव जगत् के पालक और रक्षक, साथ ही अपने गर्भ में नाना प्रकार के कणों एवं विकिरणों को उत्पन्न एवं संरक्षित करने वाले सूर्यादि लोकों को हम अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत दीर्घतमा नामक ऋषि रश्मियाँ निरन्तर देखती हैं। यहाँ देखने का अभिप्राय यह है कि वे रश्मियाँ अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके उन लोकों में व्याप्त रहती हैं। यहाँ इन लोकों को सप्तपुत्र कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये लोक निरन्तर सर्पण अर्थात् गमन करने वाली रश्मियों, किरणों वा कणों के पालक होते हैं। इनके अन्दर कोई भी पदार्थ कभी स्थिर नहीं रहता। सप्तपुत्र कहने का दूसरा कारण यह है कि इन लोकों के अन्दर विभिन्न रश्मि आदि पदार्थ दूर-दूर तक अर्थात् सम्पूर्ण लोक में ही नहीं, बल्कि सुदूर

अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी आदि लोकों में भी फैले रहते हैं। अन्तिम कारण यह है कि इन लोकों के अन्दर सात प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, रेडियो तरंगों, माइक्रो तरंगों, अवरक्त किरणें, पराबैंगनी किरणें, एक्स-किरणें, गामा किरणें अथवा सात रंगों वाली प्रकाश किरणें विद्यमान होने से इन लोकों को सप्तपुत्र कहते हैं। इसके साथ ही इन लोकों में सातों प्रकार की गायत्री आदि छन्द रश्मियाँ एवं सात प्रकार की प्रमुख प्राण रश्मियाँ (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, सूत्रात्मा व धनञ्जय) भी अनिवार्यतः विद्यमान होती हैं। ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का मत है।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में तारे ही सर्वश्रेष्ठ लोक माने जाते हैं, क्योंकि ये लोक ही सर्वाधिक प्रकाशक एवं ऊर्जा के महान् भण्डार होने के कारण सब लोकों के धारक व पोषक होते हैं। इन लोकों से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के कण और विकिरण अन्तरिक्ष आदि लोकों में नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त अग्नि का मूल स्रोत सूर्यादि तारे ही होते हैं। सूर्यादि तारों की ऊर्जा का मूल स्रोत वायुतत्त्व होता है, क्योंकि वायु तत्त्व ही इन लोकों को विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों की निरन्तर आपूर्ति करता रहता है। सूर्य की किरणों की गमन क्रिया में भी धनञ्जय वायु आदि विभिन्न रश्मियों की भूमिका होती है। तारों के निर्माण की प्रक्रिया के समय विद्युत् और ऊष्मा की एक विशेष मात्रा अनिवार्य होती है। ये तारे निरन्तर गमनशील होते हैं तथा सर्पणशील प्राण व छन्दादि रश्मियों से परिपूर्ण होते हैं। ये सात प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं सात प्रकार की छन्दादि रश्मियों के साथ-साथ सात प्रकार की प्राण रश्मियों के भी भण्डार होते हैं।

यह निगम अन्तोदात्त 'अस्य' पद का उदाहरण है।

* * * * *

सप्तविंशः खण्डः

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

[ऋ.१.१६४.२]

सप्त युञ्जन्ति रथम्। एकचक्रमेकचारिणम्। चक्रं चकतेर्वा। चरतेर्वा।
क्रामतेर्वा। एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः।
सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति। सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा।
इदमपीतरं नामैतस्मादेव। अभिसन्नामात्। संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः।
त्रिनाभि चक्रं त्र्यृतुः संवत्सरः। ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति।
संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः।
वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा।
अजरमजरणधर्माणम्। अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्।
यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति।

इस मन्त्र का ऋषि एवं देवता पूर्व मन्त्र के समान एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत और छान्दस प्रभाव भी लगभग पूर्ववत् रहता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सप्त, युञ्जन्ति, रथम्, एकचक्रम्) 'सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रमेकचारिणम् चक्रं चकतेर्वा चरतेर्वा क्रामतेर्वा' [चकतेः = चकमानः कान्तिकर्मा (निघं.२.६), 'चक तृप्तौ प्रतिघाते च (भ्वा.) धातोः शानच्'। चक्रम् = वज्रो वै चक्रम् (तै.ब्रा.१.४.४.१०), वज्रस्त्रिष्टुप् (श.ब्रा.३.६.४.२२)] यहाँ सूर्य को एकचक्र कहा गया है। सूर्यादि लोक जब अपनी कक्षा में परिक्रमण करते हैं, तब वे एक वज्र रूप रश्मि समूह के द्वारा नियन्त्रित होकर गमन करते हैं। उस रश्मि समूह में तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ होती हैं और ये तीनों मिलकर एक सूक्त का निर्माण करती हैं। यह सूक्त ऋग्वेद १०.१७८ के रूप में संहिताओं में उपलब्ध है। ये तीन रश्मियाँ इस प्रकार हैं—

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

इन्द्रस्येव रातिमाजोहुवानाः स्वस्तये नावमिवा रुहेम।
उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम॥ २॥

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।

सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ ३॥

ये तीनों छन्द रश्मियाँ उस समय विशेष भूमिका निभाती हैं, जब ये लोक अपनी कक्षा में स्थापित हो रहे होते हैं अर्थात् उनकी कक्षाएँ अस्थिर होती हैं, तब यही सूक्त रूप रश्मि समूह, जो एक वज्र वा चक्र के समान कार्य करता है, अपनी विशेष भूमिका निभाता है। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' के ४.२० एवं ४.२१ खण्ड पठनीय हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने इस चक्र रूप रश्मि समूह को गति व कान्ति प्रदान करने वाला, गति एवं अनेक बाधक रश्मियों का भक्षण करके इन लोकों की गति में आई हुई विकृति को दूर करने वाला तथा इन लोकों के आगे-आगे निरन्तर बढ़ने वाला कहा है। 'चक्रम्' पद के निर्वचन से यहाँ यही अर्थ स्पष्ट होता है। इस चक्र वा चक्रयुक्त रथ [रथम् = वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२)] के साथ सात रश्मियाँ भी जुड़ी होती हैं। ये रश्मियाँ प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, सूत्रात्मा एवं धनञ्जय होती हैं।

(एकः, अश्वः, सप्तनामा, वहति) 'एकोऽश्वो वहति सप्त-नामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा इदमपीतरं नामैतस्मादेव अभिसन्नामात्' इस उपर्युक्त एकचक्र रथ को एक सप्तनामा अश्व वहन करता है। यह सप्तनामा अश्व सूर्यलोक ही है। [यहाँ सूर्यलोक का तात्पर्य केवल अपना सूर्य ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि सूर्यलोक से सभी तारों का ग्रहण करना चाहिए।]

इस प्रकार वे रश्मियाँ सूर्यलोक को गति, दिशा और सुरक्षा प्रदान करती हैं और सूर्यलोक इनको निरन्तर वहन करता है। यहाँ 'सप्तनामा' पद के निर्वचन से सूर्यलोक के विषय में कुछ रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। जैसे कि सात छन्द रश्मियाँ इन लोकों के लिए विभिन्न तन्मात्राओं अर्थात् कणों को निरन्तर प्राप्त कराती रहती हैं। इन कणों को सात ऋषि अर्थात् परुच्छेप, शुनःशेप, रोहित, विश्वामित्र, वसिष्ठ, जमदग्नि एवं अयास्य रश्मियाँ निरन्तर प्रकाशित करती हैं। ये सभी ऋषि रश्मियाँ सूर्यलोकों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने व संचालित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनके बिना सूर्यलोक का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का ३३वाँ अध्याय अवश्य पठनीय है। इन दो कारणों से सूर्य को सप्तनामा कहा गया है। इन सभी रश्मियों के कारण इस लोक में सूक्ष्म पदार्थ निरन्तर सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर झुकते अर्थात् आकर्षित होते चले आते हैं।

यह ऋचा के पूर्वार्ध का व्याख्यान हुआ। इसके उत्तरार्ध में संवत्सर के व्याख्यान की प्रधानता है। यद्यपि सूर्य को भी संवत्सर कहते हैं, परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से उत्तरार्ध को संवत्सर प्रधान कहा है। (त्रिनाभि, चक्रम्) 'त्रिनाभि चक्रं त्र्यृतुः संवत्सरः ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः हेमन्तो हिमवान् हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा' इससे यह प्रतीत होता है कि इस ऋचा के उत्तरार्ध में जो वर्णन है, उसमें संवत्सरवाची अर्थात् संवत्सर से सम्बन्धित विभिन्न पदार्थों का वर्णन प्रधानता से है, परन्तु गौण रूप से अन्य रश्मियों का पूर्वार्ध की भाँति वर्णन है, प्रधान पद यही दर्शा रहा है। पूर्वार्ध में जो सूर्य को एकचक्र कहा है, वह तीन नाभियों से युक्त होता है और वे तीन नाभियाँ हैं— ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त संज्ञक तीन प्रकार की रश्मियाँ, जिनसे सूर्य का चक्र किंवा सम्पूर्ण सूर्यलोक बँधा रहता है।

संवत्सर पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है— 'संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि' अर्थात् जिसमें विभिन्न पदार्थ अच्छी प्रकार बसते हैं, क्योंकि सूर्यलोक में विशाल पदार्थ समूह अच्छी प्रकार विद्यमान होता है। इस कारण सूर्यलोक भी संवत्सर कहलाता है। [संवत्सरः = अग्निः संवत्सरः (तां.ब्रा.१७.१३.१७), संवत्सरोऽग्निः (श.ब्रा.६.३.१.२५, तां.ब्रा.१०.१२.७), संवत्सरः सुवर्गो लोकः (तै.ब्रा.२.२.३.६, श.ब्रा.८.४.१.२४), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श.ब्रा.६.७.४.११), ऋतवः संवत्सरः (तै.ब्रा.३.९.९.१)] इन प्रमाणों से ऐसा भासित होता है कि सूर्यलोक के मध्य भाग को अर्थात् केन्द्रीय भाग को यहाँ विशेष रूप से संवत्सर कहा गया है। ये ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त तीनों प्रकार की ऋतु रश्मियाँ सूर्य के केन्द्रीय भाग में विशेष भूमिका निभाती हैं, जिनके गुण एवं कार्य क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. ग्रीष्म — ये रश्मियाँ विभिन्न प्राणादि रश्मियों को तीव्रता से अवशोषित करके ऊष्मा की मात्रा को बढ़ाती हैं। साथ ही ये रश्मियाँ अति भेदक शक्ति सम्पन्न होती हैं तथा विद्युत् बलों को समृद्ध करती हैं। इसी कारण इनके विषय में कहा गया है— 'क्षत्रं हि ग्रीष्मः' (श.ब्रा.२.१.३.५), 'ग्रीष्मे मध्यन्दिने सꣳ हितामैन्द्रीम् (आलभेत)' (तै.सं.२.१.२.५)।

२. वर्षा — इन रश्मियों में पर्जन्य की वृष्टि होती है और पर्जन्य के विषय में ऋषियों का कथन है— पर्जन्यस्य विद्युत् (पत्नी) (तै.आ.३.९.२), पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (निरु.१०.१०), पर्जन्यो

वा अग्निः (श.ब्रा.१४.९.१.१३)। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि अग्नि तत्त्व अर्थात् ऊष्मा और विद्युत् ही पर्जन्य है, जो सूर्यादि तारों के केन्द्रीय भाग में विभिन्न सूक्ष्म कणों को संयुक्त व नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

३. हेमन्त — 'हिमम्' पद 'हि गतौ वृद्धौ परितापे च' धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु के अर्थ आप्टेकोष में इस प्रकार हैं— भेजना, उकसाना, फेंकना, उन्नत वा उत्तेजित करना। इससे सिद्ध है कि ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को बार-बार उत्तेजित वा प्रक्षिप्त करती हुई विभिन्न कण वा रश्मियों को संगत कराने हेतु प्रेरित करती हैं। इनके विषय में लिखा है— 'हेमन्तो हि वरुणः' (मै.सं.१.१०.१२) अर्थात् ये रश्मियाँ तीव्र बन्धक बलों से युक्त होती हैं, क्योंकि ये बल रूप सहस् एवं सहस्य मास रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं।

(अजरम्, अनर्वम्) 'अजरमजरणधर्माणम् अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्' यह सूर्यलोक अपने परिवार के सभी लोकों की अपेक्षा अजर होता है अर्थात् इसकी आयु पृथ्वी आदि लोकों से अधिक होती है। इसके साथ ही यह लोक अपने परिवार के किसी ग्रहादि लोक का न तो परिक्रमण करता है और न उस पर आश्रित ही होता है। (यत्र, इमा, विश्वा, भुवना, अधि, तस्थुः) 'यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति' जहाँ अर्थात् उस सूर्यलोक के आकर्षण बल के प्रभाव क्षेत्र में ये सभी लोक अर्थात् सौर परिवार के सदस्य लोक ठहरे हुए हैं अर्थात् सूर्यलोक के आकर्षण के प्रभाव से ये सभी लोक सूर्यलोक के चारों ओर स्थिर कक्षाओं में परिक्रमण करते रहते हैं। इसके साथ ही उस सूर्यलोक में सूक्ष्म रश्मियों से लेकर कणों की विशाल धाराओं तक सभी पदार्थ आश्रय पाते हैं। उन ऐसे सूर्यादि लोकों की सर्वत्र सब प्रकार से स्तुति की जाती है अथवा ऐसे सूर्यलोक में विद्यमान पदार्थ की सम्पूर्ण मात्रा निरन्तर प्रकाशित होती रहती है।

भावार्थ— जब सूर्यादि लोक अपनी कक्षाओं में स्थापित होने के लिए संघर्ष कर रहे होते हैं, उस समय तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ वज्र के रूप में प्रकट होकर बाधक पदार्थों को दूर करके लोकों को उनकी स्थिर कक्षाओं में स्थापित करने में सहयोग करती हैं। इसके साथ ही प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, धनञ्जय एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी इस कार्य में सहयोग करती हैं। ये सभी रश्मियाँ सूर्यादि लोकों को गति, दिशा एवं सुरक्षा प्रदान करती हैं। गायत्र्यादि सात छन्द रश्मियाँ इन लोकों के लिए निरन्तर नाना प्रकार के कण आदि पदार्थ प्रदान करती रहती हैं। सूर्यलोक के मध्यभाग को संवत्सर कहते हैं, क्योंकि यह भाग

अग्नि और ऋतु संज्ञक रश्मियों का बड़ा भण्डार होता है। इनमें से ग्रीष्म रश्मियाँ तीक्ष्ण भेदक बल उत्पन्न करती हैं। वर्षा संज्ञक ऋतु रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म कणों को नियन्त्रित करने वाली एवं हेमन्त ऋतु रश्मियाँ नाना प्रकार के प्रक्षेपक बलों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। सूर्यादि लोक अपने परिवार के लोकों के सापेक्ष स्थिर एवं अविनाशी होते हैं और वे सभी लोक सूर्यादि लोकों का परिक्रमण करते रहते हैं।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने। [ऋ.१.१६४.१३] इति पञ्चर्तुतया।
पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम्। [शतपथ १.५.२.१६]
हेमन्तशिशिरयोः समासेन। [ऐ.ब्रा.१.१.१]
षळर आहुरर्पितम्। [ऋ.१.१६४.१२]
इति षडृतुतया। अराः प्रत्यृता नाभौ। षट् पुनः सहतेः।

यहाँ सूर्य के विषय में ही यह मन्त्रांश प्रस्तुत किया गया है— 'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने'। पूर्व में सूर्य के चक्र को त्रिनाभि बताया था, जबकि यहाँ सूर्य को पाँच अरों से युक्त बतलाया है, जो पाँच ऋतु रश्मियों के रूप में हैं। यद्यपि ऋतुओं की कुल संख्या छः होती है, परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार— 'पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन तावान् संवत्सरः' (वेदविज्ञान-आलोकः १.१.११) अर्थात् हेमन्त, शिशिर नामक ऋतु रश्मियों को अधिक समानता के कारण एक ही मानकर ऋतुओं की संख्या पाँच होती है। हम तीन ऋतु रश्मियों के विषय में पूर्व में लिख चुके हैं। अन्य दो के विषय में यहाँ लिख रहे हैं—

१. वसन्त — ये रश्मियाँ अन्य ऋतु रश्मियों को सक्रिय करने हेतु ईंधन का कार्य करती हैं। ये ऊष्मा एवं विद्युत् को धारण करने में विशेष सहायक होती हैं। ये प्रकाश को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाली और अन्य रश्मियों को मार्ग प्रदान करने में सहयोग करने वाली होती हैं।

२. शरद् — ये रश्मियाँ प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के कणों के संयोजन और वियोजन में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये प्रकाश को उत्पन्न करने वाली और अन्य रश्मियों द्वारा अवशोषित होने वाली होती हैं।

इस प्रकार ये दो रश्मियाँ और पूर्वोक्त तीन ऋतु रश्मियाँ कुल मिलाकर पाँच ऋतु

रश्मियाँ सूर्य के चक्र में अरों का काम करती हैं अर्थात् सूर्यलोक का चक्रण इनसे बँधा हुआ निरन्तर घूमता रहता है। यह सूर्य अपने अक्ष पर भी घूर्णन करता है और अपनी आकाशगंगा के विशाल केन्द्र के चारों ओर परिक्रमण करता रहता है।

इसके पश्चात् एक अन्य मन्त्रांश प्रस्तुत किया गया है— 'षळर आहुरर्पितम्'। यहाँ सूर्य का सम्बन्ध छः ऋतु रश्मियों के साथ दर्शाया गया है, जिनमें से पाँच का वर्णन हम अब तक कर चुके हैं। अन्तिम एक ऋतु का वर्णन इस प्रकार है—

शिशिर — यह ऋतु रश्मि अन्य सभी ऋतु रश्मियों का आधार होती है। इसके विषय में ऋषियों ने कहा है— 'शिशिरं प्रतिष्ठानम्' (मै.सं.४.९.१८), 'शिशिरं वा अग्नेर्जन्म ... सर्वासु दिक्ष्वग्निश्शिशिरे (काठ.सं.८.१), षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः (पशुभिः) शिशिरे (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८)। इनसे यह सिद्ध होता है कि अग्नि का जन्म इन्हीं ऋतु रश्मियों में होता है, इस कारण केन्द्रीय भागों में इनकी प्रचुरता होती है। इन्हीं की प्रचुरता में सभी दिशाओं में सूत्रात्मा वायु एवं विभिन्न छन्द आदि रश्मियाँ सक्रिय होकर नाना संयोग आदि क्रियाओं को समृद्ध करती हैं। यहाँ मन्त्रांश का तात्पर्य यह है—

(षट्, अरे, अर्पितम्, आहुः) 'अराः प्रत्यृता नाभौ षट् पुनः सहतेः' अर्थात् ये अरा रूप सभी ऋतु रश्मियाँ सूर्य को बाँधने वाले उसके केन्द्रीय भाग की ओर स्पन्दित होती रहती हैं। ये छः ऋतु रश्मियाँ षट् इसलिए कहलाती हैं, क्योंकि ये बार-बार पदार्थ को सम्पीडित करके दबाव के साथ केन्द्रीय भाग की ओर भेजती रहती हैं।

द्वादशारं नहि तज्जराय॥ [ऋ.१.१६४.११]
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्॥ [ऋ.१.१६४.४८]
इति मासानाम्। मासा मानात्। प्रधिः प्रहितो भवति।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
[ऋ.१.१६४.४८]
षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः। [गो.पू.५.५]
इति च ब्राह्मणं समासेन।
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ [ऋ.१.१६४.११]

सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः। [ऐ.ब्रा.२.१७] इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन॥ २७॥

सूर्यलोक के सम्बन्ध में निम्न निगम को प्रस्तुत किया गया है— 'द्वादशारं नहि तज्जराय'। यहाँ अरों की संख्या १२ बताई गयी है। बारह मास रश्मियाँ ही सूर्य के बारह अरे हैं। ये बारह मास रश्मियाँ हैं— मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, ईष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य। सभी मास रश्मियाँ मिश्रण और अमिश्रण के कार्यों को सम्पादित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन मास रश्मियों के विषय में विस्तार से जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है।

इस प्रकार इस मन्त्रांश का तात्पर्य यह है कि इन १२ प्रकार की मास रश्मियों रूपी अरों से युक्त सूर्यलोक जरावस्था को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब तक ये मास रश्मियाँ सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान रहती हैं, तब तक सूर्यलोक जीर्ण नहीं हो पाता अर्थात् उसकी सभी क्रियाएँ समुचित रूप से चलती रहती हैं।

अब अगला निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्'। यहाँ ग्रन्थकार ने लिखा है— 'इति मासानाम् मासा मानात् प्रधिः प्रहितो भवति'। [मानम् = माने निर्माणे (निरु.२.२२)] यहाँ मास रश्मियों का नाम मास इसलिए है, क्योंकि ये रश्मियाँ सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर इसे मापती हैं अर्थात् केन्द्रीय भाग से लेकर बाहरी परिधि तक स्पन्दित होती हुई नाना पदार्थों का निर्माण करती रहती हैं। इन मास रश्मियों को यहाँ 'प्रधिः' भी कहा गया है अर्थात् ये रश्मियाँ सूर्य की परिधि में भी विशेष रूप से धारण की हुई होती हैं, जिसके कारण ये रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक को बाँधे रखने, ऊर्जा के उत्सर्जन करने आदि अनेक कार्यों को सम्पादित करने में सूक्ष्म स्तर पर सहयोग करती हैं। इसी कारण मन्त्रांश का आशय यह है कि ये सभी बारह मास रश्मियाँ पूर्वोक्त एकचक्र संज्ञक आदित्य लोक की परिधि रूप होकर उसे अच्छी प्रकार धारण व पुष्ट करती रहती हैं।

तदुपरान्त इसी विषय में अगला निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः'। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तस्मिन्) उस सूर्यलोक में (त्रिशता, साकम्, षष्टिः) तीन सौ साठ अहोरात्र [अहोरात्रः = अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.२५.१०.१०)] अर्थात् प्राण एवं अपान रश्मियाँ (शङ्कवः, न, अर्पिताः) कीलों के समान चक्र में लगी होती हैं। (न, चलाचलासः) वे प्राणापान रश्मियाँ सतत स्पन्दित होती हुई सम्पूर्ण सूर्यलोक और उसकी नाभि एवं अरों रूप ऋतु एवं प्राण रश्मियों तथा अन्य सभी रश्मियों को भी चक्र के समान अपने साथ बाँधे रखती हैं। यदि प्राणापान रश्मियाँ समाप्त हो जाएँ, तो सूर्य के अन्दर विद्यमान सभी पदार्थ बिखर जायेंगे, इसलिए इन रश्मियों को यहाँ कीलों की उपमा दी गई है। यहाँ हम मित्र के प्राण और वरुण के अपान होने का प्रमाण भी पाठकों की संतुष्टि के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं— 'प्राणो मित्रम्' (जै.उ.३.३.६), 'अपानो वरुणः' (श.ब्रा.८.४.२.६)। इस मन्त्र में दर्शाए हुए कथन को गोपथ ब्राह्मण में इस प्रकार दर्शाया हुआ उद्धृत किया है— 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः'। इसी बात को 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१२.२ में भी दर्शाया गया है। इसका आशय भी वही है, जो उपर्युक्त मन्त्र में दर्शाया गया है। इस कारण इस पर व्याख्यान करना पिष्टपेषण के समान व्यर्थ है।

अब आदित्य लोक सम्बन्धी अन्तिम निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः' अर्थात् इस सूर्यलोक में अहन् एवं रात्रि दोनों मिलाकर कुल ३६०+३६० = ७२० प्राण एवं अपान रश्मियाँ पुत्र के समान सदैव वर्तमान रहती हैं अर्थात् सूर्यलोकों के पालन, संरक्षण एवं संचालन में सदैव तत्पर रहती हैं। यहाँ ७२० संख्या से हम ७२० प्रकार की विभिन्न छन्द रश्मियों का भी ग्रहण कर सकते हैं।

इस प्रकार इस सूर्यलोक में कुल ७२० प्रकार की छन्द रश्मियाँ नाना प्रकार के संयोगों को सम्पादित करके नाना पदार्थों को जन्म देने वाली होती हैं। यह ध्यान रहे कि सूर्यलोक में केवल ७२० छन्द रश्मियाँ नहीं होती, बल्कि वे असंख्य मात्रा में होती हैं। ७२० उनके प्रकार होते हैं, न कि कुल संख्या। यह बात ऐतरेय ब्राह्मण २.१७ में भी इस प्रकार कही गई है— 'सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः'। इसके व्याख्यान के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.१७.२ पठनीय है। यहाँ 'विभागेन-विभागेन' यह दो बार आवृत्ति खण्ड की समाप्ति की सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
चतुर्थोऽध्यायः समाप्यते।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्। [ऋ.१०.१३९.६]
सस्निं संस्नातं मेघम्।
वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा। [ऋ.८.२६.१६]
वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ। नरा मनुष्याः। नृत्यन्ति कर्मसु।
दूतो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा।
दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्। [ऋ.१०.४.२] इत्यपि निगमो भवति।

पूर्व अध्याय में अनवगत संस्कार पदों का निर्वचन प्रारम्भ किया था। इस अध्याय में वही प्रकरण चल रहा है, जिसमें से यहाँ ६३वें पद 'सस्निम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्'। इस मन्त्र का देवता विश्वावसु तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण सबको बसाने वाला इन्द्रतत्त्व तीव्र बल और तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सस्निम्) 'संस्नातं मेघम्' सम्यक् रूप से शुद्ध हुए मेघरूप पदार्थों को इन्द्रतत्त्व [यहाँ शुद्ध होने का तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रतत्त्व के वज्र रूप रश्मि समूह के प्रहार से कॉस्मिक मेघों पर प्रहार कर यजन क्रियाओं में बाधा डालने वाले असुरादि पदार्थ नष्ट वा नियन्त्रित हो जाते हैं और सम्पूर्ण मेघरूपी पदार्थ विविध यजन क्रियाओं के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त हो जाता है, ऐसा मेघ सम्यक् शुद्ध मेघ कहलाता है] (अविन्दत्) प्राप्त होता है अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व उस मेघरूप पदार्थ में पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। (नदीनाम्, चरणे) [नदी = नद्यः कस्मात् नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। (निरु.२.२४)] इन्द्रतत्त्व की व्याप्ति उस मेघ में कहाँ होती है, इसको यहाँ स्पष्ट किया गया है। उन मेघरूप पदार्थों से जब किसी सूर्यादि लोक का निर्माण प्रारम्भ होने वाला होता है, तब उस कॉस्मिक मेघ में तीव्र घोष करती हुई पदार्थ की धाराएँ एक केन्द्र की ओर तेजी से प्रवाहित होने लगती हैं। वे धाराएँ जिस क्षेत्र में बह रही होती हैं, उसी क्षेत्र में मेघ के पूर्ण शुद्ध होने और इन्द्रतत्त्व के उसमें पूर्णतया व्याप्त होने की बात यहाँ कही गई है, न कि सम्पूर्ण मेघरूप पदार्थ में।

तदनन्तर ६४वें एवं ६५वें पदों 'वाहिष्ठः' एवं 'दूतः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत

किया गया है— 'वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ एवं छन्द विराड् गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से नर संज्ञक एवं मनुष्य संज्ञक, जो एक ही मनुष्य वर्ग के सूक्ष्म भेद के कारण दो पृथक्-२ कण होते हैं, उन दोनों का युग्म विविध प्रकार से प्रकाशित होने लगता है। [इनके विषय में खण्ड ३.७ पठनीय है] इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नरौ, वाहिष्ठः, हवानाम्) 'नरौ नरा मनुष्याः नृत्यन्ति कर्मसु वोढृतमो ह्वानानाम्' वे दोनों अश्विनौ अर्थात् 'नर' एवं 'मनुष्य' संज्ञक नामक सूक्ष्म कणों का युग्म आकर्षित करने वाले अन्य कणों को वहन करने में विशेष समर्थ होते हैं। ये नर संज्ञक कण मनुष्य संज्ञक कणों का ही एक रूप होते हैं, जो नृत्य जैसी गति करते हुए नाना प्रकार की क्रियाओं में भाग लेते हैं अर्थात् ये कण चंचल अर्थात् विशेष सक्रिय होते हैं। उधर मनुष्य नामक कण कम सक्रिय होते हैं, परन्तु विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों से संदीप्त होकर सक्रिय हो उठते हैं। ऐसे ही सक्रिय मनुष्य नामक कण नर संज्ञक कणों के साथ युग्म बनाकर अश्विनौ कहलाते हैं और इन्हीं की यहाँ चर्चा की गई है।

(वाम्, स्तोमः) 'स्तोमो' तुम दोनों अर्थात् उन दोनों ही प्रकार के कणों अर्थात् उनके युग्म को विभिन्न स्तोम संज्ञक [स्तोमः = प्राणा वै स्तोमाः (श.ब्रा.८.४.१.३), अन्नं वै स्तोमाः (श.ब्रा.९.३.३.६), गायत्रीमात्रो वै स्तोमाः (कौ.ब्रा.१९.८), स्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोकाः (ऐ.ब्रा.४.१८)] विशेष संयोजक स्वभावयुक्त प्राण, अपान व व्यान रश्मियाँ एवं विविध गायत्री छन्द रश्मियाँ (दूतः, हुवत्) 'दूतो हुवत् दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा' दूत रूप धारण कर आकर्षित करती हैं। यहाँ दूत होने का अर्थ है कि वे रश्मियाँ तीव्र वेग से एक-दूसरे के ऊपर फिसलते हुए मार्ग में आने वाली सभी बाधक असुरादि रश्मियों को रोकती हुई गमन करती हैं। इसके साथ ही वे दूत रूप रश्मियाँ संयोजी पदार्थों को, इस प्रकरण में नर और मनुष्य नामक कणों के युग्मों को रोककर विशेष संयोजक रूप प्रदान करती हैं, जिससे वे नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं।

तत्पश्चात् 'दूतः' पद का ही एक और निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्'। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवानाम्, मर्त्यानाम्) वह विद्युत् अग्नि विभिन्न देव कणों एवं मर्त्य संज्ञक कणों [इन दोनों ही प्रकार के कणों के विषय में खण्ड ३.७-८ पठनीय है।] (दूतः, असि) के दूत के रूप में व्यवहार करता है अर्थात् वह विद्युत् अग्नि ऐसे कणों की ओर तेजी से फिसलता हुआ गमन करता और उन्हें रोककर उनके साथ संयुक्त हो जाता है अर्थात् ये दोनों प्रकार के कण विद्युत् अग्नि के प्रभाव से संयोजकता आदि गुणों से युक्त होने लगते हैं।

वावशानो वष्टेर्वा। वाश्यतेर्वा।
सप्त स्वसृररुषीर्वावशानः। [ऋ.१०.५.५] इत्यपि निगमो भवति।
वार्यं वृणोतेः। अथापि वरतमम्।
तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्। [ऋ.८.२५.१३]
तद्वार्यं वृणीमहे। वर्षिष्ठं गोपायितव्यम्। गोपायितारो यूयं स्थ।
युष्मभ्यमिति वा।

६६वें पद 'वावशानः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वावशानो वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा' अर्थात् इस पद का 'वश कान्तौ' एवं 'वाशृ शब्दे' इन दो धातुओं से निर्वचन किया गया है। इसका अर्थ यह है कि चाहता अर्थात् आकर्षित करता हुआ एवं ध्वनि तरंगें उत्पन्न करता हुआ पदार्थ 'वावशानः' कहलाता है। यहाँ 'वश कान्तौ' से चमकता हुआ अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सप्त स्वसृररुषीर्वावशानः'। इसका देवता अग्नि एवं छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र तेज एवं बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सप्त, स्वसृः, अरुषीः, वावशानः) [स्वसा = स्वसारः अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), सु असा स्वेषु सीदतीति वा (निरु.११.३२)। अरुषीः = उषोनाम (निघं.१.८), अरुषीरारोचनात् (निरु.१२.७)] सूर्य की सात किरणें सप्त रंगों के साथ सुन्दर कान्तियुक्त होकर निरन्तर गमन करती हैं। वे वेग और बल से युक्त होकर सबको प्रकाशित करती हुई एवं सूक्ष्म कणों के द्वारा आकृष्ट होती हुई सूक्ष्म ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करती हैं, भले ही उन ध्वनि तरंगों को हम ग्रहण नहीं कर पायें।

इसके पश्चात् ६७वें पद 'वार्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वार्यं वृणोतेः। अथापि वरतमम्' अर्थात् जो पदार्थ वरणीय होता है अथवा सबसे श्रेष्ठ होता है, उसे वार्यम् कहते हैं। आधिदैविक पक्ष में जो पदार्थ किसी पदार्थ से सहजतया आकृष्ट होता है अथवा आकर्षित होने वाले पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ होता है, उसे वार्यम् कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्'। इस मन्त्र का देवता मित्रावरुणौ तथा छन्द विराट् उष्णिक् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित कणों की ऊष्मा में वृद्धि होती है। इसके साथ ही वे विविध रूप से प्रकाशित भी होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तत्, वार्यम्, वरिष्ठम्, गोपयत्यम्) 'तद्वार्यं वर्षिष्ठं गोपायितव्यम् गोपायितारो यूयं स्थ युष्मभ्यमिति वा' इस मन्त्र की ऋषि रूप रश्मियाँ मित्र एवं वरुण संज्ञक प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों, जो आकर्षणीय पदार्थों में श्रेष्ठतम होते हैं। जो रक्षणीय होते हैं अर्थात् इस सृष्टि में मूल कण एवं प्रकाशाणु प्रायः संरक्षित रहते हैं, उन्हें (वृणीमहे) 'वृणीमहे' हम वरण करते हैं अर्थात् उन्हें वे ऋषि रश्मियाँ आकृष्ट करती हैं। ध्यातव्य है कि इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वमना वैयश्व' है तथा वैयश्व एक प्रकार का साम अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों का समूह है। यह गायत्री रश्मि समूह ही इन कणों व विकिरणों को सूर्य्यादि लोकों में आकर्षित करता व उनकी रक्षा में भी सहयोग करता है। इसी कारण कहा है— तदेतद् भ्रातृव्यहा गातुविन्नाथवित् साम ... यदु व्यश्वोऽपश्यत् तस्माद्वैयश्वमित्याख्यायते। (जै.ब्रा. ३.२२१), व्यश्वो वा एतेनाङ्गिरसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत्। (तां.ब्रा.१४.१०.९)

अन्ध इत्यन्ननाम। आध्यायनीयं भवति।

आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः। [ऋ.२.१४.१]

आसिञ्चतामत्रैर्मदनीयमन्धः। अमत्रं पात्रम्। अमा अस्मिन्नदन्ति।

अमा पुनरनिर्मितं भवति। पात्रं पानात्। तमोऽप्यन्ध उच्यते।

नास्मिन्ध्यानं भवति, न दर्शनम्। अन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते।

अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव।

पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः। [ऋ.१.१६४.१६]

इत्यपि निगमो भवति॥ १॥

अब ६८वें पद 'अन्धः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अन्ध इत्यन्ननाम आध्यायनीयं भवति' अर्थात् अन्ध अन्नवाची पद है, क्योंकि यह सब ओर से ध्यान करने योग्य अर्थात् चाहने वा आकर्षित करने योग्य होता है। लोक में अन्न खाद्य पदार्थ को कहते हैं, क्योंकि सभी प्राणी इसको मृत्युपर्यन्त चाहते रहते हैं। इसी प्रकार सृष्टि में सभी संयोजी पदार्थ निरन्तर किसी अन्य संयोज्य पदार्थ को अपने साथ आकर्षित करने की प्रवृत्ति रखते हैं, इस कारण ही इन्हें अन्ध एवं अन्न कहा जाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी और बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, अमत्रेभिः) 'अमत्रं पात्रम् अमा अस्मिन्नदन्ति अमा पुनरनिर्मितं भवति पात्रं पानात्' [अमत्रः = अमत्रोऽमात्रो महान्भवति अभ्यमितो वा (निरु.६.२३)] इन्द्रतत्त्व को समृद्ध करने के लिए अपरिमित अर्थात् विशाल मात्रा में पदार्थ को अवशोषित कराने में समर्थ प्राणापान आदि रश्मियों के द्वारा (मद्यम्, अन्धः, आसिञ्चत, सोमम्) 'आसिञ्चतामत्रैर्मदनीयमन्धः' ऐसे संयोज्य कणों, जो उत्तेजित वा अति सक्रिय अवस्था में विद्यमान होते हैं तथा सोम रश्मियों को सब ओर से सिञ्चित किया जाता है।

अब 'अन्धः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'तमोऽप्यन्ध उच्यते नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनम् अन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव' अर्थात् अन्धकार भी अन्धः कहलाता है अथवा तमोगुण प्रधान अवस्था भी 'अन्धः' कहलाती है, क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओं में ध्यान और दर्शन की क्रिया नहीं होती। यहाँ अन्धेरे में दर्शन और तमोगुण प्रधान अवस्था में ध्यान न हो सकने की बात समझनी चाहिए। इसलिए लोक में अन्धेरे को एवं तमोगुण प्रधान अवस्था को 'अन्धन्तमः' अर्थात् अन्धा कर देने वाला अन्धकार कहते हैं। यह वह अवस्था होती है, जिसमें न तो कुछ दिखाई देता है और न सूझता है। इसी कारण देखने में अशक्त व्यक्ति को भी अन्ध कहते हैं।

अब इस 'अन्धः' पद का अन्य निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः'। इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से सभी देव पदार्थ तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अक्षण्वान्) [अक्षण्वान् = अक्षण्वन्तः अक्षिमन्तः (निरु.१.९)। 'अक्षि' पद के विषय में हम इस ग्रन्थ के खण्ड १.९ में लिख चुके हैं कि जो सूक्ष्म रश्मियाँ प्रकाश व क्रियाशीलता की उत्पादिका होती हैं और जिनके कारण कोई पदार्थ व्यक्ततर होता हुआ प्रकाशित और गतिशील होता है, उन सूक्ष्म रश्मियों को अक्षि कहते हैं।] अक्षि संज्ञक रश्मियों से युक्त पदार्थ (पश्यत्) संयोज्य पदार्थों को खोजते व आकर्षित कर पाते हैं। (अन्धः, न, विचेतत्) तमोगुण प्रधान कण आदि पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को उत्तेजित, सक्रिय वा गतिशील नहीं कर पाते हैं अर्थात् सत्त्व एवं रजस् गुण प्रधान रश्मि, तरंग वा कण आदि पदार्थ ही अन्य पदार्थों को उत्तेजित, सक्रिय वा गतिशील कर सकते हैं।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती॥ [ऋ.६.७०.२]
असज्यमाने इति वा। अव्युदस्यन्त्याविति वा। बहुधारे। उदकवत्यौ।
वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा। अनवगतसंस्कारो भवति।
वनुयाम वनुष्यतः। [ऋ.८.४०.७] इत्यपि निगमो भवति।

अब ६९वें पद 'असश्चन्ती' का निगम इस प्रकार दिया गया है— 'असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती'। इस मन्त्र का देवता द्यावापृथिवी और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोक दूर-२ तक गमन करते वा फैलते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(असश्चन्ती) 'असज्यमाने इति वा अव्युदस्यन्त्याविति वा' द्युलोक और पृथिवीलोक, जो परस्पर दूर-२ स्थित होते हैं अथवा दूर-२ स्थापित हो गए हैं एवं अक्षीणभाव से अपने कार्यों में रत रहते हैं। (भूरिधारे) 'बहुधारे' [धारा = वाङ्नाम (निघं.१.११)] अनेक प्रकार की छन्दादि रश्मियों की विशाल धाराओं से युक्त होने के कारण अनेकविध परस्पर एक-दूसरे को धारण करते हैं। यहाँ यह संकेत मिलता है कि तारों एवं ग्रहों के मध्य जो

गुरुत्वाकर्षण बल कार्य करता है, उसमें विभिन्न छन्द रश्मियों की विविध प्रकार से विचित्र भूमिका होती है अर्थात् यह बहुत सरल प्रक्रिया नहीं है। (पयस्वती) 'उदकवत्यौ' [पयः = अन्ननाम (निघं.२.७), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), प्राणः पयः (श.ब्रा.६.५.४.१५), ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), पयः रात्रिनाम (निघं.१.७)] ये दोनों ही लोक प्रकाशित वा अप्रकाशित संयोज्य एवं विद्युत् युक्त कणों वा तरंगों से युक्त होते हैं और उनकी सदैव वृष्टि करते रहते हैं।

अब ७०वें पद 'वनुष्यति' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा अनवगतसंस्कारो भवति' अर्थात् यह पद मारने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ध्यातव्य है कि 'हन्' धातु हिंसा और गति दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस कारण वनुष्यति का अर्थ गमन करना और प्राप्त करना भी हो सकता है। यह अनवगत संस्कार पद है। वैसे इस काण्ड में जिन-२ पदों का निर्वचन दर्शाया गया है, वे सभी अनवगत संस्कार ही हैं, पुनरपि इस पद को अनवगत संस्कार पद कहना सम्भवतः इस बात का प्रतीक है कि इस पद के प्रकृति और प्रत्यय अपेक्षाकृत अधिक अज्ञात और अननुमेय हैं। इस मन्त्र का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वनुयाम वनुष्यतः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्राग्नि और छन्द जगती होने से इन्द्र और अग्नितत्त्व दूर-दूर तक विस्तृत होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वनुष्यतः) बाधक वा हिंसक असुर वा राक्षस आदि पदार्थ, जो विभिन्न देव पदार्थों को बाधित वा नष्ट करने का प्रयास करते हैं अथवा जो अन्य संयोज्य देव पदार्थ अन्य देव पदार्थों से संयोग करने हेतु निकट आ रहे होते हैं, उन पदार्थों को इन्द्र एवं अग्नितत्त्व अर्थात् विद्युत् वा ऊष्मा (वनुयाम) नियन्त्रित वा नष्ट करते हैं। यहाँ नियन्त्रित वा नष्ट करना असुर वा राक्षक संज्ञक पदार्थों के लिए समझना चाहिए। उधर वे इन्द्र और अग्नि पदार्थ संयोज्य देव पदार्थों के परस्पर निकट आने पर उनमें व्याप्त होकर उस संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न कराते हैं।

दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥ [ऋ.७.८२.१]
दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु।
दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानाम्।

पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा। पापत्यतेर्वा स्यात्। तरुष्यतिरप्येवंकर्मा। इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्। [ऋ.७.४८.२] इत्यपि निगमो भवति।

उपर्युक्त 'वनुष्यति' पद का एक अन्य निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्राग्नी तथा छन्द निचृज्जगती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र एवं अग्नितत्त्व दूर-२ तक विस्तृत होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, दीर्घप्रयज्युम्, अति, वनुष्यति) 'दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यः' जो हिंसक असुर, राक्षस आदि पदार्थ दीर्घकाल से चलती आ रही यजन प्रक्रियाओं को नष्ट करता वा करने का प्रयत्न करता है। यहाँ 'हन्' धातु का अर्थ गति व प्राप्ति मानें, तब अर्थ होगा कि जो संयोजी पदार्थ किसी अन्य संयोजी पदार्थ की ओर जब गमन करने लगता है।

(वयं, जयेम, पृतनासु, दूढ्यः) 'वयं तं जयेम पृतनासु दूढ्यं दुर्धियं पापधियम् पापः पाताऽपेयानाम् पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा पापत्यतेर्वा स्यात्' [पृतनाः = संग्रामनाम (निघं.२.१७), युधो वै पृतनाः (श.ब्रा.५.२.४.१६)] हम अर्थात् इस छन्द रश्मि की उपादानभूत वसिष्ठ नामक ऋषि रश्मियाँ अर्थात् प्राण रश्मियाँ इन्द्र एवं अग्नितत्त्व को प्रेरित करके उन हिंसक असुर वा राक्षस आदि पदार्थों को नियन्त्रित वा नष्ट करती हैं, वे राक्षस वा असुरादि रश्मियाँ पाप को धारण करने वाली होती हैं। यहाँ 'पाप' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा कि यह उन पदार्थों का नाम है, जो अवशोषित न करने योग्य पदार्थों को अवशोषित वा नष्ट करते हैं, जो यजन क्रियाओं में भाग लेने वाले कण आदि पदार्थों को बार-२ गिराते रहते हैं अर्थात् उन संयोज्य पदार्थों के ऊपर बार-२ गिरकर अर्थात् उनसे टकराकर उन्हें भी गिराते रहते हैं अर्थात् यजन प्रक्रिया से दूर कर देते हैं, जिससे सृष्टि प्रक्रिया मन्द वा बन्द हो जाती है। यहाँ हन् धातु का हिंसा अर्थ मानने पर यह व्याख्यान हुआ। जब इस धातु का अर्थ गमन करना वा प्राप्त करना मानें, तब इसका अर्थ होगा—

वे इन्द्र व अग्नितत्त्व संयोजी कणों को नियन्त्रित करके अर्थात् अपने अधीन करके संयुक्त होने में उनका सहयोग करते हैं। उस प्रक्रिया के अन्तराल में जो कोई पापयुक्त पदार्थ बाधा डालते हैं, उन्हें ये इन्द्र और अग्नितत्त्व नष्ट वा नियन्त्रित करते हैं, जिससे यजन प्रक्रिया सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाती है।

अब ७१वें पद 'तरुष्यति' के विषय में लिखते हैं— 'तरुष्यतिरप्येवंकर्मा' अर्थात् तरुष्यति पद भी वनुष्यति के समान हिंसा एवं गति अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्'। इस मन्त्र का देवता ऋभवः तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ तीक्ष्ण सम्पीडक एवं बन्धक बलों को उत्पन्न करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रेण, युजा) इन्द्रतत्त्व के साथ संयुक्त अर्थात् इन्द्रतत्त्व की अवयवरूप सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ (वृत्रम्, तरुषेम) विशाल आच्छादक वृत्र संज्ञक आसुर मेघ को नष्ट वा छिन्न-भिन्न करती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सम्पीडक एवं बन्धक बलों से युक्त होती हैं, तब वे आसुर मेघ को छिन्न-भिन्न कैसे करती हैं? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ जब विशेष बलवती होती हैं, तब इनसे युक्त इन्द्रतत्त्व अपनी वज्र रश्मियों के द्वारा आसुर मेघ को छिन्न-भिन्न करता हुआ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा संयोज्य कणों को संयुक्त करता है और दूसरा आशय यह है कि जब सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा आकर्षण बल विशेष प्रबल हो जाता है, तब असुर पदार्थ का प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण बल स्वतः ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः।

पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः। [ऋ.३.३.४] इत्यपि निगमो भवति।

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः। [ऋ.९.८६.४१] इति च।

अब ७२वें पद 'भन्दना' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः' अर्थात् 'भन्दना' पद स्तुति अर्थ वाली 'भन्दतेः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार 'भन्दना' स्तुति को कहते हैं, दीप्ति को कहते हैं। 'भन्दना' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः'। इस मन्त्र का देवता वैश्वानर अग्नि तथा छन्द जगती होने से वैश्वानर अग्नि [वैश्वानरः = संवत्सरो वै वैश्वानरः (मै.सं.३.४.४)] अर्थात् सौर अग्नि विस्तार को प्राप्त करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुरुप्रियः, कविः) सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों तथा अन्य लोकों में विद्यमान विशाल पदार्थ

समूह को तृप्त करने वाला वैश्वानर अर्थात् सौर अग्नि, जो क्रान्तदर्शी होता है, (धामभिः, भन्दते) [धाम = अङ्गानि वै विश्वानि धामानि (श.ब्रा.३.३.४.१४)] अपने अंगरूप विभिन्न ग्रह, उपग्रहादि लोकों एवं अपने सभी भागों के साथ प्रकाशित होता है।

अब इसी पद का एक अन्य निगम भी इस प्रकार प्रस्तुत है— 'स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द निचृज्जगती होने से पवित्र सोम पदार्थ तीक्ष्णतापूर्वक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रजावतीः, भन्दनाः) विभिन्न उत्पन्न सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों में विद्यमान दीप्ति अथवा विभिन्न सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों से युक्त (सः, उदियर्ति) वह पवमान सोम पदार्थ ऊपर की ओर अर्थात् सूर्य के केन्द्रीय भाग, जो उसका श्रेष्ठतम भाग है, की ओर उठता है अर्थात् गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि तारों में प्रकाशादि गुणों से संदीप्त सूक्ष्म कणों की धाराएँ सूर्य के बाहरी विशाल भाग से केन्द्रीय भाग की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं।

अन्येन मदाहनो याहि तूयम्॥ [ऋ.१०.१०.८]
अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रम्।
आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति। एतस्मादाहनः स्यात्।
ऋषिर्नदो भवति। नदतेः स्तुतिकर्मणः।
नदस्य मा रुधतः काम आ गन्॥ [ऋ.१.१७९.४]
नदनस्य मा रुधतः काम आगमत्। संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः।
इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते॥ २॥

अब ७३वें पद 'आहनः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अन्येन मदाहनो याहि तूयम्'। इस मन्त्र का देवता यमी वैवस्वती तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से सूर्य की किरणों की ऊर्जा में वृद्धि होती है। यहाँ यमी वैवस्वती के विषय में खण्ड ४.२० द्रष्टव्य है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आहनः) सब ओर गति करने वाली यमी वैवस्वती अर्थात् किरणें (मत्) मुझ अर्थात् इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत यम वैवस्वत अर्थात् सूर्य के केन्द्र में व्याप्त प्राण, अपान

एवं व्यान रश्मियों से समृद्ध उस केन्द्रीय भाग से (अन्येन) भिन्न क्षेत्र के साथ अर्थात् बाहरी विशाल भाग एवं सुदूर अन्तरिक्ष में (तूयम्, याहि) शीघ्र व्याप्त होती हैं अथवा गमन करती हैं। यहाँ 'आहनः' पद से यह भी संकेत मिलता है कि वे सूर्य की किरणें, जो केन्द्रीय भाग से बाहर आती हैं, वे सम्पूर्ण पदार्थ में हिंसक अर्थात् तीक्ष्ण स्वभाव वाली भी होती हैं[3], जो धीरे-२ क्षीण ऊर्जा वाली होकर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो जाती हैं।

यहाँ हम ग्रन्थकार की इस मन्त्र पर की गई व्याख्या पर पृथक् से विचार करते हैं— 'अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रम्' अर्थात् सूर्य के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न किरणें, जो सब ओर तीक्ष्ण ऊर्जा के साथ गमन करती हैं, वे बड़े तीव्र वेग से बाहरी विशाल भाग में प्रविष्ट होती हैं। यद्यपि वे किरणें तीव्र ऊर्जायुक्त वेगवती होती हैं, परन्तु वे विभिन्न असंख्य कणों से टकराते हुए सूर्य के बाहरी तल की ओर आती हैं, लेकिन निरन्तर असंख्य कणों से टकराने के कारण उनकी ऊर्जा बहुत न्यून हो जाती है।

इसके आगे ग्रन्थकार ने लिखा है— 'आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति एतस्मादाहनः स्यात्' अर्थात् वे किरणें ध्वनि तरंगों के साथ दीप्ति उत्पन्न करती हुई, विभिन्न कणों पर सब ओर से प्रहार करती हुई, विशेषकर सभा से बाहर अर्थात् केन्द्रीय भाग के बाहर विशाल क्षेत्र में विभिन्न कणों से टकराती हुई गमन करने वाली होती हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ सूर्य का केन्द्रीय भाग ही सभा कहलाता है, क्योंकि इसमें सभी पदार्थ समान रूप से चमकते हैं। जो किरणें उस केन्द्रीय भाग से बाहर आ जाती हैं, उन्हें ही यहाँ असभ्य कहा गया है। ये किरणें टकराने वा सर्वत्र गमन करने वा व्याप्त होने के कारण ही 'आहनः' कहलाती हैं।

अब ७४वें पद 'नदः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः'। विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने वाली ऋषिरूप प्राण रश्मियों को नदः कहते हैं, क्योंकि ये रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को न केवल उत्पन्न करती हैं, अपितु उन्हें प्रकाशित व सक्रिय भी करती हैं। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'नदस्य मा रुधतः काम आ गन्'। इस मन्त्र का ऋषि 'लोपामुद्राऽगस्त्यौ' है। [लोपामुद्रा = लोप एव आमुद्रा समन्तात् प्रत्ययकारिणी यस्याः सा (म.द.ऋ.भा.१.१७९.

[3] वर्तमान विज्ञान की भाषा में इन्हें गामा किरणें कहते हैं।

४), अगस्त्यः = अगमपराधमस्यन्ति प्रक्षिपन्ति तेषु साधुः (म.द.ऋ.भा.१.१८०.८)] यह ऋषि रश्मि दो रश्मियों (लोपामुद्रा व अगस्त्य) का मिथुन रूप है। इस मन्त्र का देवता दम्पती तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से सृष्टि में कार्यरत विभिन्न स्त्री एवं पुरुष संज्ञक कण तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य करने से पूर्व हम इस मन्त्र को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ (ऋ.१.१७९.४)

(इतः, अमुतः, कुतश्चित्, आजातः) इधर से, उधर से, कहीं से भी अर्थात् सब ओर उत्पन्न वा प्रभावी हो रही (रुधतः, नदस्य) 'नदनस्य रुधतः' [नदः = नदति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), नदः स्तोतृनाम (निघं.३.१६), प्राणो वै नदस्तस्मात्प्राणो नदन्सर्वः संनदतीव (ऐ.आ.१.३.८)] अगस्त्य संज्ञक ऋषि रश्मियाँ, जो बाधक वा अनिष्ट पदार्थों को दूर फेंककर पदार्थ को शुद्ध रूप प्रदान करने में सहायक होती हैं। ऐसी वे प्राण रश्मियाँ जब अनिष्ट वा घातक पदार्थों को रोककर अर्थात् उन्हें दूर फेंककर विभिन्न संयोजी पदार्थों को यजन क्रिया के लिए रोक रही होती हैं, तब (मा, कामः, आगन्) 'मा काम आगमत् संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते' [ब्रह्मचारी = अथ ह एतत् देवानां परिषूतं यद् ब्रह्मचारी (गो.पू.२.७)। प्रजननम् = प्रजननं वै सोमः (जै.ब्रा.३.१९१), आनुष्टुभो वै प्रजापतिः प्रजापतिः प्रजननम् (जै.ब्रा.२.९५), संवत्सरो वै प्रजननम् (काठ.सं. ७.१५), यानि द्वादश (अक्षराणि) प्रजननं तत् (जै.ब्रा.१.२०४)। पुत्रः = पुनाति पवित्रं करोतीति पुत्रः (उ.को.४.१६६)] वे अगस्त्य संज्ञक प्राण रश्मियाँ, जो ब्रह्मचारी रूप होती हैं, इसका आशय यह है कि वे रश्मियाँ विभिन्न संयोज्य देव कणों को सब ओर से प्रेरित करती हुई सोम रश्मियों से युक्त अनुष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों को अच्छी प्रकार सम्पीडित करके सूर्यादि लोकों को बनाने में अर्थात् मेघ रूप पदार्थ को संघनित करने में अपनी महती भूमिका निभाती हैं। वे रश्मियाँ और उनसे उत्पन्न छन्द रश्मियाँ जहाँ बाधक पदार्थों को नियन्त्रित करती हैं, वहीं संयोज्य पदार्थ को संघनित भी करती हैं। किसी भी लोक के निर्माण में ये दोनों ही प्रक्रियाएँ साथ-२ आवश्यक होती हैं। जब अगस्त्य संज्ञक रश्मियाँ इन क्रियाओं को सम्पादित कर रही होती हैं, उस समय मुझे अर्थात् इस छन्द रश्मि की उपादानभूत ऋषि रश्मि के एक भाग लोपामुद्रा रश्मि, जो अगस्त्य संज्ञक ऋषि रश्मियों

के साथ युग्म रूप में रहती हुई गुप्त वा लुप्त ही रहती है अर्थात् प्रकट रूप में नहीं रहती है, में अगस्त्य ऋषि रश्मियों के प्रति आकर्षण का तीव्र भाव उत्पन्न वा व्याप्त होने लगता है। उस समय वे लोपामुद्रा रश्मियाँ तीव्र तनाव का अनुभव करती हैं। वे लोपामुद्रा ऋषि रश्मियाँ, जो अगस्त्य रश्मियों के कार्यों को शुद्धता व गति प्रदान करने में सहायक होने के कारण उनकी पुत्रीरूप होती हैं, विशेष प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं, ऐसा तत्त्वदर्शियों का मत है।

(अधीरा, लोपामुद्रा) वे लोपामुद्रा संज्ञक रश्मियाँ उस समय अगस्त्य रूप ऋषि रश्मियों को धारण किए हुए नहीं होती हैं अर्थात् उनका युग्म उस समय शिथिल हो चुका होता है, वे (वृषणम्, धीरम्, नी, रिणाति) अपनी धारणकर्त्री तेजस्विनी अगस्त्य ऋषि रश्मियों [रिणाति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेती हैं। इसके साथ ही (श्वसन्तम्, धयति) [श्वसिति वधकर्मा (निघं.२.१९), श्वस प्राणने] वे लोपामुद्रा संज्ञक रश्मियाँ उन बाधक रश्मियों को नष्ट करती हुई तथा संयोज्य देव पदार्थों को गति प्रदान करती हुई अगस्त्य रश्मियों का पान भी करने लगती हैं अर्थात् उनके साथ पुनः पूर्ववत् युग्म बना लेती हैं।

भावार्थ— लोपामुद्रा-अगस्त्य ऋषि के युग्म से उत्पन्न छन्द रश्मियों के क्रियाशील होने पर जब कोई बाधक असुरादि रश्मियाँ निर्माणाधीन सूर्य्यादि लोकों के अन्दर पदार्थ को संघनित होने में बाधा डाल रही होती हैं, तब उन बाधक रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने तथा संयोज्य देव कणों को संगत वा सम्पीडित करने वाली अगस्त्य संज्ञक ऋषि रश्मियाँ सक्रिय हो उठती हैं। उन अगस्त्य संज्ञक ऋषि रश्मियों के साथ लोपामुद्रा रश्मियाँ, जो अदृश्य रूप में वा लुप्त रूप में सदैव संगत रहती हैं, विभिन्न ऋषि संज्ञक रश्मियों के कार्यों को शुद्धता व गति प्रदान करती हैं। जब अगस्त्य रश्मियाँ सूर्य्यादि लोकों के निर्माणादि में संलग्न रहती हैं, तब उनका लोपामुद्रा संज्ञक रश्मियों से बन्धन कुछ शिथिल होने लगता है, तब लोपामुद्रा रश्मियाँ अगस्त्य रश्मियों के प्रति प्रबल आकर्षण का अनुभव करते हुए तनाव उत्पन्न करने लगती हैं, इससे उस स्थान पर विशेष ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इससे वे दोनों ही प्रकार की ऋषि रश्मियाँ पुनः युग्म रूप धारण कर लेती हैं। इनमें अगस्त्य रश्मियाँ लोपामुद्रा रश्मियों को धारण करने वाली होती हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ इन दोनों का युग्म नष्ट नहीं होता, बल्कि अत्यल्प काल के लिए ही शिथिल होकर पुनः उपर्युक्तानुसार

पूर्ववत् हो जाता है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।

[ऋ.१०.८९.६]

अश्नोतेरित्येके।

अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः। [ऋ.९.१०७.९]

लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः। [ऋ.१०.२८.४]

क्षियतिनिगमः पूर्वः, क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके।

अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति।

सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः।

यहाँ ७५वें पद 'सोमो अक्षाः' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः'। यहाँ 'अक्षाः' पद 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न माना गया है। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य निम्नानुसार है—

(यस्य, सोमः, अक्षाः) सोम रश्मियाँ जिस इन्द्रतत्त्व में व्याप्त होती हैं, वस्तुतः इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का ही भक्षण करता है, इसी कारण इन्द्रतत्त्व में सोम की व्याप्ति मानी गयी है। उस इन्द्रतत्त्व को (न, द्यावापृथिवी) न तो द्युलोक व पृथिवीलोक व्याप्त करते हैं अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व इनका भक्षण नहीं करता। हाँ, वह इन्हें बलवान् अवश्य बनाता है। (न, धन्व) [धन्व = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] और न अन्तरिक्षस्थ वायुतत्त्व, जो निरन्तर आकाश में गमन करता रहता है, ही इन्द्रतत्त्व में व्याप्त होता है अर्थात् इन्द्रतत्त्व वायुतत्त्व

का भक्षण नहीं करता है। (न, अन्तरिक्षम्) न आकाशतत्त्व ही इन्द्रतत्त्व में व्याप्त होता है अथवा इन्द्रतत्त्व आकाशतत्त्व का भक्षण नहीं करता। (न, अद्रयः) [अद्रिः = मेघनाम (निघं.१.१०)] न मेघरूप पदार्थों का ही वह इन्द्रतत्त्व भक्षण करता है अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व केवल सोम रश्मियों का ही भक्षण करता है और उनसे ही वह बलवान् होता है। यहाँ 'अक्षाः' पद को 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न मानकर यह भाष्य किया गया है।

अब 'क्षि निवासे' धातु से व्युत्पन्न 'अक्षाः' पद का निगम इस प्रकार उद्धृत किया है— 'अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द विराड् बृहती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पवित्र हुआ सोम पदार्थ गति करता हुआ सम्पीडित व प्रकाशित होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अनूपे) 'अनूपे' [अनूपः = अनुगता आपो यस्मिन्। आपः = सौम्या ह्यापः (ऐ.ब्रा.१.७), रसो वाऽआपः (श.ब्रा.३.३.३.१८), अन्नं वाऽआपः (श.ब्रा.२.१.१.३), आपो वै मरुतः (ऐ.ब्रा.६.३०)] जिस क्षेत्र में संयोज्य सोम अर्थात् मरुद् रश्मियाँ प्रधानता से व्याप्त हो चुकी होती हैं, उस क्षेत्र में (गोमान्) 'गोमान्' विभिन्न छन्दादि रश्मियों से समृद्ध इन्द्रतत्त्व (गोभिः) 'गोभिर्यदा' विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ (अक्षाः) 'क्षियतिनिगमः पूर्वः ... क्षियति' निवास करता रहता है अर्थात् ब्रह्माण्ड के जिस क्षेत्र में सोम रश्मियाँ, विशेषकर संयोज्य एवं विशेष गतिशील शुद्ध सोम रश्मियाँ प्रधानता से व्याप्त रहती हैं, उस क्षेत्र में इन्द्रतत्त्व नाना प्रकार की छन्द रश्मियों के साथ विद्यमान रहता है। यहाँ 'अक्षाः' पद 'क्षि निवासे' धातु से व्युत्पन्न माना गया है, उसी आधार पर यह अर्थ किया गया है।

(दुग्धाभिः, सोमः, अक्षाः) 'क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके अथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति' प्रपूर्ण अर्थात् कुछ बड़ी छन्द रश्मियों से सोम वा मरुत् रश्मियाँ झरती रहती हैं। यहाँ 'अक्षाः' पद 'क्षर संचलने' धातु से व्युत्पन्न होता है। छन्द रश्मियों से सोम रिसने का संकेत कुछ तत्त्वदर्शियों ने भी इस प्रकार किया है— 'वाचो वै रसोऽत्यक्षरत् तद् गौरिवीतमभवत्' (जै.ब्रा.३.१८), 'देवा वै वाचं व्यभजन्त तस्या यो रसोऽत्यरिच्यत तद्गौरीवितमभवत्' (तां.ब्रा.५.७.१)। यही रिसा हुआ सोम जहाँ प्रचुर मात्रा वा प्रधानता से विद्यमान होता है, वहाँ इन्द्रतत्त्व की छन्द रश्मियों के साथ विद्यमानता बताई गयी है।

इन दो निगमों के पश्चात् एक अन्य निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः' (ऋ.१०.२८.४)। इसका व्याख्यान ग्रन्थकार ने किया ही

नहीं, तब भाष्यकार कैसे करते? स्कन्दस्वामी ने इस पर लिखा है— 'लोपाश इत्याद्यतिरिक्तपाठः'। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने लिखा है—

''शाकपूणि का निरुक्त— लोपाशः इति निगम यास्क के निरुक्त का अङ्ग नहीं है। यास्क ने अगली पंक्ति में पूर्व और उत्तर दोनों ही निगम माने हैं। यास्क ने लोपाशः इति का अर्थ भी नहीं खोला। अपरञ्च दुर्ग और स्कन्द की वृत्तियों में भी यह निगम पढ़ा नहीं गया। पर श्री लक्ष्मण सरूप के संस्करण में यह पढ़ा गया है। इस विषय में एक गम्भीर बात विचारणीय है। यास्क लिखता है— 'सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः'। यहाँ सर्वे बहुवचनान्त पद है। अतः शाकपूणि के निरुक्त में अवश्य ही ये तीनों निगम पढ़े गए थे। अन्यथा दो निगमों के लिए बहुवचन पद न होता। शाकपूणि ने अपने निरुक्त में अक्षाः, अत्साः ये दोनों रूप एक ही प्रकार के माने हैं। पर यास्क ने निघण्टु में यहाँ पर अत्साः पाठ नहीं पढ़ा। इस लेख से शाकपूणि के निरुक्त का थोड़ा सा आभास मिलता है।''

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने गौ का अर्थ गाय करते हुए इसकी एक विशेषता का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है, जो यहाँ प्रासंगिक तो नहीं है, परन्तु गाय की महत्ता को अवश्य रेखांकित करता है, जिसे हम पाठकों के लाभ के लिए यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''न्यूयार्क स्थित विज्ञान अकादमी की सम्प्रति ही जो एक बैठक हुई थी, उस में इस बात की पुष्टि की गई कि गाय के दूध में कोई ऐसी विशेषता है, जो वह संखिया के विष को समाप्त कर देती है। डॉ. एस.ए. पीपल्स ने भी कहा है— आश्चर्य की बात तो यह है कि गाय के शरीर की अन्य मांसपेशियों आदि में संखिये के चिह्न पाए जाते हैं, परन्तु दूध में संखिये का एक कण भी नहीं पाया गया है। नवभारत टाइम्स देहली ०२.०१.६४। वस्तुतः यह विशेष प्रभाव सोम का है।''

श्वात्रमिति क्षिप्रनाम। आशु अतनं भवति।

स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥

[ऋ.१०.८८.४]

स पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तत्क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः।

ऊतिरवनात्।

आ त्वा रथं यथोतये। [ऋ.८.६८.१] इत्यपि निगमो भवति।
हासमाने इत्युपरिष्टात् [९.३९] व्याख्यास्यामः।

अब ७६वें पद 'श्वात्रम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'श्वात्रमिति क्षिप्रनाम आशु अतनं भवति' अर्थात् 'श्वात्रम्' शीघ्र का नाम है, क्योंकि यह आशु+अतनम् अर्थात् शीघ्र जाने वाला होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः'। इसका देवता सूर्य-वैश्वानर है तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य की किरणें एवं सूर्यलोक में व्याप्त वैश्वानर अग्नि विविध प्रकार से तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पतत्रि, इत्वरम्) 'पतत्रि चेत्वरं' सूर्यादि तेजस्वी लोकों में दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं। इनमें से प्रथम प्रकार के पदार्थ वे हैं, जो सम्पूर्ण लोक में निरन्तर इधर-उधर गति करते रहते हैं अर्थात् जो कभी स्थिर नहीं रहते। ये पदार्थ सम्पूर्ण सूर्यलोक में गिरते-पड़ते, उड़ते एवं नाना प्रकार की गतियों से युक्त होकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रहते हैं अर्थात् वे सर्वत्र गमन करते रहते हैं।

(सः, यत्, स्थाः, जगत्) 'स्थावरं जङ्गमं च' अन्य प्रकार के पदार्थ वे हैं, जो स्थिर गतियों के साथ कम्पन करते रहते हैं। ध्यातव्य है कि सृष्टि में कोई सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कण अथवा विशालतम लोक कुछ भी पूर्णतः स्थिर नहीं होता है, तब सूर्यादि लोकों में किसी भी कण के पूर्ण स्थिर होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस कारण हमने 'स्थाः' पद का अर्थ 'स्थिर गति से कम्पन करने वाले कण' लिया है। इनको भी जगत् इसलिए कहा गया है, क्योंकि ये भी निरन्तर कम्पन करते रहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को (जातवेदाः, अग्निः) 'अग्निः जातवेदाः' समस्त लोक में उत्पन्न सभी कण आदि पदार्थों में विद्यमान वैश्वानर अग्नि (श्वात्रम्, अकृणोत्) 'क्षिप्रम् अकरोत्' शीघ्रतापूर्वक धारण व आच्छादित करता है। इसके साथ ही वह उन पदार्थों का निर्माण भी करता है।

तत्पश्चात् ७७वें पद 'ऊतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऊतिरवनात्' अर्थात् 'ऊतिः' पद 'अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ -याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसा-आदान-भाव-वृद्धिषु' धातु से निष्पन्न

माना गया है। इस कारण इस पद के अनेक अर्थ सम्भव हैं, जिनका ज्ञान प्रकरण के आधार पर विज्ञ पाठकों को करना चाहिए, पुनरपि इसके मुख्य अर्थ इस प्रकार हैं— गति, रक्षण, आकर्षण, नियन्त्रण, दीप्ति, हिंसा आदि। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'आ त्वा रथं यथोतये'। मात्र इस अंश का भाष्य स्पष्ट अर्थ का बोधक नहीं होगा, इस कारण हम इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं— 'आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि'। इसका देवता इन्द्र और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अधिक दीप्तिमान् और सक्रिय होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वा) तुझ इन्द्रतत्त्व के (सुम्नाय, आ, वर्तयामसि) चारों ओर विभिन्न प्रकार के कण वा प्रकाशाणु आदि पदार्थ चक्राकार घूमते रहते हैं अथवा इन्द्रतत्त्व से सम्पन्न विभिन्न कण एवं प्रकाशाणु आदि पदार्थों के चारों ओर इस छन्द रश्मि की उपादानभूत प्रियमेध ऋषि रश्मियाँ स्पन्दित होती रहती हैं, जिनके कारण वे कण आदि पदार्थ सहजता से अपनी यजनशील तरंगों को सम्पादित करते रहते हैं। (यथा, ऊतये, रथम्) उपर्युक्त कार्य वैसे ही सहजतया होता है, जैसे रथ में यात्री सुरक्षा और सुख के साथ यात्रा करते हैं अथवा ये प्रियमेध संज्ञक ऋषि रश्मियाँ रथ अर्थात् सम्मुख विद्यमान संयोज्य कणों के साथ स्पन्दित होती हुई सूत्रात्मा आदि प्राण रश्मियों अथवा बृहती आदि छन्द रश्मियों के लिए वाहक का कार्य करते हुए किसी भी अनिष्ट रश्मि आदि पदार्थ से सुरक्षित रखकर यजन प्रक्रिया को सहजता से सम्पन्न कराने में सहायक होती हैं। इसके साथ ही वे रश्मियाँ उन यजन क्रियाओं और उनमें भाग लेने वाले कणों को नियन्त्रित भी करती हैं।

७८वें पद 'हासमाने' पद के विषय में इतना ही लिखा है कि इसकी व्याख्या आगे खण्ड ९.३९ में की जायेगी।

वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्। [ऋ.१०.९९.१२]

पानैरिति वा। स्पाशनैरिति वा। स्पर्शनैरिति वा।

ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्। [ऋ.१०.७९.३]

स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम्। तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम्।

द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः। [ऋ.३.१७.५]

द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च। शम्भुः सुखभूः।
मृगं न व्रा मृगयन्ते। [ऋ.८.२.६]
मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः॥ ३॥

यहाँ ७९वें पद 'पड्भिः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्'। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वम्रकः) [वम्रकः = अयं भोगान् पुनः पुनर्वमनवद् ग्रहणकर्त्ता-स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक कृत वेदभाष्य।] ऐसी विशेष प्राण रश्मियाँ, जो विभिन्न रश्मियों को बार-२ उत्सर्जित और अवशोषित करने के स्वभाव वाली होती हैं।

(पड्भिः) 'पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति वा' [स्पाशनम् = स्पश बाधन-स्पर्शनयोः (भ्वा.) धातोरच्। औणा. वा अन्। (वै.को.)] अवशोषण करना, पदार्थों को रोकना, उन्हें स्पर्श करके बाँधना आदि गुणों के साथ (इन्द्रम्) इन्द्रतत्त्व के प्रति अथवा इन्द्रतत्त्व सम्पन्न विभिन्न कण आदि पदार्थों की ओर (उप, सर्पत्) गमन करती हैं अथवा वे रश्मियाँ उन पदार्थों में व्याप्त होकर उनको भी अपने गुणों से सम्पन्न करती हैं।

तदुपरान्त ८०वें पद 'ससम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्'। इस मन्त्र का देवता अग्नि एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ससम्, न) 'स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनं तदिव' आकाश में विद्यमान विद्युत् की ज्योति आकाशस्थ वायुतत्त्व में सोयी हुई रहती है अर्थात् वह आवश्यक होने पर कभी-२ प्रकट होती है। इसी प्रकार (पक्वम्, शुचन्तम्, अविदत्) 'अविदज्जाज्वल्यमानम्' वह प्रकट हुई विद्युत् आकाश में विद्यमान पदार्थों को परिपक्व एवं ज्वलनशील रूप में प्राप्त करती है अर्थात् उस विद्युत् अग्नि के कारण वे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, परस्पर संगत होते हैं और कभी इधर-उधर फैलने लगते हैं। ये सभी कार्य विद्युत् के प्रभाव से ही होते हैं।

इसके पश्चात् ८१वें पद 'द्विता' का निगम उद्धृत करते हैं— 'द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्रतापूर्वक विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्विता, च, सत्ता) 'द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च' उस अग्नितत्त्व की दो प्रकार की सत्ताएँ, जिनमें से एक आकाश में विद्यमान विद्युत् के रूप में तथा दूसरी अग्नि के उत्तम स्थान सूर्यादि तेजस्वी लोकों में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के रूप में होती है। ये दोनों प्रकार की विद्युत् (स्वधया, च, शम्भुः) 'शम्भुः सुखभूः' स्वधा अर्थात् अन्नरूप संयोज्य कणों के साथ सहजता से विद्यमान होती है और उनके अन्दर विद्यमान होकर उनके यजनादि कर्मों को सहजता से सम्पन्न कराती है।

अन्त में ८२वें पद 'व्राः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'मृगं न व्रा मृगयन्ते'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अधिक तेजस्वी और बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मृगम्, न, व्राः) 'मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः' [व्रात्याः = व्रातप्रातिपदिक 'तत्र साधु' रिति यत्। (वै.को.—आचार्य राजवीर शास्त्री)। व्राताः = मनुष्यनाम (निघं.२.३)] वह इन्द्रतत्त्व सिंह की भाँति व्रात रूप मनुष्य संज्ञक अनियमित गति व मार्गों वाले कणों में विद्यमान विभिन्न रश्मियों को खोजता है। तदुपरान्त उन रश्मियों को नियन्त्रित करके उन कणों को नियमित गति व मार्ग प्रदान करता है। ये व्रात संज्ञक रश्मियाँ प्रैष रूप होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये रश्मियाँ ही उन कणों को विभिन्न कार्यों को करने के लिए प्रेरित करती हैं। इन रश्मियों में बृहती छन्द रश्मियाँ प्रधान होती हैं। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— 'बार्हता वै प्रैषाः' (श.ब्रा.१२.८.२.१४)। ये बृहती प्रधान होने के कारण उन कणों के परिधि क्षेत्र में विद्यमान होती हैं।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

वराहो मेघो भवति। वराहारः।
वरमाहारमाहार्षिरिति च ब्राह्मणम्।
विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता। [ऋ.१.६१.७] इत्यपि निगमो भवति।
अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। बृहति मूलानि। वरं वरं मूलं बृहतीति वा।
वराहमिन्द्र एमुषम्। [ऋ.८.७७.१०] इत्यपि निगमो भवति।

यहाँ ८३वें पद 'वराहः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'वराहारः' [वरम् = वरो वरयितव्यो भवति (निरु.१.७), सर्वं वै वरः (श.ब्रा.२.२.१.४)] विशाल कॉस्मिक मेघ को वराह कहते हैं। उसे वराह क्यों कहते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेघ वर अर्थात् ग्रहण करने योग्य सभी पदार्थों को सब ओर से ग्रहण करता है अर्थात् अपने निकटस्थ पदार्थों को आकर्षित करता रहता है। यहाँ 'वरम्' पद यह भी संकेत करता है कि वह मेघ सभी पदार्थों को आकर्षित नहीं करता, बल्कि आकर्षणीय वा वाञ्छनीय पदार्थों को ही आकर्षित करता है। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघ जिस समय निर्मित हो रहे होते हैं, तब वे अपने निकटवर्ती पदार्थों को आकर्षित करते हुए ही बढ़ते रहते हैं। पुनरपि उनके निकट कुछ ऐसे पदार्थ भी होते हैं, जो उन मेघों के निर्माण में वाञ्छनीय नहीं होते। ऐसे पदार्थ 'वराह' संज्ञक मेघों के बाहर ही रहते हैं।

इस विषय में किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखा है— 'वरमाहारमाहार्षिः' अर्थात् वह वराह संज्ञक मेघ वरणीय पदार्थों को सब ओर से आकर्षित करता व अपने में समा लेता है। यह वचन भी ग्रन्थकार के मत की पुष्टि करता है।

अब इस पद का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य निम्नानुसार है—

(वराहम्, अद्रिम्, अस्ता) [अद्रिरादृणात्येतेन अपि वात्तेः स्यात् (निरु.४.४), मेघनाम (निघं.१.१०), अद्रिरसि श्लोककृत् (काठ.सं.१.५)। अस्ता = प्रक्षेप्ता (म.द.भाष्य)। श्लोकः = वाङ्नाम (निघं.१.११)] वह उपर्युक्त वराह संज्ञक कॉस्मिक मेघ निकटवर्ती

पदार्थ को फाड़कर विखण्डित करता है, तदुपरान्त वरणीय पदार्थ को अपनी ओर आकृष्ट करके अपने में समेट लेता है। वह मेघ अपने अन्दर अनेक प्रकार की गम्भीर ध्वनियों को उत्पन्न करता रहता है। ऐसे उस मेघ से अनेक प्रकार की ऐन्द्री वज्र रश्मियों अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों का प्रहार निकटवर्ती पदार्थ समूह पर होता रहता है। ऐसा वह मेघ (तिरः, विध्यत्) अपनी भेदक ऐन्द्री तरंगों को अदृश्य रूप में प्रक्षिप्त करके निकटवर्ती पदार्थ को बींधता है अर्थात् उसे छिन्न-भिन्न करता रहता है। उसके पश्चात् कुछ पदार्थ मेघ में समा जाता तथा कुछ दूर फेंक दिया जाता है।

अब 'वराहः' पद का दूसरे प्रकार से निर्वचन करते हैं— 'अयमपीतरो वराह एतस्मादेव बृहति मूलानि वरं वरं मूलं बृहतीति वा' [मूलम् = मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा (निरु.६.३), मवते बध्नातीति मूलम् (उ.को.४.१०९)] अर्थात् वराह पद का दूसरी प्रकार से भी निर्वचन किया जा सकता है, जो इस कारण वा प्रकार से है—

उपर्युक्त वराह संज्ञक मेघ से जो तीक्ष्ण ऐन्द्री तरंगों का निकटवर्ती पदार्थ समूह पर प्रहार होता है, उससे उस पदार्थ में मूलसंज्ञक वा मूलरूपी पदार्थ उखड़ने लगते हैं। यहाँ मूलरूप पदार्थ वह है, जो उस निकटवर्ती पदार्थ में से पृथक् होकर मेघ की ओर आकृष्ट किया जाता है। वह पदार्थ अदृश्य रूप से वहाँ से उठा लिया जाता है तथा वह पदार्थ उस निकटवर्ती पदार्थ समूह में इस प्रकार फैला रहता है कि उसे बाहर से पहचाना नहीं जा सकता। इन सब कारणों से ही उसे उस निकटवर्ती पदार्थ का मूल कहते हैं। उस मूलरूप पदार्थ में से भी सम्पूर्ण पदार्थ मेघ में समाहित नहीं होता, बल्कि उसमें से जो-२ भी पदार्थ वरणीय होता है, वही आकृष्ट व समाहित होता है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि वरणीय पदार्थ कौनसा वा कैसा होता है? इसका उत्तर महर्षि जैमिनि के इस कथन से मिलता है— 'वर इव वै स्वर्गो लोकः' (जै.ब्रा.२.९९) अर्थात् जो पदार्थ आदित्य लोक के निर्माण में उपयोगी होता है, वही वरणीय होता है और ऐसा पदार्थ दृश्य पदार्थ ही हो सकता है, असुर पदार्थ नहीं। हाँ, यह पदार्थ दृश्य (देव) पदार्थ होते हुए भी उस क्षेत्र में अदृश्य रूप में ही छिपा रहता है, जैसे किसी वृक्ष की जड़ अदृश्य रहकर भी सम्पूर्ण वृक्ष को भूमि के साथ बाँधे रखती है। इस पदार्थ के उखड़ने से सम्पूर्ण पदार्थ बिखर जाता है।

इस निर्वचन वाले 'वराह' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'वराहमिन्द्र एमुषम् (आ, भरत्)'। इस मन्त्र का भी देवता इन्द्र तथा छन्द निचृद् बृहती होने से इसके

दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्रता से पदार्थ का संघनन करने में सक्रिय हो उठता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) वह इन्द्रतत्त्व (वराहम्, एमुषम्) [एमुषम् = आ+ईम्+उषम् (पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य)। ईम् = उदकनाम (निघं.१.१२), जलमग्निं वा (म.द.ऋ.भा. १.९.२)] उस पूर्वोक्त वराह संज्ञक मेघ को लालिमायुक्त प्रकाश से अर्थात् लालिमायुक्त पदार्थ से (आ, भरत्) सब ओर से भर देता है अर्थात् वह मेघ रूप सम्पूर्ण पदार्थ विद्युत् तरंगों के प्रभाव से सुन्दर लालिमायुक्त प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है।

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः। [ऋ.१०.६७.७]
अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते।
पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्। [ऋ.१.८८.५]

पूर्वोक्त वराह पद के विषय में चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं— 'अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते' अर्थात् अङ्गिरस भी वराह कहे जाते हैं। [अङ्गिरा = अङ्गिरा उ ह्यग्निः (श.ब्रा.१.४.१.२५)] इसका अर्थ यह है कि वे कॉस्मिक मेघ अग्नि अर्थात् ऊष्मा व प्रकाश से समृद्ध होने के कारण भी वराह कहलाते हैं।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः (द्रविणम्, व्यानट्)'। इसका देवता बृहस्पति तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापान रश्मियाँ तीक्ष्ण बल से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ब्रह्मणस्पतिः) विशाल लोकों का पालक व रक्षक सूर्यलोक किंवा आकाशगंगा का केन्द्रीय विशाल लोक (वृषभिः, वराहैः) नाना पदार्थों की वृष्टि करते हुए कॉस्मिक मेघों के द्वारा अथवा उनके साथ (द्रविणम्, व्यानट्) नाना पदार्थों किंवा सूक्ष्म कणों के विशाल भण्डार को विशेष रूप से प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि आकाशगंगा के केन्द्र के निर्माण के समय निकटवर्ती कॉस्मिक मेघरूप पदार्थ उस केन्द्रीय भाग में केन्द्रित होने लगते हैं। इससे उस केन्द्र का आकार व द्रव्यमान बढ़ने लगता है।

अन्त में 'वराह' पद के स्थान पर उसी के समानार्थक 'वराहू' पद के विषय में लिखते हैं— 'अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते' अर्थात् अन्तरिक्षस्थ विभिन्न देव पदार्थ 'वराहू' कहे जाते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'पश्यन्हिरण्य-चक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्'। इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' एवं छन्द निचृत् पंक्ति होने से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक सब ओर फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिरण्यचक्रान्) जिनकी गतियाँ व वाहक रश्मियाँ तेजस्वी होने के साथ-२ सबको आकर्षित करने वाली होती हैं तथा (अयोदंष्ट्रान्) जिनसे निकलने वाली तीक्ष्ण भेदक तरंगें अति उष्ण व ज्योतिर्मयी होती हैं, वे (वराहून्) [वराहु = वर+आहुः] जो वरणीय पदार्थों को आकर्षित करने वाले तथा सुन्दर ध्वनियों को उत्पन्न करते रहते हैं, ऐसे उन कॉस्मिक मेघों, जो (विधावतः) विविध प्रकार से अन्तरिक्ष में दौड़ते रहते हैं, को (पश्यन्) आकाशस्थ नाना प्रकार की मरुत् रश्मियाँ आकृष्ट करती रहती हैं। इसके साथ ही उन मेघों के इतस्ततः वर्तमान विशाल लोक अथवा आकाशगंगा का विशाल केन्द्र उन मेघों को आकृष्ट करता रहता है। इस प्रकार वे लघु कॉस्मिक मेघ उन निर्माणाधीन लोकों वा केन्द्रीय विशाल लोक में धीरे-२ समा जाते हैं।

स्वसराण्यहानि भवन्ति। स्वयं सारीण्यपि वा। स्वरादित्यो भवति।
स एनानि सारयति।
उस्त्रा इव स्वसराणि। [ऋ.१.३.८] इत्यपि निगमो भवति।
शर्या अङ्गुलयो भवन्ति। सृजन्ति कर्माणि। शर्या इषवः शरमय्यः।
शरः शृणातेः।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः। [ऋ.९.११०.५] इत्यपि निगमो भवति।

अब ८४वें पद 'स्वसराणि' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्वसराण्यहानि भवन्ति स्वयं सारीण्यपि वा स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति' अर्थात् 'अहन्' को 'स्वसरम्' कहते हैं। इन्हें 'स्वसरम्' क्यों कहते हैं, इस विषय में लिखा कि ये स्वयं गति करने वाले और सरकने वाले होते हैं तथा ये 'स्वः' अर्थात् आदित्य के द्वारा भी सरकाये जाने वाले होते हैं अर्थात् इनकी गति के पीछे आदित्य भी कारण होता है। [स्वः =

सुवरित्यसौ लोकः (तै.आ.७.५.१, तै.उ.१.५.१), स्वरिति व्याहृतिः तदसौ लोकः आदित्यो देवता त्रिष्टुप् छन्दः (जै.ब्रा.३.८७)] इसका आशय यह है कि अहन् अर्थात् प्रकाशित विद्युत् चुम्बकीय तरंगें स्वयं निरन्तर गमन करने के कारण स्वसर कहलाती हैं। यहाँ 'स्वसरम्' पद का निर्वचन दो प्रकार से दर्शाया गया है, जिनमें प्रथम निर्वचन की व्याख्या की जा चुकी है। अब द्वितीय निर्वचन के विषय में लिखते हैं—

उन विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के स्वयं गमन करने के साथ-२ स्वः अर्थात् आदित्य नामक पदार्थ भी गति करता रहता है। हमारे मत में यहाँ प्राण-अपान-व्यान का त्रिक ही आदित्य है। इन रश्मियों के अभाव में आकाश में से किसी भी तरंग का गमन कर्म सम्भव नहीं हो सकता। इसके साथ ही यहाँ 'स्वः' नामक व्याहृति रश्मि भी ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि इन तरंगों के गमन कर्म में ही नहीं, अपितु निर्माण में भी 'स्वः' नामक व्याहृति रश्मियों की भूमिका होती है। यहाँ आदित्य शब्द से जगती छन्द रश्मियों का भी ग्रहण करना चाहिए। इसका संकेत करते हुए तत्त्वदर्शियों ने अनेकत्र लिखा है— आदित्या जगतीं समभरन् (जै.उ.१.१८.६), जगती छन्दऽ आदित्यो देवता श्रोणी (श.ब्रा.१०.३.२.६), जगत्यादित्यानां पत्नी (गो.उ.२.९), जागतो वा एष य एष (सूर्य्यः) तपति (कौ.ब्रा.२५.४)। इनसे यह प्रमाणित होता है कि अग्नि के परमाणुओं (विद्युत् चुम्बकीय तरंग) के गमन अर्थात् उत्सर्जन, अवशोषण व गमनादि क्रिया में जगती छन्द रश्मियों की भी भूमिका होता है। इन सब कारणों से 'अहन्' अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को स्वसर कहते हैं।

अब इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'उस्रा इव स्वसराणि (आगन्त)'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द गायत्री है। इस कारण इस छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ तेजस्वी एवं बलवान् होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्वसराणि) अग्नि के परमाणु पूर्वोक्त प्राणादि रश्मियों के द्वारा गमन करते हुए (उस्राः, इव) [उस्राः = गोनाम (निघं.२.११), रश्मिनाम (निघं.१.५)] विभिन्न वाक् रश्मियों के समान (आगन्त) [आगन्त = आगच्छत (म.द.भा.)] सब ओर व्याप्त होते हैं। यहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति की तुलना छन्द रश्मियों से की गयी है। उधर 'उस्रः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष भाष्य २.१३ में लिखा है— 'वसतीति

उस्र:'। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि ये तरंगें सम्पूर्ण सृष्टि में उसी प्रकार निवास करती हैं, जिस प्रकार वाक् रश्मियाँ करती हैं।

अब ८५वें पद 'शर्या:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शर्या अङ्गुलयो भवन्ति सृजन्ति कर्माणि शर्या इषवः शरमय्यः शरः शृणातेः' अर्थात् शर्या अङ्गुलियों का नाम है, क्योंकि वे सभी कार्यों को करती हैं। [अङ्गुलिः = अङ्गुलयः कस्मात् अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा अङ्कना भवन्तीति वा अञ्चना भवन्तीति वा अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः (निरु.३.८)। इषुः = ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (निरु.९.१८), वीर्यं वाऽइषुः (श.ब्रा.६.५.२.१०)] शरीर में अङ्गुलियों की भाँति विभिन्न कण वा लोकों में भी शर्या संज्ञक सूक्ष्म, परन्तु अग्रगामिनी, अग्रकारिणी, अग्रसारिणी आदि विशेषणों से युक्त रश्मियाँ होती हैं। विभिन्न संयोगादि क्रियाओं में इन्हीं रश्मियों की अग्रणी भूमिका होती है। इसके विषय में हम पूर्व में खण्ड ३.८ के व्याख्यान में लिख चुके हैं। सभी प्रकार के कार्यों के सम्पादित होने में इन्हीं की अग्रणी भूमिका होती है।

पुनः कहा कि शर्या इषु को भी कहते हैं, क्योंकि ये रश्मियाँ अग्रणी गति करने वाली तथा हिंसा अर्थात् छेदन-भेदन कर्मों से भी युक्त होती हैं। संयोगादि प्रक्रिया में बाधक पदार्थों को नष्ट करने में इनकी अग्रणी भूमिका होती है। अब इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द पादनिचृद् बृहती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोम रश्मियाँ तीव्रतापूर्वक संघनित होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गभस्त्योः) [गभस्तिः = रश्मिनाम (निघं.१.५), बाहुनाम (निघं.२.४), तस्य (इन्द्रस्य) हस्तौ गभस्ती (काठ.सं.२७.१)] वह इन्द्रतत्त्व अपनी हरणशील दोनों प्रकार की रश्मियों की (शर्याभिः) उपर्युक्त सूक्ष्मतर अग्रगामिनी रश्मियों के द्वारा (भरमाणः) शुद्ध हुए सोमतत्त्व को धारण व पुष्ट करता है। ध्यान रहे कि इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से जो सोम रश्मियों के संघनन की बात कही गई है, वह भी यहाँ पुष्ट होती है, क्योंकि इन्द्र अपनी रश्मियों के द्वारा सोम रश्मियों को नियन्त्रित करके ही संघनित करता है। जो पदार्थ नियन्त्रित नहीं होता, वह किसी के द्वारा संघनित भी नहीं हो सकता।

अर्को देवो भवति। यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति। यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति। अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति। संवृतः कटुकिम्ना॥ ४॥

अब ८६वें पद 'अर्कः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि सभी देव पदार्थ 'अर्क' कहलाते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाशित किए जाते हैं। इस सृष्टि में सूक्ष्म मनस्तत्त्वादि पदार्थ से लेकर विशाल तारों तक सभी पदार्थ अपने से सूक्ष्म पदार्थ द्वारा प्रकाशित किए जाने के कारण 'अर्क' कहलाते हैं।

इसके पश्चात् कहा कि मन्त्र अर्थात् छन्द रश्मियों को भी 'अर्क' कहते हैं। इसका कारण यह है कि छन्द रश्मियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित किया जाता है। सभी प्रकार के कण, विकिरण एवं विभिन्न लोक-लोकान्तर आदि सभी पदार्थ छन्द रश्मियों के कारण ही प्रकाशित होते हैं। पुनः कहा कि अन्न अर्थात् संयोज्य वा अवशोष्य कण आदि पदार्थ भी 'अर्क' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि संयोज्य कणों वा विकिरणों के द्वारा ही विभिन्न भूत अर्थात् उत्पन्न पदार्थ प्रकाशित होते हैं एवं उन्हीं के द्वारा ही रक्षित होते हैं।

अन्त में कहा कि वृक्ष को भी 'अर्क' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्ष में स्थित सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों, जिनमें नाना प्रकार की छेदन-भेदन आदि क्रियाएँ चलती रहती हैं, को इस कारण वृक्ष भी कहते हैं। इसके लिए इस ग्रन्थ का २.६ खण्ड पठनीय है। [कटुः = कटति विकारयतीति कटुः (उ.को.१.८)] इन लोकों को अर्क क्यों कहते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन लोकों में विद्यमान पदार्थ निरन्तर विकार को प्राप्त होकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करता है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, ऋणावेशित व धनावेशित कणों के साथ न्यूट्रिनो जैसे उदासीन कण भी उत्पन्न होते हैं। इस विषय में महर्षियों का कथन है— 'आदित्यो वाऽअर्कः' (श.ब्रा.१०.६.२.६), 'स ऽएष ऽएवार्को य ऽएष (सूर्य्यः) तपति' (श.ब्रा.१०.४.१.२२)। ये सूर्य्यादि लोक न केवल अपने अन्दर विद्यमान पदार्थ को विकृत करते रहते हैं, अपितु अन्य लोकों में विद्यमान पदार्थों से क्रिया करके उन्हें भी विकृत करते रहते हैं।

'अर्कः' पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ [ऋ.१.१०.१]
गायन्ति त्वा गायत्रिणः। प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः।
ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव। वंशो वनशयो भवति।
वननाच्छ्रूयत इति वा।

यहाँ 'अर्कः' पद का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽ-र्चन्त्यर्कमर्किणः ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे'। इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त मधुच्छन्दा नामक सूक्ष्म रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द विराडनुष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अनुकूलतापूर्वक प्रकाशित होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गायन्ति, त्वा, गायत्रिणः) 'गायन्ति त्वा गायत्रिणः' विभिन्न प्रकार के गायत्री छन्द रश्मि समूह तुझे अर्थात् इस मन्त्र के देवता इन्द्रतत्त्व को प्रकाशित करते हैं। (अर्किणः, अर्कम्, अर्चन्ति) 'प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः' विभिन्न छन्द रश्मियों के नाना समूहों के द्वारा विभिन्न अर्क अर्थात् संयोज्य कणों को प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित किया जाता है।

(ब्रह्माणः, त्वा, शतक्रतो) 'ब्राह्मणास्त्वा शतक्रतो' [ब्रह्मा = बलं वै ब्रह्मा (तै.ब्रा. ३.८.५.२), वसिष्ठो ब्रह्मा (ऐ.ब्रा.७.१६)] अनेक प्रकार के कर्मों को करने वाले इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक को ब्रह्मा अर्थात् वसिष्ठ संज्ञक उन गायत्री छन्द रश्मि समूहों, जिनकी चर्चा 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ ७.१६.१ में की गयी है, से उत्पन्न बल (उत्, वंशम्, इव, येमिरे) 'उद्येमिरे वंशमिव वंशो वनशयो भवति' [वंशः = प्राणो वंशः (ऐ.आ.३.१.४, ३.२.१), वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५), उदकनाम (निघं.१.१२)] उस सूर्यलोक को उत्कृष्टतापूर्वक ऊपर उठाते हैं अर्थात् सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग को

उत्कृष्टता से निर्माण करने में सहयोग करते हैं, जिससे वह केन्द्रीय भाग निर्मित होता हुआ बढ़ता चला जाता है। यह क्रिया कैसे होती है, इसको दर्शाते हुए कहा कि जैसे प्राण रश्मियाँ विभिन्न कणों वा विकिरणों को उठाती हैं।

यहाँ वंश अर्थात् प्राण का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वंशो वनशयो भवति वननाच्छ्रूयत इति वा' अर्थात् प्राण रश्मियाँ विभिन्न विकिरणों एवं जल के अणुओं में शयन वा निवास करती हैं अथवा जो सृष्टि में विभिन्न सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों के द्वारा सेवन किया जाने वाला वा उपयोग में लिया जाने वाला अथवा उनके वियोग कराने वाला सुना वा जाना जाता है। यहाँ 'इव' पद का तात्पर्य उपमा ग्रहण न करके आधिदैविक अर्थ में इस प्रकार भी ग्रहण किया जाता है—

सूर्य का केन्द्रीय भाग तब निर्मित होता है अर्थात् उपर्युक्त क्रियाएँ तभी होती हैं, जब प्राण रश्मियाँ नाना तरंगों एवं जल के अणुओं अर्थात् आयनों को नाना प्रकार के संयोग-वियोग की क्रियाओं के लिए सक्रिय व सबल बनाती हैं। यह प्राण मुख्यतः प्राण-अपान-व्यान व सूत्रात्मा का संयुक्त रूप है, ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ— विभिन्न प्रकार की गायत्र्यादि छन्द रश्मियाँ विद्युत् एवं सूर्य को प्रकाशित और सबल करती हैं। इन छन्द रश्मियों से उत्पन्न बल सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग का उत्कृष्टतापूर्वक निर्माण करते हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ सूर्यलोक को अन्य लोकों की अपेक्षा ऊपर उठाती हैं अर्थात् विभिन्न लोकों को परस्पर पृथक् करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (गायन्ति) सामवेदादिगानेन प्रशंसन्ति (त्वा) त्वां गेयं जगदीश्वरमिन्द्रम् (गायत्रिणः) गायत्राणि प्रशस्तानि छन्दांस्यधीतानि विद्यन्ते येषां ते धार्मिका ईश्वरोपासकाः। अत्र प्रशंसायामिनिः। (अर्चन्ति) नित्यं पूजयन्ति (अर्कम्) अर्च्यते पूज्यते सर्वैर्जनैर्यस्तम् (अर्किणः) अर्का मन्त्रा ज्ञानसाधना येषां ते (ब्रह्माणः) वेदान् विदित्वा क्रियावन्तः (त्वा) जगत्स्रष्टारम् (शतक्रतो) शतं बहूनि कर्माणि प्रज्ञानानि वा यस्य तत्संबुद्धौ (तत्) उत्कृष्टार्थे। उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह। निरु.१.३ (वंशमिव) यथोत्कृष्टैर्गुणैः शिक्षणैश्च स्वकीयं वंशमुद्यमवन्तं कुर्वन्ति तथा (येमिरे) उद्युञ्जन्ति।

निरुक्तकार इमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्— गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो

ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव। निरु.५.५। अन्यच्च। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना। निरु.५.४।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्यैव पूजा कार्य्या, अर्थात्तदाज्ञायां सदा वर्त्तितव्यम्, वेदविद्यामप्यधीत्य सम्यग्विदित्वोपदेशेनोत्कृष्टैर्गुणैः सह मनुष्यवंश उद्यमवान् क्रियते, तथैव स्वैरपि भवितव्यम्। नेदं फलं परमेश्वरं विहायान्यपूजकः प्राप्तुमर्हति। कुतः, ईश्वरस्याज्ञाभावेन तत्सदृशस्यान्यवस्तुनो ह्यविद्यमानत्वात्, तस्मात्तस्यैव गानमर्चनं च कर्त्तव्यमिति।

पदार्थ— हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्म और उत्तम ज्ञानयुक्त परमेश्वर! (ब्रह्माणः) जैसे वेदों को पढ़कर उत्तम उत्तम क्रिया करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ उपदेश, गुण और अच्छी अच्छी शिक्षाओं से (वंशम्) अपने वंश को (उद्येमिरे) प्रशस्त गुणयुक्त करके उद्यमवान् करते हैं, वैसे ही (गायत्रिणः) जिन्हों के गायत्र अर्थात् प्रशंसा करने योग्य छन्दराग आदि पढ़े हुए धार्मिक और ईश्वर की उपासना करने वाले हैं, वे पुरुष (त्वा) आपकी (गायन्ति) सामवेदादि के गानों से प्रशंसा करते हैं तथा (अर्किणः) अर्क अर्थात् जो कि वेद के मन्त्र पढ़ने के नित्य अभ्यासी हैं, वे (अर्कम्) सब मनुष्यों को पूजने योग्य (त्वा) आपका (अर्चन्ति) नित्य पूजन करते हैं।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे सब मनुष्यों को परमेश्वर ही की पूजा करनी चाहिये अर्थात् उसकी आज्ञा के अनुकूल वेदविद्या को पढ़कर अच्छे-अच्छे गुणों के साथ अपने और अन्यों के वंश को भी पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही अपने आप को भी होना चाहिये और जो परमेश्वर के सिवाय दूसरे का पूजन करने वाला पुरुष है, वह कभी उत्तम फल को प्राप्त होने योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि न तो ईश्वर की ऐसी आज्ञा ही है और न ईश्वर के समान कोई दूसरा पदार्थ है कि जिसका उसके स्थान में पूजन किया जावे। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर ही का गान और पूजन करें।''

पवी रथनेमिर्भवति। यद्विपुनाति भूमिम्।

उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा। [ऋ.५.५२.९]

तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः। [मै.सं.१.१०.१४] इत्यपि निगमौ भवतः।

अब ८७वें पद 'पविः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पवी रथनेमिर्भवति यद्विपुनाति भूमिम्' अर्थात् रथनेमि को 'पविः' कहते हैं। [नेमिः = चक्रम् (म.द.ऋ.भा. ७.३२.२०), वज्रनाम (निघं.२.२०)] इसका अर्थ यह है कि रमणीय किरणों के वज्ररूपी चक्रों को 'पविः' कहते हैं, क्योंकि इन किरणों के वाहन रूप प्राणापान रश्मि युग्म वज्र का कार्य करते हुए आकाश में विद्यमान भूमि अर्थात् विभिन्न कणों को विशेष रूप से पवित्र करता है। यह पवित्रीकरण स्थूल कणों को छिन्न-भिन्न करके होता है। इसके साथ ही ये किरणें पृथिवी आदि लोकों पर भी उसके भिन्न-२ अणुओं में छेदन व भेदन की क्रियाएँ करके मृदा व हवा को शुद्ध करती रहती हैं। इस कार्य में प्रकाशादि किरणों के प्रकाशाणु के साथ विद्यमान प्राणापान रश्मि युग्म रूपी पवि की ही भूमिका होती है।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा'। इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' तथा छन्द भुरिगुष्णिक् है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ उष्णता से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, रथानाम्, पव्या, ओजसा) और वे मरुत् रश्मियाँ विभिन्न रमणीय किरणों की वज्ररूप उपर्युक्त बलशालिनी रश्मियों के द्वारा (अद्रिम्) आसुर मेघों एवं बादलों को (भिन्दन्ति) छिन्न-भिन्न करके दूर फेंकती एवं बादलों से जल की वृष्टि कराती हैं। इसका अर्थ है कि जहाँ आसुर मेघों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में विभिन्न प्रकार की तरंगों की भूमिका होती है, वहीं मेघों से जल की वृष्टि कराने में भी सूर्य्यादि की किरणों की भूमिका होती है।

इसके अनन्तर दूसरा निगम प्रस्तुत किया है— 'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः'। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तम्) उस वृत्रसंज्ञक आच्छादक आसुर मेघ को (मरुतः) विभिन्न मरुत् रश्मियाँ किंवा मरुत् रश्मियों से समृद्ध इन्द्रतत्त्व (क्षुरपविना) अपनी तीक्ष्ण छेदक वज्र रूप तरंगों के द्वारा (व्ययुः) नष्ट वा नियन्त्रित करता है।

वक्षो व्याख्यातम्। [४.१६]

धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः।

तिरो धन्वाति रोचते। [ऋ.१०.१८७.२] इत्यपि निगमो भवति।

अब ८८वें पद 'वक्षः' के विषय में लिखते हैं कि इस पद की व्याख्या खण्ड ४.१६ में की जा चुकी है। तदनन्तर ८९वें पद 'धन्व' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः' अर्थात् 'धन्व' अन्तरिक्ष को कहते हैं, क्योंकि इसमें अर्थात् अन्तरिक्ष में से आपः अर्थात् विभिन्न प्रकार की तन्मात्राएँ किंवा कण व विकिरण गमन करते हैं। इसमें जलीय मेघ भी गमन करते तथा वर्षा का जल भी इसी में से नीचे की ओर गमन करता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'तिरो धन्वाति रोचते'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तेजस्वी एवं बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तिरः) वह अग्नितत्त्व विस्तीर्ण होकर (धन्व, अति, रोचते) अन्तरिक्ष किंवा अन्तरिक्षस्थ पदार्थों को अत्यन्त प्रकाशित करता है। स्मरणीय है कि आकाश में जो भी धूल, जल आदि पदार्थों के कण विद्यमान रहते हैं, वे सूर्य के प्रकाश के अभाव में अन्धकाररूप ही होते हैं, इस कारण रात्रि में सम्पूर्ण अन्तरिक्ष ही अंधकाररूप प्रतीत होता है। जब दिन में सूर्य का प्रकाश इन पदार्थों से टकराता है, तब उस प्रकाश से सभी पदार्थ प्रकाशित होकर अन्तरिक्ष भी प्रकाशित दिखाई देता है।

सिनमन्नं भवति। सिनाति भूतानि।
येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः। [ऋ.३.६२.१] इत्यपि निगमो भवति।
इत्थामुथेत्येतेन व्याख्यातम्।

अब ९०वें पद 'सिनम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सिनम्' अन्नवाची पद है, क्योंकि यह सभी भूतों को बाँधने वाला होता है। सभी प्राणी अपने-अपने अन्न के साथ स्वभावतः बँधे रहते हैं। आधिदैविक पक्ष में विभिन्न प्रकार के संयोज्य व अवशोष्य कण आदि पदार्थ 'सिनम्' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि ये पदार्थ ही अपनी अपेक्षा स्थूल पदार्थों को बाँधे रखते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— '(यशो वां) येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्रावरुणौ तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके प्रभाव से इन्द्र तथा वरुण अर्थात् विद्युत् एवं वायु वा अग्नितत्त्व

तेजस्वी एवं बलवान् होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यशो, वाम्, येन, स्म) वे वायु एवं विद्युत् अथवा अग्नि एवं विद्युत् पदार्थ जिस यश के कारण [यश: = प्राणा वै यश: (श.ब्रा.१४.५.२.५), यशो वै हिरण्यम् (ऐ.ब्रा.७.१८)] अर्थात् तेजोमयी प्राण रश्मियों के कारण (सिनम्) संयोज्य वा अवशोष्य कण आदि पदार्थों को (भरथ:) धारण व पुष्ट करते हैं। वह धारण व पोषण (सखिभ्य:) अपने ही सखारूप अर्थात् समान रूप से प्रकाशित सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों को उत्पन्न वा संचालित करने के लिए ही होता है। इसका अर्थ यह है कि जब विभिन्न आयन्स तीव्र ताप आदि से युक्त हो जाते हैं, तभी वे सूर्य्यादि लोकों के निर्माण व संचालन में काम आते हैं, अन्यथा नहीं।

अब ९१वें पद 'इत्था' के विषय में लिखते हैं कि इसकी व्याख्या 'अमुथा' पद के समान समझनी चाहिए, जो खण्ड ३.१६ में की जा चुकी है।

सचा सहेत्यर्थः।

वसुभिः सचाभुवा। [ऋ.८.३५.१] वसुभिः सहभुवौ।

चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः।

अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः।

चिदसि मनासि। [यजु.४.१९] चितास्त्वयि भोगाः। चेतयस इति वा।

९२वें पद 'सचा' के बारे में ग्रन्थकार का कथन है कि यह पद सह अर्थात् साथ अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वसुभिः सचाभुवा'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कण विविध प्रकार से प्रकाशित एवं बलवान् होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वसुभि:) वे अश्विनौ संज्ञक प्रकाशित व अप्रकाशित कण अथवा प्रकाशित व अप्रकाशित लोक वसु अर्थात् [वसु: = वसुरन्तरिक्षसत् (श.ब्रा.५.४.३.२२), स ऽएषो (अग्नि:) अत्र वसु: (श.ब्रा.९.३.२.१), प्राणा वै वसव: प्राणा हीदं सर्वं वस्वाददते। (जै.उ.४.२.३)] विभिन्न प्राण रश्मियों, विद्युदग्नि तथा आकाशतत्त्व आदि पदार्थों (सचाभुवा) के साथ ही उत्पन्न होते हैं। इसका आशय है कि इन वसु संज्ञक पदार्थों के सहाय से ही इन कणों वा

लोकों की उत्पत्ति होती है।

तदनन्तर ९३वें पद 'चित्' के विषय में कहते हैं कि यह पद अनुदात्त होता है तथा इसकी व्याख्या पूर्व में अर्थात् खण्ड १.४ में की गयी है, यही 'चित्' पद इह अर्थात् इस अग्रलिखित मन्त्र में पशुवाची भी है, जो अनुदात्त के स्थान पर उदात्त होता है, यह भेद है। इसके उदाहरण रूप में निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'चिदसि मनासि'। इस मन्त्र का देवता वाग्विद्युतौ है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'चित्' को पशुवाची माना है। वस्तुतः यहाँ पशु का अर्थ आधिदैविक पशु मानना चाहिए। 'पशुः' के विषय में ऋषियों का कथन है— पशवो वै छन्दांसि (श.ब्रा.७.५.२.४२), पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११), पशवो वा इळा (कौ.ब्रा.३.७), प्राणाः पशवः (श.ब्रा.७.५.२.६)।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि वाक् एवं विद्युत् भी 'पशु' कहाते हैं। इसका छन्द निचृत् ब्राह्मी पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियाँ एवं विद्युत् तीक्ष्णतापूर्वक विस्तृत होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चित्, असि, मना, असि) 'चितास्त्वयि भोगाः चेतयस इति वा' वे वाक् एवं विद्युत् नामक पदार्थ प्रकाशयुक्त होते हैं। इनमें नाना प्रकार की पालिका सूक्ष्म रश्मियाँ संचित होती रहती हैं। इन्हीं रश्मियों के कारण ही वे वाक् अर्थात् छन्द रश्मियाँ एवं विद्युत् सृष्टि के सभी पदार्थों को प्रकाशित व सक्रिय करती हैं। इन छन्दों व विद्युत् तरंगों में सूक्ष्म वाक् वा प्राणादि रश्मियों का संचय न हो, तो ये छन्द व तरंगें कभी किसी पदार्थ को न तो प्रकाशित कर सकते हैं और न सक्रिय ही कर सकते हैं।

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः [१.३] अथाप्यध्यर्थे दृश्यते।
अभ्र आँ अपः। [ऋ.५.४८.१]
अभ्र आ अपोऽभ्रे ध्यप इति। [अभ्रे आ अपः। अपोऽभ्रेऽधीति।]

अब ९४वें पद 'आ' उपसर्ग के विषय में लिखते हैं— 'आ' उपसर्ग पूर्व में खण्ड १.३ में व्याख्यात किया गया है। इस उपसर्ग का प्रयोग 'अधि' अर्थात् ऊपर अर्थ में भी देखा जाता है। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अभ्र आँ अपः (वृणाना वितनोति)'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ अधिक प्रकाशयुक्त व बलवान् होते हैं। इस

मन्त्रांश का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अभ्रे, आ, अपः) 'अभ्रे आ अपः अपोऽभ्रेऽधीति' [अभ्रम् = मेघनाम (निघं.१.१०), अभ्रमेव सविता (गो.पू.१.३३)। अपः = अपः प्रजननकर्म (निरु.११.३१), आपो वै प्राणाः (श.ब्रा.३.८.२.४)] कॉस्मिक मेघों के ऊपर अर्थात् अन्दर विभिन्न तन्मात्राएँ एवं प्राण रश्मियाँ नाना प्रकार के उत्पादनादि कर्मों को सब ओर से (वृणाना, वितनोति) वरण अर्थात् धारण करती हुई विशेष रूप से विस्तृत होती हैं। इसका आशय यह है कि जिन कॉस्मिक मेघों से विभिन्न लोकों का निर्माण होता है, उन मेघों के अन्दर विभिन्न सूक्ष्म कणों में पारस्परिक संयोगादि क्रियाएँ होती रहती हैं। इसके साथ उन मेघों के ऊपरी भागों में विभिन्न प्राण रश्मियों में विशेष रूप से सक्रियता रहती है, जिससे उस मेघ के संघनन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

द्युम्नं द्योततेः। यशो वान्नं वा।

अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि। [ऋ.७.२५.३]

अस्मासु द्युम्नं च रत्नं च धेहि॥ ५॥

तदनन्तर ९५वें पद 'द्युम्नम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'द्युम्नं द्योततेः यशो वान्नं वा' अर्थात् 'द्युम्नम्' पद 'द्युत दीप्तौ' धातु से निष्पन्न यश व अन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। [यशः = हिरण्यम् (ऐ.ब्रा.७.१८)] इसका अर्थ है कि 'द्युम्नम्' पद तेजस्विता एवं संयोज्यता अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि'। इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है। [वसिष्ठः = अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८), प्राणा वै वसिष्ठ ऽऋषिः (श.ब्रा.८.१.१.६)] इसका अर्थ है कि यह छन्द रश्मि अग्नितत्त्व के अन्तर्गत विद्यमान प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध रूप से प्रकाशित होता हुआ तीव्र बलयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्मे) 'अस्मासु' अग्नितत्त्व में वह इन्द्रतत्त्व (द्युम्नम्) 'द्युम्नं च' तेजस्विता व संयोज्यता आदि गुणों (रत्नम्, च) 'रत्नं च' तथा विभिन्न रमणीय कण आदि पदार्थों को (अधि, धेहि) बहुलता के साथ धारण करता है। इसका आशय यह है कि विद्युत् तरंगों का ताप

बढ़ने पर उनमें प्रकाशशीलता के साथ संयोज्यता का गुण भी बढ़ने लगता है। सूर्य्यादि लोकों के नाभिकों में यह प्रभाव लोकविदित है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते।
येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा। [साम.उ.आ.१०.७.५]
इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते।
गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः। [ऋ.९.८६.३४] इत्यपि निगमो भवति।
आपः पवित्रमुच्यन्ते।
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः। [ऋ.७.४७.३] बहूदकाः।
अग्निः पवित्रमुच्यते। वायुः पवित्रमुच्यते। सोमः पवित्रमुच्यते।
सूर्यः पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते।
अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः।
पवित्रं ते मा पुनन्तु॥ [आप.श्रौ.१२.१९.६]
इत्यपि निगमो भवति। तोदस्तुद्यतेः॥ ६॥

अब ९६वें पद 'पवित्रम्' के विषय में लिखते हैं— 'पवित्रं पुनातेः मन्त्रः पवित्रमुच्यते' अर्थात् 'पवित्रम्' पद शोधनार्थकपू धातु से निष्पन्न होता है। मन्त्र को पवित्र कहते हैं, क्योंकि मन्त्र अर्थात् छन्द रश्मियाँ सृष्टि के सभी पदार्थों को शुद्ध करती रहती हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा'। इस मन्त्र का देवता पावमान्य ऋचा तथा छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न पावमानी ऋचाएँ अपने गुणों को स्पष्टतर रूप से प्रकट करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(येन, पवित्रेण) जिस सहस्रधार अर्थात् सहस्र प्रकार की रश्मियों वाले सूर्य से आने वाली शोधक छन्द रश्मियों के द्वारा (देवाः) विभिन्न देव पदार्थ (आत्मानम्) स्वयं को (पुनते, सदा) सदैव पवित्र करते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य की किरणों के साथ वर्तमान छन्द रश्मियाँ आकाश, वायुमण्डल एवं पृथिव्यादि लोकों में विद्यमान विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्धरूप प्रदान करती हैं।

अब 'पवित्रम्' पद का अगला अर्थ करते हुए लिखा— 'रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते' अर्थात् प्राणादि रश्मियों को भी पवित्र कहते हैं, क्योंकि शोधनादि कार्यों में छन्द रश्मियों के साथ-२ विभिन्न प्राण रश्मियों की भी भूमिका होती है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः (धन्वसि)'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द विराट् जगती है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पवित्र हुआ सोम तत्त्व दूर-दूर तक विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गभस्तिपूतः) [गभस्तिः = रश्मिनाम (निघं.१.५), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), बाहुनाम (निघं.२.४)] नाना प्रकार के कार्यों को करने में अग्रणी एवं वारक बलों से युक्त विभिन्न रश्मियों से पवित्र होता हुआ सोम तत्त्व और (नृभिः, अद्रिभिः, सुतः) [नरः = मनुष्या वै नरः (श.ब्रा.७.५.२.३९), अश्वनाम (निघं.१.१४)] कॉस्मिक मेघों में विद्यमान तीव्रगामी मनुष्य संज्ञक कणों की विभिन्न धाराओं के द्वारा प्रेरित एवं सम्पीडित सोम पदार्थ (धन्वसि) आकाश में किंवा कॉस्मिक मेघों में इतस्ततः गमन करता रहता है।

इसके पश्चात् 'पवित्रम्' का अगला अर्थ करते हुए लिखते हैं— 'आपः पवित्रमुच्यन्ते'। आपः अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों को भी पवित्र कहते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें अन्य कोई भी प्रकार की बाधक वा अनिष्ट रश्मियाँ मिश्रित नहीं हो सकती। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः (अपि, यन्ति)'। इस मन्त्र का देवता आपः तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्राण रश्मियाँ तीव्र तेज व बल से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शत, पवित्राः) 'बहूदकाः' अनेक प्रकार की प्राण रश्मियाँ, जो सृष्टि के सभी पदार्थों को अपने प्रभाव से सिंचित करती रहती हैं, (स्वधया) [स्वधा = अन्ननाम (निघं.२.७), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] विभिन्न संयोज्य कण व प्रकाशाणुओं के साथ संयुक्त

होकर (मदन्तीः) विशेष सक्रिय होती हुई (अपि, यन्ति) प्राप्त होती हैं अर्थात् अन्तरिक्ष में व्याप्त होती हैं। इससे संकेत मिलता है कि प्राण रश्मियाँ जब स्वतन्त्र रूप से विचरण करती हैं, तब उतनी सक्रिय व उत्तेजित नहीं होतीं, परन्तु जब वे ही प्राण रश्मियाँ किन्हीं कण व प्रकाशाणुओं के साथ संयुक्त होती हैं, तब अपेक्षाकृत उत्तेजित व सक्रिय हो जाती हैं।

इसके पश्चात् कुछ अन्य पदार्थों को भी पवित्र कहते हैं, ऐसा दर्शाते हुए लिखते हैं— 'अग्निः पवित्रमुच्यते वायुः पवित्रमुच्यते सोमः पवित्रमुच्यते सूर्यः पवित्रमुच्यते इन्द्रः पवित्रमुच्यते' अर्थात् अग्नितत्त्व भी पवित्र कहलाता है, क्योंकि इसमें किसी अनिष्ट पदार्थ का मिश्रण नहीं होता। इसके साथ ही यह अन्य पदार्थों को भी पवित्र करता है। वायु भी पवित्र कहलाता है, क्योंकि यह भी असुरादि पदार्थों के द्वारा किसी भी विकार को प्राप्त नहीं होता। इसके साथ ही शोधन कर्म में यह अग्नितत्त्व के अन्दर समाहित रहता हुआ उसके कर्म में भागीदार रहता है। सोम तत्त्व भी पवित्र कहलाता है, क्योंकि यह भी किसी अन्य अनिष्ट पदार्थ द्वारा मिश्रित होकर विकृत नहीं होता। इसके साथ ही विभिन्न पदार्थों के शोधन कर्म में सोम अर्थात् मरुत् रश्मियाँ भी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

पुनः कहा कि सूर्य भी पवित्र कहलाता है, क्योंकि सूर्य में अनिष्ट रश्मियाँ कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं और यदि वे कदाचित् विकार उत्पन्न कर भी दें, तब वह लोक सूर्य नहीं रहेगा। अन्त में कहा कि इन्द्रतत्त्व भी पवित्र कहलाता है, क्योंकि इन्द्रतत्त्व में भी कभी कोई अनिष्ट वा बाधक रश्मि आदि पदार्थ मिश्रित नहीं हो सकता। यदि कभी कोई पदार्थ ऐसा प्रयास करता भी है, तो इन्द्रतत्त्व उसे नष्ट कर देता है।

अब पवित्रनामवाची इन पदार्थों के विषय में एक निगम प्रस्तुत करते हैं— 'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु'। इसका आधिदैविक पक्ष में अर्थ यही है कि अग्नि, वायु, सोम, सूर्य तथा इन्द्र, ये सभी उपर्युक्त पदार्थ उपर्युक्तानुसार विभिन्न पदार्थों को पवित्र करते हैं।

अब खण्ड के अन्त में ९७वें पद 'तोदः' के विषय में लिखते हैं— 'तोदस्तुद्यतेः'। यह पद 'तुद व्यथने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'तोदः' पद का कोई अर्थ नहीं दिया है। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने लिखा है—

"तोदः, तुद्यति से। स्कन्द लिखता है कि यास्क स्मृत तुद्यति धातु वर्तमान काल में स्वीकृत तुद्यति नहीं था। दुर्ग के अनुसार तोद का अर्थ श्वभ्र कूप वा श्वभ्र बिल है।"

इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

सप्तमः खण्डः

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा।
तोदस्येव शरण आ महस्य॥ [ऋ.१.१५०.१]
बहु दाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयामि। अरिरमित्र ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव। यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्। तोदस्येव शरण आ महस्य। तुदस्येव शरणेऽधिमहतः।

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अग्नि तथा छन्द भुरिक् गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुरु, त्वा, दाश्वान्, वोचे) 'बहु दाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयामि' मैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ अग्नितत्त्व को उत्पन्न, तेजस्वी वा समृद्ध करने के लिए इस छन्द रश्मि सहित अनेक छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। यहाँ बोलने का अर्थ वाक् रश्मियों को उत्पन्न करना ही है। 'दाश्वान्' पद का अर्थ 'दाता' भी यही संकेत देता है कि यह छन्द रश्मि अनेक पदार्थों को देने अर्थात् उत्पन्न करने वाली है। इसका यहाँ यह भी अर्थ है कि ये ऋषि रश्मियाँ अपने से उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों को सब ओर से आकर्षित करती हैं।

(अरिः, अग्ने, तव, आ, स्वित्) 'अरिरमित्र ऋच्छतेः ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्' अमित्र अर्थात् संयोग क्रिया की प्रतिरोधी असुरादि रश्मियाँ अरि कहलाती हैं। इन्हें अरि इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये इस सम्पूर्ण

ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्रकट होती रहती हैं। जहाँ भी संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, वहीं ये बाधक के रूप में प्रकट हो जाती हैं। ईश्वर अर्थात् परब्रह्म भी 'अरि' इस कारण कहा जाता है, क्योंकि यह भी इस ब्रह्माण्ड के भीतर व बाहर सर्वत्र व्याप्त है। यह परमात्मा ही पदार्थ की प्रकृति अवस्था में अव्यक्त अक्षरों के मध्य तथा इधर-उधर गमागमन करती हुई आत्माओं के मध्य अवकाश बनाये रखता है अर्थात उन्हें परस्पर मिलकर एक नहीं होने देता। इस प्रकार सदैव ही प्रत्येक अक्षर एवं आत्मा का पृथक् अस्तित्व बना रहता है।

ऐसा वह असुर तत्त्व अग्नितत्त्व का ही एक अदृश्य व विरुद्ध धर्म वाला रूप है, जो दृश्य अग्नि का अमित्र अर्थात् शत्रु है। यहाँ ऋषि रश्मियों द्वारा मात्र अग्नितत्त्व को ही तेजस्वी करने की बात क्यों कही, इसके लिए ग्रन्थकार ने कहा कि अन्य देव यथा- आपः, पृथिव्यादि भी अग्नि के साथ समाहित हो जाते हैं, क्योंकि इनके अन्दर अग्नितत्त्व अवश्यमेव व्याप्त रहता है, साथ ही इनकी उत्पत्ति भी अग्नितत्त्व से ही होती है। इसी को दृष्टिगत रखकर यहाँ अग्नितत्त्व की ही चर्चा है, अन्य देवों की नहीं।

(तोदस्य, इव, शरणे, आ, महस्य) 'तोदस्येव शरण आ महस्य तुदस्येव शरणेऽधिमहतः' [शरणम् = गृहनाम (निघं.३.४)] वे दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ अग्नितत्त्व को तेजस्वी बनाने के लिए विशाल कूपों के समान गृहों में सब ओर से प्राप्त वा स्पन्दित होती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ सौर कूपों की ओर ही संकेत किया गया है। इन सौर कूपों में तापमान को समुचित रूप में बनाए रखने के लिए ही इन रश्मियों की भूमिका के बारे में यहाँ संकेत किया है। अन्य देवों से विभिन्न आयन्स व अणुओं की ओर ही संकेत किया गया है, क्योंकि इनकी विशाल धाराएँ इन कूपों की ओर निरन्तर बहती रहती हैं।

भावार्थ— सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियों को उत्पन्न वा आकर्षित करती हैं। विभिन्न प्रकार की असुर रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र प्रकट होती रहती हैं। असुर पदार्थ देव पदार्थ से विरुद्ध धर्म वाला होता है। सौर कूपों में तापमान को समुचित बनाए रखने में भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों की भूमिका होती है।

यहाँ 'तुद व्यथने' धातु भी पूर्णतः संगत है, क्योंकि इन कूपों में बहती हुई धाराओं में निरन्तर विक्षोभ होते रहते हैं।

स्वञ्चाः सु अञ्चनः।
आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः। [ऋ.५.३७.१] इत्यपि निगमो भवति।
शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः।
कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः॥ ७॥

अब ९८वें पद 'स्वञ्चाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्वञ्चाः सु अञ्चनः' अर्थात् जो पदार्थ श्रेष्ठ गति वाले, अच्छी प्रकार से स्वयं को अभिव्यक्त करने वाले तथा अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करने वाले होते हैं, उन्हें 'स्वञ्चाः' कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः (सूर्य्यस्य भानुना सम् यतते)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रूप से विस्तृत होता व संयोगादि क्रियाओं को भी विस्तृत करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, जुह्वानः) सब ओर से आकर्षित किया जाने वाला अर्थात् सभी कणादि पदार्थ जिसे आकृष्ट करते हैं, (घृतपृष्ठः) [घृतम् = घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३), उल्बं घृतम् (श.ब्रा.६.६.२.१५)] विभिन्न सूक्ष्मकणों का बाहरी उल्ब संज्ञक आवरण, जिसके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ १.३.११ पठनीय है तथा जिस आवरण में आकाशतत्त्व का सघन हुआ रूप भी विद्यमान रहता है, ही इन्द्रतत्त्व अर्थात् विद्युत् का आधार होता है। इस प्रकार वह ऐसा इन्द्रतत्त्व (स्वञ्चाः) उन सूक्ष्म कणों में व्याप्त होकर उन कणों को सुन्दर गति से युक्त कराता है। इसके साथ ही उस इन्द्रतत्त्व के कारण वे कण अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार प्रकट करते हुए सूक्ष्म व अव्यक्त ध्वनि तरंगें उत्पन्न करते रहते हैं। (सूर्य्यस्य, भानुना) ऐसे वे कण सूर्य किरणों के साथ मिलकर अर्थात् उन किरणों के द्वारा (सम्, यतते) अच्छी प्रकार गति व क्रियाओं से युक्त हो जाते हैं अर्थात् इन किरणों के संयोग से उन कणों की ऊर्जा में वृद्धि हो जाती है।

अब ९९वें पद 'शिपिविष्टः' के विषय में लिखते हैं कि 'शिपिविष्टः' एवं 'विष्णुः' ये दोनों पद विष्णु अर्थात् सूर्य के ही दो नाम हैं। इस विषय में ग्रन्थकार प्राचीन आचार्य महर्षि औपमन्यव का मत दर्शाते हुए लिखते हैं कि इन दो नामों में से प्रथम नाम 'शिपिविष्टः' निन्दा अर्थ में प्रयुक्त होता है। यद्यपि कुत्स धातु निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है,

परन्तु 'कुत्सः वज्रनाम' (निघं.२.२०) से यह भी संकेत मिलता है कि कुत्सित का अर्थ 'वज्ररूप हुआ' भी होता है।

इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टमः खण्डः

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूव॥ [ऋ.७.१००.६]
किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्।
किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतत्। वर्प इति रूपनाम। वृणोतीति सतः।
यदन्यरूपः समिथे सङ्ग्रामे भवसि। संयतरश्मिः।
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीव्र अग्नि में विद्यमान प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता विष्णु और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(किम्, इत्, ते, विष्णो, परिचक्ष्यम्, भूत्, यत्, प्र, ववक्षे) 'किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे' [किम् = हमारी दृष्टि में यहाँ 'किम्' पद प्रश्नवाचक भी है और प्राणवाची 'कः' का छान्दस रूप भी। 'कः' के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— 'प्राणो वाव कः' (जै.उ.४.२३.४), उधर अन्य कुछ ऋषियों का कथन है—

'प्रजापतिर्वै क:' (तै.सं.१.६.८.५, ऐ.ब्रा.२.३८, श.ब्रा.६.४.३.४)] सूर्यलोक क्या तेरा रूप है? अर्थात् ऐसा रूप जो कभी-२ ऐसा हो जाता है, जिसे कोई भी कभी सम्यक् प्रकार से नहीं देख पाया और न कभी कोई सम्यक् रूप से देख सकता है। जिस रूप के बारे में कोई अच्छी प्रकार से वर्णन भी नहीं कर सकता। ऐसा रूप कब बनता है, इस विषय में इसी मन्त्र में आगे कहा है। यह व्याख्या 'किम्' पद को प्रश्नवाचक मानने पर है। अब 'किम्' का अर्थ प्राण करने पर यहाँ कहा कि सूर्य का रूप प्राणवत् है, जिसके बारे में भी सहजतया सम्पूर्ण रूप से जानना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार प्राणतत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि के जीवन का आधार है, उसी प्रकार सूर्यलोक भी अपने परिवार के सभी सदस्य लोकों तथा उनमें रहने वाले प्राणियों के जीवन वा स्थिति का आधार है। जिस प्रकार प्राण कैसे सभी पदार्थों का आधार व गति आदि का कारण है? कैसे वह अपनी क्रियाएँ करता रहता है, यह सब अच्छी प्रकार से देखा व कहा नहीं जा सकता, वैसे ही सूर्यलोक भी अपनी भूमिका बड़े सहज भाव, परन्तु अदृष्ट रूप से चलाता रहता है। यद्यपि उसके अनेक कार्यों की व्याख्या करना व उनका अनुभव करना सम्भव है, परन्तु फिर भी अनेक क्रियाओं का ज्ञान अति दुष्कर है।

इसी कारण कहा है कि सूर्यलोक के इस रूप को प्रकाशित करना वा कहना सर्वथा सम्भव नहीं है, विशेषकर उस रूप को, जिसकी चर्चा अगले पदों में की गयी है।

(शिपिविष्टः, अस्मि) 'शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः' सूर्यलोक का यह रूप कैसा है, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, इसे यहाँ स्पष्ट किया गया है कि वह सूर्यलोक जब शेप [शेपः = ग्रावा शेपः (तै.सं.७.५.२५.२)। ग्रावा = ग्राव्णा पर्वताः (काठ. सं.३५.१५), वज्रो वै ग्रावा (श.ब्रा.११.५.९.७), ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (निरु.९.८.)] के समान रूप वाला हो जाता है। यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'शेप' का मिथ्या व असंगत अर्थ करके वेद व महर्षि यास्क दोनों को ही उपहास का पात्र बना दिया है। वस्तुतः यहाँ 'शेप' उस आकृति का नाम है, जो पत्थर की चिकनी शिला वा कोई सर्वथा वृक्षविहीन पर्वत खण्ड की गोलाकार आकृति होती है। ऐसी आकृति वाला सूर्यलोक प्रायः रश्मिरहित होता है अर्थात् उससे प्रकाश की किरणें भी बहुत कम मात्रा में ही आ पाती हैं। जो वज्ररूप होकर अपने निकटवर्ती लोकों वा अन्य बिखरे हुए पदार्थों को आकृष्ट करके अपने में ऐसे समाहित कर लेता है कि वे पदार्थ अपना अस्तित्व ही खो देते हैं। इस प्रकार

जो लोक अप्रकाशित रूप में होता है। ऐसा लोक वर्तमान भौतिकी द्वारा व्याख्यात कृष्णविवर (ब्लैक हॉल) के लगभग समान होता है।

यहाँ इस लोक के लिए 'निर्वेष्टितः' विशेषण का प्रयोग है। यहाँ 'निर्' का अर्थ 'रहित' नहीं, बल्कि 'नितराम्' मानना चाहिए। इस प्रकार निर्वेष्टित का अर्थ है— नितराम् अर्थात् पूर्ण रूप से रश्मियों से आच्छादित। ध्यातव्य है कि कथित कृष्ण विवर रश्मियों से पूर्ण रूप से आच्छादित रहता है। उसके चारों ओर जितनी रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, उतनी सृष्टि में अन्य किसी भी लोक के चारों ओर नहीं होतीं। यदि कोई पाठक हमारे 'निर्' के 'नितराम्' अर्थ से सहमत न हो, तो उसे ऋषि दयानन्द के इन अर्थों को देखना चाहिए—

निरय (निर्+अय्) = नितरां प्राप्नुहि (म.द.ऋ.भा.४.१८.२)
निरजे (निर्+अज गतिक्षेपणयोः) = नितरां गमनाय (म.द.ऋ.भा.३.३०.१०)

इसमें ग्रन्थकार का भी यही मत है— 'निरजे = निरजनाय' (निरु.६.२)। यहाँ अस्मि क्रिया को अस्ति का छान्दस रूप समझना चाहिए।

(एतत्, यत्, अन्यरूपः समिथे, बभूव) 'अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति यदन्यरूपः समिथे सङ्ग्रामे भवसि संयतरश्मिः' इस सूर्यलोक का एक दूसरा रूप भी होता है, जो प्रशंसनीय अर्थात् विशेष रूप से प्रकाशित होता है। इस रूप के विषय में पूर्व रूप की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से जाना एवं कहा गया एवं कहा जा सकता है। यहाँ 'शिपिविष्ट' पद का अर्थ है कि इस सूर्य से रश्मियाँ निरन्तर बाहर की ओर उत्सर्जित होती रहती हैं। यहाँ 'शिपि' रश्मियों को कहते हैं, जो उस सूर्य को न केवल सब ओर से घेरे रहती हैं, अपितु उससे अन्तरिक्ष में बहिर्गमन करके उसे सर्वत्र प्रकाशित भी करती हैं। पूर्व रूप में एवं इस रूप में यह भेद है कि पूर्व रूप में रश्मियाँ उसे सम्पूर्ण रूप में इस प्रकार आच्छादित करती हैं कि उनका बाहर की ओर निकलना अति अल्प मात्रा में ही होता है, जबकि इस रूप में वे रश्मियाँ सूर्य को आच्छादित करती हुई भी निरन्तर बहिर्गमन करती हैं। इससे वह सूर्यलोक सदैव प्रकाशित होता रहता है। यही सूर्यलोक हमें दिखाई देता है। आकाश में दिखाई देने वाले तारे भी इसी रूप में होते हैं। यहाँ जो अन्य अप्रकाशित रूप की चर्चा की गई है, वह संघात रूप होता है। यद्यपि सभी तारे पदार्थ के संघात से ही निर्मित होते हैं, परन्तु उनमें से जब कोई

तारा अत्यन्त संघात अर्थात् सघनतम रूप को प्राप्त कर लेता है, उस समय वह अन्य रूप वाला [अन्यः = अन्यो नानेयः (निरु.१.६)] अर्थात् जिसको दृष्टि में न लाया जा सके, जिसको कम से कम जाना जा सके, हो जाता है। उस समय वह तारा संयत रश्मि भी हो जाता है अर्थात् वह अपनी ही रश्मियों को संगृहीत भी कर लेता है। ऐसे ही तारे को ऊपर कृष्णविवर कहा गया है।

(मा, वर्पः, अस्मत्, अप, गूह) 'मा वर्पो अस्मदप गूह एतत् वर्प इति रूपनाम वृणोतीति सतः' सूर्य के उपर्युक्त दूसरे प्रकाशित रूप को अस्मत् अर्थात् इस छन्द रश्मि की उपादानभूत प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों एवं अग्नि की तरंगों से ऐसे आच्छादित नहीं किया जाता है कि जो दिखाई न दे सके। यह सूर्यलोक के प्रथम रूप अर्थात् कृष्णविवर (ब्लैक हॉल) के साथ भिन्नता है, जिसे हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ रूप को वर्प इसलिए कहा गया है, क्योंकि रूप ही किसी पदार्थ का सब ओर से वरण करता है अथवा आच्छादित किये रहता है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों के समान सूर्यलोक की भी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को पूर्णरूपेण देखना व समझना दुष्कर है। ये क्रियाएँ अदृष्ट एवं सहज भाव से निरन्तर चलती रहती हैं। इस सृष्टि में कुछ सूर्यलोक किसी विशेष परिस्थिति में विकिरण रहित अर्थात् अति न्यून विकिरण वाली अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इनके विकिरण भले ही हमें दिखाई न दें, परन्तु वे लोक अपने ही विकिरणों से तीव्र रूप से आच्छादित रहते हैं। इस प्रकार सूर्यलोकों के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक रूप हमें दिखाई देता है और दूसरा रूप जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। जो रूप हमें दिखाई नहीं देता, वह अत्यन्त सघन होता है।

प्रशंसनीय अर्थात् प्रकाशित नाम के अधिक निर्वचन के लिए अगले खण्ड में अन्य निगम प्रस्तुत किया गया है।

= नवमः खण्डः =

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥

[ऋ.७.१००.५]

तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि। अर्योऽहमस्मीश्वरः। स्तोमानाम्।
अर्यस्त्वमसीति वा। तं त्वां स्तौमि तवसमतव्यान्।
तवस इति महतो नामधेयम्।
उदितो भवति। निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते।

इस मन्त्र के ऋषि, देवता एवं छन्द एवं उनके प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, तत्, ते, अद्य, शिपिविष्टः, नाम, अर्यः, शंसामि) 'तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानाम् अर्यस्त्वमसीति वा' मैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणरूप प्राण नामक प्राण रश्मियाँ और उनसे समृद्ध अग्नितत्त्व विभिन्न छन्द रश्मियों के नियन्त्रण करने में समर्थ हुए तेजस्वी किरणों से परिपूर्ण सूर्यलोक में विद्यमान छन्द रश्मियों [नाम = वाङ्नाम (निघं.१.११)] को प्रकाशित और तीक्ष्ण करते हैं। इसका आशय यह है कि जब सूर्यलोक के अन्दर प्राण रश्मियाँ और उनके कारण नियन्त्रित एवं तीव्र प्रकाशित छन्द रश्मियाँ सूर्य के तेजस्वी रूप को प्रकाशित करती हैं एवं (वयुनानि, विद्वान्, तम्, त्वा, गृणामि) 'तं त्वां स्तौमि' [वयुनम् = वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु.५.१४), वयुनानि प्रज्ञानानि (निरु.८.२०)] सूर्य के अन्दर कान्ति एवं प्रज्ञा अर्थात् दीप्ति और प्रकाशशीलता किंवा स्वयं प्रकाशित होने तथा दूसरों को प्रकाशित करने का गुण उत्पन्न करते हुए विशेष सक्रिय होती है, तब 'तम् त्वा' अर्थात् वह सूर्यलोक गम्भीर घोषों के साथ प्रकाश की किरणों को अन्तरिक्ष में उत्सर्जित करता है। (तवसम्, अतव्यान्) 'तवसमतव्यान् तवस इति महतो नामधेयम् उदितो भवति' उस समय वह सूर्यलोक उठता अर्थात् बढ़ता हुआ स्वयं को प्रकट करता है।

(क्षयन्तम्, अस्य, रजसः, पराके) 'निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते' [रजसः =

अन्तरिक्षलोकस्य (निरु.१२.७)] और वह सूर्यलोक अन्तरिक्ष लोक में सुदूर निवास करते हुए अथवा सुदूर जाकर ठहरते हुए प्रकाशित होता है। यहाँ संकेत मिलता है कि प्रदीप्त एवं संघनित हुए कॉस्मिक मेघ से जब ग्रह आदि लोक पृथक् हो रहे होते हैं अर्थात् उन पृथ्वी आदि लोकों से सूर्यलोक की दूरी अन्तरिक्ष में बढ़ने लगती है, उस समय सूर्यलोक के अन्दर उपर्युक्त सभी क्रियाओं को सम्पन्न करते हुए प्राण एवं उनसे समृद्ध अग्नितत्त्व सूर्यलोक को अधिक प्रकाशित करने लगते हैं अर्थात् सूर्यादि लोकों में नाभिकीय संलयन की क्रिया उस समय प्रारम्भ होती है, जब ग्रह आदि लोक पृथक् हो जाते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक के अन्दर प्राण रश्मियों से नियन्त्रित छन्द रश्मियाँ प्रकाश को उत्पन्न करती हैं। इन लोकों से जिस समय प्रकाश की तरंगें अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो रही होती हैं, उस समय गम्भीर घोष भी उत्पन्न होते हैं। जिस समय कॉस्मिक मेघ में विस्फोट होता है, उस समय सद्योजात सूर्यलोक ग्रहों से दूर होता हुआ अधिक तेजी से प्रकाशित होने लगता है।

आघृणिरागतहृणिः।
आघृणे सं सचावहै॥ [ऋ.६.५५.१] आगतहृणे संसेवावहै।
पृथुज्रयाः पृथुजवः।
पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः ॥ [ऋ.३.४९.२] प्रामापयदायुर्दस्योः ॥ ९ ॥

अब १००वें पद 'आघृणिः' का निर्वचन करते हैं— 'आघृणिरागतहृणिः' [आघृणिः = घृणिः ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), क्रोधनाम (निघं.२.१३)] अर्थात् सब ओर व्याप्त दीप्ति को 'आघृणिः' कहते हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'आघृणे सं सचावहै'। इस मन्त्र का देवता पूषा तथा छन्द गायत्री होने से सबका पोषक सूर्यलोक तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आघृणे) 'आगतहृणे' वह जलता व चमकता हुआ अथवा जिसकी दीप्ति सब ओर व्याप्त है, ऐसा वह सूर्यलोक (सम्, सचावहै) 'संसेवावहै' अपने परिवार के ग्रहादि लोकों के साथ सम्बन्ध रखता है अर्थात् संयुक्त रहता है। यहाँ 'घृणिः' पद ज्वलन के साथ-२ क्रोधवाची भी है, इस कारण इस मन्त्रांश का आशय है कि तीव्रतापूर्वक कम्पन करता हुआ सूर्यलोक अपनी कक्षा में गमन करता हुआ भी अपने सभी लोकों के साथ बँधा रहता है

अर्थात् वह इन्हें बाँधे हुए काँपता हुआ निरन्तर गमन करता रहता है। यहाँ ग्रन्थकार के 'संसेवावहै' पद से यह संकेत मिलता है कि सूर्यलोक एवं ग्रहादि लोक परस्पर एक-दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते, बल्कि एक-दूसरे की सतत सेवा करते रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि ये दोनों प्रकार के लोक एक-दूसरे से उत्सर्जित होने वाले कणों, तरंगों एवं रश्मि आदि पदार्थों का भक्षण करते रहते हैं। सूर्य से उत्सर्जित तरंग वा कणों का पृथिव्यादि लोकों द्वारा अवशोषण लोकविदित है, परन्तु ग्रह आदि लोकों से उत्सर्जित होने वाले पदार्थों तथा सूर्यलोक द्वारा इसके अवशोषण का ज्ञान वर्तमान विज्ञान को प्रायः नहीं है। यहाँ दोनों ही प्रकार के लोकों का ऐसा समन्वय दर्शाया गया है।

इसके पश्चात् १०१वें पद 'पृथुज्रयाः' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पृथुज्रयाः) 'पृथुजवः' व्यापक क्षेत्र में तीव्रतापूर्वक गमन करने वाला इन्द्रतत्त्व (दस्योः) देव पदार्थों के ऊपर प्रहार करके उनके संगत्यादि कर्मों की प्रक्रिया को क्षीण करने वाले असुरादि पदार्थ की (आयुः) आयु अर्थात् जीवन वा कार्य करने की क्षमता को (अमिनात्) 'प्रामापयात्' समाप्त कर देता है अर्थात् वह असुर पदार्थ को खण्ड-२ करके नष्ट कर देता है। यहाँ 'पृथु' शब्द 'पृथ प्रक्षेपे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि इन्द्रतत्त्व का 'पृथुज्रयाः' विशेषण इस बात का संकेत है कि इन्द्रतत्त्व द्वारा तीक्ष्ण व सूक्ष्म किरणों से असुरादि पदार्थों पर प्रहार किया जाता है, जिससे असुर तत्त्व खण्ड-२ हो जाता है। यह प्रहार फैलता हुआ होता है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्॥ [ऋ.७.१.१]

दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति। धीयन्ते कर्मसु। अरणी। प्रत्यृत एने अग्निः। समरणाज्जायत इति वा। हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या। जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदर्शनं गृहपतिमतनवन्तम्॥ १०॥

तदनन्तर १०२वें पद 'अथर्युम्' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्'। इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उस समय होती है, जब वे रश्मियाँ आग्नेय अवस्था में विद्यमान होती हैं। इसका देवता अग्नि तथा छन्द एकदशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री होने से अग्नितत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नरः) नाना प्रकार के कर्मों में रत रहने वाली विभिन्न कणों की वाहक रूप विभिन्न मरुद् रश्मियाँ (दीधितिभिः) 'दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति धीयन्ते कर्मसु' किसी भी पदार्थ में होने वाली क्रियाओं में अग्रणी भूमिका निभाने वाली सूक्ष्मतर मरुद् रश्मियाँ नाना प्रकार की गति और क्रियाओं को उत्पन्न व धारण करती हैं, उन मरुद् रश्मियों के द्वारा (अरण्योः, हस्तच्युती) 'अरणी प्रत्यृत एने अग्निः समरणाज्जायत इति वा हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या' विभिन्न हरणशील कणों, जिनके अन्दर विद्युत् अग्नि व्याप्त होता है, की ध्वनिरहित क्रियाओं अर्थात् गतियों से (दूरेदृशम्) 'दूरेदर्शनम्' दूर से ही देखने योग्य (प्रशस्तम्, गृहपतिम्) 'प्रशस्तं गृहपतिम्' उत्तम गृहपति अर्थात् नाना प्रकार के लोकों, कणों वा बलों के उत्तम पालक व रक्षक (अग्निम्, अथर्युम्, जनयन्त) 'अतनवन्तं जनयन्त' सतत गमन करने वाले अग्नि के अणु उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'अथर्युम्' पद यह संकेत भी करता है कि ये अग्नि के अणु अहिंसित क्रियाओं के चाहने वाले होते हैं अर्थात् इनके गमन मार्ग में असुरादि हिंसक पदार्थों के द्वारा कोई बाधा वा हिंसा नहीं पहुँचती और न पहुँच सकती। उधर गृहपति पद यह संकेत करता है कि इस प्रकार का अग्नि सम्पूर्ण सूर्यलोकों का पालक व रक्षक तो होता ही है, बल्कि पृथिव्यादि लोकों पर जीवन का कारण भी यही अग्नि होता है।

भावार्थ— जब ब्रह्माण्ड में कॉस्मिक मेघ भी उत्पन्न नहीं होते हैं अथवा वे उत्पन्न हुए ही होते हैं, उस समय विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ अन्य मरुद् रश्मियों के साथ क्रिया

करके विभिन्न सूक्ष्म कणों से नाना प्रकार के विकिरणों को उत्पन्न करती हैं। यह क्रिया ध्वनिरहित, विशेषकर वैखरी ध्वनि से रहित होती है। ये विकिरण कथित डार्क एनर्जी आदि के द्वारा बाधित वा नष्ट नहीं होते। ये विकिरण कालान्तर में सूर्य्यादि लोकों के निर्माण व उनकी रक्षा में उपयोगी होते हैं। यहाँ दृश्य प्रकाश तरंगों की चर्चा की गयी है। इस प्रकाश के कारण ही कॉस्मिक मेघ दीप्तियुक्त होते हैं।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ [ऋ.८.७७.४]
एकेन प्रतिधानेनापिबत्। साकं सहेत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका।
कान्तकानीति वा। क्रान्तकानीति वा। कृतकानीति वा।
इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा। कणेघात इति वा। कणेहतः कान्तिहतः।
तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते। त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि।
तान्येतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते।
त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः। त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः।
तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।
तथापि निगमो भवति।
यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति। [तै.सं.२.४.१४.१] इति।
तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति। तथापि निगमो भवति।
यथा देवा अंशुमाप्यायन्तीति।

अब १०३वें पद 'काणुका' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।

इन्द्रः सोमस्य काणुका॥

इस मन्त्र का ऋषि कुरुसुतिः काण्वः है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ऐसी प्राण रश्मियों, जो किसी पदार्थ को सम्पीडित करने वाली होती हैं, से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः) 'इन्द्रः' इन्द्रतत्त्व (सोमस्य, काणुका) 'सोमस्य काणुका कान्तकानीति वा क्रान्तकानीति वा कृतकानीति वा इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा कणेघात इति वा कणेहतः कान्तिहतः' सदैव सोम रश्मियों को चाहता तथा उन्हें प्रकाशित करता है, जो सोम रश्मियों से भरा रहता है। जो सोम रश्मियों को धारण करता अथवा जो सोम अर्थात् नाना मूर्तिमान् पदार्थों को उत्पन्न करता रहता है। जो सोम रश्मियों द्वारा सदैव आकर्षित किया जाता अथवा उनके द्वारा प्रकाशित किया जाता है। जो कणेघात अर्थात् सोम रश्मियों को सम्पूर्णता से अवशोषित करके संतृप्त रहता एवं आवश्यकता की पूर्ति अथवा आकर्षण बल की सीमा के अन्तर्गत सोम रश्मियों का अवशोषण करता है। ये इतने अर्थ 'काणुका' पद के हैं। ऐसा वह इन्द्रतत्त्व (एकया, प्रतिधा, पिबत्, साकम्) 'एकेन प्रतिधानेनापिबत् साकं सहेत्यर्थः' एक ही साथ अथवा एक ही प्रयत्न से एक साथ अवशोषित कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र द्वारा सोम भक्षण करने की प्रक्रिया एक साथ ही होती है, न कि खण्ड-२ में अर्थात् विराम ले-लेकर।

(सरांसि, त्रिंशतम्) 'तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि तान्येतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति' इन्द्र द्वारा सोम रश्मियों को एक साथ पीने की व्याख्या करते हुए कहा कि तीस सरस् का एक साथ पान अर्थात् अवशोषण करना ही यहाँ एक साथ सोम पीना कहा गया है। यहाँ 'त्रिंशत् सरांसि' की ग्रन्थकार ने दो प्रकार से व्याख्या की है। एक व्याख्या याज्ञिकों की दृष्टि से तथा एक व्याख्या नैरुक्तों की दृष्टि से दी गयी है। सर्वप्रथम हम याज्ञिक व्याख्या पर विचार करते हैं—

इस विषय में इस सृष्टि को यज्ञरूप में देखने वाले तत्त्वदर्शी जनाते हैं कि

माध्यन्दिन सवन [माध्यन्दिनं सवनम् = माध्यन्दिनँ सवनानां तपस्वितमम् (काठ.सं. २३.१०), स्वर्गो वै लोको माध्यन्दिनं सवनम् (मै.सं.४.८.३, गो.उ.३.१७), त्रैष्टुभबार्हतो वै माध्यन्दिनः (जै.ब्रा. २.३८३)] अर्थात् इन्द्र संज्ञक सूर्यलोक, जब तीव्र तप्त होता है अर्थात् उसका केन्द्रीय भाग, जो सर्वाधिक तप्त होता तथा बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से समृद्ध होता है, के अन्दर एक ही देव इन्द्रतत्त्व तीस उक्थपात्रों को एक ही साथ पीता अर्थात् अवशोषित करता रहता है। यहाँ एक साथ का तात्पर्य यह है कि इन तीस तत्त्वों के अवशोषण का क्रम अविराम चलता रहता है। यहाँ उक्थ पात्र क्या हैं, इस पर विचार करते हैं— 'वागुक्थम्' (ष.ब्रा.१.५), 'पशव उक्थानि' (ऐ.ब्रा.४.१, गो.उ.६.७) अर्थात् विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियाँ ही 'उक्थ' कहलाती हैं। ये रश्मियाँ परस्पर परिस्थितिवश कभी प्राण, तो कभी अन्न के रूप में व्यवहार करती हैं। इस कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— 'प्राणो वा ऽउक्तस्यान्नमेव थम्' (श.ब्रा.१०.६.२.१०)।

अब पात्र के विषय में ऋषियों के विचार जानते हैं। यहाँ पात्र से तात्पर्य लौकिक कर्मकाण्ड के यज्ञपात्र नहीं समझना चाहिए। भ्रमनिवारणार्थ हम कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

'कति पात्राणि यज्ञं वहन्तीति त्रयोदशेति ब्रूयात् (प्रजापतिः) प्राणापानाभ्यामेवोपाꣳश्वन्तर्यामौ निरमिमीत। व्यानादुपाꣳशुसवनं वाच ऐन्द्रवायवं दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं श्रोत्रा-दाश्विनं चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ। आत्मन आग्रयणम्। अङ्गेभ्य उक्थ्यम्। आयुषो ध्रुवं प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे' (तै.ब्रा.१.५.४.१-२)

हम यहाँ इस कण्डिका की व्याख्या नहीं कर रहे हैं और न ऐसा करना आवश्यक ही है, परन्तु हम यहाँ यह अवश्य कहना चाहेंगे कि इस कण्डिका में वर्णित तेरह पात्र कोई लौकिक कर्मकाण्ड के पात्र नहीं हैं और न यज्ञ ही कोई लौकिक यज्ञ है, बल्कि यहाँ सृष्टियज्ञ की ही चर्चा है तथा पात्र भी विभिन्न आधिदैविक तत्त्व हैं। इस कारण उक्थपात्रों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियाँ उक्थ कहलाती हैं। इस सम्बन्ध में हम एक और वचन उद्धृत करते हैं—

'विडुक्थानि' (तां.ब्रा.१८.८.६, १९.१६.६) अर्थात् विट्संज्ञक छन्द रश्मियाँ उक्थ कहलाती हैं। इन उक्थों के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं— गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविदः (ऐ.ब्रा.३.१०)। उधर ऐतरेय ब्राह्मण २.३३ तथा 'वेदविज्ञान-आलोकः'

२.३३.१ में 'अग्निर्देवेद्धः' आदि बारह निवित् अर्थात् मास रश्मियों को निवित् रश्मियाँ तथा ऋग्वेद ३.१३ सूक्त की सात छन्द रश्मियों को विट् वा उक्थ कहा जाता है। इस प्रकार इन विट् अर्थात् उक्थसंज्ञक छन्द रश्मियों, जिनसे सूर्य्यादि लोकों एवं उनके निर्माण के पूर्व आकाश में स्थित पदार्थ के अन्दर नाना प्रकार के कणों का निर्माण होता है, की गर्भ अर्थात् आधार वा पात्र रूप बारह मास रश्मियाँ होती हैं।

उधर अन्य ऋषि का कथन है— 'प्राणा वै निविदः' (कौ.ब्रा.१५.३, ४) अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय एवं सूत्रात्मा ये ग्यारह प्राण रश्मियाँ भी निवित् कहाने से उक्थरूप विट् छन्द रश्मियों की पात्र वा रक्षिका व आधार हैं। इसके साथ ही गायत्र्यादि सात छन्द रश्मियाँ भी सभी पदार्थों की आधार वा पात्ररूप होती हैं। इस प्रकार बारह मास, ग्यारह प्राण एवं सात छन्द रश्मियाँ मिलकर कुल तीस उक्थ पात्र यहाँ याज्ञिकों अर्थात् सर्गयज्ञ के विशेषज्ञ महर्षियों ने माने हैं। ये सभी उक्थपात्र सूर्य्यादि लोकों में अवश्यमेव विद्यमान होते हैं। इन्हीं उक्थपात्रों को ग्रन्थकार ने 'सरांसि' कहा है।

'सरः' के विषय में ग्रन्थकार ने कहा है— 'सर उदकनाम' (निघं.१.१२), वाङ्नाम (निघं.१.११)। इससे संकेत मिलता है कि ये तीस रश्मियाँ सूक्ष्म वाक् रश्मियों के रूप में निरन्तर पदार्थों के ऊपर रिसकर उन्हें सिञ्चित करती रहती हैं। ऐसी सभी रश्मियों को सूर्य्यादि लोकों में विद्यमान इन्द्रतत्त्व, विशेषकर सूर्य के केन्द्रीय भाग में विद्यमान तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें अनवरत अवशोषित करती रहती हैं। यह तीस सरस् की याज्ञिक व्याख्याताओं की व्याख्या है।

अब ग्रन्थकार प्राचीन नैरुक्तों की व्याख्या को कहते हैं— 'त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति'। ग्रन्थकार अपने से पूर्व जन्मे नैरुक्त ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि चन्द्रमा अपरपक्ष के तीस अहोरात्र अर्थात् रात्रि-दिन तथा पूर्वपक्ष के तीस अहोरात्र भी सरस् संज्ञक होते हैं। इनमें से अपरपक्ष के तीस रात्रि व दिनों में चन्द्रमा की कक्षा में उस लोक के आगे-२ स्पन्दित होने वाली आपः अर्थात् रश्मियों को सूर्यलोक नामक इन्द्र सतत पीता अर्थात् अवशोषित करता रहता है।

यहाँ पूर्वपक्ष व अपरपक्ष क्या हैं, यह विवेचना आवश्यक है। उत्तर भारत में

चान्द्रमास कृष्णपक्ष से प्रारम्भ माना जाता है, जबकि दक्षिण भारत में मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से माना जाता है। स्कन्दस्वामी ने अपने निरुक्त भाष्य में लिखा है—

"पूर्वपक्षे प्रत्यहोरात्रं चन्द्रमा वर्धते। किं तासाम्? उच्यते। रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति यत्क्षयात् प्रत्यहोरात्रं चन्द्रमाः क्षीयते।"

यहाँ निश्चित ही शुक्ल पक्ष को पूर्वपक्ष तथा कृष्णपक्ष को अपरपक्ष कहा है। उधर महर्षि जैमिनी का कथन है— 'अहर्वै पूर्वपक्षो रात्रिरपरपक्षः' (जै.ब्रा.२.९८) इससे भी यही संकेत मिलता है कि शुक्लपक्ष ही पूर्वपक्ष तथा कृष्णपक्ष ही अपरपक्ष है। इसका अर्थ यह है कि उत्तर भारत में मास का प्रारम्भ कृष्णपक्ष से मानने की जो परम्परा है, वह मिथ्या है। वस्तुतः कृष्णपक्ष मास का अपरपक्ष है, पूर्वपक्ष नहीं। यहाँ नैरुक्त मत यह है कि इन्द्र अर्थात् सूर्य की रश्मियाँ कृष्णपक्ष में चन्द्रमा के अपनी कक्षा में गमन करते समय उसके आगे-२ कुछ प्राण व छन्द रश्मियाँ स्पन्दित होती रहती हैं। ध्यातव्य है कि कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की गति की दिशा सूर्य की ओर होती है।

इस प्रकार चन्द्रमा से उत्सर्जित प्राण व छन्द रश्मियाँ एवं सूर्यलोक से आने वाली किरणें एक-दूसरे की ओर गमन करती हैं। इस प्रक्रिया के चलते सूर्य की प्रकाशादि किरणें चन्द्रमा की प्राण व छन्द रश्मियों को अवशोषित कर लेती हैं। यहाँ यह बात गम्भीर अन्वेषण की है कि चन्द्रमा के शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष में चमकने वाली चाँदनी में क्या भेद हैं? दोनों ही पक्षों के प्रकाश का प्राणियों व वनस्पतियों पर कैसा भिन्न-२ प्रभाव होता है? हम यह भी साधारण रूप से जान सकते हैं कि कृष्णपक्ष में शुक्लपक्ष की अपेक्षा पृथिवी पर रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश अधिक समय तक रहता है, पुनरपि कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की अग्रगामिनी प्राण व छन्द रश्मियों का सूर्य की किरणों के द्वारा अवशोषण हो जाने से शुक्लपक्ष का प्रकाश अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होता है। यह कैसे व कितना उपयोगी होता है, यह अन्वेषण का विषय है। इस विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है—

असौ य (चन्द्रमाः) आपूर्यति। स सर्वेषां भूतानां प्राणैरापूर्यति। असौ यो (चन्द्रमाः) ऽपक्षीयति। स सर्वेषां भूतानां प्राणैरपक्षीयति। (तै.आ.१.१४.१-२)

यहाँ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा को सभी प्राणियों को प्राणतत्त्व से परिपूर्ण करने वाला बताया है।

भावार्थ— तीक्ष्ण विद्युत् सोम रश्मियों को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट व धारण करती रहती है। यह विद्युत् सोम रश्मियों को प्रबल वेग से अवशोषित करती है। इसी प्रकार सूर्यलोक भी निरन्तर सोम रश्मियों का पान करता रहता है। सूर्य का केन्द्रीय भाग सर्वाधिक तप्त तथा अनुष्टुप्, बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से समृद्ध होता है। सूर्यलोक में प्राण, छन्द, मास आदि रश्मियों का निरन्तर अवशोषण होता रहता है। ये सभी रश्मियाँ सभी लोकों का आधार रूप होती हैं। केन्द्रीय भाग में तीस प्रकार की रश्मियाँ निरन्तर रिसती रहती हैं। चन्द्रमा का शुक्ल पक्ष पूर्वपक्ष तथा कृष्णपक्ष अपरपक्ष कहा जाता है। शुक्ल पक्ष की चन्द्रिका में प्राणतत्त्व की अधिकता होने के कारण यह जीवों व वनस्पतियों के लिए अधिक उपयोगी होती है।

इस अवशोषण की प्रक्रिया को दर्शाने वाला एक निगम प्रस्तुत किया गया हैं, जो इस प्रकार है— '**यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति**' अर्थात् चन्द्रमा के अग्रगामी आपः अर्थात् प्राण व छन्द रश्मियों की धारा, जो अक्षितिरूप होती है अर्थात् यह धारा कभी भी क्षीण नहीं होती, उस धारा को 'अक्षितयः' अर्थात् सूर्यलोक की किरणें, जो स्वयं अक्षितिरूप अर्थात् क्षीण न होने योग्य होती हैं, उन प्राण व छन्द रश्मियों को सतत अवशोषित करती रहती हैं। यह क्रिया केवल कृष्ण पक्ष में ही होती है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति तथापि निगमो भवति यथा देवा अंशुमाप्यायन्तीति' [अंशुः = पशवोऽँशवः (काठ.सं.२६.२, २७.६, क.सं.४०.५, ४२.६), प्राणा वा अꣳशवः (तै.सं.६.४.४.४, मै.सं.४.५.५)] अर्थात् देवरूप सूर्य की किरणें पूर्व अर्थात् शुक्ल पक्ष में विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों से समृद्ध चन्द्रमा को परिपूर्ण वा समृद्ध करती हैं। यहाँ समृद्ध करने का तात्पर्य यह है कि सूर्य की किरणें चन्द्रमा को विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों से परिपूर्ण करती हैं।

ये उपर्युक्त दोनों वचन (मन्त्रांश) कुछ पाठभेद से तै.सं. में निम्नलिखित मन्त्र के भाग हैं—

यमादित्या अँशुमाप्यायन्ति यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति।
तेन नो राजा वरुणो बृहस्पतिराप्यायन्तु भुवनस्य गोपाः॥ (तै.सं.२.४.१४.१)

यहाँ 'देवाः' के स्थान पर 'आदित्याः' पद है। शेष भाग इस मन्त्र का पूर्वार्ध है।

'देवाः' एवं 'आदित्याः' में प्रसंगानुकूल समानता ही है।

अध्रिगुर्मन्त्रो भवति। गव्यधिकृतत्वात्।

अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात्। तच्छब्दवत्त्वात्।

अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो इति।

[ऐ.ब्रा.२.७, मै.सं.४.१३.४]

अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते।

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः [ऋ.३.२१.४]

अधृतगमन कर्मवन्। इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते।

अध्रिगव ओहमिन्द्राय [ऋ.१.६१.१] इत्यपि निगमो भवति।

अब १०४वें पद का निर्वचन करते हैं— 'अध्रिगुः' पद मन्त्रवाची है। इसका कारण बताया 'गव्यधिकृतत्वात्' अर्थात् वेदमन्त्र वेदवाणी में अधिकृत हैं अर्थात् वेदवाणी के अंग हैं, इसलिए मन्त्रों को अध्रिगु कहते हैं। यहाँ 'गौः' का अर्थ किरणें, आदित्य व पृथिव्यादि लोक वा कण ग्रहण करें, तब 'अध्रिगुः' का आशय यह है कि मन्त्र छन्द रश्मियों के रूप में तरंगाणु, सूक्ष्म कण, सूर्य व पृथिव्यादि लोकों में भरे हुए हैं, इस कारण भी इन्हें 'अध्रिगुः' कहते हैं।

अब 'अध्रिगुः' का दूसरा निर्वचन करते हुए कहा— 'अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात् तच्छब्दवत्त्वात्' अर्थात् जब 'अध्रिगुः' पद किसी मन्त्र में विद्यमान होवे, तब इसका अभिप्राय प्रशासन करने वाला अर्थात् प्रेरणा करने वाला समझना चाहिए। किसी छन्द में अनेक पद होते हैं, उनमें से कोई एक पद विशेष रूप से प्रेरक बल उत्पन्न करने वाला होता है। 'अध्रिगुः' पद इसी रूप में विद्यमान होता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो'।

इस कण्डिका में आगे कहा गया है— 'अध्रिगुर्वै देवानां शमिताऽपापो निग्रभीता' अर्थात् इस मन्त्र में विद्यमान 'अध्रिगुः', जो यहाँ सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त है, विभिन्न देव पदार्थों को नियन्त्रित करने वाला होता है। यहाँ देव पदार्थ का तात्पर्य विभिन्न सूक्ष्म कण, विकिरण वा लोकादि हो सकता है। इन सभी के निर्माण तथा उनके विभिन्न

क्रियाकलापों में यह पद प्रेरक व नियन्त्रक की भूमिका निभाता है। वस्तुतः इस पद से युक्त यह छन्द रश्मि ही देव पदार्थों पर ऐसा प्रभाव डालती है। यहाँ प्रकाशाणु आदि देव पदार्थ 'अपाप' कहे गये हैं, क्योंकि इन पर बाधक असुरादि पदार्थों का पतनकारी प्रभाव नहीं होता। यहाँ विद्यमान 'अध्रिगुः' पद उन प्रकाशाणु आदि को भी नियन्त्रित करने में सहयोगी बनता है।

उपर्युक्त छन्द रश्मि विभिन्न देव पदार्थों को अच्छी प्रकार नियन्त्रित करने में समर्थ होती है। यहाँ 'शमीध्वम्' पद की तीन बार आवृत्ति इस बात की सूचक है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से नियन्त्रण प्रक्रिया अति तीव्रता से होने लगती है। यहाँ 'अध्रिगो' पद भी दो बार आवृत्त हुआ है, इससे भी उपर्युक्त प्रभाव बढ़ जाता है। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ २.७.४ पठनीय है।

इसके पश्चात् 'अध्रिगुः' पद का अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अग्निर-प्यध्रिगुरुच्यते' अर्थात् 'अध्रिगुः' पद अग्नि का भी वाचक है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः' (स्तोकासः)। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अध्रिगो, शचीवः, तुभ्यम्) 'अधृतगमन कर्मवन्' विभिन्न धारक पदार्थों का भी धारणकर्त्ता, तीव्रगन्ता एवं अव्याहत गति व कर्मों से युक्त अग्नि, [शचीवः = शची प्रशस्ता प्रज्ञा विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ (ऋ.द.भा.)] जो प्रशंसनीय वा तीक्ष्ण प्रकाश से युक्त होता है, उसे (श्चोतन्ति) [श्चोतति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] गति प्रदान करते हैं एवं सींचते हैं। कौनसे पदार्थ अग्नि को सींचकर गति प्रदान करते हैं? इसके उत्तर में मन्त्र कहता है— 'स्तोकासः' अर्थात् 'गुणानां स्तावकः' (ऋ.द.भा.)। इसका अर्थ यह है कि अग्नितत्त्व को प्रकाशित व समृद्ध करने में जिन छन्दादि रश्मियों की भूमिका होती है, वे छन्दादि रश्मियाँ ही इस मन्त्र में वर्णित अग्नितत्त्व को विशेष गति प्रदान करती तथा उन्हें सिञ्चित भी करती हैं।

तदनन्तर 'अध्रिगुः' पद का अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इन्द्रोऽप्यध्रि-गुरुच्यते' अर्थात् इन्द्रतत्त्व भी 'अध्रिगुः' कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अध्रिगव ओहमिन्द्राय' (स्तोमं, हर्मि)। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द

विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध प्रकार से प्रकाशित व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अध्रिगवे, इन्द्राय) तीव्रगन्ता तथा अनेक पदार्थों के धारक इन्द्रतत्त्व के लिए (ओहम्, स्तोमम्) [ओहति प्राप्नोति येन तम् (ऋ.द.भा.)] छन्द रश्मि समूहों, जिनसे इन्द्रतत्त्व नाना प्रकार के पदार्थों व बलों को प्राप्त करने में सक्षम होता है, को (हर्मि) [हरामि-ऋ.द.भा.] प्राप्त कराता हूँ। यहाँ प्रश्न यह है कि इन्द्रतत्त्व को ऐसी छन्द रश्मियों के समूहों को कौन सा पदार्थ प्राप्त कराता है? इसके उत्तर में हमारा मत है कि इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम नोधा' नामक रश्मियाँ ही यह कार्य करती हैं। ये रश्मियाँ अति तीव्रगामिनी तथा प्रकाश उत्पन्न करने वाली होती हैं। इनके विषय में हम पीछे खण्ड ४.१६ में लिख चुके हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ इन्द्रतत्त्व के अर्थ तीक्ष्ण विद्युत् तथा सूर्य दोनों ही ग्रहण किए जा सकते हैं।

आङ्गूषः स्तोम आघोषः।
एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः। [ऋ.१.१०५.१९]
अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः॥ ११॥

तदनन्तर १०५वें पद 'आङ्गूषः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आङ्गूषः स्तोम आघोषः' अर्थात् स्तोम = छन्द रश्मियों के समूह विशेष को 'आङ्गूष' कहते हैं, क्योंकि मन्त्र रूप छन्द रश्मि समूह सब ओर से घोषयुक्त होते हैं अर्थात् वे वाक् (ध्वनि) रश्मियों के समूह रूप होते हैं। यहाँ 'आङ्' उपसर्ग यह संकेत करता है कि ये छन्द रश्मि समूह इस प्रकार से निर्मित हुए होते हैं कि उनके सब ओर छन्द रश्मियाँ स्पन्दित होती रहती हैं, न कि एक ही दिशा में। इसके साथ यह भी सम्भव है कि इन समूहों के क्षेत्र में वैखरी ध्वनियाँ भी गूँजने लगती हों।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से मन्त्र में वर्णित विभिन्न देव पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एना, आङ्गूषेण) 'अनेन स्तोमेन' इन छन्द रश्मि समूहों के द्वारा अथवा इनके साथ

(वयम्) 'वयम्' इस छन्द रश्मि की कारणभूत त्रित रश्मि अर्थात् प्राण, अपान एवं व्यान तीनों का त्रिक आङ्गिरस कुत्स ऋषि अर्थात् सूर्य की ज्वालाओं में विद्यमान वज्रतुल्य तीक्ष्ण विकिरण, [कुत्सः = कुत्स इत्येतत्कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्य-वोऽत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति (निरु.३.११), वज्रनाम (निघं.२.२०)] जिनमें विशेष भेदन शक्ति होती है, (इन्द्रवन्तः) 'इन्द्रवन्तः' इन्द्रतत्त्व से समृद्ध होते हैं। इस कारण वे विकिरण और अधिक तीक्ष्ण हो जाते हैं। इसके साथ ही वे अनेक विद्युत् आवेशित तरंगों को भी अधिक तीक्ष्ण बनाने लगते हैं। उस समय प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों का समूह विशेष सक्रिय होता है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥

[ऋ.१०.८९.५]

आपातितमन्युः। तृप्रप्रहारी। क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी। सोमो वेन्द्रो वा। धुनिर्धूनोतेः। शिमीति कर्मनाम। शमयतेर्वा। शक्नोतेर्वा। ऋजीषी सोमः। यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति। तेनर्जीषी सोमः।

अब १०६वें पद 'आपान्तमन्युः' का निगम प्रस्तुत करते हैं—

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥

इस मन्त्र का ऋषि रेणु है। [रेणुः = रिणाति गच्छति हिनस्ति हन्यते वा स रेणुः (उ.को.३.३८)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति भेदक शक्तिसम्पन्न सूक्ष्म कणों से उत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्रासोमौ तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इन्द्र एवं सोम पदार्थ तीक्ष्ण तेज एवं बल से युक्त होते हैं। इसका

आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आपान्तमन्युः) 'आपातितमन्युः' [मन्युः = मन्यते कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्युः क्रोधनाम (निघं.२.१३), मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्माद् इषवः (निरु.१०.२९), आपाततः स्वभावतस्तेजो यस्य सः, स्वरूपतस्तेजस्वी (स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक - ऋ.भा.)] तेजस्वी स्वभाव वाला सन्दीप्त सोमतत्त्व (तृपलप्रभर्मा) 'तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी' [सृप्रः = सर्पणात् (निरु.६.१७)] अति तीव्र वेग से गति करता हुआ प्राणादि पदार्थों पर प्रहार करता है अर्थात् सोम रश्मियाँ सर्पिल गति करती हुई शीघ्रतापूर्वक आग्नेय अथवा प्राण रश्मियों को प्रकृष्ट रूप से हर लेती हैं अर्थात् उनके साथ संयुक्त हो जाती हैं। ये इन्द्र तथा सोम दोनों ही प्रकार के पदार्थ (धुनिः) 'धुनिर्धूनोतेः' अपने प्रहार के द्वारा पदार्थों में तीव्र कम्पन उत्पन्न कर देते हैं।

(शिमीवान्) 'शिमीति कर्मनाम शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा' वह सोमतत्त्व नाना प्रकार के कर्म करने में निरन्तर सक्रिय रहता है। वह तीक्ष्ण हुआ सोमतत्त्व अपने सामर्थ्य से नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। (शरुमान्) [शरुः = शृणाति हिनस्ति येनेति शरुः (उ.को.१.१०)] वह तीक्ष्ण भेदक शक्तिसम्पन्न इन्द्रतत्त्व से युक्त होता है। (ऋजीषी, सोमः) 'ऋजीषी सोमः यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति तेनर्जीषी सोमः' [ऋजीषः = अतिरिक्तꣳ वा एतद् यज्ञस्य यद् ऋजीषः (मै.सं.४.८.५), पशवो वा ऋजीषम् (काठ.सं.२९.३, क.सं.४५.४)] इस सृष्टि में जो मरुद् वा छन्दादि रश्मियाँ किसी यजन प्रक्रिया से शेष बच जाती हैं, उन्हें ऋजीष कहते हैं। वे भी सोम रूप ही होती हैं। यह प्रक्रिया सोम रश्मियों का शोधन कहलाती है, इसी कारण ग्रन्थकार ने 'सोमस्य पूयमानस्य' पदों का प्रयोग किया है। जो सोम पवित्र हो जाता है, वह प्राण रश्मियों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है अर्थात् उनके साथ संयुक्त हो जाता है तथा जो सोम बच जाता है और उसे पृथक् फेंक दिया जाता है, वह ऋजीष कहलाता है।

ऐसे ऋजीष नामक सोम पदार्थ से युक्त शुद्ध सोम पदार्थ ऋजीषी कहलाता है। ऐसा ऋजीषी सोम (विश्वानि, अतसा, वनानि) [अतसम् = अत सातत्यगमने धातोरौणादिकोऽसच् प्रत्यय (वै.को.)] निरन्तर गमन करने वाली सभी रश्मियों को व्याप्त करता है। (प्रतिमानानि, इन्द्रम्) सोम रश्मियों से व्याप्त इन्द्रतत्त्व के समान वे गतिमान् किरणें वा रश्मियाँ तीव्र विद्युत् को अर्थात् इन्द्रतत्त्व को (न, देभुः, अर्वाक्) नहीं दबा सकते हैं अर्थात्

तीव्र विद्युत् तरंगों को वे तीक्ष्ण सोम रश्मियाँ भी प्रभावित व विचलित नहीं कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि वे बल आदि की दृष्टि से इन्द्रतत्त्व के निकट नहीं पहुँच पाती हैं अर्थात् उसकी समता नहीं कर पाती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में मरुद् रश्मियाँ प्राण रश्मियों से तीव्र वेग से संयुक्त होती हैं। ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों में तीव्र कम्पन उत्पन्न कर देती हैं। तीक्ष्णता को प्राप्त मरुद् रश्मियाँ नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। कुछ मरुद् रश्मियाँ प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होकर सृजन कार्य करती हैं, तो अन्य मरुद् रश्मियाँ ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र व्याप्त हो जाती हैं। तीव्र विद्युत् तरंगों को कोई भी रश्मि विचलित नहीं कर सकती है।

अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति।
ऋजीषी वज्री। [ऋ.५.४०.४] इति।
हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति। धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति।
फले हिता भवन्तीति वा।
बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्। इत्यपि निगमो भवति।
आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते। बभस्तिरत्तिकर्मा।
सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि। नार्वागिन्द्रं प्रति मानानि दभ्नुवन्ति।
यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति। अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति।
इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं सोमकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्।

पूर्व में हमने सोम को ऋजीषी कहा, यहाँ इन्द्रतत्त्व को ऋजीषी कहा गया है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऋजीषी वज्री' अर्थात् वज्र रश्मियों से युक्त इन्द्रतत्त्व भी ऋजीषी कहलाता है। इसका कारण यह है कि यह विभिन्न छन्द व प्राणादि रश्मियों से निर्मित होता है। इसके साथ ही सरल रेखा में गमन करने वाला होने से भी यह ऋजीषी कहलाता है। दूसरा कारण यह है कि इन्द्रतत्त्व पूर्वोक्त ऋजीषी सोम रश्मियों का भक्षण करता अर्थात् उन्हें अवशोषित कर लेता है।

अब इन्द्र के विषय में लिखते हैं कि इसकी दो प्रकार की हरणशील रश्मियाँ

ऋजीषी संज्ञक सोम रश्मियों को भोजन के रूप में प्राप्त करती हैं अर्थात् उन्हें अवशोषित करती रहती हैं। इसके साथ ही वे हरणशील रश्मियाँ धाना अर्थात् विभिन्न धारक सूक्ष्म रश्मियों को भी अवशोषित करती रहती हैं। ये धारक रश्मियाँ कौनसी होती हैं, इस विषय में हमारा मत यह है— [भ्राष्ट्रः = भ्राष्ट्राग्निः सर्वमत्ति मेध्यं चामेध्यं चासुर्यो वा एष यद् भ्राष्ट्राग्निः (काठ.सं.क. १५.५)] यहाँ 'धाना' नामक धारक रश्मियों के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति फले हिता भवन्तीति वा' [फलम् = अन्नः वै फलम् (मै.सं.३.१२)] अर्थात् ये धारक रश्मियाँ असुर रूप होती हैं, जो विभिन्न संयोज्य पदार्थों के निकट विद्यमान होती हैं अथवा प्रकट होती रहती हैं। ऐसी असुर रूप रश्मियों को भी इन्द्रतत्त्व की दोनों प्रकार की हरणशील रश्मियाँ अवशोषित करती रहती हैं। यहाँ हरणशील होने का तात्पर्य यह है कि ये रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व की अग्रगामिनी होकर उसे गति और दिशा देने में सहयोग करती हैं। ये रश्मियाँ कौनसी होती हैं, इस विषय में हमारा मत यह है कि जिस प्रकार भिन्न-२ स्तरों पर इन्द्रतत्त्व का अर्थ भी भिन्न-२ होता है और उसका बल, तेज और स्वरूप भी भिन्न-२ होता है, तदनुसार ही इन्द्रतत्त्व की अग्रगामिनी हरणशील रश्मियाँ भी भिन्न-२ होती हैं। ये रश्मियाँ छन्द अथवा प्राण किसी भी रूप में हो सकती हैं। हरणशील होने के कारण ही इन रश्मियों को 'हरिः' कहते हैं। 'धाना' एवं 'हरिः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्'। यह मन्त्र ग्रन्थकार ने कहाँ से लिया है, यह नहीं बताया है।

इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते बभस्ति-रत्तिकर्मा' अर्थात् 'बब्धाम्' पद खाने के अर्थ में प्रयुक्त 'भस्' धातु के आदि अभ्यास अर्थात् द्वित्व तथा उपधा अकार के लोप से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते, हरी) तुझ इन्द्रतत्त्व की दोनों प्रकार की हरणशील रश्मियाँ (धानाः, बब्धाम्) बाधक एवं प्रक्षेपक गुणों को धारण करने वाली असुर रश्मियों का भक्षण करती रहती हैं अर्थात् उन्हें अवशोषित करती रहती हैं। इसके साथ ही वे हरणशील रश्मियाँ (उप, ऋजीषम्, जिघ्रताम्) पूर्वोक्त ऋजीष संज्ञक सोम रश्मियों को निकटता से चूमती अर्थात् स्पर्श करती रहती हैं। ध्यातव्य है कि 'घ्रा गन्धोपादाने' धातु का अर्थ सूँघना के साथ-२ चूमना भी होता है। इसके लिए देखें— 'संस्कृत-धातु-कोष' (पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक)।

अब ग्रन्थकार पूर्व मन्त्र 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा ...', जिसका हम भाष्य कर चुके हैं, उसके उत्तरार्द्ध का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

'सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि नार्वागिन्द्रं प्रति मानानि दभ्नुवन्ति यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति इन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं सोमकर्म उभयप्रधानेत्यपरम्'

अर्थात् पूर्वोक्त ऋजीष सोम रश्मियाँ निरन्तर गमन करने वाली किरणों के रूप में प्रकट होती हैं अर्थात् ऐसी किरणों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। वे किरणें इन्द्रतत्त्व के समान विद्युत् तरंगों का रूप होती हैं, परन्तु वे किरणें इन्द्रतत्त्व को पराभूत वा विचलित नहीं कर सकतीं। ये किरणें इस इन्द्रतत्त्व के प्रतिमान के रूप में अवश्य होती हैं, परन्तु उससे दुर्बल ही रहती हैं, इस कारण उसे दबा वा विचलित नहीं कर सकतीं। जब ये किरणें उस इन्द्र तत्त्व को दबाने वा विचलित करने के प्रयास में उस पर आक्रमण करती हैं, तब वे इन्द्रतत्त्व के निकट पहुँचने से पूर्व ही नष्ट हो जाती हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रतत्त्व के तीक्ष्ण प्रहार से वे किरणें निष्प्रभावी हो जाती हैं। पूर्व में हम लिख चुके हैं कि इन्द्रतत्त्व की हरणशील रश्मियाँ ऋजीष संज्ञक एवं धाना संज्ञक रश्मियों का भक्षण व अवशोषण करती रहती हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि की गयी है।

इस ऋचा को कुछ आचार्य इन्द्र प्रधान अर्थात् मुख्य रूप से इन्द्र देवता वाली मानते हैं और सोम के कर्मों को नैघण्टुक अर्थात् गौण मानते हैं, तो अन्य आचार्य इन्द्र व सोम दोनों की प्रधानता वाली मानते हैं।

श्मशा शु अश्नुत इति वा। श्माश्नुत इति वा।
अव श्मशा रुधद्वाः। [ऋ.१०.१०५.१]
अवारुधच्छ्मशा वारिति॥ १२॥

अब १०७वें पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'श्मशा शु अश्नुत इति वा श्माश्नुत इति वा' अर्थात् [शुः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)] शीघ्र व्याप्त होने अथवा गमन करने वाली नदी आदि को श्मशा कहते हैं। ये नदी सूर्यादि तारों के अन्दर पदार्थ की विभिन्न धाराओं को भी कह सकते हैं और पृथ्वी पर बहने वाली जल-धाराओं को भी कह सकते हैं। यह प्रथम निर्वचन हुआ।

अब इसी का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखा है कि श्म अर्थात् शरीर में व्याप्त होने वाली अथवा गमन करने वाली नस-नाड़ियों को भी श्मशा कहते हैं। अब इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अव श्मशा रुधद्वाः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द 'पिपीलिका मध्य उष्णिक्' है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व ऊष्मा को विशिष्ट रूप से उत्पन्न करता है। अब इसका आधिदैविक भाष्य करते हैं—

(श्मशा) सूर्य्यादि लोकों में सतत प्रवाहित होने वाली सौर नदियाँ अथवा पृथिवी पर बहने वाली नदियाँ (अव, रुधत्, वाः) [वाः = उदकनाम (निघं.१.१२), यदवृणोत्तस्माद्वाः (श.ब्रा.६.१.१.९)] सेचन सामर्थ्ययुक्त पदार्थ को एक सीमा विशेष में रोके रखकर निरन्तर प्रवाहित करती रहती हैं अर्थात् इन नदी रूप धाराओं से वह पदार्थ बाहर नहीं जाने पाता।

यहाँ ग्रन्थकार भी इसी आशय से लिखते हैं— 'अवारुधच्छ्मशा वारिति'।

* * * * *

≡ त्रयोदशः खण्डः ≡

उर्वश्यप्सरा। उर्वभ्यश्नुते। ऊरुभ्यामश्नुते। उरुर्वा वशोऽस्याः।
अप्सरा अप्सारिणी। अपि वा अप्स इति रूपनाम। अप्सातेः।
अप्सानीयं भवति। आदर्शनीयम्। व्यापनीयं वा।
स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः।
यदप्स [काठ.सं.९.४] इत्यभक्षस्य।
अप्सो नाम। [यजु.१४.४, मै.सं.२.८.१]
इति व्यापिनः। तद्रा भवति रूपवती। तदनयात्तमिति वा।
तदस्यै दत्तमिति वा। तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द।
तदभिवादिन्येषग्र्भवति॥ १३॥

तदनन्तर १०८वें पद 'उर्वशी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुते ऊरुभ्यामश्नुते उरुर्वा वशोऽस्या: अप्सरा अप्सारिणी अपि वा अप्स इति रूपनाम अप्सातेः अप्सानीयं भवति आदर्शनीयम् व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणि:' अर्थात् उर्वशी अप्सरा को कहते हैं। इसे उर्वशी इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह उरु अर्थात् बहुत व्यापक क्षेत्र में व्याप्त होती है अथवा यह दो व्यापक पदार्थों किंवा दो प्रकार की गमनशील रश्मियों के द्वारा गति करती अथवा व्याप्त होती है अथवा जिसका वश अर्थात् संयोजनशीलता का गुण बड़ा व्यापक होता है। इस कारण इसे उर्वशी कहते हैं। इस प्रकार 'उर्वशी' पद के तीन निर्वचन किये गये हैं।

अब 'अप्सरा' पद का निर्वचन करते हुए कहा है कि यह अप् अर्थात् विभिन्न प्राणों में गमन करती हुई नाना प्रकार की क्रियाओं में संलग्न रहती है अथवा अप्स 'रूप' को कहते हैं। इस विषय में महर्षि शाकपूणि का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि रूप को अप्स इस कारण कहते हैं, क्योंकि रूप का भक्षण नहीं किया जा सकता, बल्कि जिसका केवल दर्शन किया जाता है। 'अप्स:' शब्द नञ् पूर्वक 'प्सा भक्षणे' धातु से निष्पन्न होता है। इस कारण अप्स: का अर्थ अभक्षणीय कहा गया है। अप्स शब्द से मतुप् अर्थ में 'र' प्रत्यय और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' करके 'अप्सरा' पद व्युत्पन्न होता है। इस कारण अप्सरा उस पदार्थ को कहते हैं, जो अभक्षणीय तथा सब ओर से दर्शनीय अर्थात् आकर्षण आदि बलों से युक्त सूक्ष्म पदार्थों से युक्त होता है। इस सम्पूर्ण प्रकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि अप्सरा विद्युत् तरंगों को कहते हैं, जिनमें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं विद्युत् आवेशित तरंगें दोनों ही सम्मिलित हैं। ये दोनों प्रकार की तरंगें इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक रूप से गमन करती रहती हैं तथा दोनों ही प्रकार की तरंगें विद्युत् क्षेत्र और चुम्बकीय क्षेत्र दोनों से ही व्याप्त होकर उनके द्वारा गमन करती हैं। इसके साथ वे इन दोनों के द्वारा अथवा प्राण एवं मरुद् रश्मि समूह के द्वारा इन कार्यों को सम्पन्न करते हुए गमन करती रहती हैं और इनके द्वारा अन्य पदार्थों के प्रति आकर्षण का भाव रखती हैं। ये दोनों ही प्रकार की तरंगें सृष्टि काल में प्राय: नष्ट नहीं होती हैं, बल्कि एक-दूसरे में रूपान्तरित अवश्य हो सकती हैं, वह भी विशेष परिस्थितिवश। ये तरंगें प्रकाश उत्पन्न करने वाली होती हैं अथवा इन्हें सब ओर से देखा जा सकता है और स्पष्टता से इनका अनुभव किया जा सकता है। उर्वशी-अप्सरा के विषय में यह मत ग्रन्थकार के साथ-२

महर्षि शाकपूणि का भी है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो रहा है कि जिन तरंगों को देखा नहीं जा सकता, वे उर्वशी-अप्सरा का रूप नहीं मानी जा सकती। इस सृष्टि में जो कुछ भी दिखाई देता है अथवा दिखाई दे सकता है एवं जितने प्रकार के रूप दिखाई देते हैं अथवा दिखाई दे सकते हैं, उन सबके पीछे इन्हीं अप्सरा संज्ञक तरंगों की भूमिका होती है। यहाँ काठक संहिता ९.४ से 'यदप्सः' में 'अप्सः' पद को अभक्षः अर्थात् जिसको नहीं खाया गया, इस अर्थ में दर्शाया गया।

दूसरा उद्धरण मैत्रायणी संहिता २.८.१, यजुर्वेद १४.४ में 'अप्सो नाम' को व्यापी अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार 'अप्सः' पद के व्यापी और अभक्षः इन दो अर्थों के यहाँ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं और रूपनाम की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। जो किरणें इन तीन गुणों वाले 'अप्सः' से युक्त होती हैं, उन्हें अप्सरा कहते हैं। वह अप्सरा विविध रूपों से युक्त होती है तथा इस सृष्टि में जो भी रूपवान् पदार्थ विद्यमान हैं, उनके रूप का कारण भी ये ही रश्मियाँ होती हैं। ऐसा पुनः दृढ़ता व्यक्त करने के लिए कहा गया है।

इन तरंगों को अप्सरा कहने का कारण बतलाते हुए पुनः कहा— 'तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा' [आत्तः = आ+दा+त्त+सु] अर्थात् वह रूप इससे प्राप्त किया गया होता है अथवा इसके लिए वह रूप दिया हुआ होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस किसी भी वस्तु के रूप को हम प्राप्त करते हैं, वह इन अप्सरा संज्ञक तरंगों के द्वारा ही प्राप्त करते हैं अथवा प्राप्त कर सकते हैं एवं इस सृष्टि में जिस किसी भी पदार्थ को जो भी रूप दिया गया है, वह रूप उस पदार्थ की अंगभूत अप्सरा संज्ञक तरंगों का ही दिया गया होता है। सामान्यतया हम यह जानते हैं कि सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को देखने और उन पदार्थों के भिन्न-भिन्न रंग-रूपों का मूल कारण प्रकाश की तरंगों एवं इलेक्ट्रॉन आदि कणों के द्वारा उन तरंगों का अवशोषण करना है, यहाँ इन दोनों के अभाव में इस सृष्टि का कोई भी पदार्थ रंग और रूप को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अप्सरा नामक तरंगों के विषय में लिखते हैं— 'तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द' [रेतः = रेतो वाजिनम् (तै.ब्रा. १.६.३.१०), रेतो वा अन्नम् (गो.पू.३.२३), वागु हि रेतः (श.ब्रा.१.५.२.७)] अर्थात् उन अप्सरा संज्ञक तरंगों के आकर्षण वा निकटता से मित्र और वरुण अर्थात् प्राण एवं अपान रश्मियों का सूक्ष्म बल, जो व्याहृति संज्ञक सूक्ष्म रश्मियों के रूप में होता है, स्रवित होने

लगता है अर्थात् जब ये तरंगें किसी सूक्ष्म कण के निकट से गमन करती हैं, तब उस कण में विद्यमान प्राण एवं अपान रश्मियों के प्रति प्रतिक्रिया दर्शाने लगती हैं, जिसके कारण वे कण और अपान रश्मियाँ सूक्ष्म व्याहृति रश्मियों को अप्सरा संज्ञक तरंगों की ओर उत्सर्जित वा प्रक्षिप्त करने लगती हैं।

इस अभिप्राय को दर्शाने वाली ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥ [ऋ.७.३३.११]
अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठः। उर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः सम्भृतप्सानीयो भवति।
सर्वे देवाः पुष्करे त्वा अधारयन्त। पुष्करमन्तरिक्षम्। पोषति भूतानि।
उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यम्। इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव।
पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्पं पुष्पतेः। वयुनं वेतेः कान्तिर्वा। प्रज्ञा वा।

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है अथवा इसकी उत्पत्ति तारे के केन्द्रीय भाग में विद्यमान अध्वर्यु वसिष्ठ संज्ञक गायत्री छन्द रश्मियों, जिनकी चर्चा वेदविज्ञान-आलोकः ७.१६.१ में की गई है, से होती है। इसका देवता वसिष्ठ और छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [वसिष्ठः = अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)] तारों के केन्द्रीय भाग में अग्नितत्त्व समृद्ध होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, असि, मैत्रावरुणोः, वसिष्ठः) 'अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठः' [मित्रावरुणौ = प्राणोदानो वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२), यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२)] सबको

बसाने वाला अग्नि तारों के केन्द्र में प्राण एवं अपान अथवा विभिन्न कणों और तरंगों के मेल से उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी तारे के अन्दर सूक्ष्म कणों एवं उचित ताप की विद्यमानता में ही अग्नि उत्पन्न होता है।

(उर्वश्याः, ब्रह्मन्, मनसः, अधिजातः) 'उर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः' [मनः = मनो वै गायत्रम् (जै.ब्रा.३.३०५), तं (अनन्तम्) विश्वे देवा वाङ्मनश्च प्रजापतिरनुष्टुभा छन्दसा यज्ञायज्ञीयेन साम्नास्तुवन् (जै.ब्रा.१.२३९), मन एव यजुः (जै.ब्रा.२.३९), मनोऽन्तरिक्ष-लोकः (श.ब्रा.१४.४.३.११), यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११)] वह अग्नि ब्रह्म अर्थात् बढ़ते हुए रूप में उत्पन्न होता है तथा उसकी उत्पत्ति आकाशतत्त्व में विद्यमान गायत्री एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त इन्द्रतत्त्व तथा उर्वशी संज्ञक पूर्वोक्त तरंगों से होती है। यहाँ 'अधि' उपसर्ग से प्रकट होता है कि अग्नि अन्य प्रक्रियाओं से भी उत्पन्न होता है, परन्तु उसका अधिकांश भाग इस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है।

(द्रप्सम्, स्कन्नम्, ब्रह्मणा, दैव्येन) 'द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन द्रप्सः सम्भृतप्सानीयो भवति' [द्रप्सः = असौ वाऽआदित्यो द्रप्सः (श.ब्रा.७.४.१.२०), स्तोको वै द्रप्सः (गो.उ.२.१२)] उस दिव्य अग्नि से स्वल्प मात्रा में आदित्य अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें बाहर की ओर रिसने लगती हैं। यहाँ स्वल्प मात्रा का अभिप्राय यह है कि वे अग्नि की सूक्ष्म तरंगें एक-एक करके तारे के केन्द्रीय भाग से सन्धि भाग की ओर, फिर उससे पुनः शेष विशाल भाग की ओर धीरे-२ रिसती रहती हैं। ये तरंगें विभिन्न कणों द्वारा अवशोषित होती हुई तारे के बाहरी भाग में आकर एकत्र होने लगती हैं।

(विश्वे, देवाः, पुष्करे, त्वा, आददन्त) 'सर्वे देवाः पुष्करे त्वा अधारयन्त पुष्करमन्तरिक्षम् पोषति भूतानि उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यम् इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा पुष्पं पुष्पतेः' विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ अग्नि की उन तरंगों को आकाश में धारण करती हैं। यहाँ आकाश को पुष्कर कहा गया है। इसका कारण यह है कि आकाश तत्त्व ही विभिन्न पदार्थों को धारण करता है और इसके साथ ही वह उन्हें विकसित करने में भी सहयोगी होता है। आकाशतत्त्व में ही अग्नि आदि विभिन्न पदार्थ धारण किए हुए होते हैं और इसी में गमन करते व विकसित होते हैं अर्थात् उन पदार्थों का पालन-पोषण आकाशतत्त्व में ही होता है। प्रत्येक कण वा तरंग आदि के अन्दर और बाहर सर्वत्र आकाशतत्त्व व्याप्त होकर उस कण वा तंरग के नाना प्रकार के कार्यों को

सम्पादित करने में सूक्ष्म और अनिवार्य भूमिका निभाता है। नाना प्रकार के बलों को उत्पन्न करने में भी आकाशतत्त्व की विशेष भूमिका होती है। यहाँ 'पुष्कर' पद 'पुष पुष्टौ', 'पुष धारणे' एवं 'पुष्प विकसने', इन तीनों धातुओं से व्युत्पन्न मानना चाहिए।

यहाँ ग्रन्थकार ने उदक को भी पुष्कर कहा है। हमारी दृष्टि में उदक तारों के अन्दर पदार्थ का वह रूप है, जो जल की धाराओं की भाँति इधर-उधर प्रवाहित होता रहता है। ऐसी अनेक तरल धाराएँ तारों के अन्दर निरन्तर बहती रहती हैं। हमारा मत यह भी है कि तारों के केन्द्रीय भाग और शेष विशाल भाग के मध्य में जो सन्धि भाग होता है, उसमें भी पदार्थ की इसी प्रकार की धाराएँ विद्यमान होती हैं। यह उदक रूप पदार्थ, जो सौर नदियों के रूप में बहता रहता है, वह पूजाकर रूप में होता है अर्थात् यह पदार्थ ही तारों के अस्तित्व को बनाए रखने में बहुत सहयोगी होता है और यह पदार्थ स्वयं भी पूजनीय होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ भी नियमित रूप से सौर किरणों द्वारा सुरक्षित वा तेजस्वी बना रहता है। इसलिए इस पदार्थ को भी पुष्कर कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इसी आशय से लिखा है— 'आपो वै पुष्करम्' (श.ब्रा.६.४.२.२)। यह 'पुष्कर' पद का दूसरा निर्वचन हुआ।

अब पुष्कर का तीसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि इन दोनों पदार्थों के अतिरिक्त पुष्कर एक अन्य पदार्थ का भी नाम है, वह पदार्थ 'वपुष्करम्' कहलाता है। [वपुः = वपुर्हि पशवः (ऐ.ब्रा.५.६), वपुः रूपनाम (निघं.३.७), उदकनाम (निघं. १.१२)] इसका अर्थ यह है कि वह पुष्कर संज्ञक पदार्थ विभिन्न प्रकार के रूप-रंगों से युक्त पूर्वोक्त उदकरूप ही होता है। ये नाना रूप-रंग इस कारण होते हैं, क्योंकि इसके अन्दर नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ होती हैं और वे छन्द रश्मियाँ ही विविध रूप-रंगों का कारण होती हैं। अन्त में 'पुष्कर' पद की व्युत्पत्ति 'पुष्प पुष्पतेः' धातु से मानी गई है, जिसे हम पूर्व में ही व्याख्यात कर चुके हैं। पुनरपि ज्ञातव्य है कि ये पुष्कर संज्ञक पदार्थ, चाहे वह अन्तरिक्ष हो अथवा सौर नदियाँ, दोनों ही अकस्मात् व्यापक क्षेत्र में प्रकट नहीं होते, बल्कि इन दोनों का ही क्रमिक विकास होता है और धीरे-२ ये फैलते चले जाते हैं अथवा पृथक्-२ स्थानों पर पृथक्-२ रूप में उत्पन्न होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। इसलिए ही इन दोनों पदार्थों को पुष्कर कहा जाता है।

भावार्थ— तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया उचित ताप एवं दाब में

ही प्रारम्भ होती है। इस प्रक्रिया में गायत्री एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से सम्पन्न विद्युत् चुम्बकीय बलों की भूमिका सर्वाधिक होती है। केन्द्रीय भाग में उत्पन्न विभिन्न तीक्ष्ण तरंगें बाहर की ओर गमन करने लगती हैं। सभी प्रकार की तरंगें आकाशतत्त्व में ही गमन करती हैं और आकाशतत्त्व ही इनका धारक होता है। तारों के अन्दर विद्युत् युक्त पदार्थ की धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। ये धाराएँ ही पदार्थ को केन्द्रीय भाग तक ले जाती हैं। तारों के अन्दर सौर नदियाँ एवं ब्रह्माण्ड में आकाश महाभूत अकस्मात् सर्वत्र एक साथ नहीं, बल्कि क्रमिक रूप से विकसित होते हैं।

अब १०९वें पद 'वयुनम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा' अर्थात् 'वयुनम्' पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। यद्यपि इस धातु से अनेक अर्थों का प्रकाशन होता है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने 'वयुनम्' पद के दो ही अर्थ किए हैं, जिनमें से प्रथम अर्थ है— 'कान्ति', जिसका आशय है— इच्छा अथवा आकर्षण बल। दूसरा अर्थ किया है— 'प्रज्ञा' अर्थात् [प्रज्ञा = यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः (शां.आ.५.३, कौ.उ.३.३.)] प्राणवत्ता एवं प्रकाश।

इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

पञ्चदशः खण्डः

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार॥ [ऋ.६.२१.३]
स तमोऽप्रज्ञानं ततन्वत्। स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार।
वाजपस्त्यं वाजपतनम्।
सनेम वाजपस्त्यम्। [ऋ.९.९८.१२] इत्यपि निगमो भवति।

अब 'वयुनम्' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने वारक बलों के साथ विस्तृत होता चला जाता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, इत्, तमः, अवयुनम्) 'स तमोऽप्रज्ञानम्' वह इन्द्रतत्त्व ही कुछ भी दिखाई न देने योग्य अथवा कुछ भी प्रतीत न होने योग्य वृत्रासुर रूप अन्धकारमय पदार्थ को (ततन्वत्) 'ततन्वत्' फैलाता है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व आसुर मेघ पर प्रहार करके उसे फैला देता है। (सूर्येण, वयुनवत्, चकार) 'स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार' तदुपरान्त सूर्यलोक के द्वारा वह इन्द्रतत्त्व प्रकाशित अवस्था के समान आकाशस्थ पदार्थों को बनाता है।

भावार्थ— प्रारम्भ में द्युलोक व पृथिव्यादि लोकों को वृत्रासुर नामक अन्धकारमय मेघ ढके हुए था। इस कारण लोक दिखाई देने योग्य नहीं थे। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है— वृत्रो ह वाऽ इदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम' (श.ब्रा.१.१.३.४)। जब इन्द्रतत्त्व उस वृत्र नामक अन्धकारमय आवरक आसुर मेघ पर प्रहार करता है, उससे वह मेघ-आवरण फैलकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसके छिन्न-भिन्न हो जाने पर द्युलोक अर्थात् सूर्यलोक आकाशस्थ पृथिव्यादि सभी लोकों को प्रकाशित कर देता है और सभी लोक स्पष्ट दिखाई देने योग्य हो जाते हैं।

तदनन्तर ११०वें पद 'वाजपस्त्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वाजपस्त्यं वाजपतनम्' [वाजम् = अन्ननाम (निघं.२.७), बलनाम (निघं.२.९), अन्नं वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.६.२), वाजो वै पशवः (ऐ.ब्रा.५.८), सोमो वै वाजः (मै.सं.४.५.४)। पस्त्यम् = गृहनाम (निघं.३.४), विशो वै पस्त्याः (श.ब्रा.५.३.५.१९)] अर्थात् पदार्थों में व्याप्त वा विद्यमान विभिन्न प्रकार के संयोजक अर्थात् आकर्षण बलों का गृह वा आधार विभिन्न प्राण वा मरुत् रश्मियों का पतन अर्थात् एक-दूसरे के ऊपर गिरना होता ही है। यदि प्राण व मरुत् रश्मियाँ एक-दूसरे के ऊपर न गिरें अर्थात् एक-दूसरे के साथ संगत न हों, तब बल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इसका निगम प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'सनेम वाजपस्त्यम्'। इस मन्त्र का ऋषि

अम्बरीष ऋजिष्वा है। [अम्बरीषः = अम्बते शब्दयतीति अम्बरीषः आकाशः। श्वा = श्वयति गच्छति वर्द्धतेऽसौ श्वा।] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अन्तरिक्ष में विद्यमान सरल रेखा में वर्द्धमान गति करती हुई पूर्वोक्त ऋजीष संज्ञक सोम रश्मियों से होती है। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द विराडनुष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पवित्र हुआ सोम पदार्थ विविध प्रकार से प्रकाशित होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वाजपस्त्यम्) 'वाजपतनम्' इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के आकर्षण बलों की आधारभूत विभिन्न प्राण एवं मरुद् रश्मियों के एक-दूसरे के प्रति गमन करते समय (सनेम) इस छन्द रश्मि की कारणभूत सोम रश्मियाँ, जो आकाश में यत्र-तत्र विद्यमान होती हैं, उन प्राण एवं मरुद् रश्मियों का सम्यक् विभाजन एवं संयोजन करती हैं।

वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम्।

अश्याम वाजगन्ध्यम्। [ऋ.९.९८.१२] इत्यपि निगमो भवन्ति।

गध्यं गृह्णातेः।

ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्। [ऋ.४.१६.११] इत्यपि निगमो भवति।

अब १११वें पद 'वाजगन्ध्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम्'। यहाँ 'वाजगन्ध्यम्' पद को वाजपूर्वक गध्यति उत्तरपद से निष्पन्न माना है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'गध मिश्रणे' धातु का अर्थ मिश्रित होना अथवा मिश्रित करना दोनों ही माने हैं। [देखें— संस्कृत-धातु-कोष] इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'अश्याम वाजगन्ध्यम्'। इसका ऋषि, देवता व छन्द एवं उनके प्रभाव पूर्व निगम के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

वे ऋषि संज्ञक ऋजीष सोम रश्मियाँ (वाजगन्ध्यम्) विभिन्न आकर्षण प्रक्रियाओं के समय परस्पर मिश्रित होने वाली प्राण व मरुत् रश्मियों का (अश्याम) भक्षण करती हैं। इसका आशय है कि वे ऋजीष संज्ञक पूर्वोक्त सोम रश्मियाँ उन मिश्रणीय प्राण व मरुत् रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करके बल उत्पन्न करने की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाती हैं। बलों के क्रियाविज्ञान को समझने हेतु 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है।

तदनन्तर ११२वें पद 'गध्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'गध्यं गृह्णातेः' अर्थात् 'गध्यम्' पद 'ग्रह उपादाने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्'। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ऋज्रा) [ऋज्रः = अर्जति गच्छति तिष्ठति वा स ऋज्रः (उ.को.२.२९) वह इन्द्रतत्त्व स्थिरता वा दृढ़तापूर्वक सरल मार्ग पर गमन करते हुए उद्योग करता है, वह (गध्यम्, वाजम्, न) ग्रहण करने योग्य छन्द व प्राण रश्मियों के समान अर्थात् उनके अनुसार (युयूषन्) विभिन्न पदार्थों को संगत करने का निरन्तर प्रयास करता है। यहाँ इच्छा करने का अर्थ प्रयास करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

यहाँ छन्द व प्राण रश्मियों के समान वा अनुसार का तात्पर्य यह है कि तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें आकाश में विद्यमान प्राण व छन्द रश्मियों के स्तर व श्रेणी के अनुसार भिन्न-२ प्रभाव दर्शाती हैं। इसके साथ यह इस बात पर भी निर्भर है कि उन रश्मियों के प्रति उन तरंगों की ग्राह्यता का स्तर क्या है।

गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा।

आगधिता परिगधिता॥ [ऋ.१.१२६.६] इत्यपि निगमो भवति।

कौरयाणः कृतयानः।

पाकस्थामा कौरयाणः॥ [ऋ.८.३.२१] इत्यपि निगमो भवति।

तौरयाणस्तूर्णयानः।

स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः॥

इत्यपि निगमो भवति।

अब ११३वें पद 'गध्यतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'गध्यति' धातु ग्रहण करने के अतिरिक्त मिश्रित करना वा मिला हुआ होना, इस अर्थ में भी होती है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत है— 'आगधिता परिगधिता'। इस मन्त्र का भाष्य निरुक्त-भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने तथा वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने अत्यन्त अश्लील किया है। इस कारण इन भाष्यकारों की इस घृणित वृत्ति के पाश से निर्मल वैदिक ज्ञान के प्रकाशनार्थ हम

यहाँ मन्त्र को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करके उसका भाष्य कर रहे हैं—

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥

इस मन्त्र का ऋषि भावयव्य है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान रश्मि आदि पदार्थों के साथ मिश्रित होने योग्य प्राण रश्मि विशेष से इस रश्मि की उत्पत्ति होती है। हमारे मत में यह प्राण रश्मि मास संज्ञक अथवा सूत्रात्मा वायु संज्ञक रश्मियों के रूप में हो सकती है। इसका देवता विद्वांसः और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ अपने गुणों और कर्मों को विशेष रूप से प्रकट करने में समर्थ होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(या, आगधिता, परिगधिता) जो रश्मियाँ अच्छी प्रकार से अन्य देव पदार्थ के द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं, वे सब ओर स्थित पदार्थों के साथ मिश्रित हो जाती हैं। (जङ्गहे, कशीका, इव) [कशीका = यह पद 'कश गतिशासनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। जङ्गहे = अत्यन्तं ग्रहीतव्ये] वे रश्मियाँ अपने मिश्रण रूप व्यवहार करते समय अन्य देव पदार्थों से उत्सर्जित होने वाली रश्मियों को तीक्ष्णतापूर्वक पकड़ कर नियन्त्रित कर लेती हैं, जैसे किसी को किसी बन्धन वा जाल के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। (याशूनाम्, यादुरी) परस्पर संयुक्त होने का प्रयत्न करते हुए देव पदार्थों की प्रयत्न करने की प्रक्रिया (मह्यम्) इस छन्द रश्मि की कारणभूत संयोजक प्राण रश्मियों को (शता, भोज्या, ददाति) अनेक प्रकार की अवशोषित होने योग्य सूक्ष्म रश्मियाँ प्रदान करती है।

भावार्थ— जब दो कण आदि पदार्थों का परस्पर संयोग होता है, उस समय सूत्रात्मा वायु एवं मास आदि रश्मियाँ उन कणों से निकलने वाली प्राण व छन्दादि रश्मियों को अपने साथ कसकर बाँधने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रयत्न की प्रक्रिया में व्याहृति आदि एवं 'ओम्' रश्मियाँ प्रकट होकर संयोग प्रक्रिया को सम्पादित करने में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (आगधिता) समन्ताद्गृहीता। गध्यं गृह्णातेः। निरु.५.१५ (परिगधिता) परितः

सर्वतो गधिता शुभैर्गुणैर्युक्ता नीतिः। गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। निरु.५.१५ (या) (कशीकेव) यथा ताडनार्था कशीका (जङ्गहे) अत्यन्तं ग्रहीतव्ये (ददाति) (मह्यम्) (यादुरी) प्रयत्न-शीला। अत्र यतधातोर्बाहुलकादौणादिक उरी प्रत्ययः तस्य दः। (याशूनाम्) प्रयतमानानाम्। अत्र यसु प्रयत्ने धातोर्बाहुलकादुण्प्रत्ययः सत्य शश्च। (भोज्या) भोक्तुं योग्यानि (शता) शतानि असंख्यातानि वस्तूनि।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यया नीत्याऽसंख्यातानि [सुखानि] स्युः सा सर्वैः संपादनीया।

पदार्थ— (या) जो (आगधिता) अच्छे प्रकार ग्रहण की हुई (परिगधिता) सब ओर से उत्तम-उत्तम गुणों से युक्त (जङ्गहे) अत्यन्त ग्रहण करने योग्य व्यवहार में (कशीकेव) पशुओं के ताड़ना देने के लिये जो औगी होती उसके समान (याशूनाम्) अच्छा यत्न करने वालों की (यादुरी) उत्तम यत्न वाली नीति (भोज्या) भोगने योग्य (शता) सैकड़ों वस्तु (मह्यम्) मुझे (ददाति) देती है, वह सबको स्वीकार करने योग्य है।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जिस नीति अर्थात् धर्म की चाल [से] अगणित सुख हों, वह सबको सिद्ध करनी चाहिये।

अब हम इसका आध्यात्मिक भाष्य करते हैं—

(या, आगधिता, परिगधिता) योगी जनों की प्रकाशवती प्रज्ञा परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान अच्छी प्रकार ग्रहण करके सब ओर से उत्तम-२ गुण, कर्म, स्वभाव आदि से युक्त होकर (कशीका, इव, जङ्गहे) अपने अन्तःकरण की दुष्ट वृत्तियों को अत्यन्त निरुद्ध कर लेती है, जैसे किसी उत्तेजित पशु को बाँधकर नियन्त्रित किया जाता है। (याशूनाम्, यादुरी) योगमार्ग का प्रयत्न करने वाले योगी जनों की उत्तम पुरुषार्थरत प्रज्ञा (मह्यम्, शता, भोज्या, ददाति) मुझे अर्थात् उन योगी जनों को अनेक प्रकार से आनन्द भोगने योग्य ब्रह्मानन्द रस प्रदान करती है।

भावार्थ— जब कोई योगाभ्यासी योगमार्ग पर पुरुषार्थ करता है, तब उसकी ऋतम्भरा प्रज्ञा उसके अन्तःकरण में विद्यमान दुष्ट संस्कारों एवं वृत्तियों को निरुद्ध करके उत्तम संस्कारों को जाग्रत करती है। ऐसे पुरुषार्थी जनों की प्रज्ञा उन्हें अनेक प्रकार से परमानन्द की प्राप्ति में साधक बनाती है अर्थात् उस ऐसी उत्तम बुद्धि के द्वारा वह योगी निरन्तर परमानन्द के मार्ग पर अग्रसर रहता है।''

अब हम ११४वें पद 'कौरयाणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कौरयाणः कृतयानः'। इसका भाष्य करते हुए स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्तसम्मर्शः' में लिखा है—

''कौरयाणः इत्येतदनवगतम्। 'कृतयानः' इत्यवगमः। 'कृञ् करणे' इत्यतः 'कठिचकिभ्यामारेन्' 'किशोरादयश्च' (उ.को.१.६४-६५) इति ओरन् प्रत्ययस्तथा बाहु-लकात् 'औरन् डित्' औणादिकः कर्मणि भूते। कृतं संस्कृतं सज्जितं समर्थं संग्रामाय प्रयोज्यं यानं यस्य स कृतयानः कौरयाणः।''

इसका अर्थ यह है कि जो अपनी वाहक रश्मियों से सज्जित होवे, उस इन्द्रतत्त्व को कौरयाणः अर्थात् कृतयानः कहते हैं अर्थात् गमन के लिए पूर्णतः उद्यत तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें, जो गमन करने के लिए उद्यत ही हों, वे कौरयाण कहलाती हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'पाकस्थामा कौरयाणः'। इसका देवता पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिः है। इसके पूर्व २० मन्त्रों का देवता इन्द्र है। हमारे मत में पाकस्थामा कौरयाण इन्द्र के ही विशेषण हैं। इसका छन्द भुरिक् अनुष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व अपने बाधक बलों को और अधिक सक्रिय करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पाकस्थामा) [स्थाम = तिष्ठति येन तत् स्थाम, बलं वा (उ.को.४.१४६)] परिपक्व बल से युक्त इन्द्रतत्त्व (कौरयाणः) अपनी वाहक बलवान् रश्मियों के द्वारा गमन करने के लिए उद्यत होता है अर्थात् जिसमें तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें परिपक्व अर्थात् अपेक्षित बल प्राप्त कर लेती हैं, तभी वे असुरादि पदार्थों पर प्रहार करने के लिए उद्यत हो पाते हैं, अन्यथा नहीं।

इसके पश्चात् ११५वें पद 'तौरयाणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'तौरयाणस्तूर्णयानः' अर्थात् शीघ्रगामी रथ को 'तौरयाण' कहते हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः'। यह मन्त्र कहाँ से लिया है, यह अज्ञात है। सम्भव है कि यह वेद की किसी शाखा, जो लुप्त हो गयी हो, में कभी विद्यमान रहा हो। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र रूप से सबल व सचेत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, तौरयाणः, इन्द्रः) वह तीव्रगामी इन्द्रतत्त्व (मरुद्भिः, सखिभिः, सजोषाः) अपने साथ

प्रकाशित होने वा सक्रिय रहने वाली मरुद् रश्मियों के साथ समान रूप से प्रीति करते हुए किंवा उनका समान व सन्तुलित रूप से सेवन करते हुए (यज्ञम्, उप, याहि) किन्हीं पदार्थों के संयोग की प्रक्रिया में निकटता से प्राप्त वा व्याप्त होता है।

अह्रयाणोऽह्रीतयानः।
अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाणः। [ऋ.४.४.१४] इत्यपि निगमो भवति।
हरयाणो हरमाणयानः।
रजतं हरयाणे [ऋ.८.२५.२२] इत्यपि निगमो भवति।
य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः॥ [ऋ.१.१०१.४]
प्रत्यृतः स्तोमान्। व्रन्दी व्रन्दतेमृर्दूभावकर्मणः॥ १५॥

अब ११६वें पद 'अह्रयाणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अह्रयाणः अह्रीतयानः'। 'ह्री' पद की व्याख्या करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते॥
(शान्तिपर्व-आपद्धर्म पर्व-अध्याय १६२, श्लोक १५)

यहाँ 'ह्री' को मनुष्य के धर्म के लक्षणों की व्याख्या के रूप में वर्णित किया है। यहाँ उपर्युक्त आधिदैविक प्रकरण में ह्री का अर्थ 'प्रशान्तवाङ्मना नित्यम्' ही पर्याप्त है। इस प्रकार 'अह्रयाण' पद का अर्थ है, अग्नि तत्त्व की ऐसी वाहक रश्मियों, जो सूक्ष्म वाक् एवं मनो रश्मियों से युक्त हों, जो शान्त न हों अर्थात् विक्षुब्ध व उत्तेजित हों, पर आरूढ़ इन्द्रतत्त्व अह्रयाण वा अह्रीतयान कहलाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाणः'। इस मन्त्र का देवता अग्निरक्षोहा व छन्द स्वराड् बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से हिंसक राक्षस संज्ञक असुर पदार्थ को नष्ट करने वाला अग्नि तेजस्वी होकर असुर पदार्थ को नष्ट करके पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को समृद्ध करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अनुष्टुया, अह्रयाणः, कृणुहि) [अनुष्टुप् = आनुकूल्येन (ऋषि दयानन्द भाष्य)] हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाला अग्नि अनुकूलतापूर्वक तीक्ष्ण प्राण व छन्द रश्मियों पर आरूढ़

होकर बाधक व हिंसक रश्मियों को नष्ट करके संयोग आदि प्रक्रिया को सम्पादित करने में सहयोग करता है।

अब ११७वें पद 'हरयाण:' का निर्वचन करते हुए लिखा है—'हरयाणो हरमाणयान:' अर्थात् हरणशील यान वाला हरयाण कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि आकर्षण रश्मियाँ जिसकी वाहक हों, वह पदार्थ हरयाण कहलाता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'रजतं हरयाणे ... (सुसामनि, असनाम)'। इस मन्त्र का देवता मित्रावरुणौ और छन्द विराट् उष्णिक् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [मित्रावरुणौ = द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयो: प्रियं धाम (तां.ब्रा.१४.२.४), यज्ञो वै मैत्रावरुण: (कौ.ब्रा.१३.२)] विभिन्न कण एवं प्रकाशाणु आदि के मध्य संयोग प्रक्रियाएँ समृद्ध होकर ऊष्मा और प्रकाश की मात्रा में वृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रजतम्, हरयाणे) श्वेत वर्णयुक्त एवं आकर्षण बलयुक्त रश्मियों वाले सूर्यलोक में (सुसामनि, असनाम) विभिन्न प्रकार की साम रश्मियाँ नाना प्रकार से विभक्त और व्याप्त होती हैं। इसका आशय यह है कि जो सूर्य श्वेत वर्ण का दिखाई देता है, वह वस्तुत: अनेक वर्ण युक्त प्रकाश रश्मियों का पुँज होता है। सूर्यलोक के अन्दर भी नाना प्रकार के साम अर्थात् गायत्री छन्द रश्मि रूप समूह का खेल चलता रहता है, जिसके कारण विभिन्न कणों एवं पदार्थ समूहों का विभाजन व संयोजन होता रहता है।

तत्पश्चात् अब ११८वें पद 'आरित:' का निगम करते हुए प्रस्तुत करते हैं— 'य आरित: कर्मणिकर्मणि स्थिर:'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् जगती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(य:, आरित:) 'प्रत्यृत: स्तोमान्' विभिन्न स्तोम अर्थात् विभिन्न प्रकार के तेजस्वी छन्द रश्मि समूह अथवा तेजस्वी विकिरणों से युक्त इन्द्रतत्त्व सूर्यलोक के अन्दर (कर्मणि, कर्मणि, स्थिर:) प्रत्येक प्रकार की क्रियाओं को करने में स्थिरतापूर्वक अर्थात् दृढ़ता से डटा रहता है। इसका आशय यह है कि जब तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें नाना प्रकार के तेजस्वी विकिरणों अथवा छन्द रश्मि समूहों से युक्त होता है, उस समय वह तारों के अन्दर प्रत्येक क्रिया को दृढ़ता से सम्पन्न करने में समर्थ होता है।

तदनन्तर ११९वें पद 'व्रन्दी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'व्रन्दी व्रन्दतेमृर्दू-भावकर्मणः' अर्थात् यह पद मृदु स्वभाव के अर्थ वाले 'व्रन्दते' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस पद का निगम अगलखण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।
[ऋ.१.५४.५]

निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः।
शुष्णस्यादित्यस्य [च] शोषयितुः। रोरूयमाणो वनानीति वा। वधेनेति वा।
अव्रदन्त वीळिता। [ऋ.२.२४.३] इत्यपि निगमो भवति।
वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ। पूर्वेण सम्प्रयुज्येते।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् जगती है। इसका दैवत एवं छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, नि, वृणक्षि, श्वसनस्य, मूर्धनि) 'निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः' जो इन्द्र वायुमण्डल के ऊपर किंवा वायुमण्डल में वायुतत्त्व के द्वारा धारण किए गए गर्जना करते हुए मेघों को पूर्ण रूप से नष्ट वा छिन्न-भिन्न करता है अथवा वह इन्द्रतत्त्व निर्माणाधीन तारे के केन्द्रीय भाग, जो तीव्र बन्धक बलों से युक्त होता है, के ऊपर विद्यमान गर्जते हुए आसुर मेघों को नष्ट करता है। वह इन्द्रतत्त्व (शुष्णस्य, चित्, व्रन्दिनः) 'शुष्णस्यादित्यस्य च शोषयितुः' अन्तरिक्ष से नाना प्रकार के रसों अर्थात् तन्मात्राओं को शोषित करने वाले, शोषित बलों से युक्त तथा जिसमें सभी प्रकार के पदार्थ मृदु रूप में विद्यमान होते हैं, उस ऐसे सूर्यलोक (रोरुवत्, वना) 'रोरूयमाणो वनानीति वा वधेनेति वा' [वनम् = उदकनाम (निघं.१.१२), रश्मिनाम (निघं.१.५)] के अन्दर गर्जना करते हुए नाना प्रकार के मेघों, जिनमें नाना प्रकार की धाराएँ विद्यमान होती हैं, को छिन्न-भिन्न करता

है, जिससे वह पदार्थ व्यापक क्षेत्र में फैल जाता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न मेघ रूप एवं धाराओं के रूप में विद्यमान पदार्थ अपने स्वरूप को बार-२ परिवर्तित करता है और उसके स्थान भी बार-२ परिवर्तित होते रहते हैं। इस सम्पूर्ण खेल के पीछे इन्द्रतत्त्व की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

अब इसके पश्चात् इसी पद का दूसरा निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

(दृढा) अव्रदन्त वीळिता (उत्, गाः, आजत्)।

इस मन्त्र का देवता ब्रह्मणस्पति [ब्रह्मणस्पतिः = एष वै ब्रह्मणस्पतिर्यऽएष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.२.१५)] एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से सूर्यलोक में तेजस्विता की वृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दृढा) (अव्रदन्त, वीळिता) 'वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ' सूर्य्यादि लोकों के अन्दर यदि कुछ ठोस पदार्थ विद्यमान हों, तो वे भी कोमल हो जाते हैं अर्थात् छिन्न-भिन्न होकर गैसीय वा प्लाज्मा रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के लिए (उत्, गाः, आजत्) उन पदार्थों पर तीक्ष्ण भेदक शक्तिसम्पन्न किरणों का प्रहार किया जाता है।

यहाँ 'वीडयति' एवं 'व्रीडयति' दोनों ही धातुएँ कठोर करने अर्थ में प्रयुक्त हैं। ये दोनों धातुएँ पूर्व धातु 'व्रन्दति' के साथ प्रयुक्त होती हैं। यहाँ इन दोनों ही धातुओं का 'व्रन्दति' धातु से विपरीत अर्थ है।

निष्षपी स्त्रीकामो भवति। विनिर्गतसपः। सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः।
मा नो मघेव निष्षपी परा दाः।[ऋ.१.१०४.५]
स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः।
तूर्णाशमुदकं भवति। तूर्णमश्नुते।
तूर्णाशं न गिरेरधि।[ऋ.८.३२.४] इत्यपि निगमो भवति।
क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति। यत्क्षुम्पते॥ १६॥

अब १२०वें पद 'निष्षपी' का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'निष्षपी स्त्रीकामो भवति विनिर्गतसपः सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः' अर्थात् निष्षपी वे वृषा संज्ञक कण होते

हैं, जो निरन्तर स्त्री संज्ञक कणों को आकर्षित करते रहते हैं अथवा उनके साथ संयुक्त रहते हैं। उन निष्षपी कणों से वे रश्मियाँ, जो स्त्री संज्ञक कणों के साथ संयुक्त रहती हैं अथवा होना चाहती हैं, निरन्तर कणों के बाहर की ओर स्पन्दित होती रहती हैं। यहाँ 'सपः' पद 'सप समवाये' धातु से भी व्युत्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ है— संयुक्त होने वाला। यहाँ ग्रन्थकार ने इस पद को समवाय अर्थ में प्रयुक्त 'सप' धातु से व्युत्पन्न न मानकर इसे स्पर्श करने अर्थ में प्रयुक्त 'सप' धातु से व्युत्पन्न माना है। इससे यह संकेत मिलता है कि इन कणों की संयोजक रश्मियाँ स्त्री रूप कणों की संयोज्य रश्मियों के साथ सर्वथा मिश्रित नहीं होतीं, बल्कि एक-दूसरे को स्पर्श करती हुई बाँध लेती हैं। कोई भी पदार्थ किसी को सर्वथा स्पर्श नहीं कर सकता। वैसे भी ये दोनों प्रकार के कण संयुक्त होने पर भी पृथक्-२ अस्तित्व बनाए ही रखते हैं।

इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'मा नो मघेव निष्षपी परा दाः'। इसका ऋषि आङ्गिरस कुत्स है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वज्रतुल्य तीक्ष्ण अग्नि तरंगों में विद्यमान विशेष प्रकार की प्राण रश्मियों से होती है। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द स्वराट् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व प्रकाशित होता हुआ विस्तृत होकर संयोग आदि प्रक्रियाओं को समृद्ध करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(निष्षपी) पुरुष संज्ञक अतिसक्रिय कण, जो अन्य संयोज्य स्त्री संज्ञक कणों को आकर्षित कर रहे होते हैं अथवा उनके साथ संयुक्त होते हैं, (मा, नः, मघा, इव, परा, दाः) 'स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः' [धनम् = राष्ट्राणि वै धनानि (ऐ.ब्रा.८.२६)। राष्ट्रम् = असौ वा आदित्यो राष्ट्रम् (काठ.सं.३७.११), राष्ट्राणि वै विशः (ऐ.ब्रा.८.२६)] जिस प्रकार वह इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें किसी सूर्यलोक के अन्दर नाना प्रकार के कणों को विखण्डित करती रहती हैं, वैसे वे कण तीक्ष्ण अग्नि-तरंगों को [परादाः = द्येरवखण्डयेर्विनाशयेः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] विखण्डित नहीं करते हैं।

भावार्थ— सूर्य आदि तेजस्वी लोकों के अन्दर तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें विभिन्न कणों को विखण्डित करके सूक्ष्म कणों में निरन्तर परिवर्तित करती रहती हैं, परन्तु इस विखण्डन के उपरान्त भी उन लोकों के अन्दर विद्यमान उत्तेजित पुरुष रूप कण अग्नि-तरंगों को कभी विखण्डित नहीं करती हैं अर्थात् प्रकाशाणु विखण्डित नहीं होते हैं।

तदनन्तर अब १२१वें पद 'तूर्णाशम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

तूर्णाशमुदकं भवति तूर्णमश्नुते।

अर्थात् तूर्णाश उदक को कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न प्रकार के द्रव रूप पदार्थ अथवा जो धाराओं के रूप में बहते हैं, उन्हें तूर्णाश कहते हैं। तूर्णाश कहने का कारण यह है कि ये पदार्थ तेजी से सर्वत्र फैलते हुए चलते हैं अथवा व्याप्त होने वाले होते हैं। सूर्यलोक में विद्यमान पदार्थ की विभिन्न धाराएँ अथवा उनमें बहता हुआ पदार्थ तूर्णाश कहलाता है।

ग्रन्थकार ने इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'तूर्णाशं न गिरेरधि'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी होकर श्वेत वर्ण को उत्पन्न करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तूर्णाशम्, न, गिरेः, अधि) सूर्यादि लोकों में विद्यमान विशाल मेघ रूप पदार्थों के अन्दर अथवा उनके ऊपर इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् आवेशित तरंगें धाराओं के रूप में सर्वत्र प्रवाहित होती रहती हैं अथवा वायुमण्डल में विद्यमान मेघों के अन्दर अथवा उनके ऊपर विद्युत् तरंगों की धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं।

अब १२२वें शब्द 'क्षुम्पम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति यत्क्षुम्पते' [क्षुम्पति = गतिकर्मा (निघं.२.१४), अहिः = मेघनाम (निघं.१.१०), अयनात् एति अन्तरिक्षे अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (निरु.२.१७)] अर्थात् अन्तरिक्ष में इधर-उधर गमन करने वाले कॉस्मिक मेघों अथवा वायुमण्डल में विद्यमान जलीय मेघों के आवरण रूप पदार्थ को 'क्षुम्पम्' कहते हैं, क्योंकि यह पदार्थ निरन्तर कम्पन करता रहता है अर्थात् यह कभी शान्त नहीं रहता।

इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्।
कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग॥ [ऋ.१.८४.८]
कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति। कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग। अङ्गेति क्षिप्रनाम। अञ्चितमेवाङ्कितं भवति।
निचुम्पुणः सोमः। निचान्तपृणः। निचमनेन प्रीणाति॥ १७॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगण गौतम है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सर्वाधिक तीव्रगामी रश्मि अर्थात् धनञ्जय रश्मि से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द उष्णिक् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व उष्णता उत्पन्न करने वाला होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः, अङ्ग) 'इन्द्रो अङ्ग अङ्गेति क्षिप्रनाम अञ्चितमेवाङ्कितं भवति' इन्द्रतत्त्व त्वरित गति से (कदा, मर्तम्, अराधसम्) 'कदा मर्त्तमनाराधयन्तम्' [कम् = अन्नम् (निरु.६.३५), मर्तम् = मनुष्यनाम (निघं.२.३)। राधः = धननाम (निघं.२.१०)] संयोज्य कण आदि पदार्थों के अन्दर अर्थात् उनके साथ विद्यमान विभिन्न स्वल्पायु कण आदि पदार्थों को (पदा, क्षुम्पम्, इव, स्फुरत्) 'पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति' कॉस्मिक मेघों अथवा वायुमण्डल में विद्यमान बादलों के आवरण रूप पदार्थों की भाँति विभिन्न दिशाओं में कम्पायमान वा स्पन्दित करता रहता है। यहाँ 'इव' पद को पदपूरक मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा— वह इन्द्रतत्त्व उन स्वल्पायु कण आदि पदार्थों के आवरण रूप रश्मि आदि समूह को स्पन्दित करता है, जिससे वे कण संयोज्य कणों की संयोग प्रक्रिया को समृद्ध करने लगते हैं।

यहाँ क्षिप्र को अङ्ग कहने का अर्थ यह है कि शीघ्रकारी वा शीघ्रगामी पदार्थ प्राप्त हुए जैसा अथवा संयुक्त हुए जैसा होता है। इसके उदाहरण के रूप में हम मन को ग्रहण कर सकते हैं। मन का एक लक्षण है कि वह एक समय में केवल एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त हो सकता है, परन्तु व्यवहार में हम अनुभव करते हैं कि हम सुनना, बोलना, सूँघना, चखना, खाना आदि क्रियाओं को एक साथ कर रहे हैं। वस्तुतः मन के अति

शीघ्रगामी होने के कारण ही ऐसा अनुभव होता है। दूसरे उदाहरण के रूप में हम किसी पंखे को तेजी से चलता हुआ देखें, तो उसकी कोई भी पंखुड़ी स्पष्ट दिखाई नहीं देती, बल्कि तीनों पंखुड़ियाँ धुँधले रूप में एकरस प्रतीत होती हैं। इसलिए क्षिप्र को अङ्ग कहा है।

(कदा, नः, शुश्रवत्, गिरः) 'कदा नः श्रोष्यति च गिर' वह इन्द्रतत्त्व उन संयोज्य कणों के अन्दर अर्थात् उनके मध्य वर्तमान होकर इस छन्द रश्मि की कारणरूप धनञ्जय प्राण रश्मियों से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों को आकृष्ट करता व उन्हें तीव्रतापूर्वक क्रियाशील करता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (कदा) कस्मिन् काले (मर्त्तम्) मनुष्यम् (अराधसम्) धनरहितम् (पदा) पदार्थप्राप्त्या (क्षुम्पमिव) यथा सर्प्पः फणम् (स्फुरत्) संचालयेत् (कदा) (नः) अस्माकम् (शुश्रवत्) श्रुत्वा श्रावयेत् (गिरः) वाणीः (इन्द्रः) सभाद्यध्यक्षः (अङ्ग) शीघ्रकारी। यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं समाचष्टे। क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुम्पते कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति। कदा नः श्रोष्यति गिर इन्द्रो अङ्ग॥ अङ्गेति क्षिप्रनाम निरु.५.१७।

भावार्थः — हे मनुष्या यूयं यो दरिद्रानपि धनाढ्यानलसान् पुरुषार्थयुक्तानश्रुतान् बहुश्रुतांश्च कुर्यात् तमेव सभाध्यक्षं कुरुत कदायमस्मद्वार्ता श्रोस्यति कदा वयमेतस्य वार्त्ता श्रोष्याम इत्थमाशास्महे।

पदार्थ— (अङ्ग) शीघ्रकर्त्ता (इन्द्रः) सभा आदि का अध्यक्ष (पदा) विज्ञान वा धन की प्राप्ति से (क्षुम्पमिव) जैसे सर्प्प फण को (स्फुरत्) चलाता है वैसे (अराधसम्) धनरहित (मर्त्तम्) मनुष्य को (कदा) किस काल में चलावोगे (कदा) किस काल में (नः) हमको उक्त प्रकार से अर्थात् विज्ञान वा धन की प्राप्ति से जैसे सर्प्प फण को चलाता है वैसे (गिरः) वाणियों को (शुश्रवत्) सुन कर सुनावोगे।

भावार्थ— हे मनुष्यो! तुम लोग, जो दरिद्रों को भी धनयुक्त, आलसियों को पुरुषार्थी और श्रवणरहितों को श्रवणयुक्त करे, उस पुरुष ही को सभा आदि का अध्यक्ष करो। कब यहाँ

हमारी बात को सुनोगे और हम कब आपकी बात को सुनेंगे, ऐसी आशा हम करते हैं।''

तदनन्तर १२३वें पद 'निचुम्पुण:' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'निचुम्पुण: सोम: निचान्तपृण: निचमनेन प्रीणाति' अर्थात् 'निचुम्पुण:' सोम नामक पदार्थ को कहते हैं, क्योंकि जब इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का भक्षण कर लेता है अर्थात् उन्हें अवशोषित कर लेता है, तब इन्द्रतत्त्व तृप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि सोम रश्मियों को अवशोषित करके इन्द्रतत्त्व बल से अधिक परिपूर्ण हो जाता है।

* * * * *

= अष्टादश: खण्ड: =

पत्नीवन्त: सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।
अपां जग्मिर्निचुम्पुण: ॥ [ऋ.८.९३.२२]
पत्नीवन्त: सुता इमेऽद्भि: सोम: कामयमाना यन्ति वीतये पानाय।
अपां गन्ता निचुम्पुण:। समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते। निचमनेन पूर्यते।
अवभृथोपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति। नीचैर्दधतीति वा।
अवभृथ निचुम्पुण। [यजु.२०.१८] इत्यपि निगमो भवति।
निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च। पदिर्गन्तुर्भवति। यत्पद्यते॥ १८॥

इस मन्त्र का ऋषि सुकक्ष: है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कक्ष संज्ञक उन छन्द रश्मि समूहों, जिनके विषय में हम पूर्व में खण्ड २.२ में लिख चुके हैं, में से कुछ श्रेष्ठ छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अर्थात् सूर्यलोक में विद्यमान पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज और बल से समृद्ध होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पत्नीवन्त:) 'पत्नीवन्त:' [पत्नी = गार्हपत्यभाजो वै पत्न्य: (कौ.ब्रा.३.९), पत्नी धाय्या (गो.उ.३.२१)] सूर्यादि लोकों के नाभिक के ऊपर विशाल भाग में धाय्या संज्ञक छन्द वा

प्राण रश्मियों से आच्छादित सूक्तरूप रश्मिसमूह (सुताः, इमे) 'सुता इमेऽद्भिः सोमः' विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा सोम रश्मियों के सम्पीडन से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये छन्द रश्मि समूह लघु एवं शीतल मरुत् रश्मियों के प्राण रश्मियों द्वारा किये गये संघनन वा सम्पीडन से उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'इमे' सर्वनाम का प्रयोग यह संकेत देता है कि इन छन्द रश्मि समूहों की उत्पत्ति उसी क्षेत्र में होती है, जिस क्षेत्र में सुकक्ष संज्ञक रश्मियों की विद्यमानता होती है। (उशन्तः, यन्ति, वीतये) 'कामयमाना यन्ति वीतये पानाय' ये छन्द रश्मि समूह उस क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न रश्मियों वा रश्मि समूह को अवशोषित करने के लिए उनको आकर्षित करते हुए व्यापक क्षेत्र में गमन करते रहते हैं। यहाँ 'वीतये' पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से भी व्युत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि ये छन्द रश्मि समूह अन्य रश्मियों वा रश्मि समूहों पर आक्रमण भी करते हैं, उन्हें इधर-उधर प्रक्षिप्त भी करते हैं अथवा उन्हें आच्छादित करके अवशोषित करते हुए अन्य रश्मियों वा तरंगों को जन्म भी देते हैं।

(अपाम्, जग्मिः, निचुम्पुणः) 'अपां गन्ता निचुम्पुणः' पूर्वोक्त निचुम्पुण संज्ञक सोम रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों को प्राप्त करके उनके साथ संगत होती रहती हैं। अब 'निचुम्पुणः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते निचमनेन पूर्यते' [समुद्रः = एष वाव स समुद्रः यच्चात्वालः (तै.ब्रा.१.५.१०.१), एषा (चात्वालः) वा अग्नीनाऽऽयोनिः (मै.सं.३.९.७), अयं वै समुद्रो योऽयं (वायुः) पवतऽए-तस्माद्वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति (श.ब्रा.१४.२.२.२), आपो वै समुद्रः (श.ब्रा.३.८.४.११), मनो वै समुद्रः (श.ब्रा.७.५.२.५२), वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः (तां.ब्रा.६.४.७)] इसका अर्थ यह है कि समुद्र संज्ञक सभी पदार्थ भी निचुम्पुण कहलाते हैं, क्योंकि वे सभी पदार्थ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों के शनैः-शनैः होने वाले भक्षण वा अवशोषण प्रक्रिया के द्वारा परिपूर्ण वा निर्मित होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले पदार्थों में सूर्यलोक, वायुतत्त्व (कथित वैक्यूम एनर्जी), प्राण तत्त्व, मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व आदि प्रमुख हैं। इसका अर्थ यह है कि इन सभी पदार्थों की उत्पत्ति अकस्मात् कभी नहीं होती, बल्कि धीरे-धीरे ही होती है। सूर्यलोक को उसके सूक्ष्म केन्द्र बिन्दु से लेकर उसकी परिपूर्णता तक लम्बी यात्रा करनी होती है। उधर व्यापक वायुतत्त्व भी छन्द और प्राण रश्मियों के क्रमिक मिश्रण से प्रारम्भ होकर दीर्घकाल में सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर

पाता है। इसी प्रकार प्राण रश्मियों की क्रमशः होती हुई उत्पत्ति को भी पूर्णता प्राप्त करने में दीर्घकाल व्यतीत हो जाता है। उधर प्रकृति व महत् तत्त्व में 'ओम्' रश्मि का स्पन्दन अनन्त क्षेत्र में न तो सहसा हो जाता और न ही मनस्तत्त्व की उत्पत्ति और न सभी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति अकस्मात् हो जाती, बल्कि इन सभी की उत्पत्ति लम्बे काल तक चलने वाली सूक्ष्म क्रियाओं का परिणाम है।

इसके पश्चात् 'निचुम्पुणः' पद का तीसरा एवं अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अवभृथोपि निचुम्पुण उच्यते नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा' [अवभृथः = तद् यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः (श.ब्रा.४.४.५.१)] अर्थात् जिस क्रिया व पदार्थ में प्राण रश्मियों का भक्षण अर्थात् अवशोषण किया जाता है, उस क्रिया वा पदार्थ दोनों को ही अवभृथ कहते हैं। इस क्रिया में मन्दतम रूप से ध्वनि उत्पन्न होती रहती है। इसके साथ ही इस क्रिया व पदार्थ में रश्मि आदि पदार्थों को धारण करने की प्रक्रिया भी मन्दतम होती है। इसका अर्थ यह है कि जो क्रियाएँ तीव्रता के साथ सम्पादित होती हैं, उन क्रियाओं और उनके फलस्वरूप उत्पन्न पदार्थों को अवभृथ नहीं कह सकते।

भावार्थ— तारों के अन्दर प्राण और मरुद् रश्मियों के मेल से विभिन्न छन्द रश्मि समूह उत्पन्न होते हैं। विभिन्न प्रकार के छन्द रश्मि समूहों के मध्य नाना प्रकार की क्रियाएँ होकर विभिन्न प्रकार के कणों और तरंगों का निर्माण होता है। सृष्टि के सभी पदार्थ धीरे-२ ही उत्पन्न व विकसित होते हैं। अकस्मात् कोई पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता। परा 'ओम्' रश्मि की उत्पत्ति इसका अपवाद अवश्य है। सभी प्रकार की क्रियाओं के समय नाना प्रकार की ध्वनियाँ भी अवश्य उत्पन्न होती हैं।

इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'अवभृथ निचुम्पुण'। इस मन्त्र का देवता यज्ञ एवं छन्द ब्राह्मी अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न कणों के मध्य यजन प्रक्रिया व्यापक और अनुकूलतापूर्वक होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अवभृथः, निचुम्पुणः) इस सृष्टि में प्राण रश्मियों के अवशोषण की प्रक्रिया अथवा उनके संयोग की प्रक्रिया मन्दतम ध्वनि के साथ होती है। ऐसी ध्वनि जिसको हम किसी भी प्रकार से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकते। उधर रश्मियों के परस्पर धारण अर्थात्

संयोजन आदि क्रियाएँ भी बल के अति मन्द रूप के साथ ही सम्पादित होती हैं।

अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च'। इसका अर्थ यह है कि वेद में 'निचुम्पुणः' पद की भाँति 'निचुङ्कुणः' पद भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तदनन्तर १२४वें पद 'पदिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पदिर्गन्तुर्भवति यत्पद्यते' अर्थात् गमन करने वाले को पदि कहते हैं, क्योंकि वह गमन करता है। यहाँ गमन करने वाला पदार्थ कोई भी हो सकता है। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनविंशः खण्डः

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥

[ऋ.१.१२५.२]

सुगुर्भवति। सुहिरण्यः। स्वश्वः। महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वा यन्तमन्नेन। प्रातरागामिन्नतिथे। मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।
कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च। पादुः पद्यतेः।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।

[ऋ.१०.२७.२४]

आविष्कुरुते भासमादित्यः। गूहते बुसम्। बुसमित्युदकनाम।
ब्रवीतेः शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा।
यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते॥ १९॥

इस मन्त्र का ऋषि दैर्घतमसः कक्षीवान् है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त दीर्घतमा प्राण रश्मियों से उत्पन्न खण्ड २.२ में वर्णित कक्ष संज्ञक छन्द

रश्मि समूहों से होती है।

आचार्य सायण ने इस मन्त्र का देवता दानस्तुति तथा ऋषि दयानन्द ने दम्पती माना है, किन्तु ऋषि दयानन्द द्वारा किये गये इस मन्त्र के भाष्य से दम्पती देवता की संगति नहीं लगती। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में बृहद्देवता आदि ग्रन्थों के अनुसार इस सूक्त का देवता दानस्तुति ही माना है। हमारी दृष्टि में इसका देवता इन्द्र है तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुगुः, असत्) 'सुगुर्भवति' वह इन्द्रतत्त्व [सुगुः = शोभना गावो यस्य सः (ऋषि दयानन्द भाष्य)। गुः = गच्छन्ति (म.द.ऋ.भा.१.६५.२)] सुन्दर किरणों वाला तथा शोभन गति से युक्त होता है। उसकी गति निर्बाध होती है। (सुहिरण्यः) 'सुहिरण्यः' सुन्दर तेज युक्त [हिरण्यम् = अमृतं वै हिरण्यम् (श.ब्रा.९.४.४.५), ज्योतिर्वै हिरण्यम् (तां.ब्रा.६.६.१०), पवित्रं वै हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.२.६)] वह इन्द्रतत्त्व किसी अन्य बल द्वारा नष्ट न होने योग्य, प्रकाशमान तथा शुद्धरूप में विद्यमान होता है। यहाँ शुद्धरूप का तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रतत्त्व किसी असुर आदि पदार्थ के साथ मिलकर कभी विकार को प्राप्त नहीं हो सकता, बल्कि सदैव अपने ही रूप में विद्यमान रहता है। (स्वश्वः) 'स्वश्वः' उस इन्द्रतत्त्व के सुन्दर अश्व होते हैं अर्थात् वह वाहक रूप प्राण व छन्द रश्मियों पर सवार होकर गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें प्राण और छन्द रश्मियों के ऊपर गमन करती हैं। वे प्राण और छन्द रश्मियाँ विशेष बल और वेग से युक्त होती हैं।

(बृहत्, अस्मै, वयः, इन्द्रः, दधाति) 'महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति' [वयः = पशवो वै वयांसि (श.ब्रा.९.३.३.७), अन्ननाम (निघं.२.७)] वह महान् एवं व्यापक इन्द्रतत्त्व हमारे लिये अर्थात् तारों के अन्दर कक्षीवान् संज्ञक छन्द रश्मियों के क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ को समृद्ध करने के लिए संयोज्य कणों एवं छन्दादि रश्मियों को धारण करता है और साथ ही उन्हें पुष्ट भी करता है। इसका अर्थ यह है कि इस क्षेत्र में होने वाली विभिन्न क्रियाओं में इन्द्र रूपी तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की महती भूमिका होती है।

(प्रातः, इत्वः यः, त्वा, आयन्तम्, वसुना) 'यस्त्वा यन्तमन्नेन प्रातरागामिन्नतिथे' [वसुः = वसवः रश्मिनाम (निघं.१.५), यज्ञो वै वसुः (श.ब्रा.१.७.१.९)। अतिथिः = अतिथिर्दुरो-णसत् (काठ.सं.३४.१४; श.ब्रा.५.४.३.२२)। दुरोणसत् = यो दुरोणे गृहे सीदति सः दुरोण

इति गृहनाम (निघं.३.४) (म.द.य.भा.१०.२४)] सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण में अति त्वरित गति से होने वाली क्रियाओं के चलते जो अतिथि रूप अग्नि अर्थात् निर्माणाधीन तारों के मध्य भाग में उत्पन्न अग्नि, जो उत्पन्न होते ही विभिन्न कणों को संगत करते हुए ही उत्पन्न होता है, वह ऐसा अतिथि रूप अग्नि (मुक्षीजया, इव) 'मुक्षीजयेव कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च' [मुक्षीजया = मुक्ष्या मुञ्जाया जायते सा मुक्षीजा (ऋषि दयानन्द भाष्य)। मुञ्जः = योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्जः (श.ब्रा.६.६.१.२३)] जिस प्रकार अपनी कारणभूत छन्द और प्राण रश्मियों से उत्पन्न अति वेगवान् और चपल अग्नि पदार्थ को विभाजन, बन्धन एवं प्रसारण आदि क्रियाओं से युक्त करता है अथवा जब वह चपल वेगवान् अग्नि पदार्थ का विभाजन, बन्धन वा प्रसारण करता है, उसी प्रकार अथवा तब इन्द्रतत्त्व (पदिम्, उत्सिनाति) 'पदिमुत्सिनाति' गमन करते हुए नाना प्रकार के कण वा तरंग आदि पदार्थों को परस्पर दृढ़ता से बाँध लेता है। इसका अर्थ यह है कि जैसे-२ सूर्य के केन्द्रीय भाग में पदार्थ का तापमान बढ़ने लगता है, वैसे-२ विद्युत् उन अत्यन्त तप्त कण आदि पदार्थों को दृढ़ता से बाँधने लगती है। इसी को वर्तमान भौतिक विज्ञानी नाभिकीय संलयन नाम देते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपयुक्त तापमान के अभाव में कणों का संलयन नहीं हो सकता तथा उपयुक्त तापमान भी विद्युत् के अभाव में कणों का संलयन नहीं कर सकता।

भावार्थ— तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें आकाश में निर्बाध गमन करती हैं। इन दोनों ही प्रकार की तरंगों के साथ असुर पदार्थ का कोई भी संयोग नहीं हो सकता। ये दोनों ही प्रकार की तरंगें प्राण एवं छन्द रश्मियों के ऊपर सवार होकर गमन करती हैं। तारों के अन्दर इन दोनों ही प्रकार की तरंगों का विशाल भण्डार होता है। सूर्य के केन्द्रीय भागस्थ पदार्थ के तापमान के बढ़ने के साथ-२ कणों की बन्धन प्रक्रिया तीव्र होने लगती है।

इसका ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (सुगुः) शोभना गावो यस्य सः (असत्) भवेत् (सुहिरण्यः) शोभनानि हिरण्यानि यस्य सः (स्वश्वः) शोभना अश्वा यस्य सः (बृहत्) महत् (अस्मै) (वयः) चिरंजीवनम् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (दधाति) (यः) (त्वा) त्वाम् (आयन्तम्) आगच्छन्तम्

(वसुना) उत्तमेन द्रव्येण सह (प्रातरित्वः) प्रातःकालमारभ्य प्रयत्नकर्त्तः (मुक्षीजयेव) मुक्ष्या मुञ्जाया जायते सा मुक्षीजा तयेव (पदिम्) पद्यते गम्यते या श्रीस्ताम् (उत्सिनाति) उत्कृष्टतया बध्नाति।

भावार्थः — यो विद्वान् प्राप्तान् शिष्यान् सुशिक्षयाऽधर्मविषयलोलुपतात्यागोपदेशेन दीर्घायुषो विद्यावतः श्रीमतश्च करोति सोऽत्र पुण्यकीर्तिर्जायते।

पदार्थ— हे (प्रातरित्वः) प्रातःसमय से लेकर अच्छा यत्न करने हारे (यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्य्यवान् पुरुष (वसुना) उत्तम धन के साथ (आयन्तम्) आते हुए (त्वा) तुझको (दधाति) धारण करता (अस्मै) इस कार्य के लिये (बृहत्) बहुत (वयः) चिरकाल तक जीवन और (मुक्षीजयेव) जो मूंज से उत्पन्न होती उससे जैसे बाँधना बने वैसे साधन से (पदिम्) प्राप्त होते हुए धन को (उत्सिनाति) अत्यन्त बाँधता अर्थात् सम्बन्ध करता, वह (सुगुः) सुन्दर गौओं (सुहिरण्यः) अच्छे-अच्छे सुवर्ण आदि धनों और (स्वश्वः) उत्तम-उत्तम घोड़ों वाला (असत्) होवे।

भावार्थ— जो विद्वान् पाये हुए शिष्यों को उत्तम शिक्षा अर्थात् अधर्म और विषय भोग की चञ्चलता के त्याग आदि के उपदेश से बहुत आयुर्दायुक्त विद्या और धन वाले करता है, वह इस संसार में उत्तम कीर्तिमान् होता है।''

अब १२५वें पद 'पादुः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पादुः पद्यतेः' अर्थात् यह पद 'पद गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस कारण पादु का अर्थ गमन है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व के वारक बल तीक्ष्ण होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आविः, कृणुते, स्वः) 'आविष्कुरुते भासमादित्यः' वह सूर्यलोक प्रकाश को उत्पन्न वा प्रकट करता है। (गूहते, बुसम्) 'गूहते बुसम् बुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः शब्दकर्मणः भ्रंशतेर्वा यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते' वह सूर्यलोक बुस को छिपाता वा आच्छादित करता है। यहाँ जल को ही बुस कहा गया है। बहता हुआ जल ध्वनि उत्पन्न करता है, इसलिए उसे बुस कहते हैं। उधर सूर्यलोक के अन्दर बहने वाले पदार्थ की धाराओं में विद्यमान पदार्थ भी बुस कहलाता है, क्योंकि वह पदार्थ भी धाराओं के रूप में

बहता हुआ ध्वनियाँ उत्पन्न करता रहता है। इस पदार्थ को एवं पृथ्वी मण्डल के ऊपर विद्यमान मेघस्थ जल को बुस इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि वह ऊपर से नीचे की ओर गिरता रहता है। बादलों का जल पृथ्वी पर गिरता रहता है और सूर्य में विद्यमान पदार्थ की धाराएँ सौर कूपों के माध्यम से सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर बहती रहती हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार ने 'बुसम्' पद को 'ब्रूञ्' तथा 'भ्रंश' इन दोनों धातुओं से ही व्युत्पन्न माना है। वह सूर्यलोक पृथिवीस्थ जल को वाष्प बनाकर छुपा देता है अथवा अदृश्य कर देता है एवं सौर नदियों के पदार्थ को सौर कूपों में विलीन कर देता है, इसलिए इसे जलों को आच्छादित करने वाला वा छुपाने वाला कहा है। यह सूर्यलोक बरसते हुए जल को पृथिवी पर गिराता है और पुनः अपनी रश्मियों के द्वारा वापिस मेघों के रूप में ऊपर भी लौटा लेता है। उधर सूर्यलोक के अन्दर सौर नदियों के माध्यम से सूर्य के केन्द्रीय भागों की ओर जाते हुए पदार्थ के कुछ भाग को वापिस बाहर की ओर भी लौटा देता है। इस प्रक्रिया में सूर्य के आभ्यन्तर भाग से आती हुई किरणें अपनी भूमिका निभाती हैं।

(सः, पादुः, अस्य, निर्णिजः) पदार्थ को अपनी किरणों के द्वारा शुद्ध करने वाले इस सूर्यलोक की वह गति अर्थात् उसकी अपने अक्ष पर घूर्णन गति, महा-आदित्य लोक (गैलेक्टिक सेन्टर) के चारों ओर परिक्रमण गति, उसके ध्रुवों की दोलन गति तथा उसके अन्दर विद्यमान पदार्थ की सहस्रों प्रकार की गतियाँ (न, मुच्यते) कभी उससे पृथक् नहीं होती अर्थात् सूर्य अपनी आयु भर इन गतियों से सदैव युक्त रहता है।

* * * * *

विंशः खण्डः

वृकश्चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा। विक्रान्तज्योतिष्को वा॥ २०॥

अब १२६वें पद 'वृकः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वृकश्चन्द्रमा भवति विवृतज्योतिष्को वा विकृतज्योतिष्को वा विक्रान्तज्योतिष्को वा' अर्थात् वृक चन्द्रमा को कहते हैं, क्योंकि इसका प्रकाशित भाग विविध कलाओं के रूप में विविध रूपों को धारण

करता रहता है। इसके साथ ही इसका प्रकाश तारों के प्रकाश की अपेक्षा फैला हुआ एवं तीव्र होता है और इसकी प्रकाशित सतह का चाप भी निरन्तर घूमता हुआ प्रतीत होता है। अगला कारण बताते हुए कहा है कि इसका प्रकाश विकृत हुआ होता है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश जब चन्द्रमा के तल से परावर्तित होकर पृथ्वी पर आता है, उस समय चन्द्रमा का तल सूर्य के प्रकाश के अधिकांश भाग को अवशोषित करके शेष भाग को ही परावर्तित करता है। इस कारण चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य के प्रकाश का विकृत रूप ही होता है। अब अन्तिम कारण बताते हुए लिखा है कि चन्द्रमा विक्रान्त ज्योति वाला होता है। इसका कारण यह है कि चन्द्रमा का प्रकाश तारों के प्रकाश का अतिक्रमण करके फैला हुआ होता है और इस कारण वह तारों के प्रकाश की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। हम जानते हैं कि तारों की पृथिवी से दूरी चन्द्रमा की पृथिवी से दूरी की अपेक्षा हजारों और लाखों गुणी अधिक है, इस कारण तारों से पृथिवी पर आ रहे प्रकाश की मात्रा चन्द्रमा के प्रकाश की अपेक्षा बहुत कम होती है। इस कारण चन्द्रमा का प्रकाश तारों के प्रकाश का अतिक्रमण करके पृथिवी को प्रकाशित करता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि चन्द्रमा शब्द का अर्थ हमारी पृथिवी से दिखाई देने वाला चन्द्रमा ही नहीं समझना चाहिए, अपितु इस ब्रह्माण्ड में ऐसे जो करोड़ों चन्द्रमा विद्यमान हैं, उन सबका भी ग्रहण 'वृकः' पद से करना चाहिए, क्योंकि वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रन्थ है, न कि केवल पृथिवी का।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥

[ऋ.१.१०५.१८]

अरुण आरोचनः। मासकृन्मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता भवति।

चन्द्रमा वृकः। पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्। अभिजिहीते।
निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः।
तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति।
आदित्योऽपि वृक उच्यते यदा वृङ्क्ते।
अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।

[ऋ.१.११७.१६]

आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता। तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्।
श्वापि वृक उच्यते। विकर्तनात्।
वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः। [ऋ.८.६६.८] उरणमथिः।
उरण ऊर्णावान्भवति। ऊर्णा पुनर्वृणोतेः। ऊर्णोतेर्वा।

अब 'वृकः' पद का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥

इस मन्त्र का ऋषि त्रित अथवा आङ्गिरस कुत्स है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द विराट् पंक्ति है। यहाँ विश्वेदेवा शब्द से वृक का ग्रहण करना चाहिए। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से चन्द्रमा के तल पर सूर्य की किरणें विविध रूप से प्रकाशित होती हुई परावर्तित होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अरुणः, मासकृत्, वृकः) 'अरुण आरोचनः मासकृन्मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमा वृकः' पूर्वोक्त वृक संज्ञक चन्द्रमा सब ओर अपना प्रकाश फैलाता हुआ चान्द्र मास एवं शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष का निर्माता होता है अर्थात् चन्द्रमा के पृथिवी के चारों ओर परिक्रमण करने के कारण मास और पक्षों का निर्माण होता है। (पथा, यन्तम्, ददर्श, हि) 'पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्' चन्द्रमा अपने मार्ग पर गमन करते हुए नक्षत्रों अर्थात् तारों वा तारासमूहों को देखता है। यहाँ देखने का तात्पर्य तारों अथवा तारों के समूह से आने वाले प्रकाश तथा गुरुत्वीय तरंगों के प्रति आकर्षण समझना चाहिए। इस कारण चन्द्रमा तारों से

आने वाले प्रकाश को भी ग्रहण करके उसे परावर्तित करता रहता है। यद्यपि यह सूर्य के प्रकाश के सम्मुख नगण्य है।

(उज्जिहीते, निचाय्या) 'अभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमा:' अपने परिक्रमण पथ पर गमन करते हुए जिस-जिस तारे अथवा तारा समूह के गुरुत्व बल क्षेत्र के साथ विशेष रूप से संयुक्त होता है अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक गुरुत्व बल का अनुभव करता है, तब वह उन तारों की ओर कुछ ऊपर उठ जाता है अर्थात् पृथिवी से उसकी दूरी में कुछ वृद्धि हो जाती है। हमारी दृष्टि में चन्द्रमा के विभिन्न ग्रहों के निकट पहुँचने पर भी यही प्रक्रिया होगी और तारों की अपेक्षा इनका प्रभाव और अधिक होगा, क्योंकि ये अधिक निकट होते हैं।

(तष्टा, इव, पृष्टि-आमयी) 'तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी' चन्द्रमा की कक्षा उसके ऊपर उठते समय कैसी हो जाती है, इसको उपमा द्वारा समझाते हुए लिखा है कि जैसे कोई तक्षक कठोर लकड़ी को चीरते समय थककर पीठ में कष्ट अनुभव करता है और उसकी पीठ कुछ ऊपर उठकर वक्र हो जाती है, वैसे ही चन्द्रमा की कक्षा कुछ वक्र हो जाती है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि आधिदैविक अर्थ में उपमाओं की प्रासंगिकता प्राय: नहीं होती। इस कारण इन पदों का आशय यह है कि तारों के गुरुत्वीय क्षेत्र की तीक्ष्णता होने पर उसकी कक्षा का पृष्ठ भाग कुछ विकृत हो जाता है अर्थात् ऊपर की ओर उभर जाता है।

(वित्तम्, मे, अस्य, रोदसी) 'जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति' मेरे अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों से उत्पन्न इस छन्द रश्मि के द्वारा अन्तरिक्ष एवं पृथिवी आदि लोक दोनों ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म पदार्थ और पृथिवी आदि लोक दोनों ही चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित होते और जाने जाते हैं।

तदनन्तर 'वृक:' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आदित्य' अर्थात् सूर्यलोक भी वृक कहलाता है। इसका कारण यह है कि यह सूर्यलोक सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश से आवृङ्क्ते अर्थात् आच्छादित करता है एवं अन्धकार को नष्ट करता है अर्थात् अन्धकार से जगत् को वर्जित करता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।

वि ज्युषा ययथुः सान्वद्रेर्जातं विष्वाचो अहतं विषेण॥

ग्रन्थकार ने मन्त्र का पूर्वार्ध ही उद्धृत किया है, परन्तु हमने मन्त्र का अर्थ क्लिष्ट होने से इसे पूर्ण रूप में ही प्रस्तुत किया है, जिससे भाष्य सुसंगत रूप से हो सके। इस मन्त्र का ऋषि कक्षीवान् है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अश्विनौ एवं छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वायु एवं विद्युत् दोनों ही तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वृकस्य, वर्तिका, अश्विना, अजोहवीत्) 'आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता' सूर्यलोक के अन्दर प्रवृत्तमान होती हुई उषा रूप सुन्दर कान्ति वाली प्रकाश तरंगें जब उन लोकों के अन्दर ही किन्हीं रश्मि आदि पदार्थों के द्वारा ग्रस ली जाती हैं अर्थात् उस लोक के अन्दर ही किन्हीं कारणों से अवरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् बाहर उत्सर्जित नहीं हो पाती, उस समय भी वायु एवं विद्युत् अर्थात् विद्युत् तरंगों एवं छन्द व प्राण रश्मियों की विभिन्न धाराओं के द्वारा बार-२ आकृष्ट की जाती हैं अथवा उनके द्वारा बार-२ आकृष्ट होने लगती हैं। (वाम्, आस्नः, यत्, सीम्, अमुञ्चतम्) 'तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्' जिस समय वा उस समय उन उषा रूप अवरुद्ध प्रकाश किरणों को प्राण व छन्द रश्मियों सहित विद्युत् तरंगें मुक्त करती हैं, जिससे सूर्य उन तरंगों को उत्सर्जित करने लगता है।

(जयुषा, अद्रेः, सानु, वि, ययथुः) [सानु = शिखरम् (म.द.भा.)] वे विद्युत् वायु रश्मियाँ अपनी नियन्त्रक गति के द्वारा सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान मेघरूप पदार्थों के बाहरी शिखर रूप भागों में विविध प्रकार से व्याप्त होती हैं। उन विशाल लोकों में उष्ण एवं विशाल मेघ यत्र-तत्र विद्यमान रहते हैं, जो इधर-उधर गमन भी करते रहते हैं। (जातम्, विष्वाचः, अहतम्, विषेण) [विष्वाचः = विविधगतिमतः शत्रुमण्डलस्य (ऋषि दयानन्द भाष्य)। विषेण = विपर्ययकरेण निजबलेन। (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वे मेघ मण्डल विविध प्रकार की गति करने वाले होते हैं तथा वे ही प्रकाश किरणों को भी रोकने में समर्थ होते हैं। इस कारण वे अनेक बार प्रकाश के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, ऐसे उन मेघों में उत्पन्न बल को वे वायु और विद्युत् अर्थात् छन्द व प्राण रश्मियों से मिश्रित विद्युत् तरंगें अपने प्रतिरोधी बल के द्वारा नष्ट करके प्रकाश किरणों का मार्ग खोल देती हैं अर्थात् निर्बाध बना देती हैं, जिससे सूर्यलोक से उषा रूप सुन्दर किरणें उत्सर्जित होना पुनः प्रारम्भ कर देती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम पाठकों के

लिए यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (अरुणः) य ऋच्छति सर्वा विद्या स आरोचको वा। अत्र ऋधातोरौणादि उनच् प्रत्ययः। (मा, सकृत्) मामेकवारम्। अथवैकपद्यम्, मासानां चार्द्धमासादीनां च कर्त्ता। अत्र मासकृदित्येकं पदं निरुक्त- कारप्रामाण्यादनुमीयते। अथ शाकल्यस्तु (मा, सकृत्) इति पदद्वयमभिजानीते। (वृकः) यथा चन्द्रमाः शान्तगुणस्तथा (पथा) उत्तममार्गेण (यन्तम्) गच्छन्तं प्राप्नुवन्तं वा। इण् धातोः शतृ प्रत्ययः। (ददर्श) पश्यति (हि) खलु (उत्) उत्कृष्टे (जिहीते) विज्ञापयति (निचाय्य) समाधाय। अत्र निशामनार्थस्य चायृ धातोः प्रयोगः। अन्येषामपीति दीर्घश्च। (तष्टेव) यथा तक्षकः शिल्पी शिल्पविद्याव्यवहारान् विज्ञापयति तथा (पृष्ट्यामयी) पृष्टौ पृष्ठ आमयः क्लेशरूपो रोगो विद्यते यस्य सः। अन्यत्पूर्ववत्।

अत्र निरुक्तम्। वृकश्चन्द्रमा भवति विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा। अरुण आरोचनो मासकृन्मासानां चार्द्धमासानां च कर्त्ता भवति। चन्द्रमा वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणमभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः। तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी। जानीतं मेऽस्यद्यावापृथिव्याविति। निरु.५.२०-२१।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यो विद्वान् चन्द्रवच्छान्तस्वभावं सूर्य्यवत् विद्याप्रकाशकरणं स्वीकृत्य विश्वस्मिन् सर्वा विद्याः प्रसारयति स एवाप्तोस्ति।

पदार्थ— जो (अरुणः) समस्त विद्याओं को प्राप्त होता वा प्रकाशित करता (वृकः) शान्ति आदि गुणयुक्त चन्द्रमा के समान विद्वान् (मा, सकृत्) मुझको एक बार (पथा, यन्तम्) अच्छे मार्ग से चलते हुए को (ददर्श) देखता वा उक्त गुणयुक्त महीना आदि काल विभागों को करने वाले चन्द्रमा के तुल्य विद्वान् अच्छे मार्ग से चलते हुए को देखता है वह (निचाय्य) यथायोग्य समाधान देकर (पृष्ट्यामयी) पीठ में क्लेशरूप रोगवान् (तष्टेव) शिल्पी विद्वान् जैसे शिल्प व्यवहारों को समझाता वैसे (उज्जिहीते) उत्तमता से समझाता (हि) ही है। शेष मन्त्रार्थ प्रथम मन्त्र के तुल्य जानना चाहिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जो विद्वान् चन्द्रमा के तुल्य शान्त स्वभाव और सूर्य के तुल्य विद्या के प्रकाश करने को स्वीकार करके संसार में समस्त विद्याओं को फैलाता है, वही आप्त अर्थात् अति उत्तम विद्वान् है।"

अब ग्रन्थकार 'वृक:' पद का तीसरा निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात्' अर्थात् श्वान को भी वृक कहते हैं, क्योंकि वह काटने और फाड़ने वाला होता है। यहाँ श्वान का अर्थ पृथ्वीलोकस्थ कुत्ता नामक प्राणी को नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः श्वान यहाँ एक दिव्य पदार्थ है, जो चीरने-फाड़ने का कार्य करता है। कोई पाठक हमारे इस मत पर प्रश्न खड़ा करे, तो उसे एक तत्त्ववेत्ता महर्षि का यह कथन अवश्य समझने का प्रयास करना चाहिए—

'कालकाञ्जा वै नामासुरा आसँस्त इष्टका अचिन्वत तदिन्द्र इष्टाकामप्युपाधत्त तेषां मिथुनौ दिवमाक्रमेतां ततस्तमावृहत् तेऽवाकीर्यन्त ता एतौ दिव्यौ श्वानौ। (काठ.सं.८.१)'

यहाँ निश्चित ही दिव्य श्वानों की चर्चा की गई है, न कि कुत्ते की। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् पङ्क्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वृकः, चित्, अस्य, वारणः) इस सूर्यलोक में विद्यमान इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के अन्दर कुछ श्वान संज्ञक ऐसी तरंगें होती हैं, जिनकी भेदन व छेदन क्षमता बहुत अधिक होती है। ऐसी श्वान संज्ञक किरणें तीव्र वारक बलों से युक्त होती हैं अर्थात् वे पूर्वोक्त सौर मेघों को रोकने और उनमें हुए प्रकाश को बाहर निकालने तथा असुरादि मेघ आदि पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने में ये किरणें समर्थ होती हैं। (उरामथिः) 'उरण ऊर्णावान्भवति ऊर्णा पुनर्वृणोतेः ऊर्णोतेर्वा' वे श्वान संज्ञक तीक्ष्ण किरणें उरण संज्ञक पदार्थों को मथ डालती हैं। ये उरण संज्ञक पदार्थ ऊर्णायुक्त होते हैं। ये उरण संज्ञक पदार्थ बार-२ किसी अन्य पदार्थ को आच्छादित करने के लिए उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। तारों के निर्माण के समय कॉस्मिक मेघों में तथा निर्मित हुए तारों के अन्दर भी ये क्रियाएँ चलती रहती हैं। हमारी दृष्टि में विभिन्न लोकों व अन्य पदार्थों का आच्छादक असुर पदार्थ ही ऊर्णा कहलाता है और उस असुर पदार्थ को मथने और छिन्न-भिन्न करने वाली श्वान संज्ञक अति तीक्ष्ण किरणें उरामथि कहलाती हैं।

वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते।

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार। [ऋ.१.११६.१६]

इत्यपि निगमो भवति।

जोषवाकमित्यविज्ञातनामधेयम्। जोषयितव्यं भवति॥ २१॥

अब १२७वें पद 'वृकी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते' अर्थात् पूर्वोक्त श्वान संज्ञक तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों में से कुछ तरंगें उनके सापेक्ष स्त्री रूप व्यवहार करती हैं और वे तरंगें व्यापक और उच्च घोष उत्पन्न करती रहती हैं अर्थात् उच्च ध्वनि तरंगें उत्पन्न करना इन किरणों का मुख्य लक्षण है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ और छन्द भुरिक् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित तरंगें बलपूर्वक फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वृक्ये, शतम्, मेषान्) उपर्युक्त वृकी संज्ञक अत्यन्त तीक्ष्ण किरणों के साथ अनेक स्पर्धा करने वाले अर्थात् तारों के प्रकाश को अवरुद्ध करने वाले अथवा तारों के निर्माण में बाधक बनने वाले एवं विभिन्न प्रतिरोधी बलों के सेचक वा उत्पन्न करने वाले मेषरूप मेघों, जिनकी चर्चा पूर्व में की गई है, को (तम्, ऋज्राश्वम्, चक्षदानम्) [चक्षदानम् = क्षदिरत्र विशसनार्थः (स्कन्दस्वामी भाष्य)] नष्ट करने वाले ऋजु एवं आशुगामी व्यापनशील उन तीव्र तरंगों को (पिता, अन्धम्, चकार) [पिता = पिता पाता वा पालयिता वा (निरु. ४.२१), इन्दव इव हि पितरः (तां.ब्रा.६.९.१९), ऊष्मभागा हि पितरः (तै.ब्रा.१.३.१०.६), एष वै पिता यऽएष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.४.१५)] सूर्यलोक में विद्यमान संदीप्त व उष्ण हुआ सोम पदार्थ, जो सम्पूर्ण लोक का पालक और रक्षक होता है, [अन्धः = अन्नं वा अन्धः (जै.ब्रा.१.३०३), अन्ननाम (निघं.२.७)] अपना अन्न रूप बनाकर अवशोषित कर लेता है अर्थात् वे ऋजुगामिनी तीव्र तरंगें सूर्यलोक के विशाल व प्रमुख भाग द्वारा अवशोषित कर ली जाती हैं अर्थात् वे सूर्य से उत्सर्जित होकर बहिर्गमन नहीं कर पाती हैं।

तदनन्तर १२८वें पद 'जोषवाकम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'जोषवाकमित्यविज्ञातनामधेयम् जोषयितव्यं भवति'। यह पद 'जुष परितर्कणे' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो अविज्ञात वा अस्पष्ट है, उसे जोषवाकम् कहते हैं, क्योंकि यह अस्पष्ट होने के कारण विचारणीय वा तर्क करने योग्य होता है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥ [ऋ.६.५९.४]
य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथः।
अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथः।
कृत्तिः कृन्ततेः। यशो वान्नं वा।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र। [ऋ.८.९०.६]
सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेति। इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव।
सूत्रमयी। उपमार्थे वा।
कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि। [यजु.१६.५१]
इत्यपि निगमो भवति।

'जोषवाकम्' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है। इसका अर्थ यह है कि इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विभिन्न बलों के धारक प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्राग्नी व छन्द निचृत् बृहती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्र एवं अग्नितत्त्व समृद्ध होकर पदार्थ के संघनन की क्रिया अति तीक्ष्णता से होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्राग्नी, तेषु, सुतेषु, वाम्) 'य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु' संपीडित सोम रश्मियों में

विद्यमान इन्द्र और अग्नितत्त्व को (यः, स्तवत्) 'यः स्तौति' जो पदार्थ प्रकाशित करते हैं, (भसथः) 'तस्याश्नीथः' उन पदार्थों का वे अग्नि और इन्द्र भक्षण करते हैं। ये पदार्थ विभिन्न प्राण और मरुत् रश्मियाँ ही हैं, जो इन्द्र और अग्नितत्त्व को तेज व बल प्रदान करते हैं किंवा उनका निर्माण भी करते हैं और ये इन्द्र और अग्नि दोनों ही पदार्थ ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्राण और मरुत् रश्मियों को निरन्तर अवशोषित करते रहते हैं। ऐसे वे इन्द्र और अग्नितत्त्व (जोषवाकम्, वदतः) 'अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः' और जो प्राण वा मरुत् रश्मियाँ आदि पदार्थ हैं, वे अज्ञात रूप से प्रकाशित व गति करते हुए मनस्तत्त्व में ही सूक्ष्म स्पन्दन करते रहते हैं।

(ऋतावृधा, पज्रहोषिणा, देवा, न, भसथः, चन) 'प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथः' [पज्रहोषिणा = पज्रः सङ्गतो होषो घोषो वाग्ययोस्तौ (ऋषि दयानन्द भाष्य)। ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०)] उन प्राण व मरुत् रश्मियों का वे प्रकाशित इन्द्र और अग्नि तत्त्व, जो परस्पर संगत रहते हुए घोष उत्पन्न करते रहते हैं तथा जो सूर्य आदि लोकों के अन्दर हो रही क्रियाओं को समृद्ध करते रहते हैं, भक्षण नहीं करते हैं अर्थात् उन्हें अवशोषित नहीं करते हैं।

इसमें 'भसथः' पद का ग्रन्थकार ने एक बार अध्याहार भी किया है।

भावार्थ— विभिन्न तारों के अन्दर सम्पीडित सोम पदार्थ में विद्यमान प्राण व मरुत् आदि रश्मियों को तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अवशोषित करती रहती हैं, परन्तु जो प्राण और मरुत् रश्मियाँ मनस्तत्त्व के अन्दर ही सूक्ष्म रूप से स्पन्दित होने के कारण अप्रकट रूप में रहती हैं, उन्हें वे विद्युत् तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, जो सूर्यादि तारों में व्यापक रूप से विद्यमान होती हैं तथा उन तारों की सभी क्रियाओं को निरन्तर समृद्ध करती रहती हैं, अवशोषित नहीं कर पाती हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (यः) (इन्द्राग्नी) वायुविद्युताविवाऽध्यापकोपदेशकौ (सुतेषु) उत्पन्नेषु पदार्थेषु (वाम्) युवाम् (स्तवत्) प्रशंसेत् (तेषु) (ऋतावृधा) सत्यवर्धकौ (जोषवाकम्) प्रीतिकरं वचनम् (वदतः) (पज्रहोषिणा) पज्रः सङ्गतो होषो घोषो वाग्ययोस्तौ (न) निषेधे

(देवा) देवौ विद्वांसौ (भसथः) व्यर्थं वादं वदतः (चन) अपि।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः हे मनुष्याः! सर्वेषु पदार्थेषु प्रविष्टौ वायुविद्युतौ विदित्वैश्वर्य्यं प्राप्य रूक्षामसत्यां क्रियां लोकविद्वेष्टॄन् वा मनुष्यान् विदित्वा सर्वेषामुपकाराय सत्यं प्रियं सर्वदा वदत।

पदार्थ— हे (पज्रहोषिणा) प्राप्त हुई वाणी वा घोषयुक्त (ऋतावृधा) सत्य बढ़ाने वाले (इन्द्राग्नी) वायु और बिजुली के समान अध्यापक और उपदेशको! (यः) जो (तेषु) उन (सुतेषु) उत्पन्न हुए पदार्थों में (वाम्) तुम दोनों की (स्तवत्) प्रशंसा करे वा जो (देवा) विद्वान् जन (चन) भी (न) नहीं (भसथः) व्यर्थ वाद करते हैं उस सर्वजन के प्रति तुम दोनों (जोषवाकम्) प्रीति करने वाले वचन (वदतः) कहते हो, वह सर्वजन भी तुम्हारे प्रति कहे।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! सर्व पदार्थों में प्रविष्ट वायु और बिजुली को जानकर ऐश्वर्य को प्राप्त होकर रूखी असत्य क्रिया और विद्वेषी जनों को जान सबके उपकार के लिये सत्य प्रिय वाक्य सर्वदा कहो।''

अब १२९वें पद 'कृत्तिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कृत्तिः कृन्ततेः यशो वान्नं वा' अर्थात् यश एवं अन्न संज्ञक पदार्थों को कृत्तिः कहते हैं, क्योंकि ये छेदन-भेदन शक्ति से युक्त होती हैं। [यशः = आदित्यो यशः (श.ब्रा.१२.३.४.८), आदित्या एव यशः (गो.पू.५.१५), प्राणा वै यशः (श.ब्रा.१४.५.२.५), यशो वै हिरण्यम् (ऐ.ब्रा.७.१८)] इसका अर्थ यह है कि प्राण तत्त्व से विशेष सम्पन्न तीव्र तेजस्विनी आदित्य किरणें तथा संयोज्य कण आदि पदार्थ कृत्ति कहलाते हैं। हम जानते हैं कि सूर्य की तीव्र ऊर्जा वाली किरणें एवं विभिन्न प्रकार के आयन्स छेदन-भेदन गुणों से युक्त होते हैं, इसलिए ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ कृत्ति कहलाते हैं।

'कृत्तिः' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णता के साथ फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मही, इव, कृत्तिः) 'सुमहत् कृत्तिरिवेति' [मही = द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०),

वाङ्नाम (निघं.१.११)] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त वाक् रश्मियों में विद्यमान पृथिवी और द्युलोक जिस प्रकार विभिन्न पदार्थों व प्राणियों के आश्रय रूप होते हैं, उसी प्रकार कृति संज्ञक विभिन्न कण एवं विकिरण (इन्द्र, ते, शरणा) 'त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे' इस अन्तरिक्ष में [शरणम् = गृहनाम (निघं.३.४)] विद्युत् के आवास स्थान होते हैं अर्थात् इस सृष्टि में कोई भी कण वा प्रकाशाणु विद्युत् से विहीन नहीं हो सकता, भले ही वह विद्युत् किसी भी रूप में क्यों न हो। यहाँ उपमावाची पद 'इव' को आधिदैविक प्रसंग में पदपूरक मानकर यह अर्थ निकलता है कि विभिन्न संयोज्य कण और विकिरण वाक् रश्मियों के भण्डार रूप होने से विद्युत् के आश्रय स्थान होते हैं।

अब 'कृत्तिः' पद का अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इयमपीतरा कृत्तिरे-तस्मादेव सूत्रमयी उपमार्थे वा' अर्थात् इस उपर्युक्त कृत्ति अर्थात् संयोज्य कण और विकिरण के अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ को भी कृत्ति कहते हैं। वह पदार्थ सूत्रमय होता है। [कृत्तिः = गृहनाम (निघं.३.४)] यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक कण और विकिरण अथवा किसी भी पदार्थ का गृह रूप आवरण भी कृत्ति कहलाता है, क्योंकि यह आवरण सूत्रात्मा वायु रश्मियों और उनके साथ मिश्रित कुछ अन्य रश्मियों से निर्मित होता है। इस आवरण में ही वे कण वा प्रकाशाणु निवास करते हैं। जब कोई बाहरी पदार्थ इस आवरण को तोड़ने का प्रयास करता है, तो यह आवरण उन्हें छिन्न-भिन्न कर देता है। इस कारण इसे कृत्ति कहते हैं। इसकी उपमा से उपमित अन्य वस्त्र आदि पदार्थ भी कृत्ति कहे जाते हैं।

यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि'। इस मन्त्र का देवता रुद्र तथा छन्द निचृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न पदार्थ अत्यन्त तीव्रता से विक्षुब्ध होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कृत्तिम्, वसानः) सूत्रात्मा वायु एवं अन्य आच्छादक छन्द रश्मियों को आच्छादित किये हुए (पिनाकम्) [पिनाकः = पाति रक्षतीति पिनाकः (उ.को.४.१६)] बाधक सूक्ष्म रश्मियों से रक्षा करने वाली सूक्ष्म वज्ररूप प्राण व अपान रश्मियों को (बिभ्रत्, आगहि, आ, चर) वे कण व विकिरण आदि पदार्थ धारण करते हुए सब ओर गमन करते और व्याप्त होते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में प्रत्येक कण व विकिरण सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियों के आवरण में सुरक्षित होता है। इसके अतिरिक्त प्राण व अपान रश्मियाँ सदैव उनके मार्ग की रक्षा करती हैं। इनसे सुरक्षित वे कण व विकिरण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सब ओर विचरण करते हुए व्याप्त होते हैं।

श्वघ्नी कितवो भवति। स्वं हन्ति। स्वं पुनराश्रितं भवति।
कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने। [ऋ.१०.४३.५]
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः। कृतवान्वाशीर्नामकः। सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्॥ २२॥

श्वघ्नी कितव को कहते हैं। यह पदार्थ अन्य पदार्थों के तेज को हरने वाला एवं स्वयं वैद्युत तेज में आश्रित होकर विभिन्न पदार्थों को दूर प्रक्षिप्त करने की क्षमता वाला होता है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.१९.१ में कवष ऐलूष नामक कितव पदार्थ का स्वरूप पठनीय है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द विराट् जगती है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध रूपों में प्रकाशित होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कृत्तम्, न, श्वघ्नी) 'कृतमिव श्वघ्नी' [कृतम् = ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् (तै.ब्रा. १.५.११.१)] वह श्वघ्नी संज्ञक पदार्थ त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश एवं एकविंश स्तोमों अर्थात् तीन, पन्द्रह, सत्रह एवं इक्कीस गायत्री छन्द रश्मि समूहों के समान अथवा के साथ-२ (देवने, वि, चिनोति) 'विचिनोति देवने कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान्वाशीर्नामकः' नाना प्रकार के प्रकाशन कर्मों में अर्थात् अन्य पदार्थों के तेज को हरने एवं स्वयं तेजस्वी होने की नाना प्रकार की क्रियाओं को करते समय उपर्युक्त स्तोमों अर्थात् गायत्री छन्द रश्मि समूह को एकत्रित करके उनके साथ संगत होने लगता है। इस श्वघ्नी नामक पदार्थ को कितव इस कारण कहा गया है, क्योंकि इन पदार्थों में 'किं तव' इन दो पदों की अनुकृति होती रहती है अर्थात् ये पदरूप रश्मियाँ स्तोम रूप रश्मि समूहों और श्वघ्नी संज्ञक पदार्थ में विद्यमान रश्मियों का निरन्तर अनुकरण करती रहती हैं। यह 'कितव' पद कृतवान् रूप भी होता है अर्थात् यह अपने कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न

करने में समर्थ होता है। [आशी: = अध्येषणाकर्मा (निघं.३.२१), आशीराश्रयणाद्वा आश्रपणाद्वा (निरु.६.८)] इसके साथ ही यह पदार्थ स्तोमरूप उपर्युक्त रश्मि समूहों को परस्पर संगत करने और उन्हें परिपक्व अर्थात् पुष्ट बनाने वाला भी होता है। इस कारण श्वघ्नी नामक पदार्थ को कितव कहते हैं।

अब १३१वें पद 'समम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्' अर्थात् 'समम्' पद सम्पूर्ण अर्थात् चारों ओर अर्थ वाला होता है। यह पद सर्वनाम होने के साथ अनुदात्त भी होता है।

* * * * *

त्रयोविंशः खण्डः

मा नः समस्य दूढ्य१ः परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥ [ऋ.८.७५.९]
मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतो द्वेषसोंऽहतिः।
ऊर्मिरिव नावमावधीत्। ऊर्मिरूर्णोतेः। नौः प्रणोत्तव्या भवति। नमतेर्वा।
तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति।
उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो। [ऋ.८.२१.८]
इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा।
उरुष्या णो अघायतः समस्मात्। [ऋ.५.२४.३] इति पञ्चम्याम्।
उरुष्यतिरकर्मकः। अथापि प्रथमाबहुवचने।
नभन्तामन्यके समे॥ [ऋ.८.३९.१]॥ २३॥

यहाँ 'समम्' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥

इस मन्त्र का ऋषि विरूप है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विविध रूपों में विद्यमान अथवा विविध रूपों को धारण करने वाले प्राण विशेष से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र एवं श्वेतवर्णीय होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समस्य, दूढ्य:, परिद्वेषस:) 'सर्वस्य दुर्धिय: पापधिय: सर्वतो द्वेषस:' सब ओर से अथवा सब ओर स्थित अनिष्ट क्रियाओं एवं अनिष्ट व हिंसक तेज, विभिन्न कण आदि पदार्थों की सृजन क्रियाओं को पतित वा विचलित करने वाले विद्युत् आदि पदार्थ, जो सब ओर प्रतिकर्षक, प्रक्षेपक वा विध्वंसक बलों को उत्पन्न करते हैं, (मा, न:, अंहति:) 'मा न: अंहति:' उस अनिष्ट विद्युत् की हिंसक क्रियाएँ विरूप संज्ञक उपर्युक्त ऋषि रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों को (ऊर्मि:, न, नावम्, आवधीत्) 'ऊर्मिरिव नावमावधीत् ऊर्मिरूर्णोते: नौ: प्रणोत्तव्या भवति नमतेर्वा' यहाँ उपमा देते हुए लिखा है कि जैसे ऊर्मि अर्थात् जल की लहरें नाव को डुबो देती हैं, वैसे अनिष्ट हिंसक विद्युत् विरूप संज्ञक ऋषि रश्मियों को नष्ट न करे अर्थात् नष्ट नहीं करती हैं। ऊर्मि को ऊर्मि इस कारण कहते हैं, क्योंकि वे लहरें सम्पूर्ण जल को आच्छादित करने वाली होती हैं। नाव को 'नौ:' इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह किनारों की ओर प्रेरित करके ले जाई जाती हैं अथवा वे चलते हुए इधर-उधर झुकती रहती हैं। आधिदैविक भाष्य में उपमा का महत्त्व नहीं होता। इस कारण मन्त्र का अन्तिम पाद यह प्रकट करता है [नौ: = वाङ्नाम (निघं.१.११)] कि जब नौका के समान तारने वाली त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को धाय्या संज्ञक आच्छादक छन्द रश्मियाँ सब ओर से प्राप्त कर लेती हैं, तब उपर्युक्त विरूप संज्ञक ऋषि वा उनसे उत्पन्न छन्द रश्मियों को अनिष्ट व हिंसक विद्युत् नष्ट नहीं करती है।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् दृष्टव्ययं तु भवति'। इसका भाष्य करते हुए आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) ने लिखा है—

''**तत्** वह सम शब्द **अनुदात्त-प्रकृति** अनुदात्त-स्वभाव वाला **कथं नाम स्यात्** कैसे नाम हो सकता है? 'फिषोऽन्त उदात्त:' इस फिट् सूत्र से नाम अन्तोदात्त होते हैं, अनुदात्त नहीं होते। दृष्ट-व्ययं तु भवति यह सम शब्द तो दृष्ट-व्यय नाम है, अत: अव्यय हो नहीं सकता। अव्यय अनुदात्त होते हैं। 'चादयोऽनुदात्ता:' यह फिट् सूत्र है। सम शब्द दृष्ट-व्यय है। इसमें निम्न प्रमाण है— 'उतो समस्मिन्' मन्त्र में **सप्तम्याम्** सप्तमी में दीख

रहा है।''

इसके प्रमाणस्वरूप एक यह निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक विस्तार को प्राप्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वसो, नः, उत, समस्मिन्, आ, शिशीहि) 'शिशीतिर्दानकर्मा' सबको बसाने वाला इन्द्रतत्त्व [इन्द्रः = स यस्य आकाश इन्द्र एव सः (जै.उ.१.२८.२), इन्द्रो वागित्यु वाऽआहुः (श.ब्रा. १.४.५.४), वाग्वा इन्द्रः (कौ.ब्रा.२.७, १३.५), यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः (श.ब्रा.४.१.३.१९)] अर्थात् आकाश में विद्यमान वायुतत्त्व की अवयव रूप विभिन्न छन्द रश्मियाँ किंवा स्वयं आकाशतत्त्व की अवयव रूप रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की कारण रूप काण्व रूप सूत्रात्मा वायु रश्मियों को सब ओर स्थापित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब भी कोई संयोग आदि क्रिया होती है, उस समय उस क्षेत्र में विद्यमान वायुतत्त्व संयोजी कणों के मध्य सूत्रात्मा वायु रश्मियों का सब ओर से अनुकूलतापूर्वक स्थापन करता है। यहाँ 'समम्' पद सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह पद यहाँ अव्यय पद नहीं है।

अब इस पद की पञ्चमी विभक्ति के उदाहरण के रूप में एक अन्य निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'उरुष्या णो अघायतः समस्मात्'। इसमें 'उरुष्यति' अकर्मक है। इस मन्त्र का ऋषि 'बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना' है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [गौपायना = यह पद 'गुपू रक्षणे' एवं 'गुप गोपने धातुओं से व्युत्पन्न है। लौपायना = यह पद 'लुप्लृ क्षेदने' धातु से व्युत्पन्न होता है।] अनेक प्राण रश्मियों से हो सकती है, जिनमें निम्न गुण विद्यमान हों—

१. जो बन्धन बल युक्त हों।
२. जो तीव्र बन्धन बल युक्त हों।
३. जो गमनशील पदार्थों को बाँधने वा रोकने वाली हों।
४. जो विभिन्न ऋषि रश्मियों को बाँधने वा आकर्षित करने वाली हों।
५. जो विभिन्न पदार्थों को आच्छादित व रक्षित करने वाली हों।
६. जो छेदन और भेदन आदि गुणों से युक्त हों।

इस छन्द रश्मि का देवता अग्नि तथा छन्द विराट् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नः) अग्नितत्त्व अपनी तीक्ष्णता के साथ विस्तृत होने से इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों की (समस्मात्, अघायतः) सब ओर से पतनकारी विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों से (उरुष्या) 'उरुष्यतिरकर्मकः' [ऊरुष्या = रक्ष। अत्र संहितायामिति दीर्घः] रक्षा करता है। यहाँ स्पष्ट होता है कि कणों के परस्पर संलयन, विखण्डन वा छेदन-भेदन की क्रियाएँ उच्च ताप पर ही होती हैं।

अब 'समम्' पद के प्रथमा बहुवचन के उदाहरण के रूप में एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'नभन्तामन्यके समे'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण होता है। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(समे, अन्यके) [अन्यः = अन्ये सपत्नाः (निरु.१०.२७)] वह तीक्ष्ण होता हुआ अग्नि किसी पदार्थ के चारों ओर स्थित राक्षस आदि हिंसक रश्मि आदि पदार्थों को (नभन्ताम्) [नभते वधकर्मा (निघं.२.१९)] नष्ट करता है अथवा उन्हें बाँधकर निष्प्रभावी बनाता है।

* * * * *

चतुर्विंशः खण्डः

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा।
पिता कुटस्य चर्षणिः ॥ [ऋ.१.४६.४]

हविषापां जरयिता। पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा। प्रीणातिनिगमौ वा।
पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः।
शम्ब इति वज्रनाम। शमयतेर्वा। शातयतेर्वा।

उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन। [ऋ.१०.४२.७]
इत्यपि निगमो भवति। केपयः कपूया भवन्ति।
कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितम्। दुष्पूयं भवति॥ २४॥

अब १३२वें तथा १३३वें पदों 'कुटस्य' और 'चर्षणिः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा।
पिता कुटस्य चर्षणिः॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रकृष्ट रूप से बन्धन क्षमता वाले सूत्रात्मा वायु के विशेष रूप से होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृत् गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित सभी लोक तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होने लगते हैं और यह तेज श्वेतवर्णीय होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हविषा, अपाम्, जारः) 'हविषापां जरयिता' [हविः = मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३)] सूर्यलोक के अन्दर अथवा बाहर भी अग्नि के परमाणु अर्थात् अश्विनौ संज्ञक कण व तरंगाणु (क्वाण्टा) विभिन्न मास रश्मियों के द्वारा विभिन्न तन्मात्राओं को जीर्ण करते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी आयन से किसी अग्नि के परमाणु के बार-२ टकराने से दीर्घकाल में वह आयन अपने रूप में परिवर्तन कर लेता है।

(पिपर्ति, पपुरिः, नरा) 'पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा' वे प्रकाशित व अप्रकाशित कण आपः संज्ञक तन्मात्राओं अथवा आयन्स को निरन्तर पूर्ण वा तृप्त करते रहते हैं। यहाँ 'पिपर्ति' एवं 'पपुरिः' दोनों ही पद 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' तथा 'पृ पालनपूरणयोः' इन दोनों ही धातुओं से व्युत्पन्न निगम हैं। यहाँ 'निगम' पद का अर्थ वैदिक पद समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वे अग्नि के परमाणु विभिन्न कणों (आयन्स) को मास रश्मियों के आदान-प्रदान के द्वारा न केवल जीर्ण करते हैं, अपितु उन्हें तृप्त करते, उनकी रक्षा करते तथा उन्हें दीप्तियुक्त भी करते हैं। साथ ही उनको आकर्षित भी करते हैं। यहाँ 'नरा' पद का प्रयोग नरौ इस द्विवचनान्त पद के लिए हुआ है। इससे यह संकेत मिलता है कि यह पद अश्विनौ, जो इस मन्त्र का देवता है, के विशेषण के

रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ अग्नि का परमाणु अश्विनौ ही है, जो कण व तरंगाणु (क्वाण्टा) दोनों रूपों में हो सकता है। हाँ, इन दोनों का प्रभाव भिन्न-२ अवश्य होता है, पुनरपि ये दोनों ही पदार्थ नर इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने साथ विभिन्न रश्मियों को ले जाने वाले होते हैं। इसके साथ ही ये दोनों ही विभिन्न सूक्ष्म कणों में व्याप्त होकर उनको भी गति प्रदान करने वाले अथवा उनकी गति में परिवर्तन करने वाले भी होते हैं।

(पिता, कुटस्य, चर्षणिः) 'पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः' इन सभी क्रियाओं को कण व तरंगाणु दोनों का ही पितारूप पालक व रक्षक आदित्य लोक ही प्रकाशित करता है, वही इन्हें देखता रहता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य्यादि तारे ही सभी प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के संरक्षक व प्रकाशक होते हैं। इसके साथ ही इनकी नाना क्रियाओं में सूर्य्यादि तारों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

भावार्थ— किसी भी आयन से जब फोटॉन बार-२ टकराते हैं, तब वह आयन दूसरे आयन में परिवर्तित हो जाता है। विभिन्न फोटॉन मास रश्मियों के आदान-प्रदान के द्वारा विभिन्न आयनों को जीर्ण भी करते हैं और उन्हें तृप्त, रक्षित और दीप्तियुक्त भी करते हैं। विभिन्न फोटॉन नाना प्रकार के कणों से टकराकर उनकी गति में परिवर्तन कर देते हैं। विभिन्न तारे नाना प्रकार के कणों और विकिरणों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (हविषा) दानाऽऽदानेन (जारः) विभागकर्त्तादित्यः (अपाम्) जलानाम् (पिपर्त्ति) प्रपिपूर्त्ति (पपुरिः) प्रपूरको विद्वान् (नरा) नेतारावध्यापकोपदेशकौ। अत्र सुपां सुलुग् इत्याकारादेशः। (पिता) पालयिता (कुटस्य) कुटिलस्य मार्गस्य सकाशात् (चर्षणिः) दर्शको मनुष्यः। चर्षणिरिति पदनामसु। निघं.४.२। इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं समाचष्टे। हविषाऽपां जारयिता पिपर्त्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणाति निगमौ वा। पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः। निरु.५.२४।

भावार्थः — मनुष्यो यथा सूर्य्यो वर्षादिद्वारा प्राण्यप्राणिनः पुष्णाति तथा सर्वान् पुष्येत्।

पदार्थ— हे (नरा) नीति के सिखाने पढ़ाने और उपदेश करने हारे लोगो! तुम जैसे

(जार:) विभाग कर्त्ता (पपुरि:) अच्छे प्रकार पूर्ति (पिता) पालन करने (कुटस्य) कुटिल मार्ग को (चर्षणि:) दिखलाने हारा सूर्य (हविषा) आहुति से बढ़कर (अपाम्) जलों के योग से (पिपर्त्ति) पूरण कर प्रजाओं का पालन करता है, वैसे प्रजा का पालन करो।

भावार्थ— मनुष्यों को योग्य है कि जैसे सविता वर्षा के द्वारा जिलाने के योग्य प्राणी और अप्राणियों को पुष्ट करता है, वैसे ही सब को पुष्ट करें।''

अब १३४वें पद 'शम्ब:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शम्ब इति वज्रनाम शमयतेर्वा शातयतेर्वा' अर्थात् शम्ब वज्र रश्मियों को कहते हैं। यह पद 'शमु उपशमे' और 'शद्लृ शातने' धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है। इसका अर्थ यह है कि शम्ब उस पदार्थ का नाम है, जो अन्य बाधक आदि अनिष्ट पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करता अथवा प्रक्षिप्त करने में समर्थ होता है। इसे वज्र भी कहते हैं, क्योंकि यह अनिष्ट पदार्थों को मार्ग से हटा देता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'उग्रो य: शम्ब: पुरुहूत तेन (शत्रुम्-आरात्-अपबाधस्व)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुरुहूत) अनेक पदार्थों के द्वारा आकर्षित किये जाने वाले एवं अनेक पदार्थों को आकर्षित करने वाले (य:, उग्र:, शम्ब:) उसका जो तीक्ष्ण वज्र है अर्थात् तीक्ष्ण वज्ररूपी रश्मियों का समूह है। (तेन, शत्रुम्, आरात्, अपबाधस्व) उन तीक्ष्ण वज्र रश्मियों के द्वारा इन्द्रतत्त्व अपने निकटस्थ हिंसक पदार्थों को दूर हटा देता व नष्ट कर देता है।

तदनन्तर १३५वें पद 'केपय:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'केपय: कपूया भवन्ति कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितम् दुष्पूयं भवति' अर्थात् 'केपय:' पद 'कपूया:' पद का वाचक है और कपूया: पद का अर्थ है कि जो पदार्थ अपनी कुत्सित वा विकृत हो रही क्रियाओं को शुद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु यह शोधन क्रिया अत्यन्त दुष्कर होती है, ऐसे पदार्थ केपय वा कपूया कहलाते हैं। इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥

[ऋ.१०.४४.६]

पृथक् प्रायन्। पृथक् प्रथतेः। प्रथमा देवहूतयः। ये देवानाह्वयन्त।
अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि। दुरनुकराण्यन्यैः।
येऽशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम्। अथ ये नाशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम्।
ईर्मैव ते न्यविशन्त इहैव ते न्यविशन्त। ऋणे हैव ते न्यविशन्त।
अस्मिन्नेव लोक इति वा। ईर्म इति बाहुनाम। समीरिततरो भवति।
एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।

[ऋ.१०.५०.६]

एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे। स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व।
अंसत्रमंहसः त्राणम्। धनुर्वा। कवचं वा। कवचं कु अञ्चितं भवति।
काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवतीति वा॥ २५॥

इस मन्त्र का ऋषि कृष्ण आङ्गिरसः है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेष आकर्षणशील प्राण रश्मियों से होती है। हमारे मत में ये आकर्षणशील प्राण रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु एवं प्राण नामक प्राथमिक प्राणों का मिश्रित रूप हो सकती हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द पादनिचृज्जगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पृथक्, प्रायन्, प्रथमा, देवहूतयः) 'पृथक् प्रायन् पृथक् प्रथतेः प्रथमा देवहूतयः ये देवानाह्वयन्त' जो सोम रश्मियाँ देव अर्थात् प्राण रश्मियों को आकर्षित वा संगत करके सूर्यादि लोकों के निर्माण में श्रेष्ठ उपादान पदार्थ के रूप में विद्यमान होती हैं, वे पृथक् अर्थात् सम्पूर्ण क्षेत्र में फैलने लगती हैं अर्थात् प्राण रश्मियों से युक्त सोम पदार्थ निर्माणाधीन सम्पूर्ण सूर्यलोक में गमन करते हुए व्याप्त होने लगता है।

(अकृण्वत, श्रवस्यानि, दुष्टरा) 'अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराण्यन्यैः' [यशः =

पशवो यशः (श.ब्रा.१२.८.३.१), सप्तदशः (स्तोम) एव यशः (गो.पू.५.१५), यशो देवाः (श.ब्रा.२.१.४.९)] वह सोम पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों, विशेषकर सत्रह गायत्री छन्द रश्मि समूह के साथ मिलकर विभिन्न सूक्ष्म कणों को उत्पन्न वा धारण करता है। वे सूक्ष्म कण एवं छन्द रश्मियाँ उस निर्माणाधीन सूर्यलोक में सर्वत्र गमन कर रहे होते हैं। वे कण और रश्मि आदि पदार्थ सूर्यलोक के अन्दर उस गति और मार्गों से गमन करते हैं, जिनका अनुकरण करना कठिन होता है अर्थात् उनकी गति और मार्ग दोनों ही अत्यन्त कठिन वा जटिल होते हैं।

(ये, न, शेकुः, यज्ञियाम्, नावम्, आरुहम्) 'येऽशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम् अथ ये नाशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम्' जो कण आदि पदार्थ यज्ञ की नौका पर आरूढ़ होने में समर्थ नहीं होते हैं अर्थात् जिन कणों का परस्पर संगतिकरण वा संलयन नहीं हो सकता है, (ईर्म, एव, ते, नि, अविशन्त, केपयः) 'ईर्मैव ते न्यविशन्त इहैव ते न्यविशन्त ऋणे हैव ते न्यविशन्त अस्मिन्नेव लोक इति वा ईर्म इति बाहुनाम समीरिततरो भवति' [ऋणः = ऋणोति गतिकर्मा (निघं.२.१४), प्रापकः (म.द.ऋ.भा.६.१२.५)] वे कण आदि पदार्थ सूर्यलोक के उस बाहरी विशाल भाग में जहाँ वे विद्यमान वा गतिमान् रहते हैं, उसी क्षेत्र में वास करते रहते हैं। वे सूर्य के सन्धि भाग की बाहरी सीमा के द्वारा रोक दिये जाते हैं अर्थात् वे केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं और सन्धि भाग के बाहर ही व्याप्त वा गतिमान् रहते हैं। यहाँ 'ईर्म' पद बाहु के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके विषय में कहा गया है— 'बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि' (निरु.३.८), 'पञ्चदशौ हि बाहू' (श.ब्रा. ८.४.४.६)। इसका तात्पर्य यह है कि जो कण संलयित होने के योग्य नहीं होते हैं, वे सन्धि भाग के बाहर उस क्षेत्र में गमन करते हैं, जिनमें पन्द्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूह अतिशय मात्रा में विद्यमान होते हैं। इस क्षेत्र में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ भी बड़ी मात्रा में विद्यमान होती हैं। इस कारण वहाँ ऊष्मा की मात्रा बहुत अधिक होती है, जिससे उस क्षेत्र में विभिन्न स्थूल कणों के विखण्डन की क्रिया भी होती रहती है और जो विखण्डित हुए कण संलयन के लिए उपयुक्त हो जाते हैं, वे केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने लगते हैं। यहाँ ईर्म अर्थात् बाहु को समीरिततर कहा है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य आदि लोकों के अन्दर ये बाहुरूपी क्षेत्र अति दूर तक व्याप्त हुए होते हैं।

भावार्थ— प्राण एवं मरुद् रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त रहती हैं। विभिन्न मरुत्

रश्मियाँ गायत्री छन्द रश्मियों के साथ मिलकर सूक्ष्म कणों को उत्पन्न करती हैं। उन कणों और रश्मियों के मार्ग के अत्यन्त जटिल होते हैं। जिन कणों का सूर्य के केन्द्रीय भाग में संलयन नहीं होता है, वे कण सूर्य के सन्धिक्षेत्र के द्वारा बाहर ही रोक दिये जाते हैं। सूर्य के सन्धिक्षेत्र में भी तापमान बहुत अधिक होता है।

इस मन्त्र का स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने आध्यात्मिक भाष्य किया है, उसे हम यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत कर रहे हैं—

संस्कृतान्वयार्थः — (प्रथमाः) श्रेष्ठजनाः (देवहूतयः) दिव्यगुणान् देवधर्मान् मुमुक्षुगुणा-नाह्वयन्ति निजान्तःकरणो समवेतानि कुर्वन्ति ये ते स्तोतारः (श्रवस्यानि दुष्टरा-अकृण्वत) श्रवणीयानि श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्काराख्यानिअन्यैरप्रथमैरश्रेष्ठैर्दुरनुकरणीयानि 'क्षुरस्य धारेव दुरत्ययानि' कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति, ते (पृथक् प्रायन्) संसारनद्याः पृथक् प्रथितं पारं मोक्षधाम प्राप्नुवन्ति। येऽप्रथमा अश्रेष्ठाः (केपयः) कुत्सितस्य शोधनीयकर्मणः कर्त्तारः 'केपयः कपूया भवन्ति कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितम्' [निरु.५.२४] (ये यज्ञियां नावम्-आरुहं न शेकुः) ये खलु-अध्यात्मयज्ञसम्बन्धिनीं नावमुपासनामारोढुं न शक्नुवन्ति (ते-ईर्म-एव न्यविशन्त) ते-इहैव लोके निविशन्ते यद्वा 'ऋणे हैव, ऋणे हैव' [निरु.५.२४] पितृणनिवारणव्यवहारे पुत्रोत्पत्तिकरणे गृहस्थे निविशन्ते, न मोक्षभाजो भवन्ति।

भाषान्वयार्थः — (प्रथमाः) श्रेष्ठ (देवहूतयः) दिव्यगुणों, मुमुक्षुगुणों को अपने अन्तःकरण में ले आने वाले-बिठा लेने वाले स्तुतिकर्त्ता जन (श्रवस्यानि दुष्टरा-अकृण्वत) श्रवणीय अर्थात् श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार नामक जो अन्य अश्रेष्ठ लोगों द्वारा आचरण में लाने के लिए दुस्तर हैं, छुरी की धार के समान हैं, उन्हें वे श्रेष्ठजन सेवक करते हैं (पृथक् प्रायन्) संसारनदी से पृथक्-प्रथित पार अर्थात् मोक्षधाम को प्राप्त करते हैं और जो अप्रथम-अश्रेष्ठ (केपयः) कुत्सित, शोधने योग्य कर्म के करने वाले हैं (ये यज्ञियां नावम्-आरुहं न शेकुः) जो अध्यात्मयज्ञसम्बन्धी नौका-उपासनारूप नौका पर आरोहण नहीं कर सकते (ते-ईर्म-एव न्यविशन्त) वे इसी लोक में निविष्ट रहते हैं या पितृ ऋण के चुकाने में अर्थात् पुत्र-पौत्र आदि उत्पन्न करने कराने में लगे रहते हैं, वे मोक्षभागी नहीं बनते।

भावार्थ— अध्यात्मगुणों को धारण करने वाले मुमुक्षु जन ऊँचे उठते हुए संसार नदी को

पार करके मोक्षधाम को प्राप्त होते हैं। निकृष्ट जन उन दिव्यगुणों को धारण करने में असमर्थ होकर इसी संसार में जन्म-जन्मान्तर धारण करते रहते हैं, पुत्रादि के मोह में पड़े रहते हैं।

अब १३६वें पद 'तूतुमाकृषे' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे'। इस मन्त्र का देवता वैकुण्ठ इन्द्र तथा छन्द पादनिचृज्जगती है, इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से एक प्रकार की मन्द शक्ति वाली विद्युत् तीव्रता से दूर-दूर तक फैलने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एता, विश्वा, सवना) 'एतानि सर्वाणि स्थानानि' वह मन्द शक्ति वाली विद्युत् इन सभी स्थानों को अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी पदार्थों को (तूतुमाकृषे) 'तूर्णमुपाकुरुषे' शीघ्रतापूर्वक बनाती है। यह विद्युत् का अति सूक्ष्म रूप है, जो सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है। (स्वयम्, सूनो, सहसः, यानि, दधिषे) 'स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व' अनेक प्रकार के बलों का पालन करने वाली वह विद्युत् उन सभी पदार्थों को स्वयं धारण और पुष्ट भी करती है अर्थात् वह जिन पदार्थों को धारण करती है, उन्हें बनाती भी है।

अब १३७वें पद 'अंसत्रम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अंसत्रमंहसः त्राणम् धनुर्वा कवचं वा कवचं कु अञ्चितं भवति काञ्चितं भवति कायेऽञ्चितं भवतीति वा' [अंहः = अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत् अंहः पापं वा (उ.को.४.२१४)। धनुः = धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्माद् इषवः (निरु.९.१६), वार्त्रघ्नं वै धनुः (श.ब्रा.५.३.५.२७), वज्रो वै धनुः (मै.सं.४.४.३)] विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को पतित करने वाले असुर आदि पापसंज्ञक पदार्थ से बचाने वाला पदार्थ अंसत्रम् कहलाता है। यह हमारा आधिदैविक अर्थ है। धनु अर्थात् वृत्र नामक आच्छादक विशाल आसुर मेघ को भी अंसत्रम् कहते हैं, क्योंकि यह पाप संज्ञक रश्मि आदि पदार्थों को दूर प्रक्षिप्त वा नष्ट करने में सक्षम होता है। पुनः कहा कि कवच को भी अंसत्रम् कहते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'कवचम्' का निर्वचन इस प्रकार किया है— 'कवचं कु अञ्चितं भवति' अर्थात् जो टेढ़ा, वक्र या झुका हुआ होता है, उसे कवच तथा अंसत्रम् कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि असुर तत्त्व को नष्ट वा नियन्त्रित करने वाली रश्मियाँ सरल रेखा में गमन नहीं करतीं अथवा वे असुर तत्त्व पर आक्रमण करते समय वक्राकार हो जाती हैं

अथवा वे इन्द्रतत्त्व के साथ वक्राकार होती हुई ही संलग्न रहती हैं।

अब दूसरा निर्वचन करते हुए लिखा है— 'काञ्चितं भवति'। इस विषय में स्कन्दस्वामी का कथन है— 'ईषदर्थे वा कुः ततश्च काञ्चितं सत् कवचम्' अर्थात् वह वज्र रूप अंसत्रम् रश्मि समूह वक्राकार तो होता है, परन्तु उसकी वक्रता बहुत कम होती है। बहुत अधिक वक्रता होने पर वज्र रश्मियों का प्रभाव क्षीण हो जाएगा।

अब 'कवचम्' का अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कायेऽञ्चितं भवतीति वा' [कायम् = चीयतेऽस्मिन् अस्थ्यादिकमिति कायः, समुदाय (आ.को.)] अर्थात् वज्र रश्मि समूह सहित इन्द्रतत्त्व, जो विशेष छन्दादि रश्मि समूह के रूप में होता है, के साथ संगत रहती हैं और उसके साथ संगत रहते हुए भी कुछ वक्रता लिए हुए होती हैं, 'कवच' कहलाती हैं।

लोकप्रसिद्ध कवच, जिसे युद्ध में योद्धा धारण करते हैं, भी इसी कारण अंसत्रम् तथा कवच कहा जाता है। 'अंसत्रम्' पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

षड्विंशः खण्डः

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्।

[ऋ.१०.१०१.७]

प्रीणीताश्वान्त्सुहितं जयथ। जयनं वो हितमस्तु। स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्। द्रोणाहावम्। द्रोणं द्रुममयं भवति। आहाव आह्वानात्। आवह आवहनात्। अवतोऽवातितो महान्भवति। अश्मचक्रमशनचक्रम्। असनचक्रमिति वा। अंसत्रकोशम्। अंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु। कोशः कुष्णातेः। विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोश एतस्मादेव।

संचय आचितमात्रो महान्भवति। सिंचत। नृपाणं नरपाणम्। कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते। काकुदं ताल्वित्याचक्षते। जिह्वा कोकुवा। सास्मिन्धीयते। जिह्वा कोकुवा। कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा। कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। जिह्वा जोहुवा। तालु तरतेः। तीर्णतममङ्गम्। लततेर्वा स्याद्विपरीतात्। यथा तलम्। लतेत्यविपर्ययः॥ २६॥

इस मन्त्र का ऋषि सौम्यः बुध है। इसका तात्पर्य यह है कि सोम रश्मियों में विद्यमान अथवा सोम रश्मियों से उत्पन्न विशेष रूप से प्रकाशक एवं प्रेरक विशेष प्रकार की रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता विश्वेदेवा ऋत्विज् तथा छन्द पादनिचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [ऋत्विक् = ऋत्विजो हैव देवयजनम् (श.ब्रा.३.१.१.५)] विभिन्न देव पदार्थों में यजन प्रक्रिया अनवरत रूप से होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रीणीत, अश्वान्, हितम्, जयाथ) 'प्रीणीताश्वान्त्सुहितं जयथ जयनं वो हितमस्तु' इस सृष्टि में विभिन्न देव कणों को वहन करने वाली आशुगामी रश्मियाँ वा तरंगें इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियों के द्वारा तृप्त व सक्रिय होती हैं और फिर इस कारण वे देव कण अपने वांछित स्थान व बल को प्राप्त करके नानाविध क्रियाओं को सम्पादित व नियन्त्रित करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि सौम्या बुध नामक रश्मियों से प्रेरित वा तृप्त होकर ही विभिन्न प्रकाशित वा अप्रकाशित कण अपने अभीष्ट गमन वा मार्गों को प्राप्त कर पाते हैं।

(स्वस्तिवाहम्, रथम्, इत्, कृणुध्वम्) 'स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्' इन प्रक्रियाओं से अर्थात् ऋषि रूप रश्मियों के द्वारा कणों का वहन कर्म अथवा देव कणों का रथ अर्थात् वाहक रश्मियाँ अनुकूल मार्ग पर गमन करने में सक्षम होती हैं। इसके साथ ही वे देव कण वज्र रूपी रथ अर्थात् बाधक रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने वाली रश्मियों को भी धारण करते हैं, जिससे उनके मार्ग निरापद हो जाते हैं।

(द्रोणाहावम्, अवतम्) 'द्रोणाहावम् द्रोणं द्रुममयं भवति आहाव आह्वानात् आवह आवहनात् अवतोऽवातितो महान्भवति' [द्रोणम् = द्रोणेन वा अन्नमद्यते (मै.सं.३.४.७), द्रोणे वा अन्नं भ्रियते (तै.सं.५.४.११.२) द्रवति गच्छतीति द्रोणः। द्रुमः = द्रुः शाखाऽस्त्यस्यमः (आ.को.)। विट् = यज्ञो वै विट् (श.ब्रा.१४.३.१.९), अन्नं वै विशः

(श.ब्रा.४.३.३.१२)] सूर्यलोक के अन्दर आहाव संज्ञक 'शोंसावोम्' सूक्ष्म रश्मियाँ विस्तृत क्षेत्रों में व्याप्त रहकर विभिन्न पदार्थों को आकृष्ट करती रहती हैं। इनके साथ ही विभिन्न शाखाओं और प्रशाखाओं से युक्त सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी विद्यमान होती हैं। इन दोनों का मेल 'द्रोणाहावम्' कहलाता है। इनके अन्दर विट् अर्थात् कुछ संयोज्य रश्मि समूह विद्यमान रहकर नाना प्रकार के कणों का निर्माण करते हैं। विट् संज्ञक छन्द रश्मियों एवं 'शोंसावोम्' रश्मि के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.३३.१ पठनीय है। ये सभी पदार्थ [अवतः = कूपनाम (निघं.३.२३)] सौर कूपों के अन्दर विशेष रूप से विद्यमान होते हैं। ये सौर कूप सूर्य के तल से नीचे अर्थात् अन्दर की ओर गहराई तक गए हुए होते हैं तथा ये सौर कूप बहुत विशाल होते हैं।

(अश्मचक्रम्, अंसत्रकोशम्) 'अश्मचक्रमशनचक्रम् असनचक्रमिति वा अंसत्रकोशम् अंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु कोशः कुष्णातेः विकुषितो भवति अयमपीतरः कोश एतस्मादेव संचय आचितमात्रो महान्भवति' ये सौर कूप व्यापक घूमते हुए चक्रों की भाँति अर्थात् जल में बने हुए भँवरों की भाँति होते हैं। इन कूपों के ये चक्र बाहरी अर्थात् सूर्य तल के पदार्थ को तेजी से नीचे की ओर फेंकते रहते हैं। वे सौर कूप अंसत्रम् अर्थात् विभिन्न वज्र वा पूर्वोक्त कवच संज्ञक रश्मियों के कोश के समान होते हैं, क्योंकि वे उन वज्र रश्मियों को अन्दर की ओर से बाहर खींचकर निकालते तथा और अधिक तेजस्वी बनाते रहते हैं और वे वज्र रश्मियाँ असुर रश्मियों को विदीर्ण करके सृजन प्रक्रियाओं को निरापद बनाती रहती हैं। वे कूप सर्वथा शंक्वाकार नहीं होते, बल्कि इनकी दीवारें कटी-फटी हुई सी होती हैं। ये सौर कूप संचय भी कहलाते हैं, क्योंकि सूर्य के तल से बहता हुआ पदार्थ इनके अन्दर गिरता और संचित होता रहता है। इसी कारण यहाँ कोश का अर्थ संचय भी किया है। इनमें संचित पदार्थ बहुत विशाल मात्रा में विद्यमान रहता है। यहाँ दूसरा कोश (जैसे धन का संचय) भी इस कारण कोश कहलाता है, क्योंकि उसमें
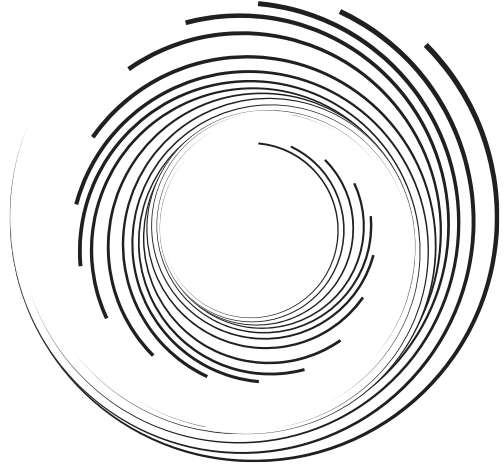
धन का निरन्तर संचय किया जाता है।

(सिञ्चता, नृपाणम्) 'सिंचत नृपाणं नरपाणम् कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते' [नरः = मनुष्यनाम (निघं.२.३), अश्वनाम (निघं.१.१४), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२), मनुष्या वै नरः (श.ब्रा.७.५.२.३९)] इन कूपों के द्वारा मनुष्य नामक विभिन्न प्रकार के आशुगामी कण एवं अन्य अनेक प्रकार के देव पदार्थ अपने अन्दर समाहित किये जाते रहते हैं। लोकप्रसिद्ध संग्राम भी कूप जैसा ही होता है, क्योंकि इसमें भी योद्धाओं का रक्त बहता और संचित होता रहता है और वह रक्त भूमि द्वारा अवशोषित किया जाता रहता है।

भावार्थ— विभिन्न आशुगामी तरंगें कुछ विशेष सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा उचित बल, गति और मार्गों को प्राप्त करती हैं। इन्हीं के द्वारा ही उनके मार्ग निरापद होते हैं। सूर्यादि तारों के अन्दर विभिन्न रश्मियों के मेल से नाना प्रकार के कणों का निर्माण भी होता रहता है। इन लोकों में अनेक विशाल सौर कूप विद्यमान होते हैं। ये सौर कूप पानी में बने भँवरों की भाँति तीव्र वेग से चक्रवत् घूमते हुए पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर फेंकते रहते हैं। इन सौर कूपों में नाना प्रकार की तीक्ष्ण वज्र रश्मियाँ बाधक असुर पदार्थों को नष्ट करती रहती हैं। सौर कूपों की दीवारें कटी-फटी होती हैं और उनमें पदार्थ प्रबल वेग से बह रहा होता है।

अब १३८वें पद 'काकुदम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'काकुदं ताल्वित्याचक्षते जिह्वा कोकुवा सास्मिन्धीयते जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः जिह्वा जोहुवा तालु तरतेः तीर्णतममङ्गम् लततेर्वा स्याद्विपरीतात् यथा तलम् लतेत्यविपर्ययः' इसका अर्थ यह है कि काकुद तालु को कहते हैं। इसका कारण बतलाते हुए लिखा कि जिह्वा को कोकुवा कहते हैं और वह तालु में स्थापित होती है। वह जिह्वा ध्वनि करती हुई तालु में वर्णों को प्रेरित करती है अथवा 'कुङ् शब्दे' धातु से कोकुवा पद व्युत्पन्न होता है। जिह्वा को जोहुवा भी कहते हैं, क्योंकि बार-२ अन्न का हवन करती रहती है अथवा अन्न को ग्रहण करती रहती है। इसके साथ ही यह कण्ठ से उत्पन्न नाद को बार-२ ग्रहण करके वर्णों को उत्पन्न करती रहती है।

अब 'तालु' पद का निर्वचन करते हुए लिखा कि यह पद 'तॄ प्लवनसंतरणयोः'

धातु से निष्पन्न होता है। यह मुख के अन्दर दूर तक फैला हुआ होता है अर्थात् मुख के अन्य अंगों की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत होता है। तालु पद 'लत' धातु से भी व्युत्पन्न माना है। यह धातु धातुपाठ में विद्यमान नहीं है। इस विषय में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने लिखा है—

" 'लत' धातोर्लम्बव्यापारकाद् विपरीतात् स्यात् 'लत' धातोर्विपर्ययः— 'तल' पुनः 'ञुण्' प्रत्ययो धातोर्बहुलात्, यदुपरि लम्बतेऽङ्गं तत् तालु। यथा 'तलम्' शब्दः 'लत' इत्यस्य विपर्ययः।"

यहाँ तालु और जिह्वा ये दोनों ही पद हमने मनुष्य के शरीरांगों के वाचक के रूप में वर्णित किए। वस्तुतः ये अंग सूर्य में भी होते हैं। हम इन सभी पदों पर उस सन्दर्भ में विचार करते हैं— [काकुत् = वाङ्नाम (निघं.१.११)। तालु = अवक्रन्देन तालु (तै.सं.५.७.११.१; मै.सं.३.१५.१)। जिह्वा = वाङ्नाम (निघं.१.११), किरणज्वालासमूहः (तु.म.द.ऋ.भा. १.४६.१०)] यहाँ काकुत् उन वाक् रश्मियों का नाम है, जो सूर्य के तल के ऊपर व्यापक रूप से विद्यमान होती हैं, जहाँ पर ऊँची-ऊँची ज्वालाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, ये ज्वालाएँ ही जिह्वा रूप हैं। काकुत् रश्मियों के क्षेत्र को ही तालु कहते हैं, क्योंकि यह क्षेत्र अति विस्तृत होता है और इस पर अग्नि की ज्वालाएँ तीव्र गति से अपना स्थान परिवर्तित करती रहती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे ज्वालाएँ सूर्य के तल पर इधर से उधर दौड़ रही हों।

'काकुत्' पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ [ऋ.८.६९.१२]
सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः। कमनीयदेवो वा भवसि वरुण।

यस्य ते सप्त सिन्धवः। सिन्धुः स्रवणात्। यस्य ते सप्त स्रोतांसि। तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मि कल्याणोर्मिः। स्रोतः सुषिरमनु यथा। वीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह। पूर्वं वयतेः। उत्तरमिरतेः। वयांसीरन्त्यस्मिन्। भांसि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्ति। अपि निगमो भवति॥ २७॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रियमेध है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उन सूक्ष्म प्राण रश्मियों, जो संगमन एवं हिंसन दोनों ही प्रकार की प्रवृत्ति वाली होती हैं, से होती है। इसका देवता वरुण तथा छन्द निचृदनुष्टुप् होने से वरुण रूप अग्नि तीव्र होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदेवः, असि, वरुण) 'सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवसि वरुण' [वरुणः = स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४), वरुण एव सविता (जै.उ.४.२७.३), स वा एषो (सूर्य्यः) ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति (कौ.ब्रा.१८.९)] उस सूर्यलोक के ऊपरी तल पर तीक्ष्ण अग्नि की ज्वालाओं के साथ-२ विभिन्न प्रकार के आपः अर्थात् आयन्स विद्यमान होते हैं। इससे सूर्य अति तेजस्वी स्वरूप वाला होता है। वह सूर्यतल जहाँ प्रकाशादि तरंगों के साथ विभिन्न आवेशित कणों को भी भारी मात्रा में निरन्तर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित करता रहता है, वहीं वह बाहरी क्षेत्र से विभिन्न प्रकार के आवेशित कणों को आकर्षित भी करता रहता है। इसी कारण उसे कमनीय स्वरूप वाला कहा है।

(यस्य, ते, सप्त, सिन्धवः) 'यस्य ते सप्त सिन्धवः सिन्धुः स्रवणात् यस्य ते सप्त स्रोतांसि' [सिन्धुः = सिन्धूनां स्यन्दमानानाम् (निरु.१०.५), तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९)] उस सूर्यलोक के अन्दर सात प्रकार की धाराएँ अन्दर से बाहर की ओर निरन्तर बहती रहती हैं। ये धाराएँ सम्पूर्ण सूर्यलोक को एक साथ बाँधे रखती हैं। इन धाराओं में सातों प्रकार की छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। सूर्य के अन्दर इन धाराओं के पृथक्-२ स्रोत होते हैं।

(अनुक्षरन्ति, काकुदम्) 'तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति' वे सातों प्रकार की धाराएँ सूर्य के तालु संज्ञक भाग में निरन्तर क्षरती रहती हैं अर्थात् आती व गिरती रहती हैं। इन धाराओं के साथ ही विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं सूक्ष्म कण भी सूर्यलोक के केन्द्र की ओर से बाहरी तल की ओर आते रहते हैं। (सूर्म्यम्, सुषिराम्, इव) 'सूर्मि कल्याणोर्मिः स्रोतः

सुषिरमनु यथा' वे धाराएँ [सिरा = सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति सिरा, नाड़ी वा।] शरीर में नाड़ियों के समान खोखली होती हैं अर्थात् पदार्थ की वे सात धाराएँ विशाल आकार की सुरंगों रूपी नलिकाओं में प्रवाहित होते जल के समान प्रवाहित होती रहती हैं। यहाँ 'इव' पद को पदपूरक मानकर यह अर्थ निकलता है कि पदार्थ की वे सात धाराएँ नलिकाओं के रूप में तरल वा गैस की भाँति प्रवाहित होती रहती हैं।

अब १३९वें पद 'वीरिटम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'वीरिटं तैटीकिरन्त-रिक्षमेवमाह पूर्वं वयतेः उत्तरमिरतेः वयांसीरन्त्यस्मिन् भांसि वा'। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) लिखते हैं—

''**तैटीकिः** तैटीकि आचार्य **बीरिटम्** बीरिट का अर्थ **अन्तरिक्षम् आह** आकाश ही करते हैं। ये आचार्य **पूर्वं वयतेः** पहले तो पक्षी अर्थ में आने वाले 'वि' शब्द पूर्वक 'ईर्' धातु से 'इटन्' प्रत्यय करके बीरिट बनाते हैं। **उत्तरम्** दूसरे 'ईरितेः' भासपूर्वक 'ईर' धातु से बनाते हैं। **अस्मिन्** क्योंकि इस आकाश में **वयांसि** पक्षी **ईरन्ति** गति करते हैं या शब्द करते रहते हैं, अतः इस आकाश का नाम बीरिट पड़ गया। **भांसि वा** या इस आकाश में ज्योतिष्मान् पदार्थ-सूर्य चन्द्र आदि गति करते हैं, अतः भास् ईर बीरिट नाम पड़ गया।''

इस पद का उदाहरण अगले मन्त्र में है, जो अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

अष्टाविंशः खण्डः

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥

[ऋ.७.३९.२]

प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषाम्। एयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा।
बीरिटमन्तरिक्षम्। भियो वा भासो वा ततिः। अपि वोपमार्थे स्यात्।

सर्वपती इव राजानौ। बीरिटे गणे मनुष्याणाम्।
रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ। वायुश्च नियुत्वान्। पूषा च स्वस्त्यनाय।
नियुत्वान्नियुतोऽस्याश्वाः। नियुतो नियमनाद्वा। नियोजनाद्वा।
अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः। परीं सीमिति व्याख्यातम्।
एनमेनामस्या अस्येत्येनेन व्याख्यातम्। सृणिरङ्कुशो भवति सरणात्।
अङ्कुशोऽञ्चतेः। आकुचितो भवतीति वा।
नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्। [यजु.१२.६८] इत्यपि निगमो भवति।
अन्तिकतममङ्कुशादायात्। पक्वमौषधामागच्छत्विति।
आगच्छत्विति॥ २८॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नाम तीव्र ऊष्मायुक्त प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, वावृजे, सुप्रया, बर्हिः, एषाम्) 'प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषाम्' [प्रवृज्यते = प्रस्तीर्यते (स्कन्दस्वामी)। बर्हिः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), पशवो वै बर्हिः (ऐ.ब्रा.२.४)] इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न कणों, तरंगों व लोकों के अच्छी प्रकार गमन करने के लिए अन्तरिक्षस्थ पशुओं अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्द व प्राणादि रश्मियों के जाल को प्रकृष्ट रूप से फैलाया जाता है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यह जाल फैला हुआ है। कोई भी स्थान वा मार्ग ऐसा नहीं है, जहाँ इन रश्मियों का जाल न हो।

(आ, विश्पती, इव, बीरिटे, इयाते, विशाम्) 'एयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा बीरिटमन्तरिक्षम् भियो वा भासो वा ततिः अपि वोपमार्थे स्यात् सर्वपती इव राजानौ बीरिटे गणे मनुष्याणाम्' उस अन्तरिक्ष में सबके रक्षक और पालक वायु एवं आदित्य वर्तमान भाषा में वैक्यूम एनर्जी तथा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सर्वत्र गमन करती रहती हैं अथवा सर्वत्र व्याप्त होती हैं। यहाँ बीरिट अन्तरिक्ष को कहा गया है, क्योंकि इसके अन्दर प्रकाश का भी विस्तार है एवं विभिन्न पदार्थों की कम्पित होती हुई गति का भी विस्तार है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अन्तरिक्ष में जो भी कण अथवा लोक वा तरंग गमन करते हैं, वे

कोई भी सरल रेखा में कभी गमन नहीं करते, बल्कि कम्पन करते हुए ही गमन करते हैं। 'भियः' पद का तात्पर्य यही है कि सभी पदार्थ कम्पनयुक्त होते हैं। यहाँ 'इव' पदपूरक है, अन्य विकल्प के रूप में ग्रन्थकार ने इसे उपमावाची भी माना है। उस अर्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं कि ब्रह्माण्ड में वायु एवं आदित्य रश्मियाँ दोनों राजा के समान सबकी पालिका और रक्षिका होती हैं, जो समुदाय का पालन और रक्षण करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार 'बीरिटम्' वा 'बीरिटे' पद को समुदाय का वाचक भी मानते हैं। यह समुदाय विभिन्न प्रकार के मनुष्यवाची कणों, जिनकी चर्चा इस ग्रन्थ में पूर्व में कर चुके हैं, का मानना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य नामक कणों का विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं वायु रश्मियों से निकट सम्बन्ध होता है।

(अक्तोः, उषसः) 'रात्र्या विवासे' [विवासे = विवासति परिचरणकर्मा (निघं.३.५), विवासेम परिचरेम (निरु.२.२४)] सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में अन्धकारमयी अवस्था के बीतने पर और ऊष्मा की उत्पत्ति प्रारम्भ होने पर (पूर्वहूतौ, वायुः, पूषा, स्वस्तये, नियुत्वान्) 'पूर्वस्यामभिहूतौ वायुश्च नियुत्वान् पूषा च स्वस्त्यनाय नियुत्वान्नियुतोऽस्याश्वाः नियुतो नियम-नाद्वा नियोजनाद्वा' वायु एवं आदित्य रश्मियों की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों के आह्वान, आकर्षण वा प्रेरण के द्वारा वायु एवं आदित्य रश्मियाँ प्रकट वा उत्पन्न होने लगती हैं। यहाँ वायु को नियुत्वान् कहा गया है। इसका कारण यह है कि वायु रश्मियाँ ही अग्रिम चरण के उत्पन्न पदार्थों को नियन्त्रित व नियमित करती हैं। यहाँ 'पूषा' पद आदित्य रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस विषय में एक ऋषि का कथन है— असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२)।

यहाँ ग्रन्थकार पूषा के विषय में लिखते हैं कि ये रश्मियाँ अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अपने गन्तव्य स्थानों के लिए निरापद गमन करती हैं अर्थात् इनके मार्ग में बाधक असुरादि पदार्थों का दुष्प्रभाव नहीं होता। वायु रश्मियों के विषय में पुनः ग्रन्थकार ने कहा कि ये रश्मियाँ नियुत रूप होती हैं, क्योंकि इनके अश्व अर्थात् प्राणादि सूक्ष्म रश्मियाँ नियन्त्रित गति से गमन करती हैं। नियन्त्रित व नियमित तथा संयोजक स्वभाव वाली होने के कारण सूक्ष्म प्राणादि रश्मियाँ नियुत कहलाती हैं और इनसे युक्त होने के कारण वायुतत्त्व नियुत्वान् कहलाता है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत

कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (प्र) (वावृजे) व्रजति (सुप्रयाः) यस्सर्वान्सुष्ठु प्रीणाति (बर्हिः) उत्तमं सर्वेषां वर्धकं कर्म (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (आ) समन्तात् (विश्पतीव) विशां प्रजानां पालको राजेव (बीरिटे) अन्तरिक्षे (इयाते) गच्छतः (विशाम्) प्रजानाम् (अक्तोः) रात्रेः (उषसः) दिवसस्य (पूर्वहूतौ) पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतायां स्तुतौ (वायुः) प्राण इव (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (स्वस्तये) सुखाय (नियुत्वान्) नियन्तेश्वरः।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलु.। सदैव यौ स्त्रीपुरुषौ न्यायकारिराजवत् प्रजापालनमीश्वरव-न्न्यायाचरणां वायुवत् प्रियप्रापणं संन्यासिवत्पक्षपातमोहादिदोषरहितौ स्यातां तौ सर्वार्थसिद्धौ भवेताम्।

पदार्थ— जो स्त्री पुरुष (बीरिटे) अन्तरिक्ष में सूर्य और चन्द्रमा के समान (इयाते) जाते हैं (विश्पतीव) वा प्रजा पालने वाले राजा के समान (अक्तोः) रात्रि की (उषसः) और दिन की (पूर्वहूतौ) अगले विद्वानों ने की स्तुति के निमित्त जाते हैं वा (पूषा) पुष्टि करने वाले (वायुः) प्राण के समान (नियुत्वान्) नियमकर्ता ईश्वर (विशाम्) प्रजा जनों के (स्वस्तये) सुख के लिये हो (एषाम्) इन में से जो कोई (सुप्रयाः) सब को अच्छे प्रकार तृप्त करता है वा (बर्हिः) उत्तम सब का बढ़ाने वाला कर्म (आ, प्र, वावृजे) सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त होता है, उन सब का सब सत्कार करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। सदैव जो स्त्री पुरुष न्यायकारी राजा के समान प्रजा पालना, ईश्वर के समान न्यायाचरण, पवन के समान प्रिय पदार्थ पहुँचाना और संन्यासी के तुल्य पक्षपात और मोहादि दोष त्याग करने वाले होते हैं, वे सर्वार्थ सिद्ध हों।"

अब १४०वें पद 'अच्छ' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' अर्थात् 'अच्छ' पद अभि के समान अर्थात् आभिमुख्य अर्थ में प्रयुक्त निपात ही है, ऐसा ग्रन्थकार का मत है। उधर महर्षि शाकपूणि के मत में 'अच्छ' पद आप्तुम् अर्थात् 'प्राप्त करने के लिए' इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अब १४१-४३वें पदों के विषय में लिखते हैं— 'परीं सीमिति व्याख्यातम्' अर्थात् 'परि', 'ईम्', 'सीम्' ये तीनों पद प्रथम अध्याय में व्याख्यात किये जा चुके हैं।

अब १४४वें और १४५वें पदों की व्याख्या में लिखते हैं— 'एनमेनामस्या अस्येत्येनेन व्याख्यातम्' अर्थात् 'एनम्' एवं 'एनाम्' पदों की व्याख्या क्रमशः 'अस्याः' एवं 'अस्य' पदों की व्याख्या के अनुसार समझ लेनी चाहिए। 'अस्याः' और 'अस्य' दोनों पदों की व्याख्या चतुर्थ अध्याय में की चुकी है।

तदनन्तर १४६वें पद 'सृणिः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सृणिरङ्कुशो भवति सरणात् अङ्कुशोऽञ्चतेः आकुचितो भवतीति वा' [अङ्कुशः = अङ्कते लक्षयति येन स अङ्कुशः (उ.को.४.१०८)] अर्थात् 'सृणिः' अङ्कुश को कहते हैं। हमारी दृष्टि में 'अङ्कुश' पद वज्र रश्मियों का ही वाचक है, जो अनियन्त्रित रश्मियों को लक्ष्य बनाकर उन पर आक्रमण करती हैं। उनको 'सृणिः' इस कारण कहा जाता है, क्योंकि वे सर्पिलाकार गति करती हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वज्र रश्मियों के अनेक रूप होते हैं। इनमें से अधिकांश वज्र रश्मियाँ बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं, तो ये सृणिः संज्ञक वज्र रश्मियाँ ऐसी छन्द रश्मियों वा कणों को नियन्त्रित करने के काम आती हैं, जो अति विक्षुब्ध हो जाती हैं। ये रश्मियाँ लक्ष्य की ओर गमन करती हैं और ये कुछ कुटिल अर्थात् वक्राकार होती हैं, इसलिए इन्हें अंकुश कहते हैं।

'सृणिः' पद का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्'। इस मन्त्र का देवता कृषीवलाः कवयो वा है तथा छन्द विराडार्षी त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से क्रान्तदर्शी एवं तीव्र छेदक एवं भेदक बलों ये युक्त विकिरण विविध प्रकार के प्रकाश को उत्पन्न करते हुए नाना पदार्थों को विखण्डित करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नेदीयः, इत्, सृण्यः) 'अन्तिकतममङ्कुशादायात्' उपर्युक्त अङ्कुश रूप रश्मियों के अति निकट आने पर (पक्वम्, आ, एयात्) 'पक्वमौषधामागच्छत्विति आगच्छत्विति' [ओषधिः = औषधो वै सोमो राजा (ऐ.ब्रा.३.४०), अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.ब्रा. ३.२.५.७), ओषधयो बर्हिः (ऐ.ब्रा.५.२८; श.ब्रा.१.३.३.९; तै.ब्रा.२.१.५.१), ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.७.१), सौम्या ओषधयः (श.ब्रा.१२.१.१.२)] आग्नेय एवं सौम्य कण बलों की दृष्टि से अधिक परिपक्व होकर आकाशतत्त्व के साथ अधिक प्रतिक्रिया व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। इस कारण आग्नेय एवं सौम्य कणों, वर्तमान विज्ञान की भाषा में विद्युत् धनावेशित एवं ऋणावेशित कणों के मध्य समुचित और

सन्तुलित यजन क्रिया होने लगती है और उनके मध्य तीव्र विक्षोभ की अवस्था शान्त अर्थात् नियन्त्रित होती है।

यहाँ 'आगच्छत्विति' का दो बार प्रयोग अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
पञ्चमोऽध्यायः समाप्यते।

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

/vaidicphysics

वेद परमपिता परमात्मा का रहस्यमय व गम्भीरतम सृष्टि विज्ञान है। वेद की ऋचाओं वा स्पन्दनों के द्वारा ही मूल प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। इसकी न केवल एक-एक ऋचा, अपितु एक-एक पद रहस्यमय विज्ञान को प्रकट करता है। इसी विज्ञान को उद्घाटित करने हेतु हमारे महान् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निरुक्त आदि ग्रन्थों की रचना की। इन महान् ग्रन्थों को समझे बिना कोई वैदिक ज्ञान-विज्ञान को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। ये ग्रन्थ उन महान् ऋषियों की अद्भुत एवं महती प्रज्ञा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदविज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। वेद के महद्द्रष्टा महर्षि यास्क विरचित यह निरुक्त स्वयं एक रहस्यमय ग्रन्थ है।

'वेदार्थ-विज्ञानम्' नामक मेरा यह व्याख्यात्मक ग्रन्थ उन्हीं रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' के पश्चात् वेद को जानने के लिए यह दूसरा आधारभूत ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इसे पढ़कर प्रौढ़ वैदिक विद्वानों व विदुषियों, गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों व ब्रह्मचारिणियों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण युवा पीढ़ी को भी वेद का वास्तविक मर्म समझ आ सकेगा।

– आचार्य अग्निव्रत

www.thevedscience.com

ISBN 978-81-976604-1-2

द वेद साइंस पब्लिकेशन